ॐ

कल्याण

गीता-तत्त्वांक

प्रथम खण्ड



भगवती गीता

वक्त्राणि पञ्च जानीहि पञ्चाध्यायाननुक्रमात्।
दशाध्यायाः भुजाश्चैकमुदरं द्वे पदाम्बुजे ॥
एवमष्टादशाध्यायी वाङ्मयी मूर्तिरीश्वरी।
जानीहि ज्ञानमात्रेण महापातकनाशिनी ॥

वर्ष १४

अङ्क १

गीताप्रेस गोरखपुर

दुर्गतिनाशिनि दुर्गा जय जय, कालविनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तमहर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियराम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

[प्रथम संस्करण ५०६००]

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces, Bihar, Orissa, Assam, Bombay Presidency and Central Provinces.

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें ।

कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते ।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें ।

कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है ।

Foreign subscription: Annual 10 Shillings.
Gita-Tattvanka 9 Sh. Bound 10 Sh.
Ordinary Issues 7 As. or 8 d.

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≡) विदेशमें ६॥≈) (१० शिलिङ्ग)	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥ जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥ जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥	गीतातत्त्वांकका मूल्य तीनों खण्डोंका ४) विदेशमें ६) साधारण प्रति ।) विदेशमें ।≡)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanashyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India)

ॐ

कल्याण



कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

वर्ष १४

अङ्क १



कल्याणप्रेमियों और ग्राहकोंसे निवेदन

(१) 'गीतातत्त्वांक' इस बार पहलेके सब विशेषांकोंसे बड़ा हो गया है और इसमें चित्र तथा लेख भी संख्यामें और महत्त्वमें अपनी विशेषता रखते हैं। तीनों खण्डोंमें सब मिलकर १२३२ पृष्ठ होंगे। प्रथम खण्डमें ही १०७२ पृष्ठ हैं। गतवर्ष लगभग ५३३०० ग्राहक थे। यह सोचकर, कि शायद ग्राहक घट जायँ गीतातत्त्वांक ५०६०० ही छापा गया है परन्तु ग्राहकोंके रुपये और नयी माँगें जिस परिमाणमें आ रही हैं, उसे देखते यह अनुमान होता है कि सम्भवतः माँग बहुत ज्यादा रहेगी। ऐसी अवस्थामें पुराने और नये ग्राहकोंको तुरन्त रुपये भेजकर 'गीता-तत्त्वांक' मँगवा लेना चाहिये।

(२) ध्यान रहे कि विषय, सरल भाषा, कलेवर और चित्रोंकी दृष्टिसे 'गीतातत्त्वांक' धर्मार्थ बाँटने, इनाममें देने, उपहार देने और संग्रहालय-पुस्तकालय आदिमें रखनेके लिये बहुत ही उपयोगी है। इसमें आये हुए भगवान्के दिव्य वचनोंके अनुसार भगवच्चिन्तन, तत्त्वविचार और तदनुकूल अपना जीवन बनानेवाले भाग्यवान् नर-नारी तो शान्तिमय जीवन बिताते हुए मनुष्यजन्मके परम लाभ भगवत्साक्षात्कारको सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

(३) इतना बड़ा और बहुमूल्य 'गीतातत्त्वांक', जो हजार-दो हजार प्रति अलग छापनेपर दस रुपयेसे कममें नहीं पड़ सकता, वही चार रुपयेमें दिया जा रहा है। जो सज्जन ४≡) चार रुपये तीन आने भेजकर ग्राहक बन जायँगे, उन्हें 'गीतातत्त्वांक' तीनों खण्डोंके अलावा सिर्फ ≡) तीन आनेमें ही नौ महीनेतक प्रतिमास अस्सी पृष्ठका रंगीन चित्रसहित 'कल्याण' और मिलता रहेगा। इसलिये 'गीतातत्त्वांक' अलग न लेकर ग्राहक ही बनना चाहिये।

(४) पोस्टआफिस एक दिनमें १००० रजिष्टर्ड पैकेटसे अधिक प्रायः नहीं लेती। इसलिये जिन ग्राहकोंके रुपये हमें मिल चुके हैं, उन सबको हम एक साथ 'गीतातत्त्वांक' नहीं भेज सकते। ग्राहक महानुभाव हमारी इस लाचारीके लिये कृपापूर्वक क्षमा करें।

(५) जिन महानुभावोंने ४≡) मनीआर्डरसे नहीं भेजे हैं, उनकी सेवामें 'गीतातत्त्वांक' शीघ्र ही वी० पी०से भेजा जानेवाला है परन्तु वी० पी० जानेमें कई सप्ताहोंकी देर हो सकती है। अतएव इस सूचनाको पढ़ते ही जो सज्जन ४≡) मनीआर्डरसे तुरन्त भेज देंगे, उन्हें 'गीतातत्त्वांक' जल्दी मिल सकेगा।

(६) किसी भी कारणवश जिन सज्जनको ग्राहक न रहना हो वे कृपा करके एक कार्ड लिखकर डाल दें ताकि वी० पी० न भेजी जाय। तीन पैसेके खर्च और थोड़े-से परिश्रमसे 'कल्याण-कार्यालय' आठ आने डाक-खर्चके नुकसानसे बच जायगा।

(७) जिन सज्जनोंके नाम वी० पी० जायगी, हो सकता है उनमेंसे कुछ सज्जन इधरसे वी० पी० जानेके समय ही उधरसे रुपये मनीआर्डरसे भेज दें। ऐसी हालतमें उन सज्जनोंसे प्रार्थना है कि वे वी० पी० लौटावें नहीं, वहाँ रोक रक्खें और हमें तुरन्त कार्ड लिखकर सूचना दें। रुपये आ गये होंगे तो हम उन्हें फ्री-डिलेवरी देनेके लिये वहाँके पोस्टमास्टरको लिख देंगे। यदि 'गीतातत्त्वांक' रजिष्टरीसे चला जाय और वी० पी०से भी अंक पहुँचे तो भी कृपया वी० पी० लौटावें नहीं। चेष्टा करके कृपया दूसरा नया ग्राहक वहीं बनाकर वी० पी० छुड़ानेकी कृपा करें और नये ग्राहकका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। कई महानुभाव ऐसा करते भी हैं। हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

ग्राहकोंको आवश्यक सूचना

(१) कल्याणके ग्राहकोंमें ऐसे अनेक सज्जन हैं जिन्हें समय-समयपर कार्यवश एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना पड़ता है । ऐसी हालतमें वे जिस स्थानपर 'कल्याण' मँगाते हैं, नये वर्षकी वी० पी० पहुँचनेके समय कदाचित् वे वहाँ नहीं रहते और इससे वह वी० पी० उनके नये स्थानसे छूटकर आती है । हमें यह तो मालूम हो जाता है, कि वी० पी० किस पोस्ट-आफिससे छूटी है, परन्तु वे ग्राहक उस नये स्थानमें कबतक रहेंगे, वहाँका मकान-नम्बर, मुहल्ला आदि पूरा पता क्या है, अगले अङ्क किस पतेपर भेजे जायँ, इन बातोंका कोई पता नहीं लगता । ऐसी अवस्थामें खो जानेके डरसे अगले महीने-के अङ्कोंको हम रोक रखते हैं और पीछे उनका पत्र मिलनेपर भेजते हैं। इसलिये निवेदन है कि वी० पी० छुड़ाते ही वे सज्जन तुरन्त सूचना भेज दें कि आगेसे उनका 'कल्याण' किस पतेपर और कहाँ भेजा जाय ।

(२) कई बार ऐसा होता है कि 'कल्याण' मँगवाते समय ग्राहक जो नाम लिखते हैं, बीच-में कभी कोई शिकायत वगैरह करते समय भूलसे उसमें कुछ परिवर्त्तन हो जाता है । जैसे—पहले पूरा नाम लिखा वह याद नहीं रहा, इससे सरनाम अर्थात् 'रामचन्द्र'की जगह 'आर० सी०' लिख दिया; पहले एक अपना ही नाम लिखा गया, पीछेसे दो भाइयोंका या फर्मका नाम लिख दिया । यद्यपि बहुत काम रहनेसे इस तरहकी भूल हो ही जाती है, परन्तु हमारे यहाँ अक्षरोंके क्रमसे ग्राहकोंके नामोंकी सूची रहनेके कारण हमें ढूँढ़नेमें बड़ी दिक्कत होती है, इसीलिये तुरन्त हम उनकी शिकायतको दूर नहीं कर पाते । अतएव 'नाम' सदा वही लिखना चाहिये जो सबसे पहले लिखा गया था ।

(३) गाँवोंमें पोस्ट-आफिस नहीं होती, ऐसी हालतमें नजदीकके डाकघरके पतेसे डाक मँगवानी पड़ती है और उसी पोस्ट-आफिसका नाम ग्राहक सज्जन हमको लिखते हैं । लेकिन जरा-सा भी फर्क रह जानेपर उसीसे मिलते-जुलते नामवाली दूसरी पोस्ट-आफिसके पतेपर 'कल्याण' चला जाता है । इसलिये पोस्ट-आफिसका नाम अंग्रेजीमें सावधानीसे अक्षरोंको देखकर लिख दिया जाय तो ऐसी भूल प्रायः नहीं होगी । पोस्ट-आफिसके नामके साथ जिला जरूर लिखना चाहिये क्योंकि एक ही नामकी पोस्ट-आफिस कई जिलोंमें होती हैं ।

नयी पोस्ट-आफिस खुली हो तो उसका नाम तो जरूर ही अंग्रेजी अक्षरोंमें लिख देना चाहिये, क्योंकि नयी पोस्ट-आफिसका नाम पोस्टल गाइडमें नये संस्करणसे पहले नहीं छपता ।

(४) थोड़े दिनोंके लिये दूसरी जगह जाना हो और कोई अड़चन न हो तो पता नहीं बदलवाना चाहिये । अङ्क न मिलनेकी सम्भावना हो अथवा पता निश्चित न हो तो हमें सूचना देकर आवश्यकतानुसार एक-दो महीनेके लिये अङ्क रोकवा देना चाहिये और निश्चित स्थानपर पहुँचते ही सूचना दे देनी चाहिये, जिससे अङ्क भेज दिये जायँ । विना सूचनाके रुके हुए अङ्क नहीं जा सकेंगे ।

पता बदलवाना आवश्यक ही हो तो ठीक समयपर सूचना दे देनी चाहिये । सूचनामें अपना पुराना नाम-पता और नया पूरा पता (मकान, मुहल्ला, गाँव, पोस्ट-आफिस, जिला और प्रान्त) अंग्रेजी या हिन्दीमें साफ-साफ और शुद्ध लिख देना चाहिये ।

(५) पत्र-व्यवहारके समय अपना पूरा सही नाम (जिस नामसे 'कल्याण' जाता है) पता और ग्राहक-नम्बर जरूर-जरूर लिखना चाहिये और किसी पहले भेजे हुए पत्रकी कोई बात दोहरानी हो तो उसे फिरसे खुलासा लिख देनी चाहिये ।

(६) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें नाम, पूरा पता, पोस्ट-आफिस और जिला तथा रुपये किसलिये भेजते हैं वह बात अवश्य-अवश्य लिख देनी चाहिये । यदि पुराने ग्राहक हैं तो ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये । ग्राहक-नम्बर कदाचित् न याद हो तो कम-से-कम 'पुराने ग्राहक' इतना वाक्य तो अवश्य लिख देना चाहिये। जो पहले-पहल नये ग्राहक बनते हैं, वे 'नया ग्राहक' वाक्य कूपनमें जरूर लिख दें ।

(७) 'कल्याण'के साधारण अङ्क हर महीने प्रायः ५-६ तारीखतक सबको भेज दिये जाते हैं; यदि १५ तारीखतक न मिले तो तुरन्त सूचना देनी चाहिये ।

कभी-कभी ग्राहक महोदयके न मिलनेपर पोस्ट-आफिसवाले उनका अंक लौटा देते हैं और वैसी अवस्थामें अंक खो जानेके डरसे उनके नाम जानेवाले 'कल्याण' को हम रोक लेते हैं, इसलिये १५ तारीखके बाद उस महीनेका अंक न मिलनेपर अवश्य ही सूचना देनी चाहिये ।

(८) सारी शिकायतें अधिकांशमें नाम-पता आदि ठीक याद न रहने और हमारे यहाँ उसीके अनुसार गड़बड़ी ही जानेसे ही प्रायः होती हैं । इसलिये नीचे हम एक नक्शा छाप रहे हैं । 'कल्याण' पहुँचते ही लिफाफेपर छपा हुआ नाम, पता और ग्राहक-नम्बर पढ़कर उसीके अनुसार नक्शेके खानोंको भर लें । नाम-पते आदिमें कोई भूल हो तो उसे सुधार कर खानें भरें, परन्तु उसकी सूचना तुरंत हमें दे दें । इसीके साथ-साथ नक्शेके दूसरे सब खानें भी यथायोग्य यथासमय भरकर रक्खें । यदि इस प्रकार 'गीतातत्त्वांक' में सब बातें लिखी रहेंगी, तो समयपर हमें पत्र लिखते समय बड़ा सुभीता होगा और शिकायत बहुत जल्दी दूर हो सकेगी ।

ग्राहक-नम्बर.................. नाम..

पता.. गाँव..................................

पो० आ०.................. जिला.................................. प्रान्त..................................

रुपये भेजनेकी तारीख.................................. मनीआर्डर-रसीद नं०..................

वापसी रसीदकी डिलेवरीकी तारीख.................................. रजिष्टर्ड पैकेट नं०..................

रजिष्ट्रीद्वारा विशेषाङ्क मिलनेकी तारीख..

अथवा

वी० पी० नम्बर.................. और वी० पी० छुड़ानेकी तारीख..................................

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

श्रीहरिः

लेख, सन्देश, उद्गार और टीकाकी सूची

पृष्ठ-संख्या

७६–श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवम अध्याय

दसवाँ अध्याय

पद्य-सूची

चित्र-सूची

इकरंगे

इकरंगे (लाइन)



श्रीहरिः

गीता-प्रचार

श्रीगीतातत्त्वाङ्कके पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि पिछले पन्द्रह वर्षके अल्प समयमें ही गीताप्रेसमें लगभग तेरह लाख गीताएँ छप चुकी हैं। अलग-अलग विवरण इस प्रकार है—

१२, २५० **श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य हिन्दी-अनुवादसहित**—सचित्र; मूल्य साधारण जिल्द २॥), कपड़ेकी जिल्द २॥।); चतुर्थ संस्करण; साइज २२×२९, ८ पेजी, पृष्ठ ५१९; चिकना मोटा कागज, शुद्ध छपाई, विशेष बात—भाष्यमें आये हुए उद्धरणोंके अंक परिश्रमपूर्वक खोजकर दिये गये हैं। अन्तमें गीताके समस्त पदोंकी सूची भी जोड़ दी गयी है। अनुवादक हैं— श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका।

६६, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता मूल, पदच्छेद, अन्वय और सरल भाषाटीकासहित**—सचित्र, मूल्य सजिल्द १।) नवाँ संस्करण; सा० १८×२२, आठ पेजी, पृष्ठ ५७०, चिकना मोटा कागज, साफ-शुद्ध छपाई। इसमें गीताके प्रधान विषयोंकी सूची, प्रत्येक श्लोकके विषयकी सूची एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिनामक निबन्ध भी लगाया गया है। अर्थ बहुत ही सरल ढंगसे सजाकर सबके समझने योग्य किया गया है। इतनी सस्ती गीता शायद ही और मिलेगी।

५, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—गुजराती अनुवादसहित; सब बातें १।) वाली हिन्दी गीताकी तरह। गुजराती भाइयोंके बड़े ही कामकी है। मूल्य १।) इसका संस्करण समाप्त हो चुका है, पुनर्मुद्रण होनेपर ही प्राप्त हो सकेगी।

२, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—मराठी अनुवादसहित; इसमें भी सभी विषय १।) वाली हिन्दी गीताकी तरह हैं। अनेक विद्वानोंने इसकी प्रशंसा की है। मूल्य १।)

२७, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—सभी विषय १।) वाली गीताकी तरह। कागज पतला और साइज छोटा एवं अक्षर महीन हैं। मू० ॥≈), सजिल्द ॥।-), चतुर्थ संस्करण, साइज २२×२९, १६ पेजी, पृष्ठ ४६८, इसमें गीताके प्रधान विषय प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें एवं प्रत्येक श्लोकका विषय उसी श्लोकके पास ही छापा गया है। कम दामके खयालसे यह बड़ी अच्छी है।

४, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—बंगला अनुवादसहित। सभी बातें ॥≈) वाली हिन्दी गीताकी तरह। कागज अच्छा, छपाई साफ, बंगला जाननेवालोंके कामकी है। मूल्य ॥।) सजिल्द १)

१५, २५० **श्रीमद्भगवद्गीता गुटका**—(पाकेट साइज), हमारी १।) वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९, ३२ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५८८, दूसरा संस्करण। सजिल्द, मू० ॥)

१५, २५० **श्रीमद्भगवद्गीता**—मूल श्लोक और सरल अर्थसहित, सचित्र, मोटे अक्षर, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≈), चतुर्थ संस्करण आकार २०×३०, १६ पेजी, पृष्ठ ३१६, चिकना कागज, विशेषता—गीताजीके प्रधान विषयोंकी अनुक्रमणिका और त्यागसे भगवत्प्राप्तिनामक निबन्धसहित।

३०, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—मूल श्लोकमात्र, मोटे अक्षर, पाठ करनेवालोंके लिये बड़े कामकी है। मूल्य।-) सजिल्द।≈), छठा संस्करण, आकार २२×२९, १६ पेजी, गुटकेकी तरह खुलनेवाले ९६ पृष्ठ।

१, ७६, ७५०

१, ७६, ७५०

३४, ०००	**श्रीमद्भगवद्गीता**—केवल भाषा, साधारण मोटे अक्षर, संस्कृत न पढ़ सकनेवालोंके लिये। मूल्य ।) मात्र, सजिल्द ।=), आकार २०×३०, १६ पेजी, पृष्ठ २००, छठा संस्करण, अन्तमें गीताकी श्लोक-सूची भी दी गयी है।
५, २५०	**श्रीमद्भगवद्गीता भाषा**—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित (गुटका), साइज २२×२९—३२ पेजी साइज, पृष्ठ ४००, प्रथम संस्करण, मूल्य ।) सजिल्द ।-)
१०, ०००	**श्रीमद्भगवद्गीता—(पञ्चरत्न)**—अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्यादिसहित, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज, श्रीअनुस्मृति और श्रीगजेन्द्रमोक्ष मूल, सचित्र, पृष्ठ ३२८, सजिल्द मूल्य ।)
५, ६०, ०००	**श्रीमद्भगवद्गीता**—मूल श्लोक और साधारण भाषाटीकासहित, आकार छोटा २२×२९, ३२ पेजी, पृष्ठ ३५२, मूल्य =)॥ सजिल्द ≡)॥, ऊपर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका चित्र भी है। गीता-महिमा, गीताके प्रधान विषयोंकी सूची, त्यागसे भगवत्प्राप्तिनामक लेखसहित। संस्करण सोलहवाँ, पाठ करने, बाँटने, दान देने, पढ़ानेके लिये बड़ी उत्तम है।
९०, ०००	**श्रीमद्भगवद्गीता**—मूल श्लोकमात्र, बहुत छोटा २×२॥ इञ्च साइज, छठा संस्करण, पृष्ठ २९६, सजिल्द, सचित्र, इतनी छोटी होते हुए भी छपाई साफ, सुन्दर और पढ़नेयोग्य है। मूल्य =) मात्र। गीता-माहात्म्य, करन्यास, ध्यान आदि भी छापे गये हैं।
१, ६८, ०००	**श्रीमद्भगवद्गीता** और **श्रीविष्णुसहस्रनाम**—मूल श्लोकमात्र, चार सादे चित्र, साइज ३२ पेजी, पृष्ठ १३२, चिकना कागज, सजिल्द, मूल्य -)॥ मात्र, पन्द्रहवाँ संस्करण। केवल पाठके लिये बहुत अच्छी है।
५, २५०	**श्रीमद्भगवद्गीता--श्रीकृष्ण-विज्ञान** अर्थात् मूल श्लोक और हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, मूल्य ।॥) सजिल्द १), पृष्ठ २५०, इस पद्यानुवादकी प्रशंसा बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानोंने की है।
१, ६५, ०००	**गीता-डायरी**—इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी तारीख और पञ्चाङ्गके साथ ही संक्षेपसे त्योहार भी छापे जाते हैं। गीता १८ अध्याय सम्पूर्ण तो रहती ही है। सन् १९२७से१९३९ तक इसकी एक लाख पैंसठ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं।

१२, १४, २५०

इनके अतिरिक्त एक २) की गीता और एक ॥) की गीता एवं एक मूल गीता जिनके संस्करण अब बन्द हो गये हैं और एक दो पेजी गीता -) वाली इन सबको मिलानेसे यह संख्या और भी बढ़ जाती है। गीतामें भक्तियोग, गीतानिबन्धावलि, गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग, गीताका दूसरा अध्याय, सूक्ष्म विषय, प्रधान विषय, गजल गीता, सप्तश्लोकी गीता आदि गीतासम्बन्धी साहित्यका अलग प्रचार होता रहा है।

आपको इनमेंसे कोई पुस्तक चाहिये तो लिखनेकी कृपा करें। और भी अनेक प्रकारकी धार्मिक पुस्तकें छपी हैं। सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

पता—**गीताप्रेस, (विक्रयविभाग)**

पो० आ० गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीगीता-परीक्षा

हमारे देशमें इन दिनों हलके साहित्यका प्रचार बड़े जोरोंसे हो रहा है और उससे जो बुरा फल मिल रहा है, वह किसीसे छिपा नहीं है। इस दुरवस्थाका कारण यही है कि हम जन-समाजमें सुविचारणीय एवं सुसंस्कृत ग्रन्थोंका प्रचार करनेकी ओरसे उदासीन हैं। फलतः जन-समाजमें जैसा साहित्य प्रचलित हो रहा है, वैसी ही उसकी मनोवृत्ति हो रही है। आजकलके अधिकांश लोगोंमें विद्यमान निराशाभाव, अधैर्य, अनुत्साह, आलस्य तथा मानवीय उन्नतिकी जड़ सात्त्विकताको छिन्न-भिन्न करनेवाले अन्यान्य अवगुणोंका प्राधान्य जन-समाजकी वर्तमान अधोगतिका प्रमाण है। इसी परिस्थितिको सुधारनेके उद्देश्यसे कई वर्षों पूर्व श्रीगीता-परीक्षा-समितिकी स्थापना की गयी थी। हमने सोचा था कि श्रीगीता-परीक्षाके द्वारा श्रीगीता-जैसा अलौकिक ग्रन्थ विशेषकर नवयुवकोंके हाथोंमें पहुँच सकेगा और वे उससे शिक्षा प्राप्त करके अपना तथा समाजका कल्याण करेंगे। परन्तु खेद है कि अपने इस प्रयत्नमें हमें जैसी सफलता मिलनी चाहिये, वैसी अभी नहीं मिली है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि हमें इस कार्यमें देशके सभी बड़े-बड़े विद्वान् एवं धार्मिक पुरुषोंका आशीर्वाद और सहयोग उचितमात्रामें प्राप्त नहीं है। अवश्य ही इसमें हमारी त्रुटियाँ भी कारण होंगी। अतएव हम अपनी त्रुटियोंके लिये सबसे क्षमा माँगते हैं और यह प्रार्थना करते हैं कि हमारी त्रुटियोंकी ओर ध्यान न दिया जाय। श्रीगीताके प्रचारका कार्य ऐसा है, जिनमें सभी विद्वान् महानुभावोंकी कृपापूर्ण सहायताकी बड़ी आवश्यकता है। यदि सभी धर्मप्रेमी विद्वान् महानुभाव अपने-अपने यहाँकी सभा-संस्थाओंमें श्रीगीता-जैसे उपयोगी ग्रन्थ-रत्नको प्रचलित करके इसे छात्रों और अन्य पुरुषोंके हाथोंतक पहुँचानेके कार्यमें हमारी सहायता करेंगे तो सचमुच देशका बड़ा उपकार होगा। गीताका अध्ययन और तदनुसार आचरण तो महान् लाभकारक है ही, उसका कण्ठाग्र करना भी बहुत उपकारी है।

आजसे कुछ समय पहले श्रीगीता-परीक्षाके सम्बन्धमें श्रीगीताके प्रख्यात प्रेमी महात्मा गांधीजीसे सम्मति ली गयी थी। उस समय जिन सज्जनने महात्माजीसे पूछा था उन्होंने हमें इस प्रकार लिखा था—

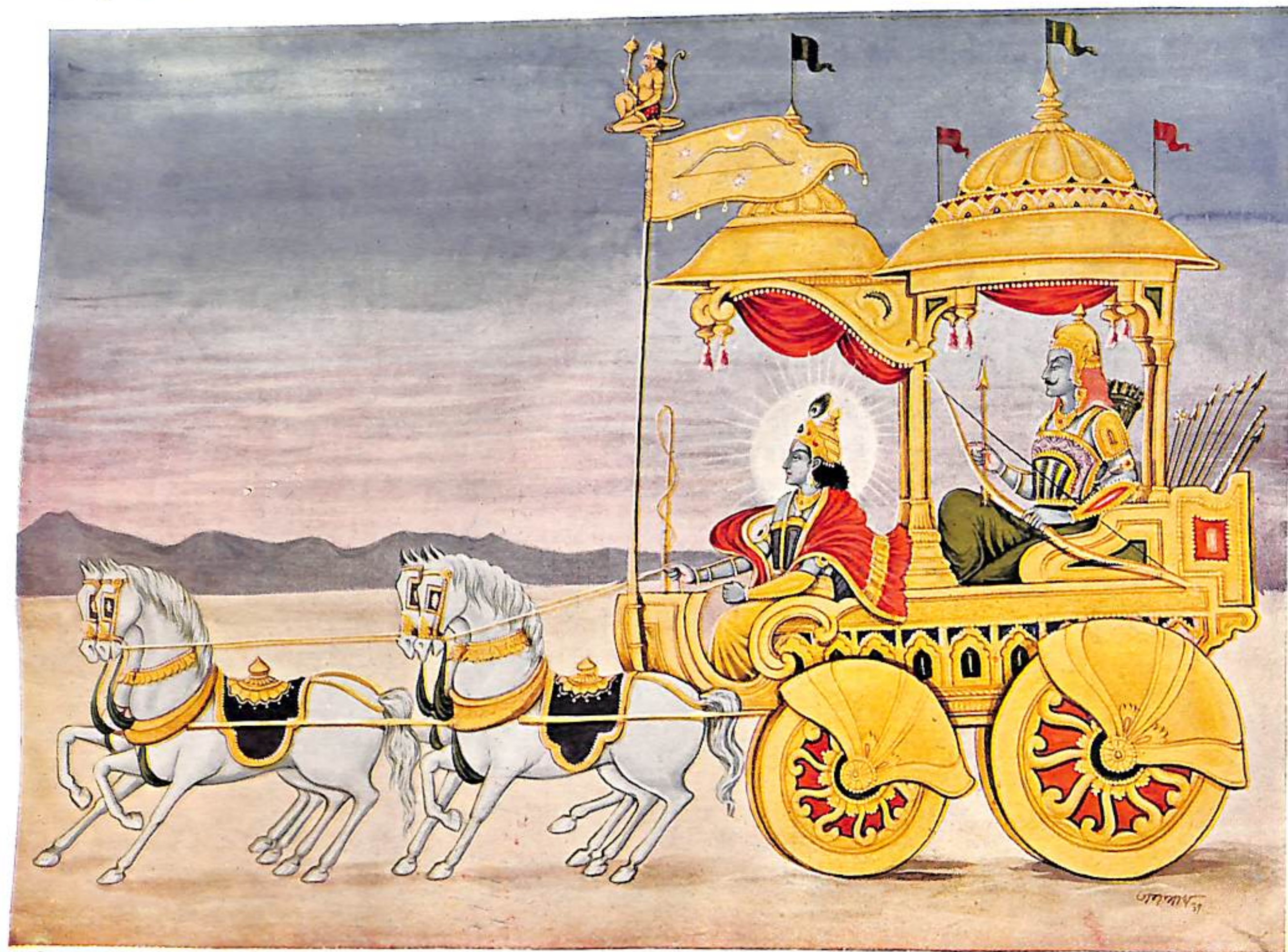
'बापूजीका (महात्माजीका) दृढ़ मत है कि पाठ्यक्रममें गीताके कुछ अध्यायों या अधिकांश अध्यायोंको कण्ठाग्र करने-करानेपर जोर देना, उसे अनिवार्य बनाना अत्यन्त आवश्यक है। विकल्प रखनेकी कल्पना तो उन्हें जरा भी पसन्द नहीं। विकल्प बनाना गीताको ही विकल्प बनाने-जैसा है।.........हरेक धर्म और सम्प्रदायमें उस-उस धर्मके धर्म-ग्रन्थोंके कुछ या अधिक भागको कण्ठाग्र करनेकी परम्परा चली आयी है और मूलतः यह परम्परा बड़ी उपयोगी तथा संस्कारदायिनी है, अतः गीता-परीक्षा-समितिके लिये यह आवश्यक है कि वह संशोधित नियमावलीमें गीताको कण्ठस्थ करना अनिवार्य ही रक्खे।'

श्रीगीताको अनिवार्यरूपसे कण्ठाग्र करानेके सम्बन्धमें भी पूज्य महात्माजीका यह मत है। तब उसकी शिक्षाके प्रचारके लिये तो कहना ही क्या है? क्या ही अच्छा हो कि भारतका उपकार चाहनेवाले सभी प्रभावशाली एवं विद्वान् पुरुषोंकी ओरसे हमें ऐसा ही क्रियात्मक प्रोत्साहन मिले। श्रीगीताकी शिक्षाओंद्वारा ही जन-समाजके वर्तमान निराशापूर्ण एवं निष्क्रिय जीवनको सहारा मिल सकता है। गीता और रामायण-परीक्षाओंकी नियमावली पत्र लिखकर मँगवानेकी कृपा करें।

राघवदास

संयोजक, श्रीगीता-परीक्षा-समिति,

बरहज (गोरखपुर)



भक्तवर अर्जुन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥





कल्याण

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ — गोरखपुर, अगस्त १९३९ — संख्या १, पूर्ण संख्या १५७

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥

'देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गाया हुआ भगवद्गीताशास्त्र ही एकमात्र शास्त्र है, देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र आराध्यदेव हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके नाम ही एकमात्र मन्त्र है और उन भगवान्की सेवा ही एकमात्र कर्तव्य-कर्म है ।'

आचार्यों, भाष्यकारों और टीकाकारोंद्वारा स्तवन

ॐ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥ १ ॥

ॐकारपदवाच्य श्रीनारायण अव्यक्त (मूल प्रकृति) से परे विराजमान हैं, यह विराट् ब्रह्माण्ड अव्यक्तसे उत्पन्न हुआ है और ये सम्पूर्ण लोक तथा सातों द्वीपोंसे युक्त पृथ्वी –सब कुछ इस ब्रह्माण्डके ही भीतर है ॥१॥

—श्रीशङ्कराचार्य

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।
नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ॥ १ ॥

अपने [वर्ण तथा आश्रम-सम्बन्धी] धर्म, ज्ञान और वैराग्य आदिसे साध्य होनेवाली जो परा भक्ति है–एकमात्र उसीके विषय होनेवाले परब्रह्म भगवान् नारायणका ही गीताशास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

—श्रीयामुनाचार्य

यत्पादाम्भोरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः ।
वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम् ॥ १ ॥

जिनके चरण-कमलोंका ध्यान करनेसे अपने समस्त पाप नष्ट हो जानेके कारण मैंने परमार्थतत्त्व प्राप्त किया, उन यमुनाके पुत्र श्रीयामुनाचार्यको अथवा यमुनाके निकट आविर्भूत हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

—श्रीरामानुजाचार्य

भगवन्नामसम्प्राप्तिमात्रात् सर्वमवाप्यते ।
फलिताः शालयः सम्यग् वृष्टिमात्रेऽवलोकिते ॥ १ ॥

भगवान्‌के नामकी भी प्राप्ति हो जानेमात्रसे सब कुछ मिल जाता है [फिर साक्षात् भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर तो कहना ही क्या है !]–जैसे वृष्टिके दर्शनमात्रसे भी धानकी खेतीमें भलीभाँति फल लग जाते हैं [फिर साक्षात् वृष्टिका जल पड़नेपर तो बात ही क्या है !] ॥१॥

—श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य

देवं नारायणं नत्वा सर्वदोषविवर्जितम् ।
परिपूर्णं गुरूंश्चान् गीतार्थं वक्ष्यामि लेशतः ॥ १ ॥

सब दोषोंसे रहित और सब ओरसे पूर्ण भगवान् श्रीनारायण देव तथा गुरुवर वेदव्यासजीको नमस्कार करके मैं अत्यन्त संक्षेपसे गीताके अर्थका प्रतिपादन करूँगा ॥१॥

—श्रीआनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य)

यदङ्घ्रिपोतशरणस्तीर्त्वा मोहाम्बुधिं नरः ।
स्वात्मधर्ममुपैत्याशु तं वन्दे पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥

जिनके चरणरूपी जहाजके सहारे मनुष्य मोह-महासागरको पारकर शीघ्र ही अपने आत्मधर्मको प्राप्त कर लेता है, उन भगवान् पुरुषोत्तमको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यदीक्षणसुधाधाराऽऽप्यायितः सुकृती नरः ।
कृशोऽपि लभते पुष्टिं तं श्रीवल्लभमाश्रये ॥ २ ॥

जिनकी कृपादृष्टिकी सुधाधारासे तृप्त हुआ पुण्यवान् मनुष्य दुर्बल होकर भी पुष्टि (भगवान्‌के अनुग्रह) को पा जाता है, उन रमावल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण (अथवा श्रीवल्लभाचार्य) की मैं शरण लेता हूँ ॥ २ ॥

यत्करुणारसवृष्ट्या हृदि हरिभक्त्यङ्कुरः समुल्लसति ।
तं विट्ठलविभुमनिशं पूर्णानन्दात्मकं वन्दे ॥ ३ ॥

जिनके करुणारसकी वृष्टिसे हृदयमें भगवान् विष्णुकी भक्तिका अङ्कुर पूर्णरूपसे पल्लवित होने लगता है, उन पूर्णानन्दमय श्रीविट्ठलनाथजीको मैं सदा प्रणाम करता हूँ ॥३॥

—श्रीविट्ठलभाचार्य*

अकृत्यमपि कुर्वाणो भुञ्जानोऽपि यथा तथा ।
कदाचिन्नारकं दुःखं गीताध्यायी न पश्यति ॥ १ ॥

न करनेयोग्य कर्म करता हुआ और जैसा-तैसा भोग भोगता हुआ भी मनुष्य यदि गीताका स्वाध्याय करता है तो उसे कभी नरकका दुःख नहीं देखना पड़ता ॥ १ ॥

वेदोदधिप्रमथितं वासुदेवसमुद्धृतम् ।
सन्तः पिबन्ति सततं गीतामृतरसायनम् ॥ २ ॥

वेदरूपी समुद्रका मन्थन करके भगवान् वासुदेवद्वारा बाहर प्रकट किये हुए इस गीताशास्त्ररूपी अमृतमय रसायनका संत लोग सदा ही पान किया करते हैं ॥ २ ॥

—श्रीमान् हनूमान्

* शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके एक परवर्ती आचार्य ।

यतिपरिवृढो यद्गीतानामदर्शयदञ्जसा
निगमपरिषन्नेदीयांसं निरामयमाशयम् ।
जननपदवीयातायातश्रमापहरां धियं
जनयतु स मे देवः श्रीमान् धनञ्जयसारथिः ॥ १ ॥

यतियोंके स्वामी (श्रीरामानुजाचार्यजी) ने जिनकी गीताका वेद और उपनिषदोंके अत्यन्त अनुकूल एवं निर्दोष भाव स्पष्टरूपसे दिखाया है, वे अर्जुनके सारथि श्रीमान् भगवान् कृष्ण मुझे संसारमें आवागमनके कष्टको दूर करनेवाली सुन्दर बुद्धि दें ॥ १ ॥

—वेदान्तदेशिकाचार्य श्रीवेङ्कटनाथ

असंस्पृश्यैव प्रकृतिं विकृतिं च गुणैः सह ।
यः सदा भाति मेऽन्तःस्थस्तं सेवे कृष्णमीश्वरम् ॥ १ ॥

जो प्रकृति और गुणोंके सहित उसके विकारोंका स्पर्श किये विना ही सदा मेरे अन्तःकरणमें स्थित रहते हैं, उन परमेश्वर श्रीकृष्णका मैं सेवन करता हूँ ॥ १ ॥

—श्रीशङ्करानन्द

तेनैव दत्तया मत्या तद्गीताविवृतिः कृता ।
स एव परमानन्दस्तया प्रीणातु माधवः ॥ १ ॥

उन भगवान्‌की ही दी हुई बुद्धिके अनुसार मैंने उनके गीताशास्त्रकी विवृति (व्याख्या) की है, उस (विवृति) से वे ही परमानन्दस्वरूप भगवान् लक्ष्मीपति प्रसन्न हों ॥ १ ॥

स्वप्रागल्भ्यबलाद् विलोड्य भगवद्गीतां तदन्तर्गतं
तत्त्वं प्रेप्सुरुपैति किं गुरुकृपापीयूषदृष्टिं विना ।
अम्बु स्वाञ्जलिना निरस्य जलधेरादित्सुरन्तर्मणी-
नावर्तेषु न किं निमज्जति जनः सत्कर्णधारं विना ॥ २ ॥

अपने ऊपर गुरुदेवकी करुणामयी सुधावर्षिणी दृष्टि हुए विना ही अपनी प्रौढता या धृष्टताके बलसे भगवद्गीताका आलोडन करके यदि कोई इसके भीतर विद्यमान गूढ तत्त्वको प्राप्त कर लेना चाहता है तो क्या वह उसे पा लेता है ? कदापि नहीं । साथमें किसी अच्छे नाविकको लिये विना ही जो मनुष्य अपनी अञ्जलिसे समुद्रके जलको उलीचकर उसके भीतरकी मणियोंको लेना चाहता है, क्या वह भँवरोंमें डूब नहीं जाता ? अवश्य डूब जाता है ॥ २ ॥

स्वधर्मेण यमाराध्य भक्त्या मुक्तिमिता नराः ।
तं कृष्णं परमात्मानं तोषयेत्सर्वकर्मभिः ॥ ३ ॥

[कितने ही] मनुष्य अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार भक्तिपूर्वक जिनकी आराधना करके मुक्त हो गये, उन परमात्मा श्रीकृष्णको अपने समस्त शुभ कर्मोंद्वारा सन्तुष्ट करना चाहिये ॥ ३ ॥

विविक्तौ येन तत्त्वेन मिश्रौ प्रकृतिपूरुषौ ।
तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनमीश्वरम् ॥ ४ ॥

परस्पर मिले हुए प्रकृति और पुरुषको जिन्होंने तत्त्वतः पृथक् किया है, उन परमानन्दमय परमेश्वर श्रीनन्दनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

शेषाशेषमुखव्याख्याचातुर्यं त्वेकवक्त्रतः ।
दधानमद्भुतं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ५ ॥

भगवान् शेषके हजारों मुखोंद्वारा की जानेवाली व्याख्याकी चतुरताको जो एक ही मुखमें अद्भुत प्रकारसे धारण किये हुए हैं, उन परमानन्दमय भगवान् लक्ष्मीपतिकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ५ ॥

शोकपङ्कनिमग्नं यः सांख्ययोगोपदेशतः ।
उज्जहारार्जुनं भक्तं स कृष्णः शरणं मम ॥ ६ ॥

जिन्होंने शोक-पङ्कमें डूबे हुए अपने भक्त अर्जुनको सांख्य और योगका उपदेश देकर उनका उद्धार किया, वे भगवान् श्रीकृष्ण मेरे शरणदाता हों ॥ ६ ॥

—श्रीधरस्वामी

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः ।
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता ॥ १ ॥

महाभारतमें सम्पूर्ण वेदोंका अर्थ भरा है और महाभारतका सारा अर्थ गीतामें विद्यमान है, इसलिये यह गीता सर्वशास्त्रमयी मानी गयी है ॥ १ ॥

—श्रीनीलकण्ठ

यद्वक्त्रपङ्केरुहसम्प्रसूतं
निष्ठामृतं विश्वविभागनिष्ठम् ।
साध्येतराभ्यां परिनिष्ठितान्तं
तं वासुदेवं सततं नतोऽस्मि ॥ १ ॥

जिनके मुख-कमलसे निकला हुआ गीता-निष्ठारूप अमृत विश्वके विभिन्न भागोंमें बँटा हुआ है तथा साध्य और साधन दोनोंके ही द्वारा जिनका सिद्धान्त निश्चित किया गया है—उन भगवान् वासुदेवको मैं सदा ही प्रणाम करता हूँ ॥१॥

—आनन्दगिरि

गुणगणनिलयं पतिं रमाया
जगदघदहनं च वासवीसूनुम् ।
मुनिकुलतिलकं च पूर्णबोधं
गुरुमपि परमगुरुं च मे वन्दे ॥ १ ॥

अनन्त गुणोंके धाम भगवान् लक्ष्मीपतिको, संसारके पाप-समूहको दग्ध करनेवाले सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यासको, मुनि-समुदायके तिलकरूप पूर्ण बोधवान् श्रीशुकदेवजी [अथवा शङ्कराचार्यजी] को एवं अपने गुरु तथा परम गुरुको भी मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

—जयतीर्थ मुनि

सर्वेश्वरं हरिं कृष्णं भक्तिगम्यं परात्परम् ।
वन्दे भक्तिप्रदं नित्यं मायाध्वान्तनिवारकम् ॥ १ ॥

मायामय अज्ञानान्धकारका निवारण करनेवाले, भक्ति-गम्य, भक्तिदाता, परात्पर, सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं नित्य वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

भक्त्यान्वितं निजं ज्ञानं भक्तिवैभवमेव च ।
गुह्यमत्राह कृपया भगवांस्तं समाश्रये ॥ २ ॥

जिन भगवान्‌ने कृपापरवश हो इस गीतामें भक्तिसे युक्त परम गोपनीय अपने स्वरूपके ज्ञान और भक्ति-वैभवका ही प्रतिपादन किया है, उनकी मैं शरण लेता हूँ ॥ २ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यो वै विवेकं कृपयादिशत् ।
सर्वज्ञस्तं हरिं नित्यं व्रजामि शरणं गुरुम् ॥ ३ ॥

जिन सर्वज्ञ प्रभुने कृपा करके क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विवेकका उपदेश दिया, मैं सदा ही उन गुरुदेव श्रीहरिकी शरण लेता हूँ ॥ ३ ॥

सत्त्वादिगुणवृत्तिस्थो जीवः संसृतिमृच्छति ।
हरेरनन्यया भक्त्या मुच्यते गुणसंसृतेः ॥ ४ ॥

सत्त्व आदि गुणोंकी वृत्तियोंमें स्थित होनेपर जीव संसारबन्धनको प्राप्त होता है और श्रीहरिकी अनन्यभक्तिके द्वारा वह इस त्रिगुणात्मक संसारसे मुक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

य एव वेदवेद्यश्च शास्त्रतत्त्वोपदेशकः ।
क्षराक्षरपदार्थाभ्यां चिदचिद्भ्यां विलक्षणः ॥ ५ ॥
सर्वगः परमात्मा च भास्करादिविभूतिमान् ।
पुरुषोत्तमसंज्ञो हि तं श्रीकृष्णं समाश्रये ॥ ६ ॥

जो स्वयं ही वेदोंद्वारा जाननेयोग्य तत्त्व हैं, स्वयं ही गुरुरूपसे शास्त्र-तत्त्वका उपदेश करनेवाले हैं तथा क्षर-अक्षर पदोंके अर्थभूत जड-चेतनसे विलक्षण हैं और अपनी सूर्य आदि विभूतियोंसे युक्त सर्वव्यापी पुरुषोत्तमसंज्ञक परमात्मा हैं—उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ५-६ ॥

यो मायागुणदोषलेशरहितः स्वाभाविकैः सद्गुणैः
स्वातन्त्र्याखिलविज्ञताद्यगणितैर्युक्तोऽब्जजादिस्तुतः ।
भक्ताभीष्टप्रदो रमैकरमणो वेदैकगम्यो हि य-
स्तं वन्दे मनसा गिरा च शिरसा गोपीप्रियं श्रीहरिम् ॥ ७ ॥

जिनमें मायामय गुणोंसे होनेवाले दोषका लेश भी नहीं है; जो स्वतन्त्रता, सर्वज्ञता आदि असंख्य स्वाभाविक सद्गुणोंसे युक्त हैं; ब्रह्मा आदि देवता जिनकी स्तुति किया करते हैं; जो भक्तोंका अभीष्ट पूर्ण करनेवाले, वेदोंके द्वारा एकमात्र जाननेयोग्य और लक्ष्मीके साथ एकमात्र रमण करनेवाले हैं—उन गोपीवल्लभ श्रीहरिको मैं मन, वाणी और सिरसे प्रणाम करता हूँ ॥ ७ ॥

यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः
स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम् ।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभवत्
तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे ॥ ८ ॥

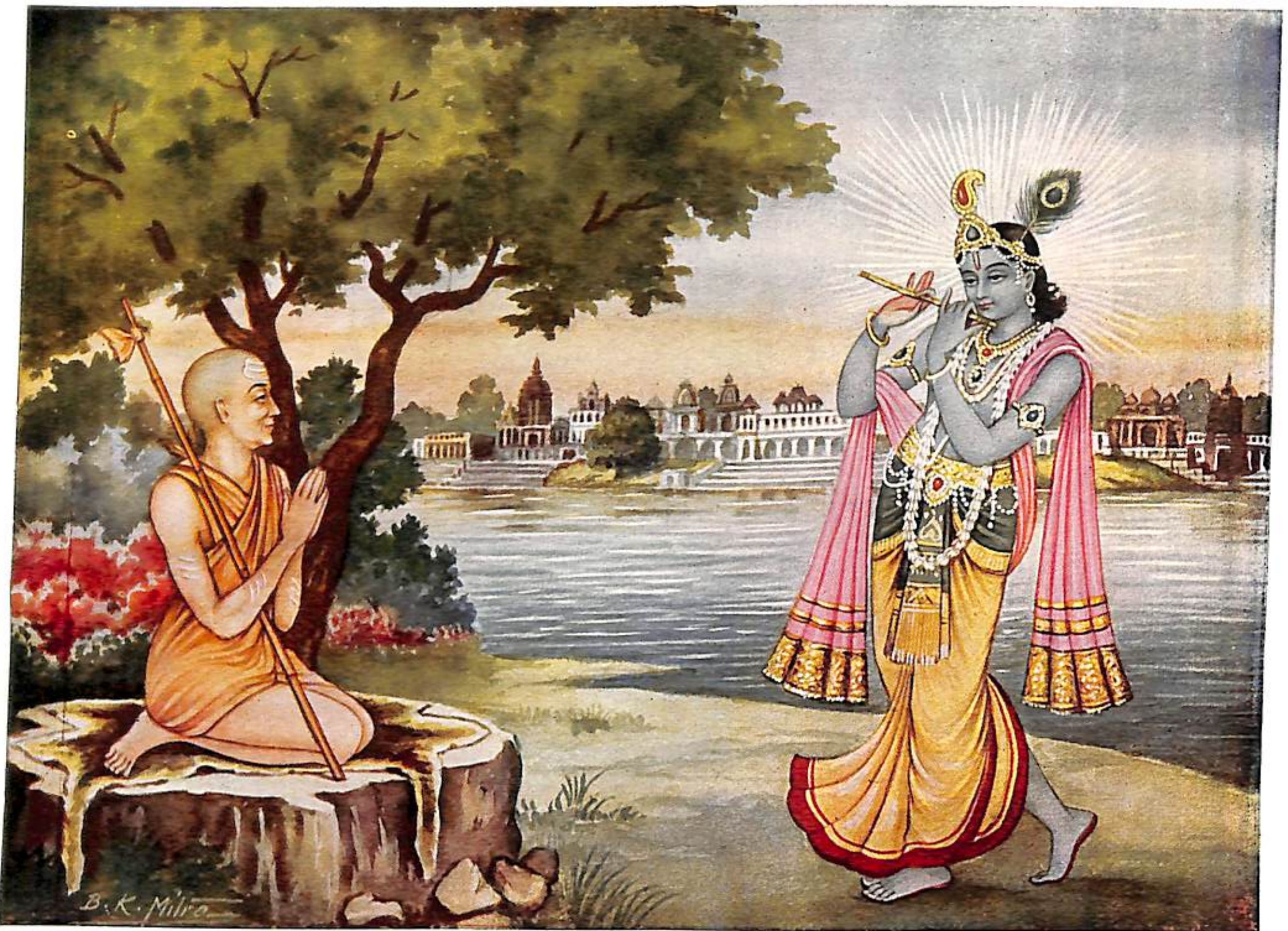
जिन दयासागर भगवान्‌की लेशमात्र दया हो जानेसे छोटे-से बालक ध्रुवने अपना अभीष्ट पाकर सर्वोत्तम वैकुण्ठ-धामको प्राप्त कर लिया, दरिद्र सुदामा भी बहुत बड़ी समृद्धि पा गये, अजामिल आदि पतितोंने भी मुक्ति पा ली और गोवर्धन पर्वत भी पूज्य हो गया—अपने आश्रितोंको अभीष्ट वस्तु देनेवाले उन शरणागतरक्षक भगवान् लक्ष्मीपतिको मैं नित्य भजता हूँ ॥ ८ ॥

—श्रीकेशव काश्मीरी भट्टाचार्य

काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम् ।
आदिमध्यान्तषट्केषु तस्मै भगवते नमः ॥ १ ॥

जिन्होंने क्रमशः आदि, मध्य और अन्तके छः-छः अध्यायोंमें कर्म, उपासना तथा ज्ञानरूप तीन काण्डोंसे युक्त इस 'गीता' नामक शास्त्रका निर्माण किया है—उन भगवान् वासुदेवको नमस्कार है ॥ १ ॥

श्रीमधुसूदन सरस्वतीको परमतत्त्वके दर्शन



वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना मिष्टं महाभारते
गीताख्यं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम्।
व्याख्यातं भगवत्पदैः प्रतिपदं श्रीशङ्कराख्यैः पुनर्-
विस्पष्टं मधुसूदनेन मुनिना स्वज्ञानशुद्ध्यै कृतम् ॥२॥

महर्षि व्यासने महाभारतमें गीतानामक परम उत्तम गूढ़ रहस्य व्यक्त किया है, जो भगवान् गोविन्दके मुखारविन्दके मधु (मकरन्द) से मिश्रित होनेके कारण बहुत ही मधुर है। यद्यपि भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजीने इस गीताशास्त्रके प्रत्येक पदकी व्याख्या की है—अतः अब इसकी दूसरी व्याख्या आवश्यक नहीं है, तो भी इसके तत्त्वका मनन करनेवाले मधुसूदनने अपने ज्ञान की शुद्धिके लिये पुनः इसे विशेषरूपसे स्पष्ट किया है ॥ २ ॥

इह योऽस्ति विमोहयन्मनः परमानन्दघनः सनातनः।
गुणदोषभृदेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥३॥

जो परमानन्दघन सनातन परमेश्वर [श्रीकृष्णरूपमें] इस हृदयके भीतर रहकर [अपनी दिव्य झाँकीसे] मनको मोहित करता रहता है, यही [मुझसे होनेवाले समस्त कार्योंमें] गुण-दोषका भागी है; क्योंकि यह मनुष्य स्वयं तो एक तिनकेके तुल्य है। [जैसे तिनकेको वायु जहाँ चाहे उड़ाकर रख देती है, वैसे ही अन्तर्यामी कृष्ण मुझसे जैसा चाहे कार्य करा सकता है] ॥ ३ ॥

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥४॥

यदि योगी लोग ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा उस निर्गुण, निष्क्रिय एवं किसी विलक्षण ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो वे वैसा करते रहें। हमारे लिये तो यमुनाके कूल-किनारोंपर जो कोई अद्भुत नील तेज दौड़ता रहता है, वही नेत्रोंमें चिरकालतक चकाचौंध पैदा करता रहे ॥ ४ ॥

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥ ५ ॥

जिसने प्रणतजनोंके भव-बन्धनको दूर कर दिया है तथा जो मनुष्यके आकारमें साक्षात् परब्रह्म है—नन्दके पुत्रभावको प्राप्त हुए उस सौन्दर्यराशिके सर्वस्व सारभूत दिव्य तेजको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ ६ ॥

जिनके कोमल हाथ मुरलीसे सुशोभित हो रहे हैं, दिव्य अङ्गोंकी आभा नूतन जलधरके समान साँवली है; तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्बफलके समान लाल-लाल ओठ, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश सुन्दर मुख और कमल-जैसे खिले हुए बड़े-बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्णसे बढ़कर मैं दूसरे किसी तत्त्वको नहीं जानता ॥ ६ ॥

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः ॥ ७ ॥

प्रमाणोंसे भी भलीभाँति निश्चित किये हुए श्रीकृष्णचन्द्रके अद्भुत माहात्म्यको जो लोग नहीं सह सकते, वे मूर्ख मानो नरकमें गिर चुके हैं ॥ ७ ॥

यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम्।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥ ८ ॥

जिनकी भक्तिके विना मुक्ति नहीं मिलती तथा जो सभी योगियोंके सेव्य हैं उन परमानन्दघन श्रीनन्दनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥

—श्रीमधुसूदन सरस्वती

पार्थस्येवात्मगीताहृदयमुपदिशन् यो ममापार्थभावं
प्रच्याव्याहन्धनित्वं वितनु कृतिमिहाभीप्सितं प्राप्स्यसीति।
सानन्दं सन्दिदेश स्फुरतु स पुरतः सान्द्रजोमूतधामा
श्रीमानद्वैतभूमा मम परमगुरुः श्रीयशोदाकिशोरः ॥ १ ॥

जिन्होंने पार्थ (अर्जुन) की भाँति मुझे भी अपनी गीताके तत्त्वका उपदेश देते हुए मेरे अपार्थभाव (व्यर्थ भावनाओं) को दूरकर मुझे धन-दौलतसे अलग रक्खा; तथा 'तुम इस जगत्में अपनी कृति (रचना) का विस्तार करो, इससे अपने अभीष्ट भावको प्राप्त कर लोगे' इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक अपना सन्देश सुनाया—वे सजल जलधरके समान श्यामसुन्दर अद्वैतभावपूर्ण परमगुरु श्रीयशोदानन्दन मेरे सामने प्रकट हों ॥ १ ॥

जातासि त्वं मुरहरमुखाज्जाह्नवी तस्य पादात्
सर्वानभ्युद्धरति भवती सा तु मज्ञान् विधत्ते।
प्रत्यग्ब्रह्मामृतरसनिधिं प्राप्य विश्राम्यसि त्वं
मातर्गीते जडनिधिमियं माति न त्वत्प्रभावः ॥२॥

हे मातः ! गीते ! तुम भगवान् विष्णुके मुखसे प्रकट हुई हो और गङ्गा उनके पैरसे । तुम सबका उद्धार करती हो किन्तु वह सबको डुबो देती है (उसके जलमें सभी लोग डुबकी लगाते हैं)। तुम अन्तर्यामी चेतनरूप अमृत रसके सागरको प्राप्त करके विश्राम लेती हो, परन्तु वह केवल जड-निधि (जलकी राशि) में जाकर मिलती है। माँ ! तुम्हारा यह व्यापक प्रभाव कहीं भी एकदेशमें नहीं समा सकता ॥ २ ॥

—श्रीवेङ्कटनाथ

हृत्खे रूढमनाविलं रसपदं हासप्रकाशोज्ज्वलं
कारुण्यादिगुणौघशैत्यशरणं शान्त्यान्वितं छायया।
अज्ञानार्कजतापघर्मशमनं सच्चातकैरर्थितं
ब्रह्मानन्दसुवर्षणोन्मुखमहं कृष्णाख्यमेघं श्रये ॥ १ ॥

जो हृदयरूपी आकाशमें विराजमान है, निर्मल है, रस (आनन्द अथवा जल) का आधार है, जो हासरूपी विद्युत्प्रकाशसे देदीप्यमान हो रहा है, जिसमें करुणा आदि सद्गुणरूप शीतलता भरी है, जो अपनी शान्तिमयी कान्तिसे सुशोभित है, अज्ञानमय सूर्यसे उत्पन्न त्रिविध तापरूपी घामको शान्त करनेवाला है, संतरूपी चातक जिससे आनन्दमय रसकी याचना किया करते हैं, जो ब्रह्मानन्दमय जलकी वर्षा करनेको उद्यत है—उस श्रीकृष्णनामक मेघ (घनश्याम) की हम शरण लेते हैं ॥ १ ॥

क्व शास्त्रं गीताख्यं हरिमुखसरोजाद्विगलितं
क्व चास्माकं बुद्धिर्विषयविषपङ्के निपतिता।
तथापि श्रीकान्तप्रचुरगुणलक्ष्मीविरचितं
कटाक्षं स्वच्छाच्छं ह्यनुसृतवतां किं न सुलभम् ॥ २ ॥

कहाँ तो भगवान् श्रीकृष्णके मुख-कमलसे निकला हुआ यह गीताशास्त्र ! और कहाँ विषयरूप विषके कीचड़में फँसी हुई हमलोगोंकी बुद्धि ! [ऐसी बुद्धिसे हम गीताशास्त्रकी व्याख्या क्या कर सकते हैं ! फिर भी हम हताश नहीं हैं, भगवान्की कृपाके ही बलपर इस शुभ कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं;] भला, जो भगवान् लक्ष्मीपतिके अनन्त गुणयुक्त और अमित शोभासम्पन्न परम उज्ज्वल कृपाकटाक्षका अनुसरण करनेवाले हैं, उन्हें इस जगत्में क्या नहीं सुलभ है ? [वे भगवान् ही सद्बुद्धि देकर इस कार्यको पूर्ण करेंगे] ॥ २ ॥

इदं गीताशास्त्रं परमपुरुषार्थैकनिलयं
त्रिकाण्डं वेदार्थं सकलमिह सङ्गृह्य कथितम्।
स्वयं श्रीकृष्णेन श्रुतिविशदतत्त्वेन विभुना
जपाद् ध्यानाज्ज्ञानाच्छ्रुतमपि फलत्येव सुधियाम्॥३॥

यह गीताशास्त्र परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का एकमात्र आश्रय है—एकमात्र गीताके ही सेवनसे परमपुरुष परमेश्वरकी प्राप्ति हो सकती है । जो वेदोंके विशद तत्त्व—परम प्रतिपाद्य विषय परब्रह्मस्वरूप हैं, उन सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही इस गीताशास्त्रमें कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों काण्डोंसे युक्त समस्त वेदोंके अर्थका संग्रह करके प्रतिपादन किया है । इसका पाठ करने, इसके अर्थका चिन्तन करने, अध्ययनके द्वारा इसको जानने अथवा श्रवणमात्र करनेपर भी यह गीताशास्त्र सुबुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य ही अभीष्ट फल देनेवाला होता है ॥ ३ ॥

रताः केचिद्योगे विजितकरणाः संयतधियः
क्रियाजाले केचित् सुखलवरसास्वादनपराः।
रताः शास्त्राभ्यासे विशदमतयः केचिदजडा
वयं तु श्रीकान्ताननवचनमास्वाद्य कृतिनः ॥ ४ ॥

कुछ लोग अपनी समस्त इन्द्रियोंको जीतकर मन-बुद्धिका संयम करके योगाभ्यासमें लगे हुए हैं, कोई-कोई लोक-परलोकके लेशमात्र सुख-भोगोंका रसास्वादन करनेमें आसक्त होकर कर्म-जालमें फँसे हुए हैं तथा कुछ निर्मल बुद्धिवाले सचेत पुरुष अनेकों शास्त्रोंके अभ्यासमें प्रवृत्त हैं; किन्तु हम तो भगवान् श्रीपतिके मुखसे प्रकट हुए वचनामृत (गीताशास्त्र) का ही आस्वादन करके कृतार्थ हो रहे हैं ॥ ४ ॥

न विद्या येषां श्रीर्न शरणमपीषन्न च गुणाः
परित्यक्ता लोकैरपि वृजिनयुक्ताः श्रुतिजडाः।
शरण्यं यं तेऽपि प्रसृतगुणमाश्रित्य सुजना
विमुक्तास्तं वन्दे यदुपतिमहं कृष्णममलम् ॥ ५ ॥

जिनके पास न विद्या है, न धन, जिन्हें कोई सहारा देनेवाला नहीं है, जिनमें थोड़े भी सद्गुण नहीं हैं, जो वेद-शास्त्रोंके विषयमें कोरे जड हैं—कुछ भी पढ़े-लिखे नहीं हैं, संसारके लोगोंने भी जिन्हें अघी समझकर त्याग दिया है—वे असहाय

प्राणी भी जिन शरणागतपालक प्रभुकी शरण लेकर संत बन जाते और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, उन विश्वविख्यात गुणों-वाले अमलात्मा यदुनाथ श्रीकृष्ण भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

महीभारोद्धारं सुजनपरिवारं सुरगुरुं
गुणाधारं सारं निरवधिविहारं रसरसम् ।
परप्रेमागारं व्रजभुवि सुचारं कलपदं
हरिं वारं वारं हृदि गतमुदारं सुकलये ॥ ६ ॥

जो पृथ्वीका भार उतारनेवाले हैं; साधु पुरुष ही जिनके परिवार हैं अथवा साधु पुरुषोंकी जो सब ओरसे रक्षा करते हैं; जो देवताओंके गुरु, समस्त सद्‌गुणोंके धाम और नित्य हैं; जिनकी लीलाका कभी अन्त नहीं होता; जो रसके भी रस, परम प्रेमके आस्पद और व्रजभूमिमें विचरनेवाले हैं; जिनके पद (वचन अथवा चरण) कोमल हैं—अपने हृदयमें स्थित उन उदार श्रीहरिका मैं बारंबार चिन्तन करता हूँ ॥ ६ ॥

अविद्याकामाद्यैर्दृढतरसुमूलैरुपचितं
फलैर्दुःखाकारैर्निबिडमजरं भ्रान्तिबहुलम् ।
द्रुमं संसाराख्यं विषमगतिमुच्छेत्तुमचिरात्
क्षमा यत्पादाब्जे रतिरनुदिनं नौमि तमजम् ॥ ७ ॥

जो अविद्या, कामना आदि दृढमूल दोषोंसे बढ़ा हुआ है, दुःखरूप फलोंसे व्याप्त और अजर है—पुराना नहीं हुआ है तथा जहाँ भ्रम (अज्ञान) की ही अधिकता है, उस विषम अवस्थावाले संसार-वृक्षका शीघ्र ही समूलोच्छेद करनेके लिये जिनके चरण-कमलोंमें बढ़ी हुई भक्ति ही समर्थ है—उन अजन्मा भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रतिदिन प्रणाम करता हूँ ॥ ७ ॥

यं न प्रकाशयति भानुरपीन्दुरग्निः
स्वज्योतिषा सकलभासकमप्रमेयम् ।
यं प्राप्य संसृतिनिधौ न पतन्ति धीरा-
स्तं सर्वभूतहृदयं हरिमाश्रयेऽहम् ॥ ८ ॥

अपने प्रकाशसे सबको प्रकाशित करनेवाले जिन अप्रमेय परमात्माको सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकते तथा जिन्हें पाकर धीर पुरुष संसारसमुद्रमें नहीं गिरते—उन समस्त भूतोंके अन्तर्यामी श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ८ ॥

कृष्णाकृष्टा सभायां सपदि कुरुपतेर्यं शरण्यं श्रितासीन्-
मुक्ता दुःखाद्गजेन्द्रो जलचरविवशो यं स्मरन् पाशमुक्तः ।
कारागारे निरुद्धाः शरणमुपगता यं नृपा मुक्तबन्धा
आसंस्तं श्रीमुकुन्दं सततमहमजं नौमि मुक्तेर्निदानम् ॥ ९ ॥

कुरुराज दुर्योधनकी सभामें जिस समय द्रौपदी हठात् खींचकर लायी गयी और उसका वस्त्र उतारा जाने लगा, उस समय वह जिन शरणागतरक्षक प्रभुकी शरणमें जाकर तत्काल उस कष्टसे छुटकारा पा गयी; तथा जलचर ग्राहके चंगुलमें फँसा हुआ गजराज जिनका स्मरण करके बन्धनसे मुक्त हो गया और जरासन्धकी कैदमें पड़े हुए राजालोग जिनकी शरणमें आकर बन्धनसे छूट गये—मुक्तिके आदि कारण उन अजन्मा भगवान् मुकुन्दको मैं सदा प्रणाम करता हूँ ॥ ९ ॥

अद्वैतबोधाब्जसहस्ररश्मिः शान्तेर्लतायाः किल कल्पवृक्षः ।
संसारसन्तापविनाशचन्द्रः कृष्णः सदाह्लादकरो ममास्तु ॥ १० ॥

जो अद्वैत-ज्ञानरूपी कमलको विकसित करनेके लिये सूर्य-के समान हैं, शान्तिमयी लताको आश्रय देनेके लिये साक्षात् कल्पवृक्षरूप हैं और सांसारिक तापको नष्ट करनेके लिये चन्द्रमाके समान हैं—वे भगवान् श्रीकृष्ण सदा ही मेरे आनन्द-को बढ़ावें ॥ १० ॥

मेघश्यामोऽवदातस्मितमधुरमुखस्तोत्रवेत्रैकपाणि-
र्बीभत्सोः सम्मुखेऽजः श्रुतिसुरभिपयोदोहनार्थं प्रवृत्तः ।
लोकानुद्धर्तुकामः श्रुतिविशदयशा भक्तिवश्योऽमलात्मा
स्वामी सर्वस्य कृष्णो वसतु मम मतौ ब्रह्मविद्याश्रितोऽसौ ॥

जो मेघके समान सुन्दर श्यामवर्ण हैं, जिनका मुख धवल मुसकानसे सुशोभित एवं अत्यन्त मनोहर है, जो अपने एक हाथमें बेंतका चाबुक लिये हुए हैं तथा समस्त लोकोंका उद्धार करनेकी इच्छासे मन-ही-मन खिन्न हुए अर्जुनके समक्ष श्रुतिरूपिणी कामधेनुका दूध दुहनेमें प्रवृत्त हैं, वेदोंमें जिनकी उज्ज्वल यशोराशिका वर्णन किया गया है तथा जो भक्ति करनेसे वशीभूत हो जाते हैं—वे ब्रह्मविद्याके आश्रित अमलात्मा, अजन्मा एवं सबके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण मेरी बुद्धिमें निवास करें ॥ ११ ॥

पीतं वासो दधानं विजयरथगतं ब्रह्मरुद्रादिवन्द्यं
भूमेर्भारं जिहीर्षुं नवजलदरुचं शङ्खचक्राब्जहस्तम् ।
पार्थव्याजेन लोकं निगममतसृतौ योजयन्तं महेशं
ध्यायेन्नित्यं सुसेव्यं सुजनमतिगृहं कृष्णमानन्दकन्दम् ॥

जो पीतवस्त्र धारण किये हुए हैं, ब्रह्मा एवं रुद्र आदिके वन्दनीय होते हुए भी अर्जुनके रथपर सारथिके रूपमें विराजमान हैं तथा जो पृथ्वीका भार उतारना चाहते हैं, जिनकी नवीन मेघमण्डलीके समान श्यामल कान्ति है, जिनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और कमल सुशोभित हैं, जो अर्जुनके व्याज समस्त लोकको वेदसम्मत मार्गपर ला रहे हैं, संतोंकी बुद्धिमें जिनका निवास है, जो परम महेश्वर एवं सम्यक् प्रकारसे सेवन करनेयोग्य हैं—उन आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णका सदा ही चिन्तन करना चाहिये ॥ १२ ॥

श्रियो वासं वृन्दावनकृतनिवासं श्रुतिपदं
कलावासावासं सुरनरसुखावासजलधिम् ।
महोल्लासोल्लासं सुजनहृदि वासं गुणनिधिं
प्रतिश्वासं वन्दे निरवधिविलासं मधुरिपुम् ॥१३॥

जिनके वक्षःस्थलमें लक्ष्मीजीका निवास है, जिन्होंने वृन्दावनमें वास किया है, जो श्रुतियोंके आधार हैं, समस्त कलाओंके निवासके लिये जो आवास (घर) के समान हैं—अर्थात् जिनमें सम्पूर्ण कलाएँ वास करती हैं, जो देवता और मनुष्योंको सुख देनेके लिये समुद्रमें (द्वारकापुरीके भीतर) निवास करते हैं, जो महान् उल्लाससे उल्लसित हो रहे हैं, जिनका लीलाविलास अनन्तकालतक चलता रहता है—संतोंके हृदयमें निवास करनेवाले उन गुणसागर भगवान् मधुसूदनको मैं अपने प्रत्येक श्वासके साथ नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥

यत्पादपद्ममकरन्दरसानुभूति-
प्राप्ताखिलामृतसुखानुभवेन तृप्ताः ।
पौरन्दरीं श्रियमथोऽवगणय्य धीरा-
स्तिष्ठन्ति यत्र स हरिः शरणं ममास्तु ॥१४॥

जिनके चरण-कमलोंके मकरन्द-रसके आस्वादनसे प्राप्त अखण्ड मोक्षसुखका अनुभव करके तृप्त हुए धीर पुरुष इन्द्रकी राज्यलक्ष्मीका भी अनादर करके जिनमें रमे रहते हैं, वे भगवान् श्रीहरि मुझे शरण दें ॥ १४ ॥

मन्दस्मितं रुचिरकान्तिविलासशोभि-
स्वाभाविकामृतरसाकरमप्रमेयम् ।
ध्याने स्वयं श्रितवतां रमयाञ्चितं श्री-
कृष्णाननं व्रजति नाशमयं कुदोषः ॥१५॥

जहाँ मन्द-मन्द मुसकानकी छटा छा रही है, जो कमनीय कान्तिके विलाससे सुशोभित स्वाभाविक सुधारसका आगार है, जिसकी कहीं भी उपमा नहीं है, भगवती लक्ष्मीजी भी जिसकी पूजा (प्रशंसा) करती हैं—भगवान् श्रीकृष्णके उस मनोहर मुखका ध्यानमें साक्षात्कार करनेवाले पुरुषोंके ये समस्त कुत्सित दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥

योगी योगबलेन संसृतिमिमां त्यक्त्वाऽऽत्मसौख्ये स्थितः
कर्मी कर्मजलोकभोगरसिकस्तस्मिन्नुपाये रतः ।
अस्माकं तु नवीनवारिदरुचिर्मन्दस्मितेनाञ्चितो
गोगोपीजनवत्सलः सुखनिधिः कृष्णः शरण्यो गतिः ॥

योगी अपने योगबलसे इस संसारको त्यागकर आत्मानन्दमें निमग्न है और कर्मी अपने कर्मोंद्वारा प्राप्त हुए दिव्य लोकोंके भोग भोगनेमें आसक्त हो उसी (दिव्य लोकोंको प्राप्त करानेवाले) उपायमें लगा हुआ है। परन्तु हमारे लिये तो गौओं और गोपियोंपर स्नेह करनेवाले नवीन मेघमालाके समान श्यामसुन्दर, मन्द मुसकानसे सुशोभित सुखसागर भगवान् श्रीकृष्ण ही शरण देनेवाले और सहारे हैं ॥ १६ ॥

परब्रह्मानन्दे सकलसुरवन्द्ये स्वरसतः
क्षतद्वन्द्वे मन्दाकृतिदनुजकन्दाङ्कुरहरे ।
श्रियः कन्दे नन्दात्मज उदितचन्द्रस्मितमुखे
मुकुन्दे स्पन्दो मे भवतु मनसो द्वन्द्वविरतेः ॥१७॥

जो समस्त देवताओंके वन्दनीय, अपने रससे सम्पूर्ण द्वन्द्वोंके क्षयकारक, दुष्ट दानवरूपी कन्दके अङ्कुरका उच्छेद करनेवाले और शोभाके मूल हैं; जिनका मधुर मुसकानसे विभूषित मुख नवोदित चन्द्रमाके समान कान्तिमान् है—उन परब्रह्मानन्दमय नन्दनन्दन भगवान् मुकुन्दमें ही द्वन्द्वोंसे विरक्त हुए मेरे मनकी सारी चेष्टाएँ हों ॥ १७ ॥

—सदानन्द

यन्नामस्मृतिमात्रेण निःशेषक्लेशसंक्षयः ।
जायते तत्क्षणादेव तं श्रीकृष्णं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

जिनके नामका स्मरणमात्र करनेसे तत्काल ही समस्त क्लेशोंका नाश हो जाता है, उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

—पुरुषोत्तमजी

गौरांशुकः सत्कुमुदप्रमोदी
स्वाभिख्यया गोस्तमसो निहन्ता ।

श्रीकृष्णचैतन्यसुधानिधिर्मे
मनोऽधितिष्ठन् स्वरतिं करोतु ॥ १ ॥

जिनके वस्त्र या किरणें श्वेत हैं, जो संतरूपी कुमुदोंको आनन्दित करनेवाले और अपनी दिव्य कीर्तिरूप कान्तिसे मन, इन्द्रिय, वाणी तथा दिशाओंके तम (अज्ञान या अन्धकार) का नाश करनेवाले हैं—वे श्रीकृष्णचैतन्यरूपी चन्द्रमा मेरे हृदयाकाशमें विराजमान होकर मुझे अपना प्रेम प्रदान करें ॥१॥

प्राचीनवाचः सुविचार्य सोऽह-
मज्ञोऽपि गीतामृतलेशलिप्सुः ।
यतेः प्रभोरेव मते तदत्र
सन्तः क्षमध्वं शरणागतस्य ॥ २ ॥

हे संतजनो ! मैं अज्ञानी होकर भी संन्यासवेषधारी महाप्रभु भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यकी ही प्रेरणाके अनुसार प्राचीन विद्वानोंकी वाणीको भलीभाँति विचारकर गीताके अमृतसागरका लेशमात्र प्राप्त करना चाहता हूँ, इसलिये इस कार्यमें मुझ शरणागतके अपराधोंको आप क्षमा करें ॥ २ ॥

—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती

सत्यानन्ताचिन्त्यशक्त्येकपक्षे
सर्वाध्यक्षे भक्तरक्षातिदक्षे ।
श्रीगोविन्दे विश्वसर्गादिकन्दे
पूर्णानन्दे नित्यमास्तां मतिर्मे ॥ १ ॥

सत्य, अनन्त और अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होना—यही एक पक्ष जिनमें सम्भव है, जो सबके अध्यक्ष (साक्षी) और अपने भक्तोंकी रक्षा करनेमें अत्यन्त दक्ष हैं; तथा जो विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहारके कारण हैं—उन पूर्णानन्दमय भगवान् गोविन्दमें हमारी मनोवृत्ति सदा ही लगी रहे ॥१॥

यदिच्छातरिं प्राप्य गीतापयोधौ
न्यमज्जं गृहीतातिचित्रार्थरत्नम् ।
न चोत्थातुमस्मि प्रभुर्हर्षयोगात्
स मे कौतुकी नन्दसूनुः प्रियः स्तात् ॥ २ ॥

जिनकी इच्छारूपिणी नौकाका सहारा पाकर मैं गीता-समुद्रमें अत्यन्त विचित्र अर्थरूपी रत्नका संग्रह करते-करते डूब गया हूँ और अत्यन्त आनन्दकी प्राप्ति होनेके कारण अब यहाँसे ऊपर उठनेकी शक्ति मुझमें नहीं रह गयी है, वे परम कौतुकी भगवान् नन्दनन्दन मेरे प्रिय हों ।

—श्रीबलदेव विद्याभूषण

यो मायां जगदेकमोहनकरीमाश्रित्य सृष्ट्वाऽऽलयं
देहं जीवतयानुविश्य मतिभिः संयाति नानात्मताम् ।
वन्दे तं परमार्थतः सुखघनं ब्रह्माद्वयं केवलं
कृष्णं वेदशिरोभिरेव विदितं श्रीशङ्करं शाश्वतम् ॥१॥

जो समस्त जगत्को एकमात्र मोहनेवाली मायाका आश्रय ले, शरीररूपी गृहकी रचना कर, पश्चात् उसमें जीव-रूपसे प्रविष्ट हो विभिन्न बुद्धियोंके द्वारा नाना भावको प्राप्त हो रहे हैं तथा जो वस्तुतः आनन्दघन एवं असङ्ग अद्वितीय ब्रह्म हैं, और वेदोंके शीर्षस्थानीय (उपनिषदोंके) मन्त्रोंद्वारा ही जिनका ज्ञान होता है उन शङ्करस्वरूप—कल्याणकारी सनातनदेव श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ* ॥ १ ॥

आकाशस्य यथा घटादिभिरसौ भेदो न वास्त्यर्थतः
एवं ब्रह्मणि निर्गुणेऽतिविमले बुद्ध्यादिभिः कल्पितः ।
यस्मिन्नेकरसे विमायममितं तं वासुदेवं भजे
सत्यानन्दचिदात्मकं गुरुगुरुं शर्वं तमोनाशकम् ॥२॥

जिस प्रकार घट आदि उपाधियोंके द्वारा होनेवाला आकाशका वह (घटाकाश, पटाकाश आदि) भेद वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार उपाधिकृत दोषोंसे रहित जिन अत्यन्त शुद्ध, एकरस, निर्गुण ब्रह्ममें बुद्धि आदिके द्वारा कल्पित भेद सत्य नहीं है तथा जो मायासे अतीत, प्रमाणोंके अविषय और सत्यानन्दज्ञानस्वरूप हैं—उन अज्ञाननाशक, गुरुओंके भी गुरु, शर्वरूप भगवान् वासुदेवको मैं भजता हूँ ॥ २ ॥

सृष्ट्वेदं श्रुतिगं प्रवृत्तिजनकं धर्मं मरीच्यादिकान्
विश्वस्थापनहेतवेऽब्जजतनुः संग्राहयामास यः ।
सर्वानर्थनिबर्हणं च सनकाद्यान् पूर्वसृष्टानृषीन्
वैराग्यादिकलक्षणं शिवमहं तं वासुदेवं भजे ॥३॥

जिन्होंने पद्मयोनि ब्रह्माजीके रूपमें प्रकट होकर इस विश्वकी रचना करके इसकी स्थिति कायम रखनेके लिये मरीचि आदि प्रजापतियोंको प्रवृत्तिजनक वैदिक धर्मका उपदेश दिया तथा सबसे प्रथम उत्पन्न हुए सनकादि ऋषियोंके प्रति सम्पूर्ण अनर्थोंका नाश करनेवाले वैराग्यादि-रूप निवृत्तिमार्गकी शिक्षा दी, उन शिवस्वरूप भगवान् वासुदेवको मैं भजता हूँ ॥ ३ ॥

* इन श्लोकोंमें भगवान् शिव और कृष्णको अभिन्न मानकर दोनोंका ही स्तवन किया गया है ।

अजन्मा सर्वेषामधिपतिरमेयोऽपि जगता-
मधिष्ठाय स्वीयां प्रकृतिमिव देही स्फुरति यः ।
विनष्टं कालेन द्विविधमसृतं धर्ममनघं
पुनः प्राहेशं तं विमलशुभदं नौमि परमम् ॥४॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अविषय, सम्पूर्ण जगत्के अधीश्वर और अजन्मा होकर भी जो अपनी प्रकृति (माया) का आश्रय लेकर देहधारीके समान प्रतीत होते हैं; तथा जिन्होंने काल-क्रमसे नष्ट हुए दोषरहित [सांख्ययोग और कर्मयोग नामक] दो भेदोंवाले अमृत (मोक्षसाधक) धर्मका पुनः अर्जुनके प्रति उपदेश किया—उस निर्मल कल्याणमय ज्ञानका उपदेश देनेवाले परमेश्वर श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ ॥४॥

यतो जातं येन स्थितमिदमशेषं प्रविलयं
प्रयात्याद्ये यस्मिन् श्रुतिभिरुदिते जन्तव इमे ।
भवन्त्येकं ब्रह्मामलममृतमाराध्य यमहं
शिवं रामं कृष्णं तमजमजरं नौम्यखिलगम् ॥५॥

यह जगत् जिनसे प्रकट हुआ है, जिनके ही द्वारा इसका पालन हो रहा है तथा जिन वेदप्रतिपादित आदि-देवमें ही इस अखिल विश्वका लय होता है; जिनकी आराधना करके सम्पूर्ण जीव एकमात्र अविनाशी विमल ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं—उन सर्वव्यापी, जरा आदि अवस्थाओंसे रहित, अजन्मा एवं शिव, राम और कृष्ण आदि नामोंसे कहे जानेवाले परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

चिदानन्दे यत्रादितिजनरयक्षासुरयुतं
विभातं त्रैलोक्यं सति भवति नाश्चर्यजनकम् ।
अनन्ताण्डाधारे तमजमजरात्मानमसृतं
शिवं कृष्णं वन्दे निखिलहृदिगं द्रष्टुमभयम् ॥६॥

अनन्त ब्रह्माण्डोंके आधारभूत जिन चिदानन्दमय परमेश्वरकी सनातन सत्ता होनेके कारण ही उनमें प्रतीत होनेवाला यह देवता, मनुष्य, यक्ष और असुर आदिसे युक्त त्रिभुवन आश्चर्यजनक नहीं जान पड़ता—उन अजन्मा, अजर, अमर, निर्भय एवं सर्वान्तर्यामी शिवस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको मैं उनका दर्शन पानेके लिये प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥

श्रीवासुदेवो भगवान् स एव भक्ताय पार्थाय तु भारते वै ।
मोहापहं शास्त्रमुवाच गीतां सर्वेश्वरं तं शरणं प्रपद्ये ॥७॥

[ऊपर जिनकी महिमाका वर्णन किया गया है] उन भगवान् श्रीवासुदेवने ही महाभारत-युद्धमें अपने भक्त अर्जुनके प्रति इस मोहनाशक गीताशास्त्रका उपदेश किया । मैं सम्पूर्ण जगत्के स्वामी उन प्रभुकी शरण लेता हूँ ॥ ७ ॥

—धनपति सूरि

संविदानन्दसन्दोहसान्द्रमिन्दीवरेक्षणम् ।
इन्दिरामन्दिरं देवं वन्दे तं नन्दनन्दनम् ॥ १ ॥

जो ज्ञानानन्दसन्दोहसे घनीभूत हैं, नीलकमलके समान खिले हुए जिनके सुन्दर नेत्र हैं—उन लक्ष्मीनिवास भगवान् नन्दनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

अज्ञः सुज्ञत्वसीमामनुभवति भवान्नैति रङ्कोऽपि शङ्कां
स्यान्मूको वावदूको व्रजति शिखरिणां पङ्गुरुल्लङ्घ्य सङ्घम् ।
दुःखाब्धेर्नोपलब्धिः स खलु विजयते यत्कृपापाङ्गसङ्गा-
दन्तर्यामी समीपे मम परमगुरुः श्रीयशोदाकिशोरः ॥ २ ॥

जिनके कृपा-कटाक्षका संसर्ग होनेसे अज्ञानी भी ज्ञानकी पराकाष्ठाका अनुभव करने लगता है, दरिद्र भी सांसारिक कष्टसे भय नहीं मानता, गूँगा भी बहुत बड़ा वक्ता हो जाता है, पैरोंसे हीन मनुष्य भी पर्वत-समूहको लाँघ जाता है और दुःखके समुद्रका कभी दर्शन भी नहीं होता—वे मेरे परम गुरु अन्तर्यामी यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्ण मेरे समीपमें ही विजयी एवं विराजमान हो रहे हैं ॥ २ ॥

अम्भोधिं कुम्भडिम्भश्चुलुकितमकरोन्मूर्ध्नि धत्तेऽतिगुर्वी-
मुर्वीं दर्वीकरोति प्रदहति दहनो वर्षति प्रावृषेण्यः ।
मेघौघो वाति वातः प्रतपति तपनो रत्नसूर्भूमिरेभि-
र्लोकातीतोऽभिनीतो यदुकुलतिलकानुग्रहो निग्रहो वा ॥ ३ ॥

कुम्भज ऋषि समुद्रको अपने चुल्लूमें लेकर पी गये, शेषनाग इस अत्यन्त भारी पृथ्वीको सिरपर धारण करते और दर्वी (करछुल) के समान हलकी मानते हैं, अग्नि सदा जलाता है, वर्षाकालमें मेघसमूह पानी बरसाता है, हवा चलती है, सूर्य तपता है, पृथ्वी रत्न पैदा करती है—इस प्रकार इन सबने यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक अनुग्रह या निग्रहका ही अभिनय (प्रदर्शन) किया है ॥ ३ ॥

वार्ष्णेयब्रह्मशैलादृजुशतपथगा ज्ञानविज्ञानकूला
पार्थस्य प्रार्थनातश्चिरममृतवहा प्रत्यगानन्दसिन्धुम्।
सम्प्राप्तार्थप्रवाहप्रपतितविततश्वत्थमुन्मूलयन्ती
गीता स्फीता निमङ्क्तुः सकलकलिमलं स्वर्धुनीयं धुनीते ॥४॥

यह गीतारूपिणी उज्ज्वल गङ्गा अपनेमें डुबकी लगानेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कलिमलोंको धो डालती है, यह पार्थकी प्रार्थनापर श्रीकृष्णरूपी ब्रह्मगिरिसे निकलकर सैकड़ों सरल मार्गोंसे होती हुई ज्ञान-विज्ञानरूप दो तटोंके बीचसे होकर चिरकालके लिये अमृतरसको बहाती हुई आत्मानन्द-समुद्रमें जाकर मिली है और अपने अर्थ-प्रवाहमें पड़े हुए विस्तृत जगत्‌रूप अश्वत्थवृक्षका मूलोच्छेद करती जा रही है !* ॥ ४ ॥

आचार्याः सन्ति कुत्राप्यतिविमलधियो वेदशास्त्रागमानां
दुष्प्रापस्तावदास्ते त्रिजगति नितरामात्मतत्त्वोपदेष्टा।
एवं सत्यर्जुनस्याद्भुतविकलवतो वर्ण्यते किन्नु भाग्यं
यस्याचार्यस्य हेतोः स्वयमुपनिषदामर्थ आविर्बभूव ॥ ५ ॥

वेद, शास्त्र और तन्त्रोंके विद्वान् अत्यन्त निर्मल बुद्धिवाले आचार्य कहीं-कहीं ही हैं (सर्वत्र नहीं); उनमें भी आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाला तो तीनों लोकोंमें अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसी परिस्थितिमें भी अद्भुत विकलतासे युक्त हुए अर्जुनके भाग्यका क्योंकर वर्णन किया जाय ! जिनका आचार्य होनेके लिये उपनिषदोंका अर्थभूत साक्षात् परब्रह्म ही देह धारण करके प्रत्यक्ष प्रकट हो गया ॥ ५ ॥

साक्षाद् वैकुण्ठवाचो निजभजनवतां मुक्तिहेतोः प्रवृत्ताः
सर्वाम्नायाश्च गीताः सततमथ मिथो या वियुक्ता बभूवुः।
ता एकत्रानुयोक्तुं सुरसरित इवान्तर्नियुक्तो विनेत्रा।
देवेनान्तःप्रवृत्तोऽस्म्यहमिह भविता तावताहं कृतार्थः ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण वेद और गीता—ये साक्षात् विष्णुभगवान्‌की वाणी हैं और ये सभी गङ्गाजीकी भाँति सदा भगवान्‌का भजन करनेवाले मनुष्योंकी मुक्तिके लिये ही प्रवृत्त हुए हैं। किन्तु इनमें जो-जो वचन परस्पर वियुक्त (विरुद्ध) से प्रतीत होते हैं, उन सबका एकत्र समन्वय करनेके लिये सर्वनियन्ता परमात्माने अन्तःकरणमें प्रेरणा करके जो मुझे इस कार्यमें प्रवृत्त किया है, इतनेहीसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा ॥६॥

एतस्मिन् भगवच्छास्त्रे न यौक्तिकमताग्रहः।
सर्वोपनिषदध्यात्ममेतदात्मानुभूतिकृत् ॥ ७ ॥

भगवान्‌के इस गीताशास्त्रमें युक्तिवादियोंका मताग्रह नहीं है, यह तो आत्मतत्त्वका अनुभव करानेवाला सम्पूर्ण उपनिषदोंका सारभूत अध्यात्मशास्त्र है।

—दैवज्ञ पण्डित सूर्य

अशेषगुणपूर्णाय दोषदूराय विष्णवे।
नमः श्रीप्राणनाथाय भक्ताभीष्टप्रदायिने ॥ १ ॥

जो समस्त कल्याणमय गुणोंसे परिपूर्ण और सब प्रकारके दोषोंसे दूर हैं—भक्तोंको अभीष्ट फल देनेवाले उन लक्ष्मीके प्राणनाथ भगवान् विष्णुको प्रणाम है ॥ १ ॥

—श्रीराघवेन्द्र

यस्याभाति गले पयोधिमथनप्रोद्भूतहालाहल-
ज्वालादुःस्थजगत्त्रयीभयभरध्वान्तं निपीतं सुरैः।
विघ्नै राशुनिगीर्णभक्तजनतादुःखानलप्रोद्भव-
धूमोत्पादितकज्जलं भगवते तस्मै नमः सर्वदा ॥ १ ॥

जिस समय समुद्रका मन्थन करनेपर उससे हालाहल विष प्रकट हुआ और उसकी भयङ्कर ज्वालासे तीनों लोक दग्ध होने लगे, उस समय शङ्करजीने उस विषको—जो मानो दुःखमें पड़ी हुई त्रिलोकीका महान् भयरूपी अन्धकार ही था—दयावश पी लिया; इससे उनके कण्ठमें काला दाग पड़

* इस श्लोकमें वाच्य रूपक अलङ्कारके द्वारा व्यतिरेक अलङ्कार अभिव्यञ्जित हुआ है और इसके द्वारा गीताके महत्त्वको गङ्गासे बढ़कर बताया गया है। गङ्गा केवल त्रिपथगा है और यह 'शतपथगा' है, उसके मार्ग टेढ़े हैं और इसके ऋजु (सीधे)। उसके कूल पार्थिव एवं जड हैं और इसके ज्ञान-विज्ञान हैं। वह केवल जल (जड) को बहाती है और यह चेतन अमृतरस बहाती है। वह जलराशि (या जडराशि) में मिलती है और यह आत्मानन्द-समुद्रमें। उसका जल कभी-कभी बाढ़के अवसरपर मैला भी होता है, पर यह सदा ही स्फीत—उज्ज्वल रहती है। वह भगीरथकी कठोर तपस्यापर प्रकट हुई और यह केवल पार्थकी प्रार्थना सुनकर ही प्रकट हो गयी। इससे इसकी अधिक दयालुता सूचित होती है। वह सारे मलोंको—अज्ञानादिको नहीं दूर करती; किन्तु यह सम्पूर्ण मलोंको धो डालती है। इस प्रकार यह श्लोक ध्वनिकाव्यके अन्यतम भेद—'स्वतःसम्भवी अलङ्कार-व्यङ्ग्य अलङ्कार' नामक काव्यका नमूना है।

गया, उसे देखकर चतुर देवताओंने यों उत्प्रेक्षा की कि 'भगवान् शिवने अपने भक्तजनोंके दुःखरूपी अनलको जल्दी-जल्दी निगल लिया है, उसीसे निकले हुए धूएँने इनके कण्ठमें यह कालिमा उत्पन्न कर दी है।' इस प्रकार जिनके गलेमें विद्यमान नील चिह्नको देवताओंने उपर्युक्तरूपसे माना, उन भगवान् शिवको सदा ही नमस्कार है ॥ १ ॥

आनन्दैकरसे चिदात्मनि परे ब्रह्मण्युमाश्लेषतो
यत्रैश्वर्यवतीश्वरेत्यभिधयैकान्तिक्युपेता स्थितिः।
तस्यैकस्य शिवस्य मायिकगुणप्रोद्भासिभेदां परां
विश्वोत्पत्त्यवनक्षयक्षमतमां मूर्तिंत्रयीं तां नुमः ॥ २ ॥

जो आनन्दमय, एकरस, ज्ञानस्वरूप एवं परब्रह्म हैं तथा परमेश्वरी उमाके सम्पर्कसे जो ऐश्वर्यवान् हो रहे हैं; अतएव जिनमें 'ईश्वर' यह नाम एकान्ततः स्थित हुआ है—जो अकेले ही 'ईश्वर' नामसे कहे जाने योग्य हैं—उन एकमात्र कल्याणकारी भगवान् शिवकी त्रिदेवमयी दूसरी मूर्तिको, जो मायिक गुणोंके कारण भिन्न-सी प्रतीत होती है और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश करनेमें पूर्णतया समर्थ है, हम सदा नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दसविभ्रमेक्षणघनप्रस्यन्दमानै रसै-
र्नाभीचारुतरालवालवलयात्पूर्णादिव प्रोद्गताम्।
तारुण्यस्य मठद्वयीं सुललितामारोढुमुज्जृम्भितां
राधाया रुचिरोदराम्बरगतां शृङ्गारवल्लीं भजे ॥ ३ ॥

मैं श्रीराधिकाजीके उदर-प्रान्तमें स्थित सुन्दर साड़ीके ऊपर (नीवीभाग) तक लटकी हुई शृङ्गारलता (पारिजात-पुष्पकी माला) का चिन्तन करता हूँ, जो भगवान् श्रीकृष्णकी भावभरी चितवनरूपी घनसे बरसते हुए स्नेहरसकी धारासे पूर्ण नाभिरूप मनोहर थाल्हेसे ही मानो पौदेके रूपमें प्रकट हुई है और (वक्षःस्थलमें विराजमान) यौवनके दो मठोंपर चढ़नेके लिये ही मानो ऊपरकी ओर फैली जा रही है ॥ ३ ॥

—श्रीबच्चा झा

विवेकवृक्षोंका बगीचा

गीता विवेकरूपी वृक्षोंका एक अपूर्व बगीचा है। यह सब सुखोंकी नींव है। सिद्धान्त-रत्नोंका भण्डार है। नवरसरूपी अमृतसे भरा हुआ समुद्र है। खुला हुआ परमधाम है। सब विद्याओंकी मूल भूमि है। अशेष शास्त्रोंका आश्रय है। सब धर्मोंकी मातृ-भूमि है, सज्जनोंका प्रेमास्पद मित्र है। सरस्वतीके लावण्य-रत्नोंका भाण्डार है।···यह गीता ज्ञानामृतसे भरी हुई गंगाजी है, विवेकरूपी क्षीरसागरकी नव-लक्ष्मी है।

—महात्मा ज्ञानेश्वर महाराज

गीतानुसारि भगवत्स्तोत्रम्

(श्रीकिशोरलाल घ० मश्रूवालाद्वारा गीताके श्लोकोंके आधारपर सम्पादित)

सर्वधर्मान् परित्यज्य त्वामेकं शरणं गतः ।
त्वमेव सर्वपापेभ्यो मोक्षयस्व हि मां प्रभो ॥ १ ॥

प्रभो ! मैं सारे धर्मोंको छोड़कर केवल तुम्हारी शरणमें आया हूँ, अतः अब तुम्हीं मुझे सब पापोंसे छुटकारा दिलाओ ॥ १ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां त्वमेव हृदये स्थितः ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥२॥

तुम्हीं सम्पूर्ण प्राणियोंको यन्त्रारूढकी भाँति अपनी मायासे नाना योनियोंमें भटकाते हुए उनके हृदयमें अन्तर्यामी ईश्वररूपसे सदा विराजमान रहते हो ॥ २ ॥

त्वामेव शरणं यामि सर्वभावेन केशव ।
त्वत्प्रसादादवाप्स्येऽहं शाश्वतं पदमव्ययम् ॥३॥

हे केशव ! मैं सब प्रकारसे अब तुम्हारी ही शरण ग्रहण करता हूँ । तुम्हारे ही प्रसादसे मैं सनातन अविनाशी पद (मोक्ष) को पा जाऊँगा ॥ ३ ॥

पिता त्वमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ ४ ॥

तुम्हीं इस जगत्के माता-पिता हो, धारण-पोषण करनेवाले धाता हो, पिताके भी पिता हो और जानने योग्य तत्त्व, परम पवित्र, ॐकार तथा ऋक्, साम एवं यजुरूप वेदत्रयी हो ॥ ४ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ ५ ॥

तुम्हीं सबकी गति, सबका भरण-पोषण करनेवाले, सबके प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् हो । तुमसे ही सबकी उत्पत्ति होती है, तुम्हींमें सबका लय होता है और तुम्हारे ही आधारपर सबकी स्थिति है । तुम्हीं सबके अधिष्ठान और अविनाशी बीज हो ॥ ५ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तस्त्वां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमवहोऽसि वै ॥६॥

जो लोग अनन्यभावसे तुम्हारा चिन्तन करते हुए सदा ही तुम्हारी उपासना करते रहते हैं, अपनेमें नित्ययुक्त रहनेवाले उन भक्तोंका तुम अवश्य ही योग-क्षेम वहन करनेवाले हो ॥ ६ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यस्ते भक्त्या प्रयच्छति ।
तस्य त्वं भक्त्युपहृतमश्नासि प्रयतात्मनः ॥७॥

करुणामय ! जो कोई भक्तिभावसे तुम्हें पत्र-पुष्प, फल अथवा जल अर्पण करता है, उस पवित्रात्मा भक्तके प्रेमपूर्वक दिये हुए उपहारको तुम बड़े आनन्दसे भोग लगाते हो ॥७॥

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत् ।
यत्तपस्यामि हे देव तत्करोमि त्वदर्पणम् ॥८॥

हे देव ! मैं जो कुछ करता हूँ, जो खाता-पीता हूँ, जो भी हवन या दान करता हूँ तथा जो तपस्या करता हूँ—वह अपना सम्पूर्ण कर्म तुम्हें अर्पण करता हूँ ॥ ८ ॥

समस्त्वं सर्वभूतेषु न ते द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु त्वां भक्त्या त्वयि ते त्वं च तेष्वसि९

तुम समस्त प्राणियोंके प्रति समान भाव रखनेवाले हो, न तो कोई तुम्हारे द्वेषका पात्र है और न कोई बड़ा प्यारा ही है; जो तुम्हें प्रेमसे भजते हैं, वे तुममें हैं और तुम उनमें हो ॥ ९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते त्वामनन्यभाक् ।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति१०

नाथ ! अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्यभावसे तुम्हारा भजन करने लगता है, तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

त्वां हि देव व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्११

हे देव ! तुम्हारा आश्रय ग्रहण करके पापयोनिमें उत्पन्न चाण्डालादि मनुष्य तथा स्त्री, शूद्र और वैश्य भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

त्वन्मना अस्मि ते भक्तो त्वां यजेऽहं नमामि च ।
यत्प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं दिश ॥१२॥

हे भक्तवत्सल ! मैं तुममें ही अपना मन लगा चुका हूँ,

तुम्हारा ही भक्त हूँ, तुम्हारा ही पूजन और तुम्हें ही प्रणाम करता हूँ। अतः जहाँ पहुँचकर जीव फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आते, वह अपना परम धाम मुझे दो—मुझे भी अपने परम धाममें आश्रय प्रदान करो ॥ १२ ॥

त्वया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
त्वत्स्थानि सर्वभूतानि न च त्वं तेष्ववस्थितः १३

तुम्हींने अव्यक्तरूपसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। समस्त भूत तुम्हारे ही भीतर स्थित हैं, तुम उनमें स्थित नहीं हो ॥ १३ ॥

न च त्वत्स्थानि भूतानि हन्त ते योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थस्त्वदात्मा भूतभावनः ॥१४॥

तथा वे सम्पूर्ण भूत भी वास्तवमें तुममें स्थित नहीं हैं [क्योंकि तुम सर्वथा असङ्ग हो]। अहो! तुम्हारा यह ईश्वरीय योग—अचिन्त्य प्रभाव अद्भुत है! जिससे तुम सम्पूर्ण भूतोंके धारण-पोषण करनेवाले होकर भी उनमें स्थित नहीं हो; तुम्हारा संकल्परूप मन ही इन समस्त भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाला है ॥ १४ ॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि त्वत्स्थानीत्युपधारये ॥१५॥

मैं तो यह समझता हूँ—ऐसी निश्चित धारणा रखता हूँ कि जिस प्रकार सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत [कहीं भी रहकर] तुममें ही विद्यमान हैं ॥ १५ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सृजसि त्वं पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥१६॥

तुम्हीं अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको [दृष्टिपातके द्वारा] क्षुब्ध करके [प्राचीन कर्मजनित] स्वभावके बलसे विवश हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उत्पन्न करते रहते हो ॥ १६ ॥

न च त्वां तानि कर्माणि निबध्नन्ति जनार्दन।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥१७॥

हे जनार्दन! तुम अपने द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें आसक्त न होकर उदासीन (साक्षी) की भाँति स्थित रहते हो, इसलिये वे कर्म तुम्हें बन्धनमें नहीं डालते ॥ १७ ॥

त्वयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन देवेश जगद्विपरिवर्तते ॥१८॥

सबके अधिष्ठाता और सर्वनियन्ता तुम परमेश्वरसे ही प्रेरित होकर (तुम्हारे ही ईक्षणसे क्षोभको प्राप्त होकर) प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) इस समस्त चराचर जगत्को उत्पन्न करती है, इसी कारणसे यह जगत् बार-बार उत्पन्न होता है—संसार-चक्र सदा चलता रहता है ॥ १८ ॥

अवजानन्ति त्वां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तस्तव भूतमहेश्वरम् ॥१९॥

सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप तुम्हारे परम भावको न जाननेवाले मूढ लोग मानव-देहका आश्रय लिये हुए तुम्हें साधारण मनुष्य मानकर तुम्हारी अवहेलना करते हैं ॥१९॥

महात्मानो हि त्वां नाथ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥२०॥

किन्तु हे नाथ! जिन्होंने दैवी प्रकृतिको अपनाया है, वे महात्मा पुरुष तुम्हें समस्त भूतोंका आदि कारण और अविनाशी जानकर अनन्य चित्तसे तुम्हारा ही भजन करते हैं ॥ २० ॥

सततं कीर्तयन्तस्त्वां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च त्वां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते २१

वे हृदयमें तुम्हारे भजनका दृढ संकल्प लिये सदा प्रयत्नशील रहकर तुम्हारा ही कीर्तन और तुम्हें ही भक्तिभावसे प्रणाम करते हुए नित्ययुक्त होकर तुम्हारी उपासना करते रहते हैं ॥ २१ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तस्त्वामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥२२॥

तथा कुछ अन्य उपासकगण ज्ञानयज्ञके द्वारा तुम्हारा पूजन करते हुए एकत्वभावसे अर्थात् 'सारा जगत् एकमात्र भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है'—ऐसा समझकर तुझ विराट्-स्वरूप परमात्माकी उपासना करते हैं तथा दूसरे लोग भेद-भावसे (सेव्य-सेवक भाव आदि सम्बन्ध मानकर) नाना प्रकारसे उपासना करते हैं ॥ २२ ॥

जन्म कर्म च ते दिव्यं जनो यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति त्वामेत्यसंशयम् २३

जो मनुष्य तुम्हारे दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य ठीक-ठीक

जानता है, वह देहत्यागके पश्चात् फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता, तुम्हें ही प्राप्त हो जाता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २३ ॥

वीतरागभयक्रोधास्त्वन्मयास्त्वामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूतास्त्वद्भावमागताः ॥२४॥

जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो चुके हैं, अपनी अनन्य भावनाके द्वारा तुममें एकाकार हो रहे हैं और जो सब प्रकारसे तुम्हारी ही शरणमें हैं—ऐसे बहुत-से साधु पुरुष ज्ञानरूप तपसे पवित्र हो तुम्हारे स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं ॥ २४ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवस्यात्ममायया ॥२५॥

तुम सब भूतोंके अधीश्वर, अविनाशी स्वरूपवाले और अजन्मा होकर भी अपनी प्रकृतिका आश्रय ले योगमायासे प्रकट होते हो ॥ २५ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहे त्वं पुरुषः परः ॥२६॥

तुम इस शरीरके भीतर पुरुष (आत्मा) रूपसे शयन करनेवाले होकर भी इससे सर्वथा अतीत हो। तुम्हीं साक्षी होनेके कारण 'उपद्रष्टा', यथार्थ अनुमति देनेवाले होनेसे 'अनुमन्ता', सबका भरण-पोषण करनेसे 'भर्ता', प्रकृतिस्थ होनेपर 'भोक्ता'; सबसे महान् ईश्वर होनेके कारण 'महेश्वर' और शुद्ध सच्चिदानन्दमय होनेसे 'परमात्मा' इस नामसे कहे गये हो ॥ २६ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मा त्वमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि देवेश न करोषि न लिप्यसे ॥२७॥

हे देवेश! अनादि और गुणातीत होनेके कारण अविनाशी परमात्मा तुम शरीरमें स्थित होकर भी न कुछ करते हो और न (इसके द्वारा घटित होनेवाले कर्मोंसे) लिप्त ही होते हो ॥ २७ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथा त्वं नोपलिप्यसे ॥२८॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र देहमें स्थित होकर भी तुम (गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे) लिप्त नहीं होते हो ॥ २८ ॥

यस्मात्क्षरमतीतस्त्वमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽसि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥२९॥

चूँकि तुम क्षर (भूतसमुदाय) से अतीत और अक्षर (कूटस्थ जीवात्मा) से भी उत्तम हो, इसलिये लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे विख्यात हो ॥ २९ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥३०॥

तुम्हीं जाननेयोग्य परम अक्षर (अविनाशी परब्रह्म) हो और तुम्हीं इस विश्वके परम आधार हो। अब मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि तुम्हीं सनातनधर्मके रक्षक और तुम्हीं अविनाशी सनातन पुरुष हो ॥ ३० ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३१॥

तुम्हीं आदिदेव पुराणपुरुष हो और सत्, असत् एवं उससे परे जो अक्षर (अविनाशी) परब्रह्म है—वह भी तुम ही हो। तुम्हीं ज्ञाता हो, तुम्हीं ज्ञेय हो और तुम ही परम धाम हो। हे अनन्तरूप परमेश्वर! तुमसे ही यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है ॥ ३१ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
तत्त्वमेवासि देवेश परं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥

हे देवेश्वर! जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिसने इस सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त कर रक्खा है—वह सनातन परब्रह्म तुम्हीं हो ॥ ३२ ॥

सर्वस्य च त्वं हृदि सन्निविष्ट-
स्त्वत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरसि वेदनीयो
वेदान्तकृद्वेदविदेव च त्वम् ॥३३॥

तुम्हीं सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे निवास करते हो; तुमसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होते हैं। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा तुम्हीं जाननेयोग्य हो और वेदान्तके कर्ता तथा वेदोंके ज्ञाता भी तुम्हीं हो ॥ ३३ ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तदोमिति ब्रह्म परं त्वमेव ॥३४॥

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिसे अक्षर (अविनाशी अथवा प्रणवरूप) बतलाते हैं, विरक्त त्यागी महात्मा जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी अभिलाषा रखते हुए साधक ब्रह्मचर्य-का पालन करते हैं, वह 'ॐकार' वाच्य परब्रह्म परमात्मा तुम ही हो ॥ ३४ ॥

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषः शाश्वतो दिव्य आदिदेवो ह्यजो विभुः ॥३५॥

हे देव ! तुम परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हो; सर्वत्र व्यापक, अजन्मा, आदिदेव तथा दिव्य सनातन पुरुष भी तुम्हीं हो ॥ ३५ ॥

न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ॥३६॥

हे भगवन् ! तुम्हारे लीलामय अवतारके रहस्यको न तो देवता जानते हैं और न दानव ही; हे पुरुषोत्तम ! तुम स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हो ॥ ३६ ॥

त्वमेवात्मा हृषीकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
त्वमेवादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥३७॥

हे हृषीकेश ! सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित सबके आत्मा तुम्हीं हो; तथा तुम्हीं समस्त भूतोंके आदि, मध्य और अन्त हो ॥ ३७ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तत्त्वमसि प्रभो ।
न तदस्ति विना यत्स्यात्त्वया भूतं चराचरम् ॥३८॥

हे प्रभो ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी तुम्हीं हो । चर और अचर कोई भी ऐसा भूत नहीं है जो तुमसे व्याप्त न हो ॥ ३८ ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छामि तव तेजोंऽशसम्भवम् ॥३९॥

भगवन् ! इस जगत्में जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभासम्पन्न और विशेष प्रभावशाली वस्तु है, मैं वह सब तुम्हारे ही अंशसे उत्पन्न हुई समझता हूँ ॥ ३९ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन मया प्रभो ।
विष्टभ्य त्वमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४०॥

अथवा हे प्रभो ! मेरे द्वारा तुम्हारी विभूतिरूपसे जानी हुई इन बहुत-सी वस्तुओंको गिनानेसे क्या लाभ ? (थोड़ेमें इतना ही कह देना चाहता हूँ कि) तुम इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हो ॥ ४० ॥

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।
योगेश्वर नतोऽस्मि त्वां त्वच्चित्तं सततं कुरु ४१

हे समस्त भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतेश्वर ! हे देवदेव ! हे जगत्पते ! हे योगेश्वर ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ । प्रभो ! कृपा करके ऐसा कर दो, जिससे मेरा चित्त सदा तुममें ही लगा रहे ॥ ४१ ॥

अनन्यचेताः सततं यस्त्वां स्मरति नित्यशः ।
तस्य त्वं सुलभो देव नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥४२॥

क्योंकि हे देव ! जो अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर तुम्हारा स्मरण किया करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये तुम्हारा मिलना सहज हो जाता है ॥ ४२ ॥

त्वामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ४३

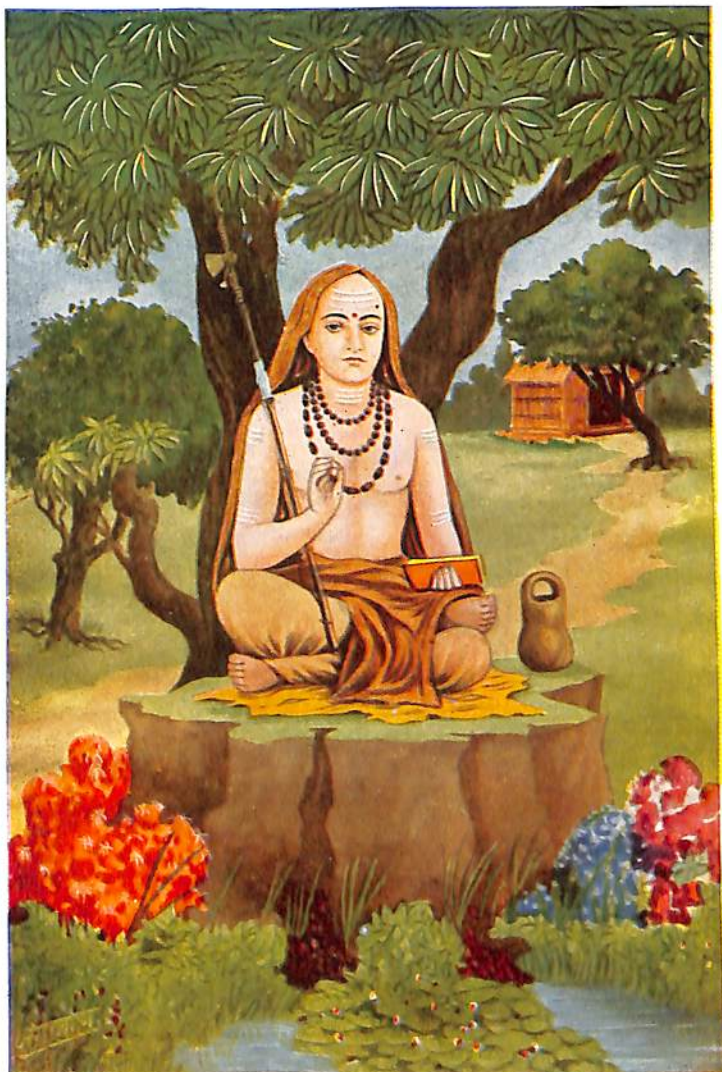
परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन तुम्हें पाकर फिर दुःखोंके स्थानभूत क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥ ४३ ॥

मम ह्येवानुकम्पार्थं बुद्धेरज्ञानजं तमः ।
नाशयस्वात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥४४॥

प्रभो ! अब मुझपर ही अनुग्रह करनेके लिये तुम मेरे अन्तःकरणमें स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानरूप दीपकसे मेरी बुद्धिके अज्ञानजनित अन्धकारको नष्ट कर दो ॥ ४४ ॥

मह्यं सततयुक्ताय भजते प्रीतिपूर्वकम् ।
प्रयच्छ बुद्धियोगं तं येन त्वामुपयाम्यहम् ॥४५॥

सदा तुम्हारे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक तुम्हारा ही भजन करनेवाले मुझ दासको तुम वही तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग दो, जिससे मैं तुम्हें प्राप्त हो जाऊँ ॥ ४५ ॥



श्रीशङ्कराचार्य

श्रीमद्भगवद्गीताकथित मानवजीवनका लक्ष्य

(श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्री १ १ ० ८ श्रीशङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्ण तीर्थ स्वामीजी महाराज)

अध्यात्म, मनोविज्ञान और आचारसम्बन्धी असंख्यों ग्रन्थ लाखों वर्षोंसे ईश्वरके स्वरूप, जीवात्माके स्वरूप तथा ऐसे ही अन्य गहन विषयोंका विवेचन करते आये हैं और आज भी कर रहे हैं—जो अशिक्षित मनुष्योंके लिये क्लिष्ट और दुरूह हैं तथा जिन्हें असाध्य समझकर वे छोड़ देते हैं, किन्तु जिन्हें समझने और हल करनेकी उत्कट चेष्टा शिक्षित पुरुष सदैव करते रहते हैं उन महान् मनीषियों और दार्शनिकोंके वे समस्त ग्रन्थ वास्तवमें हम सबके मस्तिष्क और हृदयमें स्वभावतः उठनेवाले मानव-जीवनके लक्ष्य और जीव-जगत्‌की मुख्य समस्याओंसम्बन्धी भावोंकी ही पुष्टि और समर्थन करते हैं। अतः हम इस छोटे-से निबन्धमें पाठकोंका ध्यान विषयके इस पक्षकी ओर आकर्षित करते हैं, दूसरे शब्दोंमें यहाँ हम मनुष्यकी स्वाभाविक अन्तर्वृत्तियोंकी परीक्षाकी शैलीसे विषयका प्रतिपादन करना चाहते हैं।

पाँच लक्ष्य

जिस व्यक्तिने इन प्रश्नोंपर दार्शनिक या अन्य विवेचनात्मक ग्रन्थ नहीं पढ़े हैं, वह भी अपने हृदयसे कुछ एक सीधे प्रश्न करके जान सकता है कि तफसीलमें साधारण भेदोंके रहते हुए भी (जिन भेदोंके कारण सत्यान्वेषी साधक और जिज्ञासुके मनमें भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है) हममेंसे प्रत्येकके मन, वचन और कर्मकी सारी चेष्टा हमारे हृदयकी पाँच स्थायी प्रेरणाओंका ही परिणाम है, जो पाँच सुस्पष्ट और सुनिश्चित दिशाओंमें प्रकट होती हैं और जो इतनी सार्वभौम हैं कि विस्तृत व्याख्याकी आवश्यकता नहीं रखतीं। अतः यहाँ उनका उल्लेख कर देनेके साथ इतना ही और कह देना पर्याप्त होगा कि वे हम सबके हृदयकी नीचे लिखी पाँच अन्तरङ्ग और स्वाभाविक इच्छाएँ हैं—१-सदा जीवित रहें, २-सब कुछ जान लें, ३-सीमारहित और दुःखलेशरहित आनन्दको प्राप्त हों, ४-सब बन्धनोंसे मुक्त हो जायँ और ५-सब हमारे विचार और इच्छानुसार कार्य करें, हमारी बात मानें।

उनका संस्थान

थोड़ा-सा विचार करनेपर ही यह दिखायी देगा कि इन पाँचों स्थितियोंमेंसे, जिन्हें प्राप्त करनेको प्रत्येक मनुष्य सदैव (विना एक भी अपवादके) उत्सुक और सचेष्ट रहते हैं, कोई भी किसी एक मनुष्यमें—चाहे वह जितना भी महान् हो—नहीं देख पड़ती। वास्तवमें ये सब विशेषण उसके हैं जिन्हें संसारके सब धर्म 'ईश्वर' नामसे पुकारते हैं। दूसरे शब्दोंमें अपने ही हृदयके भावों, इच्छाओं और आकाङ्क्षाओंकी इस सीधी परीक्षासे हमें यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि जो ईश्वरके अस्तित्वपर विश्वास नहीं रखते—यही नहीं, जो उसे अस्वीकार भी करते हैं वे भी अज्ञातरूपसे सदैव उन्हीं गुणोंकी प्राप्तिका प्रयत्न करते रहते हैं जो संसारके समस्त धर्मग्रन्थोंमें 'ईश्वर'के गुण कहे गये हैं। अनन्त सत्ता, असीम ज्ञान, अपार और विशुद्ध आनन्द, परम स्वातन्त्र्य और सबपर एकच्छत्र आधिपत्य—ये वस्तुएँ प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। छोटे-छोटे बच्चे भी इनकी इच्छा रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'नरो नारायणो बुभूषति' (मनुष्य नारायण बनना चाहता है) यह शास्त्रवाक्य एक अत्यन्त वास्तविक मनोवैज्ञानिक सत्य है और मानसिक परीक्षासे प्राप्त यह सत्य हमारी अपनी मन-बुद्धिके द्वारा भी अनुमोदित होता है।

हमारी वर्तमान स्थिति

स्वभावतः इसके आगे हमारे लिये विचार करनेका विषय है—उक्त लक्ष्यको प्राप्त करनेके साधन और उपाय क्या हैं। किन्तु वहाँ पहुँचनेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि हम यात्रारम्भ कहाँसे कर रहे हैं—हमारी वास्तविक वर्तमान स्थिति क्या है? साधारणतः लोगोंकी यह धारणा रहती है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं, क्योंकि हम नित्यप्रति देखते ही हैं कि कोई गरीब मजदूर तो अपना दैनिक जीवन-निर्वाह भी कठिनाईसे कर पाता है और साथ ही यह भी देखते हैं कि राजे-महाराजे, लखपती और करोड़पती लोग बड़े आनन्द और मौजसे, भोग-विलाससे भरा आरामतलब जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु यह धारणा वास्तवमें छिछली है—केवल बाहरी वस्तुओंका विचार करके बनायी गयी है—गम्भीर और स्पष्ट परीक्षाका यह परिणाम नहीं है। यदि निर्धन मनुष्यको यह अवसर मिले कि वह उन धनिकोंसे जिनसे वह ईर्ष्या करता है इस विषयपर बातें कर सके तथा [illegible] उपायसे उनके अन्तस्तलका हाल

जान सके तो वह यह जानकर स्तब्ध हो जायगा कि वे धनिक पुरुष भी निर्धनोंका-सा सुख पानेके लिये उनकी उतनी ही ईर्ष्या करते हैं (निर्धनोंका सुख यह है कि वे उन सहस्रों चिन्ताओं, दुःखों और आशंकाओंसे मुक्त होते हैं जो धनिकोंके भाग्यमें विशेषरूपसे पड़ी रहती हैं)। इस प्रकार निर्धन धनिकों और धनी निर्धनोंसे ईर्ष्या करते हैं, जब कि दोनों ही सदैव किसी-न-किसी रूप या परिमाणमें दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करते होते हैं। इसीलिये स्काटलेण्डके कवि राबर्ट बर्न्स इस स्थितिकी स्पष्ट आलोचना इन शब्दोंमें करते हैं—

'The best-laid plans of men and mice oft gang agley'

'मनुष्यों और चूहोंके अच्छे-से-अच्छे उद्योग क्षणभरमें ध्वस्त हो जाते हैं।' वे पुनः-पुनः कहते हैं—'Man was made to mourn' 'मनुष्य रोनेके लिये ही उत्पन्न हुआ था।'

आशावादी लोग तो इसे निराशाकी वाणी कहकर लाञ्छित करेंगे और राबर्ट बर्न्सको (उसकी इस उक्तिको) टाल ही देना चाहेंगे, किन्तु कविके वास्तविक तात्पर्यका अतिक्रमण करना—उसे न मानना—किसीके लिये सम्भव नहीं है। सबको यह स्वीकार करना ही होगा कि कोई मनुष्य चाहे जितने ऊँचे पदपर हो और कुछ दृष्टियोंसे अपेक्षाकृत सुखी भी क्यों न हो, उसके भी हिस्सेमें कुछ-न-कुछ दुःख, कष्ट और चिन्ताओंकी मात्रा अवश्य होती है। संसारमें कोई ऐसा नहीं है जो सर्वांशमें सुखी हो। इसलिये हम सारांशके रूपमें कह सकते हैं कि प्रत्येक जीव किसी-न-किसी दुःखमें रहता ही है और अविच्छिन्न और विशुद्ध आनन्दकी स्थिति शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त करनेकी अभिलाषा भी उसे रहती ही है।

पथमें प्रकाश

इस प्रकार यह निश्चय कर चुकनेपर कि हम कहाँ हैं और कहाँ जाना चाहते हैं (क्या बनना चाहते हैं) अब हम दूसरी बातपर विचार कर सकते हैं और अपने लिये वह मार्ग ढूँढ़ निकालनेका प्रयत्न कर सकते हैं जो हमें यहाँ (वर्तमान स्थिति) से वहाँ (ईप्सित स्थिति) तक ले जाय। यहाँ हमें सर्वप्रथम यह निर्णय करना होगा कि सच्चे रास्तेका ठीक-ठीक पता किससे प्राप्त हो—हम किसे अपना मन्त्री, मार्गदर्शक और सारथी बनावें? सारथीको चाहे हम ताँगा-वाला कहें, या कोचवान अथवा मोटर-ड्राइवर ही कहें, हमें किसी-न-किसी ऐसे व्यक्तिकी आवश्यकता है जिसपर हम विश्वास कर सकें कि वह हमें मार्ग दिखा सकेगा और गन्तव्य स्थानतक पहुँचा सकेगा। किससे मार्गका परिचय प्राप्त हो—कौन इच्छित स्थानतक ले जाय—यही करुण-पुकार प्रत्येक हृदयसे निकलती है और इसका यथार्थ उत्तर हम तब पा सकेंगे जब हम यह समझ लें कि वे 'नारायण' हैं जिन्हें नर (प्रत्येक मनुष्य) ढूँढ़ रहा है और नारायण ही एकमात्र वह मार्ग जानते हैं। अकेले वे ही हमें उसके विषयमें बतला सकते हैं और लक्ष्यतक—अपने पासतक—पहुँचा सकते हैं।

यह सिद्ध करनेके लिये किसी विशेष तर्ककी आवश्यकता नहीं है कि यदि कभी कोई सारथी जो रास्ता नहीं जानता रथपर ऐसे ही सवारियोंको, जो रास्ता नहीं जानते, बैठाकर ले जाय तो वही गति होती है जिसे उपनिषद्के शब्दोंमें—

'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' (अन्धेके द्वारा अन्धोंका ले जाया जाना और दोनोंका गड्ढेमें गिरना) कहा गया है।

ईश्वर ही मार्गदर्शक हैं

इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि हम जो सदा-सर्वदा, प्रत्येक स्थिति और अवस्थामें शान्ति और आनन्द चाहते हैं—उस शान्ति और आनन्दके मार्गका रहस्य किसी ऐसे व्यक्तिसे कैसे पा सकते हैं जिसे स्वयं ही उक्त शान्ति और आनन्द प्राप्त नहीं हैं? निश्चय ही वहाँका रास्ता तो वही बतला सकता है जो उसपर चला है और चलकर जिसने सफलता प्राप्त की है। इसी दृष्टिसे धार्मिक विवेचकोंने इस आवश्यकताका अनिवार्यरूपसे अनुभव किया है और तदनुकूल यह निरूपण भी किया है कि ईश्वर ही मनुष्य-रूपमें अवतार लेकर मानवताके शिक्षक होते हैं और सन्मार्गसे ले जाकर उसे अभीष्ट लक्ष्यतक पहुँचा देते हैं। भगवदवतारका सिद्धान्त इसी विचारधारापर स्थित है।

सनातनधर्मकी विशिष्टता

इस दृष्टिसे स्थितिकी परीक्षा की जाय तो सबको यह स्वीकार करना होगा कि संसारके अन्य सभी धर्मोंके संस्थापक—

उन्हींके कथनानुसार ईश्वरके भेजे हुए दूत या मसीहा थे अथवा अधिक-से-अधिक (जैसा कि खीष्टीय धर्ममें कहा गया है) ईश्वरके पुत्र थे, किन्तु सनातनधर्मकी यह विशिष्टता है कि यह धर्म स्वयं ईश्वरद्वारा संस्थापित है, और सो भी सृष्टिके आदि-कालसे। अतः यह बुद्धिसम्मत है और यही उचित भी है कि सत्य और सत्यपर प्रकाशका सच्चा जिज्ञासु और अन्वेषक सनातनधर्मके शास्त्रोंमें ही उनका अन्वेषण करे।

सनातनधर्मका सार—गीता

किन्तु यहाँ यह बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है कि सनातनधर्मके शास्त्र एक महान् सीमाहीन और कभी न रीतनेवाले समुद्रके समान हैं। यदि उनके कुछ थोड़े-से खण्डांशोंका भी सन्तोषजनक अध्ययन किया जाय तो एक जन्म तो दूर, हजारों जन्म भी थोड़े होंगे। इसलिये आरम्भमें ही यह आवश्यक है कि हम किसी ऐसे ग्रन्थका आश्रय लें जो हमें थोड़ेमें सम्पूर्ण सनातनी शास्त्रोंका सार बतला दे और जीवनके उद्देश्यसम्बन्धी सरल और प्राथमिक शिक्षासे लेकर उसके उच्चतम उद्देश्यकी पूर्तितक क्रमशः पहुँचा दे। वह ग्रन्थ ऐसा होना चाहिये जो केवल हमारी जातीय भावना या भावुकतावश ही हमें प्रिय न हो वरं जो स्वभावतः उसके विरोधी स्थान कहे जा सकते हैं, उन स्थानोंसे भी उसके पक्षमें स्वतन्त्र और अकाट्य प्रमाण प्राप्त होते हों।

पाश्चात्य संसारके दार्शनिक साहित्यका—गेटे, कार्लाइल इमर्सन, डायसन, प्रोफेसर मैकेंजी तथा आधुनिक पाश्चात्य देशोंके अन्य महान् दार्शनिकोंकी कृतियोंका साधारण और सरसरी परिचय होनेपर भी हमें यह निश्चय हो जायगा कि भगवद्गीता (भगवान्के वचन अर्जुनके प्रति) ऐसा ही एक सार-ग्रन्थ है। हमारे शास्त्र भी गीताको सनातनधर्मका निष्कर्ष बतलाते हैं—

> सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
> पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

उपनिषदों—वेदोंकी दार्शनिक मीमांसाओं—की उपमा गायोंसे दी गयी है और श्रीकृष्ण (जो बाल्यकालमें गोप-जीवन व्यतीत कर चुके हैं और चतुर दुहनेवाले हैं) उन उपनिषद्रूपी गायोंके दोग्धा कहे गये हैं। अर्जुन—जो नर-रूपमें हम सब मनुष्योंके प्रतिनिधि और पक्षसमर्थक हैं, जो 'नर' स्थानीय हैं, वे बछड़े हैं। उन्होंने ही सबसे पहले श्रीकृष्णद्वारा दुही गयी उपनिषद्-गौके दुग्धका आस्वादन किया था। वह दूध उस दिव्य गोप (श्रीकृष्ण) के द्वारा सर्वप्रथम अर्जुनके लिये, किन्तु अर्जुनके उपरान्त मनुष्यमात्रके लिये दुहा गया था; उस अमृतोपम दुग्धका नाम ही भगवद्गीता है। भगवद्गीता कृतयुगमें, त्रेतामें और द्वापरके अन्ततक संसारके सामने प्रस्तुत नहीं की गयी थी। अतः स्पष्ट ही वह विशेषरूपसे कलियुगके हम-जैसे आर्त और त्राणकामी जीवोंके लिये ही रची गयी थी।

दोनों अमृतोंकी तुलना

श्रीमद्भगवद्गीताको महत् अमृत (अमृतं महत्) इसलिये कहा गया है कि उसे हम उस तुच्छ अमृतसे पृथक् कर सकें जिसे देवता स्वर्गमें पान करते हैं। जिस प्रकार बैंकमें जमा किया हुआ रुपया समय-समयपर उससे निकाला जाता रहे तो कुछ कालमें रिक्त हो जाता है और फिर चेक भेजनेपर रुपये नहीं मिलते (चेक रद्द कर दिया जाता है, सकारा नहीं जाता); ठीक उसी तरह भोगके द्वारा स्वर्गके सुख जो पुण्यात्माओंको मिलते हैं क्षीण होते जाते हैं और अन्तमें—

> ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
> क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

(जीवको पृथिवीपर पुनः आना और जन्म लेना पड़ता है।) किन्तु स्वयं भगवान्के गीतामृतका पान करनेपर हम उन्हें ही प्राप्त हो जाते हैं और फिर वहाँसे कोई आवागमन नहीं होता। इसीलिये भगवद्गीताको 'महत् अमृत' कहा गया है।

गीताके सार-निर्देशकी आवश्यकता

गीताके इस अति सुस्वादु अमृतका अब हम किञ्चित् पान करनेकी चेष्टा करें। इसके सात सौ श्लोकोंमें इतने विस्तृत विषयोंका संक्षिप्त और सघनरूपसे समावेश किया गया है कि आरम्भसे लेकर अन्ततक उसका पूर्ण अध्ययन करनेमें अनेकों जन्म लग जायँगे। इसलिये इस छोटे-से निबन्धमें उसका विस्तृत अध्ययन कर सकना असम्भव है। तथापि यह तो सम्भव है कि सीधे और सरल उपायसे श्रीगीताजीके हृदयतक हम पहुँच जायँ, उसे समझ लें और इस प्रकार अपनेको इस योग्य बना लें कि हम भविष्यमें अपने सुविधानुसार, जब-जब अवकाश और अवसर मिले तब-तब

अधिक-अधिक विस्तृत और व्यापक अध्ययनद्वारा उसे समझ और आत्मसात् कर सकें।

लक्ष्यपर प्रकाश

प्रारम्भमें ही हमने यह कहा था कि हमारे पाँच लक्ष्य अनन्त सत्ता, असीम ज्ञान, अविच्छिन्न आनन्द, परम स्वातन्त्र्य और सबपर अखण्ड एकाधिपत्य है। भगवत्ताके ये पाँचों उपकरण और भी अधिक संश्लिष्ट और समाहित करके एकमें प्रकट किये जायँ तो हम उसे 'आनन्द' शब्दद्वारा अभिहित कर सकते हैं (क्योंकि शेष चारों उपकरण विश्लेषण करनेपर आनन्दके ही अन्तर्गत हो जाते हैं)। हम यह निर्देश कर सकते हैं कि गीताजीके मूल विषयका अध्ययन आरम्भ करनेके पूर्व ही 'भगवद्गीता' यह शब्द ही हमें ईप्सित लक्ष्य और उसके अधिष्ठानकी ओर सङ्केत करता है। संस्कृतमें 'गीता' शब्दका अर्थ गान है। संस्कृतकी 'अजहल्लक्षणा' के अनुसार गायनका अर्थ केवल गानेकी क्रिया ही नहीं है, उससे आनन्द भी लक्षित होता है। गीत नरकृत नहीं है किन्तु भगवान्‌कृत है, इससे पुनः-पुनः सूचना मिलती है कि वह आनन्द (जो भगवान्‌के गीतका है) स्वयं भगवान्‌के समीप ही प्राप्त होगा, अन्यत्र नहीं।

यात्रारम्भपर प्रकाश

इसी प्रकार हम यह भी देख चुके हैं कि मनुष्यके जीवनमें (वह चाहे जितने उच्च गौरवपूर्ण अथवा ऐश्वर्य-बहुल पदपर स्थित हो) दुःखका अंश रहता ही है। जबतक दुःखका लेशमात्र भी बच रहेगा तबतक मनुष्य पूर्ण आनन्दकी उपलब्धि नहीं कर सकता। यही भाव गीताके प्रथम अध्याय 'अर्जुनविषादयोग'में ही प्रदर्शित किया गया है। दुःखमें होनेके कारण ही मनुष्य ईश्वरसे एकीभूत होना चाहता है, जो पूर्ण आनन्दस्वरूप है।

इस प्रकार यह देखकर कि श्रीगीताजीमें उसी विषयकी चर्चा है जिसके लिये हमारा हृदय तरस रहा है—अर्थात् अनन्त और ऐकान्तिक सुखकी प्राप्ति, और यह जानकर कि वह हमारी दुःखमय स्थितिके ठीक अनुरूप स्थितिका विचार रखती हुई (विषादयोगसे) आरम्भ हुई है, हम गीताजीकी सहायता लें जिससे हमारे मार्गपर प्रकाश पड़ सके और हम वर्तमान दुःखकी स्थितिसे छूटकर शान्ति और आनन्दके लक्ष्यतक पहुँच जायँ।

सम्बन्ध-निर्देश

सारी स्थितिका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि हम 'नर' अपने ध्येय 'नारायण' पदको प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें ठीक वही कार्य करना चाहिये जो गीताके नर (अर्जुन) ने नारायण (श्रीकृष्ण) के प्रति उसी उद्देश्य-सिद्धिके लिये किया था। श्रीकृष्ण और अर्जुनके पारस्परिक सम्बन्ध अनेक और बहुविध थे, किन्तु यहाँ उन सबसे हमारा प्रयोजन नहीं है। हमारा एकमात्र प्रयोजन यहाँ उस सम्बन्धसे है जो अर्जुनके प्रति गीताजीका उपदेश करते समय श्रीकृष्ण और अर्जुनका था। वह सम्बन्ध यह था कि अर्जुन रथी (रथके स्वामी) और श्रीकृष्ण सारथी (रथको निर्दिष्ट दिशामें ले जानेवाले) थे।

दुर्योधनद्वारा भगवान्‌का अस्वीकार

जब अर्जुन और दुर्योधन दोनों महाभारतके महान् युद्धमें श्रीकृष्णकी सहायता माँगने गये तब श्रीकृष्णने अपनेको दो भागोंमें बाँटकर एक-एकसे उन दोनोंकी सहायता करनेका वचन दिया। एक ओर श्रीकृष्णके शस्त्रास्त्र और सारी सेना थी और दूसरी ओर श्रीकृष्ण अकेले, निरस्त्र और सेनारहित। इन दोनोंमें एकको चुननेके लिये कहे जानेपर दुर्योधन—जैसा कि हम भी प्रायः करते हैं—संख्या और दलकी अधिकताकी ओर विचार करने लगा। गुण और योग्यताका ध्यान उसने नहीं रक्खा। अतः उसने श्रीकृष्णकी महती सेना ही लेना पसंद किया तथा उन अस्त्रोंको लेना स्वीकार किया जिनसे वह पाण्डवोंके विरुद्ध लड़ सके। और अर्जुन (जो दुर्योधन-की अस्वीकृत वस्तुको ही स्वीकार करनेका इच्छुक था) इस बातको अपना अहोभाग्य मानने लगा कि दुर्योधनकी परीक्षामें श्रीकृष्ण (जो समस्त संसारके सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं) अयोग्य सिद्ध हुए और उनकी अपेक्षा दुर्योधनने उनकी सेना और शस्त्रोंको ही अपने लिये चुना।

अर्जुनका भगवान्‌को आत्मसमर्पण

इस प्रकार श्रीकृष्णको अपना सारथी बनाकर अर्जुनने उनसे कहा—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

'मैं आपका शिष्य हूँ (आपकी आज्ञाका पालन करूँगा), आपके चरणोंमें पड़ा हूँ। आप ही यह निर्णय करें कि मेरे लिये क्या श्रेयस्कर होगा और वैसी ही आज्ञा करें।'

सारथीके गुण

उसने नारायणको केवल नाममात्रका सारथी नहीं बनाया किन्तु वास्तवमें अपने रथकी लगाम उनके हाथोंमें सौंप दी कि वे (विना किसीके हस्तक्षेपके) जो चाहें करें। यही सच्ची भक्ति और शरणागति है। हम यह स्मरण रक्खें कि जिस प्रकार मानवीय राजसत्ता नकली मुद्रा बनाने और चलनेवालोंको दण्ड देती है, उसी प्रकार भगवान्के राज्यविधानमें झूठी भक्ति और शरणागति भी दण्डनीय होती है।

हमारा कर्तव्य

अतः हम भगवान् श्रीकृष्णको अपना सारथी बना लें और अपनेको उनके हाथोंमें सौंप दें—न्यौछावर कर दें। वे सर्वज्ञ हैं, हमारे लिये उपयुक्त मार्ग जानते हैं; सर्वशक्तिमान् हैं, वे हमारा रथ वहाँतक पहुँचा सकते हैं; परम दयालु हैं और हमपर दया करनेकी मनमें इच्छा भी रखते हैं। वे केवल भक्तवत्सल नहीं हैं, भक्त-पराधीन भी हैं। यहाँतक कि यह कहना भी अधिक न होगा कि भगवान् तो महान् हैं ही किन्तु भक्त उनसे भी महान् हैं क्योंकि भक्तोंकी इच्छाका उल्लङ्घन भगवान् नहीं कर सकते। जब ऐसी स्थिति है, ऐसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, भक्त-पराधीन भगवान् हमारे सारथी बन सकते हैं तब चिन्ताकी बात ही क्या रही ? जिस प्रकार द्रौपदी, प्रह्लाद, मीराबाई आदि उनका अटल अवलम्बन कर चुके हैं, उसी प्रकार हम भी करें। और हम उनकी आज्ञाओंका, जो सनातनधर्मके शास्त्रोंके रूपमें हमारे सामने हैं, अनुसरण करें। एक साँसमें (क्षणभरको) उनका भक्त बनना और दूसरी साँसमें (दूसरे ही क्षण) उनकी आज्ञाओंका अपालन करना, दोनों बातें नहीं बन सकतीं। हमें चाहिये कि अविचल विश्वास, श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक उनका पल्ला पकड़ लें।

परिणाम

इसका परिणाम ठीक वही होगा जो अर्जुनको हुआ था, जिसका वर्णन स्वयं गीताजीके अन्तिम श्लोकमें किया गया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

'जहाँ समस्त योगोंके अधिपति श्रीकृष्ण सारथी हैं और नररूप अर्जुन रथी हैं—वहीं श्री, विजय, भूति और मोक्ष हैं।' किन्तु इस श्लोकमें वर्णित अर्जुन वे नहीं हैं जिन्होंने (देखिये गीता अध्याय १ और २) अपने धनुष-बाण रख दिये थे और आँसू बहा रहे थे और जो भीष्म, द्रोण आदिसे लड़नेकी सम्भावनासे रो रहे थे। यहाँ वे 'धनुर्धर' अर्जुन हैं जो स्वधर्मके अनुष्ठानके लिये (नारायणके आदेशानुसार) धनुष-बाण हाथमें ले चुके हैं।

सारांश

हमें चाहिये कि हम अपने सम्पूर्ण क्षुद्र हृदय-दौर्बल्यको त्यागकर भगवान्के सैनिक बन जायँ और उनके बतलाये हुए अपने स्वधर्मका अनुसरण करें। हम उपनिषदोंकी इस आज्ञाका स्मरण रक्खें—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (दुर्बल और क्षीण हृदयवालोंके लिये आत्मसाक्षात्कार असम्भव है)। हमें संख्याके न्यूनाधिक्यका विचार नहीं करना है, न स्वार्थकी भावनासे कोई कार्य करना है। हमारे हृदयोंमें यह प्रश्न न हो कि 'ऐसा करनेसे हमें क्या मिलेगा ?' प्रश्न तो यह होना चाहिये कि 'भगवान्की भक्ति और प्रेमके लिये हम क्या अर्पण करें ?' यदि हम केवल आदान-प्रदानके भावसे ही काम करेंगे तब तो व्यापारी लेन-देनसे अधिककी आशा नहीं रख सकते। इस प्रकार तो स्वर्गमें भी हमें उतना ही मिलेगा जितना हमने यहाँ परिश्रम करके कमाया है। किन्तु यदि हम श्रीभगवान्के प्रेमवश विश्वास और श्रद्धापूर्वक ही सब कार्य करें तो हमें उनका अपरिसीम प्रेम प्राप्त होगा। लाभ या लेन-देनकी दृष्टिसे भी यह इतना अधिक होगा कि मनुष्यकी बुद्धि ऊँची-से-ऊँची और सुन्दर-से-सुन्दर लोभकी कल्पना करके भी वहाँतक नहीं पहुँच सकती। अतः हमें उचित है कि भगवान्के उस अमूल्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिभर शत-प्रति-शत (पूर्ण मात्रामें) उनकी प्रेमपूर्ण सेवा और उनका आज्ञानुसरण करनेकी चेष्टा करें। इसका परिणाम यह होगा कि अपने नियमके अनुसार वे (भगवान्) अपनी शक्तिभर (उनकी शक्ति असीम और अपार है) सौ फीसदी बदलेमें अपना प्रेम देंगे। दूसरे शब्दोंमें वे हमें अपने प्रति एकीभाव प्रदान करेंगे (पूर्णतः अपनेमें मिला लेंगे)। जिसको हमने इस निबन्धके प्रारम्भमें मनुष्यजीवनका लक्ष्य (जिसके पाँच पहलू बतलाये हैं) कहा है, यह उसीकी प्राप्ति है। किसीको इससे अधिककी आवश्यकता ही क्या हो सकती है ?

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय

(लेखक—पूज्यपाद श्री १००८ श्रीरामानुजाचार्यजी शास्त्री, वेदान्तशिरोमणि)

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।
नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ॥

सब उपनिषदोंके सार-सङ्कलनरूप भगवद्गीतामें तिपाद्य तत्त्व क्या है—इसका विवेचन तथा श्रीमन्नारायणप्रवर्तित श्रीसम्प्रदायके प्रचारक एवं संरक्षक श्री१०८ श्रीरामानुजाचार्य-के भाष्यानुसार गीतारहस्यका दिग्दर्शन कराना इस लेखका उद्देश्य है। ऊपरके श्लोकमें स्वधर्मका अर्थ स्ववर्णाश्रमनियत, शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिकादि कर्म अर्थात्—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

—के अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्मयोग है। ज्ञानका अर्थ है भक्तिका अङ्गभूत आत्मविषयक यथार्थ ज्ञान। और वैराग्यका अर्थ है परमात्माके अतिरिक्त सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्ति, जो 'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि' इस प्रमाणानुसार मुमुक्षुओंका स्वभावविशेष है। योगसूत्रमें भी कहा है—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' अर्थात् इहलौकिक एवं पारलौकिक विषयोंमें तृष्णारहित होकर चित्तको वशमें कर लेनेका नाम वैराग्य है। भक्तियोग उपर्युक्त अर्थवाले स्वधर्म, ज्ञान और वैराग्यके द्वारा साध्य है। अभिप्राय यह है कि पहले कर्मयोग, ज्ञानयोगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार होनेपर ही भक्तियोगका अधिकार प्राप्त होता है; इसी अर्थमें स्वधर्म, ज्ञान और वैराग्य भक्तियोगके साधक हैं। श्रीरामानुजाचार्यके परमगुरु श्रीयामुनाचार्यपाद अपने 'आत्मसिद्धि' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकभक्तियोगलभ्य इति। उत्पन्न-भक्तियोगानामपि विशदतमप्रत्यक्षसमानाकारस्य तैलधारावद-विच्छिन्नस्मृतिसन्ततिरूपस्य आप्रयाणादनुवर्तनीयस्य अहरहरभ्या-साधेयातिशयस्य भक्तियोगस्य सत्त्वविवृद्धिसाध्यतया तद्विरोधिरज-स्तमोमूलभूतपापनिबर्हणद्वारेण सत्त्वोपचयहेतुतयोपकारकत्वादात्म-याथात्म्यज्ञानपूर्वकैः परित्यक्तफलसङ्गकर्तृत्वादिभिः परमपुरुषा-राधनैकवेषैर्नित्यनैमित्तिककर्मभिर्भक्तेरुपचीयमानत्ववेषेण साध्य-त्वम्।

सारांश यह है कि कर्मयोग-ज्ञानयोगसे संस्कृत (विशुद्ध) अन्तःकरणमें परिनिष्पन्न अनन्य भक्तियोगके द्वारा परमात्माको प्राप्ति होती है। जिनके हृदयमें भक्तियोग उत्पन्न हो गया है, उनके भक्तियोगका स्वरूप है अत्यन्त प्रत्यक्षवत् तथा मरणपर्यन्त तैलधाराके समान अविच्छिन्नरूपसे चलनेवाला तथा प्रतिदिनके अभ्याससे वृद्धिको प्राप्त होनेवाला भगवत्स्मृतिका प्रवाह। यह भक्तियोग सत्त्वगुणकी वृद्धिसे साध्य है तथा आत्माके यथार्थ ज्ञानके साथ-साथ फलासक्ति एवं कर्तृत्वाभिमान आदिके त्यागपूर्वक एक परम पुरुषके आराधनके लिये ही किये जानेवाले नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे सत्त्वके विरोधी रज और तमके मूलभूत पापोंके नाशके द्वारा सत्त्वकी वृद्धि होती है, अतएव ये भक्तिको बढ़ानेवाले हैं और इसी अर्थमें इन्हें भक्तियोगके साधक तथा भक्तियोगको इनका साध्य कहा जाता है।

'महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः' (किसी पूज्य पुरुषके प्रति प्रेम करना भक्ति है) तथा 'प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभि-धीयते' (प्रीतिपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तनको भक्ति कहते हैं)—इत्यादि व्युत्पत्तियोंसे सिद्ध भक्तियोग ही वेदन, उपासन, ध्यानादि शब्दोंद्वारा वेदान्तशास्त्रोंमें सामान्य तथा विशेष रीतिसे मोक्षोपायभूत विधिरूपमें प्रतिपादित किया गया है। तभी तो निखिल वेदके द्वारा वेद्य, गीताके आचार्य भगवान् श्रीकृष्णने भी श्रीमुखसे अपनी प्राप्तिका मुख्य साधन भक्ति-योगको ही बारंबार बतलाया है। यथा—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

'अनन्यभक्तिके द्वारा ही मैं इस रूपमें तत्त्वसे जानने, देखने तथा प्रवेश करनेमें आता हूँ।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

'वह परात्पर पुरुष अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होता है।'

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ॥

'मैं जितना हूँ और जो हूँ—यह बात तत्त्वसे भक्तिके द्वारा ही जाननेमें आती है।'

भक्त्येकगोचरः—भक्त्यैव गोचरो नान्यस्येत्यर्थः ।

भक्तिसे ही जाना जाता है, अन्य किसी उपायसे नहीं।

किसी आचार्यपादका सिद्धान्त है कि कर्मसमुच्चित वाक्यार्थ-ज्ञानके द्वारा आत्मा-परमात्माका साक्षात्कार होता है। परन्तु 'भक्त्यैकलभ्ये पुरुषे पुराणे' इस प्रमाणके अनुसार भक्तियोगके द्वारा ही परमात्मसाक्षात्कार श्रीरामानुजका सिद्धान्त है। अपने गीताभाष्यके उपोद्घातमें स्वयं श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं—

परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीतभक्तियोगमवतारयामास।

'वेदान्तमें जिसको परम पुरुषार्थरूप मोक्षका साधन बताया गया है, ज्ञान और कर्मके फलरूप उस भक्तियोगको ही श्रीभगवान्ने गीतामें अपनी प्राप्तिका मुख्य साधन बतलाया है।' अतएव नारायण परब्रह्म श्रीकृष्ण ही गीताशास्त्रमें अज्ञान-संशय-विपर्ययसे रहित परम गति, परम साधन, सबके कारण, सबके रक्षक, सबके संहर्त्ता, सर्वातिशायी, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सब वेदोंके द्वारा वेद्य, सब प्रकारके हेयसे रहित, सर्व पापोंके नाशक तथा सबके एकमात्र शरण इत्यादि स्वभावोंके कारण समस्त वस्तुओंसे विलक्षण पुरुषोत्तम-रूपमें प्रतिपादित हुए हैं। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्रका तत्त्वार्थ है। अब गीताके प्रत्येक षट्क एवं प्रत्येक अध्यायके अर्थकी विवेचना की जाती है।

प्रथमाध्यायसे लेकर षष्ठ अध्यायपर्यन्त प्रथम षट्कमें विवेकादि साधनसप्तकके साथ-साथ यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगके द्वारा साध्य आत्मसाक्षात्कारके लिये ज्ञानयोग-निष्ठा और कर्मयोग-निष्ठाका वर्णन किया गया है। यथा—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

'संख्या बुद्धिः तयावधारणीयमात्मतत्त्वं सांख्यम्' (बुद्धिके द्वारा निश्चित किया जानेवाला आत्मतत्त्व ही 'सांख्य' है) इस व्युत्पत्तिके अनुसार ज्ञानयोग-निष्ठाका नाम ही 'सांख्य' समझना चाहिये। 'नि+तिष्ठत्यस्मिन्नर्थेऽधिकर्त्तव्ये-ऽधिकारीति निष्ठा।' अधिकारी पुरुष अधिकार करनेके योग्य वस्तुमें स्थिर हो जाय, उसीका नाम निष्ठा है। अथवा 'नियता स्थितिरेव वा निष्ठा'—अर्थात् फलप्राप्तिपर्यन्त स्थिरतापूर्वक उपायके अनुष्ठानको ग्रहण किये रहना निष्ठा है। सारांश यह है कि 'सुखमात्यन्तिकं यत्तत्' इत्यादि प्रमाणोंके अनुसार वैषयिक आनन्दसे विलक्षण तथा इतर समस्त पदार्थोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाले सुखस्वभाव प्रत्यगात्म-साक्षात्काररूप सिद्धिके लिये ज्ञानयोग-निष्ठा और कर्मयोग-निष्ठा प्रथम षट्कमें कही गयी हैं।

तदनन्तर सप्तमाध्यायसे द्वादशाध्यायपर्यन्त मध्यम षट्कमें भगवत्तत्त्व-याथात्म्यकी प्राप्ति अर्थात् अनवच्छिन्न (एकरस) आनन्दकी अनुभूतिरूप परम सिद्धि, जिसमें पुरुषार्थकी पराकाष्ठारूप परम सुखकी प्राप्ति होती है, उसके साधनस्वरूप ज्ञानयोग और कर्मयोगसे निष्पन्न भक्तियोगका विस्तारपूर्वक वर्णन है। सप्तमाध्यायके गीताभाष्यमें श्रीरामानुजस्वामी लिखते हैं—

प्रथमेनाध्यायषट्केन परमप्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो निरवद्यस्य निखिलजगदेककारणस्य सर्वज्ञस्य सर्वभूतात्मभूतस्य सत्यसङ्कल्पस्य महाविभूतेः श्रीमन्नारायणस्य प्राप्त्युपायभूतं तदुपासनं वक्तुं तदङ्गभूतमात्मज्ञानपूर्वककर्मानुष्ठानसाध्यं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनमुक्तम्। इदानीं मध्यमेन षट्केन परब्रह्मभूतं परमपुरुषस्वरूपं तदुपासनं च भक्तिशब्दवाच्यमुच्यते तदेतदुत्तरत्र 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' इत्यारभ्य 'मद्भक्तिं लभते पराम्' इति संक्षिप्य वक्ष्यति।

सारांश यह है कि प्रथम छः अध्यायोंमें परम प्राप्तव्यभूत, परब्रह्म, सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र कारण, निर्दोष, सर्वज्ञ, सर्वभूतोंके आत्मा, सत्यसङ्कल्प, महान् ऐश्वर्यशाली श्रीमन्नारायणकी प्राप्तिकी उपायभूत उनकी उपासनाका कथन करनेके लिये उस उपासनाके अङ्गभूत आत्मज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठानके द्वारा साध्य परमात्माको प्राप्त करनेवाले जीवात्माके यथार्थ स्वरूप और उसको साक्षात् करनेके उपायोंका वर्णन किया गया। अब मध्यम षट्कके द्वारा परब्रह्मभूत परमपुरुष परमात्माके स्वरूप और भक्तिशब्दवाच्य उनकी उपासनाका प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों षट्कोंका सार आगे अष्टादश अध्यायमें 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' से आरम्भ करके 'मद्भक्तिं लभते पराम्' पर्यन्त संक्षेपमें कहेंगे।

तीसरे षट्कमें प्रधान (कारणावस्थामें स्थित) अचिद् वस्तु), पुरुष (बद्ध एवं मुक्त जीवात्मा), व्यक्त (महदादिसे प्रारम्भ कर देव-तिर्यक्-मनुष्यादि प्राणी तथा उनके कार्यसमूह) और सर्वेश्वर—'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' इस प्रमाणके अनुसार पुरुषोत्तम—इन सबका विवेचन अर्थात् परस्परव्यावर्तक धर्मोंका निरूपण तथा ज्ञान, कर्म, भक्ति-प्रभृति जिनका गत दो षट्कोंमें वर्णन किया गया है। सबके

स्वरूपका संशोधन किया गया है। यही त्रयोदश अध्यायके गीताभाष्यके आरम्भमें श्रीरामानुजस्वामीने प्रतिपादन किया है—

पूर्वस्मिन् षट्के परमप्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो वासुदेवस्य प्राप्त्युपायभूतभक्तिरूपभगवदुपासनाङ्गभूतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनं ज्ञानयोगकर्मयोगलक्षणनिष्ठाद्वयसाध्यमुक्तम्। मध्यमे च परमप्राप्यभूतभगवत्तत्त्वयाथात्म्यतन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगनिष्ठा प्रतिपादिता। अतिशयितैश्वर्यापेक्षाणामात्मकैवल्यमात्रापेक्षाणां च भक्तियोगस्तत्तदपेक्षितसाधनमिति चोक्तम्। इदानीमुपरितनषट्के प्रकृतिपुरुषतत्संसर्गरूपप्रपञ्चेश्वरयाथात्म्यकर्मज्ञानभक्तिस्वरूपतदुपादानप्रकाराश्च षट्कद्वयोदिता विशोध्यन्ते।

अर्थात् पहले षट्कमें परमप्राप्य परब्रह्मभगवान् वासुदेवकी प्राप्तिके साधनभूत, भक्तिरूप भगवदुपासनाके अङ्गभूत, प्रापक जीवात्माके साक्षात्कारको ज्ञानयोग और कर्मयोगनामक द्विविध निष्ठाओंके द्वारा साध्य बतलाया गया है। मध्यम षट्कमें परमप्राप्यभूत भगवान्के स्वरूपके यथार्थ ज्ञान तथा भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक अनन्य एवं आत्यन्तिक भक्तियोग-निष्ठाका प्रतिपादन किया गया है। अत्यन्त ऐश्वर्य चाहनेवालों तथा कैवल्य (आत्मस्वरूपप्राप्ति) मात्रकी इच्छा रखनेवालोंके लिये भक्तियोग ही उन-उन अभीष्ट फलोंकी सिद्धिका साधन है, यह बतलाया गया है। अब तृतीय षट्कमें प्रकृति (माया), पुरुष (जीव) और दोनोंके संसर्गरूप प्रपञ्च तथा ईश्वरके यथार्थस्वरूपका ज्ञान और कर्म, ज्ञान तथा भक्तिके स्वरूप और उनके उपादानके प्रकार—जिनका प्रतिपादन प्रथम दो षट्कोंमें किया गया है—इन सबका संशोधन किया जाता है।

अब अध्यायोंके पृथक्-पृथक् सार संग्रहकर पाठकोंके ज्ञानार्थ दिये जाते हैं। बन्धुस्नेहके कारण अत्यन्त कातर तथा धर्माधर्म-विवेकसे मूढ होनेके कारण अत्यन्त व्याकुल-चित्त अतएव शरणागत अर्जुनके उद्देश्यसे गीताशास्त्रका अवतरण प्रथमाध्यायमें किया गया है। द्वितीयाध्यायमें अर्जुनकी मोह-शान्तिके लिये आत्मसाक्षात्कारके उपायभूत फलासक्तिरहित कर्मयोग-निष्ठा तथा 'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते' इस व्यासस्मृतिवचनके अनुसार शुद्धात्मतत्त्वके ज्ञानरूप सांख्ययोगनिष्ठा एवं स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धिवाले ज्ञानी) का लक्षण वर्णन किया गया है। परमपुरुषकी प्रीतिके अतिरिक्त स्वर्गादि फलमें आसक्तिका त्यागकर, लोकसंग्रहके लिये प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंमें कर्तृत्वका आरोप कर अथवा—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।

—इस प्रमाणके अनुसार सर्वेश्वरमें समर्पण करके कर्म करनेकी रीतिका वर्णन तृतीय अध्यायमें किया गया है।

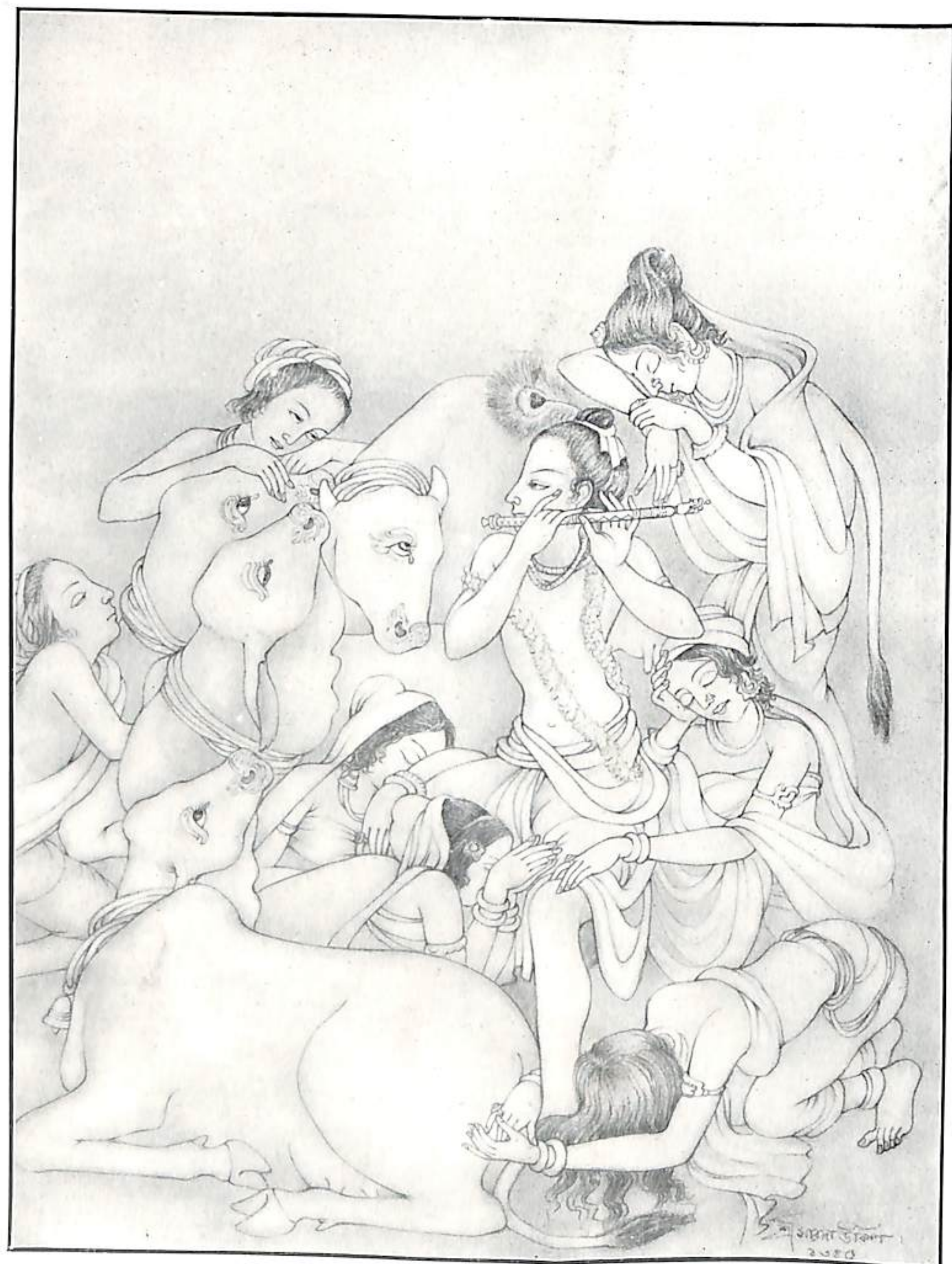
गीताके आचार्य भगवान् श्रीकृष्णने प्रसङ्गतः आश्रित-रक्षण, धर्मसंस्थापन आदि अपना स्वभाव तथा कर्म और अकर्म (आत्मज्ञान) का भेद तथा 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्' इस प्रमाणके अनुसार ज्ञानके माहात्म्यका वर्णन चतुर्थ अध्यायमें किया है। इसीलिये श्रीरामानुजस्वामीने चतुर्थाध्यायके भाष्यके प्रारम्भमें लिखा है—

तृतीयेऽध्याये प्रकृतिसंसृष्टस्य मुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगेऽनधिकारात् कर्मयोग एव कार्यः, ज्ञानयोगाधिकारिणोऽप्यकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वककर्मयोग एव श्रेयानिति सहेतुकमुक्तम्। शिष्टतया व्यपदेश्यस्य तु विशेषतः कर्मयोग एव कार्य इति चोक्तम्। चतुर्थेनेदानीमस्यैव कर्मयोगस्य निखिलजगदुद्धरणाय मन्वन्तरादावेवोपदिष्टतया कर्तव्यतां द्रढयित्वा अन्तर्गतज्ञानतयास्यैव ज्ञानयोगाकारतां प्रदर्श्य कर्मयोगस्वरूपं तद्भेदाः कर्मयोगे ज्ञानांशस्यैव प्राधान्यं चोच्यते, प्रसङ्गाच्च भगवदवतारयाथात्म्यमुच्यते।

अर्थात् तीसरे अध्यायोंमें, प्रकृतिसे सम्बद्ध (देहाभिमानी) मुमुक्षुको सहसा ज्ञानयोगका अधिकार न होनेसे कर्मयोगका ही साधन करना चाहिये; ज्ञानयोगके अधिकारीके लिये भी कर्तापनका अभिमान न रखते हुए कर्मयोगका साधन ही कल्याणकर है—यह बात हेतुपूर्वक कही गयी है; तथा शिष्ट कहलानेवालेको तो विशेषतः कर्मयोगका ही अभ्यास करना चाहिये, यह भी बतलाया गया है। अब चौथे अध्यायमें, कर्मयोगका जगत्के उद्धारके लिये मन्वन्तरके आदिमें ही उपदेश हुआ है—यह कहकर उसके अनुष्ठानके औचित्यका समर्थन करते हुए, ज्ञान उसके अन्तर्गत होनेसे वही ज्ञानयोगके आकारवाला बन जाता है, यह बतलाया जायगा। साथ ही कर्मयोगका स्वरूप और उसके भेद तथा कर्मयोगमें ज्ञानांशकी ही प्रधानता है—यह बात बतलाकर प्रसङ्गवश भगवान्के अवतारका तत्त्व समझाया जायगा।

पञ्चमाध्यायमें, आत्मप्राप्तिके साधनोंमें ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला है—यह बात सिद्ध की गयी है तथा कर्मयोगके अन्तर्गत कर्तापनके अभिमानके त्यागका प्रकार बतलाकर उसके मूलभूत ज्ञानका स्पष्टीकरण किया गया है। 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते', 'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म

मुरलीकी मोहिनी



मुरली गजब ठगौरी डारी।

गोपी गोप गाय सब मोहे तन-मन दसा बिसारी ॥

नचिरेणाधिगच्छति' तथा 'नैव किञ्चित् करोमीति'— इत्यादि इसके प्रमाण हैं।

षष्ठाध्यायमें, पञ्चमाध्यायगत 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यादि योगविधिका विस्तार तथा 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' इत्यादिके द्वारा योगियोंके चार भेदोंका वर्णन किया गया है। यहीं श्रीरामानुजस्वामी लिखते हैं—

'अथयोगविपाकदशा चतुष्प्रकारोच्यते, एवं तत्र समदर्शन-विपाकोऽभिप्रेतः, आत्मनां ज्ञानत्वानन्दत्वादिभिरन्योऽन्यसाम्यदर्शनम्, शुद्धावस्थायामपहतपाप्मत्वादिभिरीश्वरेण साम्यदर्शनम्, परित्यक्ता-प्राकृतभेदानामसङ्कुचितज्ञानैकाकारतया ईश्वरेण तदपृथक्सिद्धवि-शेषणत्वादिभिरन्योन्यं च साम्यदर्शनम्, औपाधिकैः पुत्रादिभिरसम्ब-न्धसाम्यदर्शनं चेति।'

इसके अतिरिक्त अभ्यास-वैराग्यादि योगसाधन तथा योगसिद्धि अर्थात् योगभ्रष्टको भी प्रत्यवायरहित होकर पुण्य-लोककी प्राप्ति, एवं गीताके वक्ता स्वयं वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णका भजनरूप स्वयोग—यही विषय षष्ठाध्यायमें प्रति-पादित हैं।

सप्तमाध्यायमें उपास्यभूत परमपुरुष श्री भगवान् गोविन्दके स्वरूपका याथात्म्य और 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' इस वचनके अनुसार प्रकृतिके द्वारा उनका आवरण, तथा प्रकृतिके बन्धनसे निवृत्तिके लिये भगवत्-शरणागतिकी आवश्यकता, उपासकोंके भेद और ज्ञानीकी श्रेष्ठताका वर्णन किया गया है।

अष्टमाध्यायमें भगवान्के ऐश्वर्य अर्थात् इन्द्र, प्रजापति, पशुपति आदिके भोगोंसे भी उत्कृष्ट भोग, अक्षर ब्रह्मका स्वरूप, अर्थात् विविक्त (शुद्ध) आत्मस्वरूप, 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इत्यादि वाक्योंके अनुसार शुद्ध आत्मासे लेकर समस्त वेद्यवर्गका निरूपण, उपादेय इष्टफलके अनुरूप परमपुरुषका चिन्तन, अन्तिम प्रत्यय तथा गतिका चिन्तन तथा अधिकारा-नुसार इनके भेदोंका निरूपण किया गया है।

नवम अध्यायमें उपास्य परमपुरुषका माहात्म्य तथा 'अवजानन्ति मां मूढाः' इत्यादि वचनोंसे मनुष्यावतारमें भी श्रीभगवान्का परत्व, महात्मा ज्ञानियोंकी विशेषता तथा भक्तिरूप उपासनाका स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

दशम अध्यायमें भक्तिकी उत्पत्ति तथा वृद्धिके लिये भगवान्के निरङ्कुश ऐश्वर्यादि कल्याणगुणोंके अनन्तताके वर्णनके उद्देश्यसे सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के शरीररूपमें, भगवान्की आत्माके रूपमें, भगवान्के अधीन भगवत्सङ्कल्पसे ही प्रकटित बतलाते हुए उनकी विभूतियोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

एकादश अध्यायमें भक्तियोगनिष्ठावालोंके प्राप्यभूत परब्रह्म भगवान् नारायणके निरङ्कुश ऐश्वर्यका साक्षात्कार करनेकी इच्छा रखनेवाले अर्जुनको अतिशय कारुण्य, औदार्य और सौशील्यादि गुणोंके सागर सत्यसङ्कल्प भगवान्का दिव्यदृष्टि प्रदानकर अपने ऐश्वर्यको यथावस्थित प्रदर्शित करना तथा भगवद्-ज्ञान एवं भगवद्दर्शनकी प्राप्तिके लिये एक-मात्र उपाय आत्यन्तिक भगवद्भक्ति ही है, अर्थात् एकमात्र भक्तिके द्वारा ही परमपुरुषकी प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं—इत्यादि विषयोंका निरूपण किया गया है।

द्वादश अध्यायमें, आत्मप्राप्तिके साधनभूत आत्मोपासनाकी अपेक्षा भगवद्भक्तिरूप उपासना ही उपासकोंको यथाभिमत आत्म-परमात्मसाक्षात्कार करानेमें अतिशीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला एवं सुखसाध्य उपाय है—यह बतलाया गया है, तथा इस उपासनाके प्रकार एवं भगवदुपासनामें असमर्थ साधकके लिये आत्मनिष्ठा तथा अन्य साधनोंका 'अथ चित्तं समाधातुम्' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। अर्थात् भगवान्में चित्तको समाहित करनेमें असमर्थ साधकके लिये श्रीभगवान्ने भगवद्गुणानुवादके अभ्यासका निर्देश किया है, उसमें भी असमर्थ साधकके लिये प्रीतिपूर्वक भगवदर्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है, उसमें भी जो असमर्थ हैं उनके लिये आत्मनिष्ठाका उपदेश दिया है और 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्लोकोंमें उसका प्रकार बतलाया है। अन्तमें 'ये तु धर्म्यामृतमिदम्' इत्यादि श्लोकमें भक्तिको ही प्रभुकी अत्यन्त प्रीतिका कारण बतलाया है।

त्रयोदश अध्यायमें देही आत्माका स्वरूप तथा देहका स्वरूप-शोधन, देहातिरिक्त आत्माकी प्राप्तिका उपाय, विविक्त (शुद्ध) आत्मस्वरूप-शोधन तथा स्वाभाविक शुद्ध आत्माका अचित् (माया) के साथ सम्बन्धका हेतु तथा प्रकृतिसे विवेक (पार्थक्य) का अनुसन्धान आदि विषय निरूपित किये गये हैं। इसमें 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादिसे आत्मप्राप्तिका हेतु, 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि'से आत्मस्वरूप-शोधन, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' से बन्धनका हेतु तथा 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' से विवेकानुसन्धानका प्रकार कहा गया है।

चतुर्दश अध्यायमें गुणोंकी बन्धनहेतुताका प्रकार, गुणोंकी निवृत्तिके उपाय, 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' से गुणोंमें कर्तृत्व, 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' इत्यादिसे गुण-निवृत्तिके प्रकार तथा 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' से त्रिविध गतिके मूल श्रीभगवान् हैं, इस बातका कथन किया गया है।

पञ्चदश अध्यायमें भजनीय श्रीभगवान्को मायायुक्त बद्धचेतन और विशुद्ध, मुक्त, नित्य चेतनसे विलक्षण पुरुषोत्तम, सम्पूर्ण चेतनाचेतनमें व्याप्त तथा भरण-पोषण करनेके कारण और सबका स्वामी होनेके कारण चेतन और अचेतनसे परतत्त्वके रूपमें प्रतिपादन किया गया है।

षोडश अध्यायमें देवासुर-सम्पद्विभागका कथन करते हुए 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' इत्यादिसे शास्त्राधीनता तथा 'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि' इस वचनसे तत्त्वानुष्ठानका ज्ञान वेदमूलक वर्णन किया गया है।

सप्तदश अध्यायमें अशास्त्रविहित कर्म करनेवालोंको आसुरभावापन्न तथा निष्फल कर्मकारी बतलाया गया है और 'ॐ तत्सदिति' इत्यादि वचनसे शास्त्रविहित कर्मोंके गुणानुसार तीन प्रकार तथा शास्त्रसिद्धके लक्षणोंका वर्णन किया गया है।

अष्टादश अध्यायमें मोक्षके साधनरूपमें निर्दिष्ट संन्यास और त्यागकी एकता, त्यागका स्वरूप, सर्वेश्वर श्रीभगवान्में सम्पूर्ण कर्मोंके कर्तृत्वका अनुसन्धान तथा त्रिगुणोंके कार्योंका वर्णन कर सत्त्वगुणकी उपादेयता तथा स्ववर्णोचित कर्मोंके द्वारा परमपुरुषकी आराधना, परमपुरुषकी प्राप्तिके भेद, एवं सम्पूर्ण गीताशास्त्रके साररूपमें भक्तियोगका ही प्रतिपादन किया गया है।

तप, तीर्थ, दान, यज्ञादिके सेवनका नाम कर्मयोग है। शुद्धान्तःकरण पुरुषकी परिशुद्ध आत्मामें स्थितिका नाम ज्ञानयोग है। एकमात्र परब्रह्म परमात्मामें अत्यन्त प्रीतिपूर्वक ध्यानादिद्वारा स्थितिका नाम भक्तियोग है। इन तीनों योगोंका परस्पर सम्बन्ध है। परमात्माके आराधनरूप नित्य-नैमित्तिकादि कर्मोंके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। शुद्ध अन्तःकरण भी आत्मसाक्षात्कारके लिये उपयोगी होता है। आत्मसाक्षात्कार होनेपर उपायविरोधी सम्पूर्ण अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है और तब—

नायं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक् स्थावरोऽपि वा।
ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः॥

—इस प्रकार भगवद्दास्यरूपा एवं आत्मसाक्षात्कारके अनन्तर उदय होनेवाली परमात्माकी परा भक्ति प्राप्त होती है, जिससे जीवात्मा परमात्मपदको प्राप्त हो जाता है। 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो ज्योतिष्टोमः' इत्यादि प्रमाणोंके अनुसार अधिकारियोंको कर्मयोगके द्वारा तत्तत्फलमें राग होनेसे विविध फलोंकी प्राप्ति होती है, वैसे ही अधिकारानुसार भक्तियोग भी सम्पूर्ण फल प्रदान करता है—ऐश्वर्य चाहनेवालेको समग्र ऐश्वर्य, आत्मसाक्षात्कारकी कामना करनेवालेको कैवल्य तथा भगवत्प्राप्तिकी इच्छा रखनेवालेको सर्वदेश, सर्वकाल एवं सर्वावस्थाके अनुरूप भगवत्-कैङ्कर्य प्रदानकर अनन्त सुखकी अनुभूति कराता है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'के अनुसार ज्ञानी तो परम ऐकान्तिक (अनन्य) होते हैं। भगवदधीन ही उनकी आत्मसत्ता (जीवन) होती है; भगवत्-संश्लेष और वियोग ही उनका एकमात्र सुख-दुःख होता है; केवल भगवान्में ही उनकी बुद्धि स्थिर है; भगवान्का ध्यान, गुणानुवाद, वन्दन, स्तुति और कीर्तनादि ही उनकी आत्मा है तथा भगवान्में ही प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियादिको अर्पणकर स्ववर्णाश्रमके आचारसे लेकर भक्तिपर्यन्त समस्त कर्मोंको वे भगवत्प्रीतिसे प्रेरित होकर ही करते हैं। सम्पूर्ण कर्मोंमें उपायबुद्धिका त्याग कर भगवच्चरणारविन्दमें अपने-आपको अर्पणकर वे निर्भर और निर्भय हो जाते हैं—जिसके फलस्वरूप उन्हें भगवद्दास्यमें एकान्त एवं आत्यन्तिक रति, भगवद्धाम तथा नित्य भगवत्सेवाकी प्राप्ति होती है। अतः गीताशास्त्र भगवद्भक्तिप्रधान ही है। यही श्रीवैष्णव-सम्प्रदायके अनुसार गीतार्थ-संग्रह है। अब भगवती गीता-देवीका ध्यान करते हुए विस्तारभयसे इस लेखको समाप्त किया जाता है।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिना-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

'भगवान् नारायणने स्वयं लीला-पुरुषोत्तमावतार धारण करके जिसका भक्तिप्रधान प्रपन्न (शरणागत) अर्जुनको बोध कराया और उन्हीं शब्दोंको आवेशावतार व्यासरूप नारायणने महाभारतरूप पञ्चम वेदके सन्दर्भमें ग्रथित किया—

हे भवबन्धनविनाशकारिणी मातर्गीते ! मैं सदा अद्वैतामृतकी वर्षा करनेवाली तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ।' यहाँ अद्वैतामृत-का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये। 'द्वयोर्भावः द्विता द्वितैव द्वैतः, अश्च द्वैतश्च अद्वैतः'—अर्थात् 'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इस प्रमाणके अनुसार प्रकृति (माया) और पुरुष (जीव), ये दोनों तत्त्व ही द्वैत हैं; तीसरा 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'के अनुसार तथा 'अ इति ब्रह्म', 'अ इति भगवतो नारायणस्य प्रथमाभिधानम्', 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इत्यादि श्रुति-प्रमाणोंके अनुसार 'अ'-शब्दवाच्य ईश्वर अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही अद्वैतामृततत्त्व है। उसकी निरन्तर वर्षा करनेवाली भव-भयरूप निदाघसे अभितप्त जनोंकी भागधेयरूपा, चिदाकाश-क्रोडमें क्रीडा करनेवाली प्रेमामृतकादम्बिनी माता गीताका मैं अनुसन्धान करता हूँ।

श्रीभगवद्गीताकी अनुबन्ध-चर्चा

(लेखक—श्रीमाध्वसम्प्रदायाचार्य, दार्शनिकसार्वभौम साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न, गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

बहुभिरपि श्रुतिनिकरैर्विमृग्यते यत्परं वस्तु।
स्वामिसुहृत्सुतकान्तीभावं भावयति तद्भावात्॥

इस लेखमें प्रधानतया श्रीभगवद्गीतासम्बद्ध विषयपर कुछ लिखना है; परन्तु सामान्य ज्ञान विना विशेष विषयकी जिज्ञासा नहीं हो सकती, अतएव सामान्य जिज्ञासामें गीताशास्त्रका क्या प्रयोजन है, उसमें क्या विषय है और उसे कौन चाहता है ?—ये तीन प्रश्न उठते हैं। इनका उत्तर क्रमसे यह है—गीताशास्त्रका मोक्ष फल है, मोक्षलाभके उपाय इसका विषय है और प्राणीमात्र इसको चाहते हैं।

इन सब कारणोंसे मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। पुरुष अर्थात् जीव जिसको चाहता है, वही पुरुषार्थ है। जीव प्रधानतया सुख चाहता है, अतः सुख ही मुख्य पुरुषार्थ है। सुख दो प्रकारके हैं, अनित्य और नित्य। अनित्य सुखका नाम काम है और नित्य सुखको मोक्ष कहते हैं। इन दोनों सुखोंके उपाय भी चाहे जाते हैं। अर्थ और धर्म उपाय हैं, इसलिये उनको गौण पुरुषार्थ कहते हैं। इन दोनोंमें धर्म अदृष्ट है और अर्थ दृष्ट है। यही चार अर्थ, धर्म, काम और मोक्षनामक पुरुषार्थ हैं। इन चारोंमें धर्म और अर्थकी अपेक्षा मुख्य होनेके कारण एवं अनित्य कामकी अपेक्षा नित्य होनेके कारण मोक्ष ही उत्कृष्ट है, इसीसे मोक्षको परम पुरुषार्थ कहते हैं।

मोक्षके स्वरूपमें अनेक अवान्तरभेद रहनेपर भी मुख्य दो भेद हैं—कुछ दार्शनिक दुःखके अत्यन्त अभावको मोक्ष कहते हैं और कुछके मतमें नित्यसुखावाप्ति ही मोक्ष है। इसमें फिर दो भेद हैं—(१) नित्यसुख-स्वरूपलाभ और (२) नित्यसुख-स्वरूपानुभव।

इसमें सर्वसमन्वयके सिद्धान्तकी रीतिसे प्रथमसे तो विरोध नहीं रहता। अप्रासंगिक होनेके कारण इसका विवेचन यहाँ नहीं किया जाता। द्वितीयमें रुचिभेदसे दो भेद व्यवस्थित हैं।

इस फलकी प्राप्तिके उपाय भी अवान्तररूपोंसे बहुत प्रकारके हैं, परन्तु इनमें प्रधान उपाय तीन हैं— कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। अष्टाङ्गयोग भी उपाय है; पर वह स्वतन्त्र नहीं है, व्यञ्जनमें लवणकी भाँति वह तो सर्वानुगत ही है।

इन तीनोंमें कर्मयोगका अनुष्ठान सबसे पहले करना चाहिये, इसी कारणसे कर्मप्रधानवाद भी मूलयुक्त है। तथा कर्म-के द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ज्ञानप्रकाशोदय तथा प्रेम-प्रभा-विकास होता है, अतएव फलसे व्यवहित कारण होनेसे कर्मका अप्राधान्यवाद भी निर्मूल नहीं है।

ज्ञान और भक्तिमें भी प्रधानाप्रधानभावको लेकर परस्पर सगोत्र कलह है। परन्तु विवेक-दृष्टिसे देखनेपर इस कलहका बीज अज्ञान, दुराग्रह या दुर्वासना ही प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः 'ज्ञान' शब्दसे दो प्रकारके ज्ञान समझे जाते हैं—प्रथम तत्त्वज्ञान और दूसरा तत्त्वज्ञानके उपायोंका ज्ञान। इसी प्रकार 'भक्ति' शब्दसे भी दो प्रकारकी भक्ति समझनी चाहिये—एक तो फल-भक्ति, जो प्रेमके नामसे प्रसिद्ध है और दूसरी साधन-भक्ति, जिसके श्रवण-कीर्तनादि अनेक भेद हैं। कार्यकारिता-क्षेत्रमें इन चारोंका क्रम इस प्रकार है—पहली श्रेणीमें उपायज्ञान, दूसरीमें साधनभक्ति, तीसरीमें तत्त्वज्ञान और चौथीमें फलरूप प्रेम-सम्पत्ति। इस अवस्थामें

भक्तिको अङ्ग कहना 'साधनभक्ति' से सम्बन्ध रखता है और ज्ञानको अङ्ग कहना प्रेम-पथिकोंकी दृष्टिसे है।

यहाँ इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि साधन-अवस्थामें साधक जिस वासनासे साधनानुष्ठानमें प्रवृत्त होगा, उसे तदनुसार ही फलकी प्राप्ति होगी। क्योंकि **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**—यह भगवान्‌के वचन हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार ही अन्तिम निर्णय होगा।

अब रहा वासनाभेद, सो रुचिभेदमूलक है। रुचि-भेद भी अनादि संसारप्रवाहमें अनादि संस्कारोंके अधीन है, इस विषयपर शास्त्रोंने प्रकारान्तरसे विवेचन किया है। जगत्‌में दो तरहकी पकड़ प्रसिद्ध है, 'वानरी धृति' और 'वैडाली धृति'। इनमें अन्तर यह है कि पहलीमें (बंदरीका) बच्चा माताको पकड़े रहता है। और दूसरीमें (बिल्ली) माता बच्चेको पकड़े रहती है। अवश्य ही इन साधनोंसे फल चाहनेवाले सभी प्राणी नहीं होते। ऊपर जो प्राणीमात्रको चाहनेवाला कहा गया है, सो केवल सुख चाहनेके भावसे कहा गया है। कीट-पतङ्गादि प्राणियोंको तो साध्य-साधनका ही ज्ञान नहीं है, अतएव वे कैसे साधनसे सुख चाहेंगे? जिन प्राणियोंके लिये शास्त्रोपदेश सार्थक है, वही प्राणी इसके अधिकारी हैं; ऐसे प्राणी देवता, असुर और मनुष्यादि समझे जाते हैं। इनमें भी सर्वथा अधिकारी तो मनुष्य ही है।

इन मनुष्योंमें वासनाके अनुसार दो प्रकार हैं—संसारमें प्रवृत्ति-परायण और संसारसे निवृत्ति-परायण। निवृत्तिपरा-यण मनुष्योंके तीन भेद हैं—१ जो प्रवृत्त हैं किन्तु निवृत्ति चाहते हैं। २ जो निवृत्त हो रहे हैं और ३ जो निवृत्त हो चुके हैं। इन निवृत्तोंमें भी दो भेद हैं—'जीवन्मुक्त' और निवृत्त-अशेष-कर्मफल। विदेहमुक्त भी इन्हींमेंसे कहलाते हैं।

निवृत्ति-परायणोंमें पहले और दूसरे मुमुक्षु कहलाते हैं तथा प्रवृत्ति-परायण मनुष्यको विषयी या संसारी कहा जाता है। इस प्रकार विषयी, मुमुक्षु और मुक्त—तीनों ही इस गीता-शास्त्रके अधिकारी हैं, इसी भावसे श्रीभगवान्‌ने **'चतुर्विधा भजन्ते माम्'** इत्यादि कहा है। यहाँ दुःख-निवृत्तिकी इच्छा-वालोंको आर्त्त और सुख-प्राप्ति चाहनेवालोंको अर्थार्थी कहा है, प्रकारान्तरसे ये दोनों ही विषयी कहे जा सकते हैं। ये सभी अधिकारी अपने-अपने अधिकारके अनुसार श्रीमद्भग-वद्गीतासे अपने चरम अभीष्टकी प्राप्ति कर सकते हैं। इस अभीष्टकी प्राप्तिमें मनुष्यको परतत्त्वके साथ अनिवार्यरूपसे साक्षात् सम्बन्ध होता है और वह सम्बन्ध इस विषयमें उप-जीव्य-उपजीवकका होता है। जाननेयोग्य सभी विषयोंको श्रुति-स्मृति-सदाचार अनादि कालसे निरन्तर बतलाते आ रहे हैं। श्रुति भगवती वक्तृनिरपेक्ष स्वतन्त्र शब्द होनेके कारण सहजसिद्ध प्रकीर्णरूपसे इसका वर्णन करती हैं, ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) श्रुतियोंमें बिखरे हुए ज्ञानको एकत्रकर वैसे ही सुशृङ्खलित कर देता है जैसे भिन्न-भिन्न पुष्पोंमें निलीन मकरन्दको बड़ी ही निपुणतासे मधुमक्षिका एकत्र कर लेती है और गीता-शास्त्र उस दुग्धसदृश समुदित दर्शनसे नवनीतवत् सिद्धान्तका प्रकाश कर देता है। अब अधिकारियोंका कर्तव्य इतना ही रह गया कि जैसे रोगी, दुर्बल और स्वस्थ मनुष्योंको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार समुचित रीतिसे नवनीत सेवन करनेपर ही लाभ होता है, अन्यथा नहीं होता, वैसे ही यथायोग्य अधिकारानुसार श्रीमद्भगवद्गीताका आश्रय ग्रहण करें।

यद्यपि वेदोंमें परतत्त्व-मार्गके पाँच प्रकार पाये जाते हैं, यथा—१ अद्वैत, २ विशिष्टाद्वैत, ३ शुद्धाद्वैत, ४ द्वैताद्वैत, और ५ द्वैत। इन पाँचों ही प्रकारोंको श्रीमच्छङ्कराचार्यपाद, श्रीमद्रामानुजाचार्यपाद, श्रीमद्वल्लभाचार्यपाद, श्रीमन्निम्बा-र्काचार्यपाद और श्रीमदाचार्य मध्वाचार्य श्रीमदानन्दतीर्था-चार्यपादने अपने-अपने भाष्योंमें तर्कयुक्तियोंके साथ पुष्ट प्रमाणोंसे क्रमसे पल्लवित किया है। जिसे अल्पज्ञ मनुष्य परस्पर विरुद्ध मानते हैं, दुराग्रही जन इनमेंसे एकको मुख्य और दूसरेको गौण कहते हैं; परन्तु वस्तुतः सर्वसामञ्जस्यकी सरणिमें सभीका पर्यवसान एकमें ही होता है।

अब चौथा अनुबन्ध-सम्बन्ध रह गया—जो शास्त्रीय व्यवहारमें तो अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु साधारणरूपसे जिज्ञासुकी उसके विना कोई क्षति नहीं होती। इससे उसके सम्बन्धमें तटस्थ ही रहना उचित है। यह लेख उस विशेष वक्तव्यकी भूमिकास्वरूप है, जिसका श्रीमद्भगवद्गीताके चरम प्रतिपाद्यसे साक्षात् एवं शाश्वतिक सम्पर्क रहता है। भग-वत्कृपासे कभी अवसर मिलेगा और पाठकोंका उत्साह प्रतीत होगा तो किसी अन्य उपहारको लेकर पुनः रङ्गमञ्च-पर उपस्थित होना सम्भव है।

आशा है मार्मिक विद्वान इस लेखकी निरपेक्षभावसे आलोचना कर उचितानुचित दिखानेका श्रम स्वीकार करेंगे।

गीतामें मुक्तिका मुख्य साधन

(लेखक—निम्बार्कसम्प्रदायाचार्य पं० श्रीबालकृष्णशरण देवाचार्यजी महाराज)

योऽन्तर्गतो निखिलजीवधियां नियन्ता
सम्बोधयत्यखिलवेदशिरोऽभिगीतः ।
सुप्तानि विश्वकरणानि च विश्वहेतु-
स्तस्मै नमो भगवते करुणार्णवाय ॥ १ ॥

परम पिता परमेश्वर अपनी इच्छासे क्रीडार्थ अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डमयी इस चित्र-विचित्र विस्मयावह सृष्टिकी रचना करके स्वयं अन्तर्यामिरूपसे प्रत्येक वस्तुमें निगूढ हुए। उन जगन्नियन्ताने वर्षाकी भाँति समानभावसे समस्त प्राणियोंके लिये साधन-सम्पत्तियोंको प्रदान किया। उन्हींकी असीम अनुकम्पासे कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों काण्डोंकी विस्तृत और स्फुट समालोचनासे परिपूर्ण वेद भी प्रकाशित हुआ। तदनन्तर उसी विस्तृत वेद-महोदधिका संक्षिप्तरूपमें बोध करानेवाली इस सप्तशती भगवती श्रीगीताका प्रादुर्भाव हुआ।

इसमें उन-उन साध्योंकी सिद्धिके लिये यद्यपि अनेकों ही साधन-प्रणालियोंका वर्णन है, तथापि भक्तिमिश्रित कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन इसमें स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। इन तीनोंमें भी शीघ्रतासे और सुगमतासे भगवद्भा-वापत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला साधन प्रधानतया भक्ति ही माना गया है, इसीलिये गीताके तीनों ही षट्कोंमें भगवद्भक्तिकी महिमा अविच्छिन्नरूपसे वर्णित है।

शास्त्रोंमें अङ्गाङ्गिभावसे एवं साध्य-साधनभावसे भक्तिके अनेकों प्रकार मिलते हैं; किन्तु उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंसे प्रतीत होता है कि गीतामें मुक्तिका मूल साधन शरणागतिरूप भक्ति ही निश्चित हुआ है। क्योंकि शास्त्र अथवा ग्रन्थोंके तात्पर्यके निर्णायक—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफले ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

१. उपक्रम और उपसंहार, २. अभ्यास, ३. अपूर्वता, ४. फल, ५. अर्थवाद और ६. उपपत्ति—

—ये छः हेतु माने गये हैं। इनमेंसे विशेषतया उपक्रम-उपसंहार और अभ्याससे ही निर्णय हो जाता है।

जबतक अर्जुनने शरणागतिका आश्रय नहीं लिया, तबतक जगदाधारने भी कुछ उपदेश नहीं दिया। किन्तु जब अर्जुनने आर्तस्वरसे पुकारा—

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'

'हे जगदीश्वर! मैं आपका शिष्य हूँ और आपके ही शरण हूँ, मुझको हितप्रद उपदेश कीजिये।

—तब इस प्रार्थनाके साथ-ही-साथ भगवान्‌ने उपदेश आरम्भ कर दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि उपदेश प्रपन्न (शरणागत) को ही किया जाता है।

इसी प्रकार उपसंहारमें भी अन्तिम उपदेश—

'मामेकं शरणं व्रज'

—से शरणागतिका ही किया। अतएव उपसंहार भी शरणागतिमें ही हुआ। एवञ्च मध्य-मध्यमें—

'निवासः शरणं सुहृत्'

—इत्यादि वचनोंसे अभ्यास भी शरणागतिका ही हुआ है। अथ च—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

१. भगवान्‌के अनुकूल कर्मोंका संकल्प, २. भगवत्प्रति-कूल कर्मोंका त्याग, ३. प्रभु अवश्य मेरी रक्षा करेंगे ही—यह विश्वास, एवञ्च ४. 'हे कृपासिन्धो! मेरे आप ही रक्षक हैं' यह स्वीकृति, ५. मैं असमर्थ हूँ, इस प्रकारकी दीनता रखना तथा ६. अपनेको प्रभुके चरणोंमें अर्पण कर देना—ये शरणागतिके छहों अंग श्रीगीतामें व्यक्त हुए हैं। जैसे कि छठे अध्यायमें—

'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।'

—यहाँपर भगवद्भजनरूप अनुकूलता शरणागतिका प्रथम अङ्ग प्रदर्शित किया गया।

सोलहवें अध्यायमें आसुरीसम्पत्तिके गुणोंका दिग्दर्शन

कराकर भगवत्प्रतिकूल अहङ्कारादिका त्यागरूप दूसरा अङ्ग बतलाया।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्'

—इत्यादिसे विश्वासनामक तीसरा अङ्ग बतलाया—कि मैं मेरे शरणागतोंको यथोचित साधन-सम्पत्ति प्रदान करता हूँ और उनकी रक्षा भी मैं ही करता हूँ।

फिर एकादशाध्यायमें—

'पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य'

—यहाँसे 'प्रसीद देवेश जगन्निवास' तक गोप्तृत्ववरण-रूप चौथा अङ्ग और वहाँ ही 'नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्' इससे दीनतारूप पाँचवाँ अङ्ग निर्दिष्ट हुआ।

अन्तमें—

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये', 'मामेकं शरणं व्रज'

—इत्यादि कथनोंसे आत्मा और आत्मीय समस्त पदार्थोंका विधि और श्रद्धापूर्वक समर्पण कर देना, यह शरणागतिका षष्ठ अङ्ग व्यक्त हुआ।

अतएव गीतामें भगवद्भावकी प्राप्ति एवञ्च समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्तिका मुख्य साधन भगवच्छरणागति ही निश्चितरूपसे उल्लिखित हुआ है। भगवान्‌के वाक्योंमें सर्वत्र शरणागति ही ध्वनित होती है। यथा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

'हे अर्जुन! परमश्रद्धासे मुझमें मनको लगाकर जो मेरी निरन्तर उपासना करते हैं—बस, समस्त साधकोंमें वे ही उत्तम साधक हैं।' इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका समाधान करके प्रभुने प्रतिज्ञा की है कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

'जो भक्त अपने किये हुए सभी कर्मोंको मेरे अर्पण करके अनन्यचित्त हो मेरी उपासना करते हैं, उन मेरे अनन्य भक्तोंका मैं इस मृत्युरूपी संसारसे शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।'

इसके अनन्तर फलात्मक उपदेश करते हैं कि—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

'मन और बुद्धिको निश्चलरूपसे मुझमें लगा दो, फिर निःसन्देह मुझ आनन्दसिन्धुमें ही निवास करोगे; अर्थात् फिर किसी भी क्लेशका तुम्हें अनुभव नहीं होगा।'

अत्यन्त तेजस्वी निर्मल हीरा

'श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रन्थोंमें एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्माण्ड-ज्ञान-सहित आत्मविद्याके गूढ़ और पवित्र तत्त्वोंको थोड़ेमें और स्पष्टरीतिसे समझा देनेवाला, उन्हीं तत्त्वोंके आधारपर मनुष्यमात्रके पुरुषार्थकी अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी पहचान करा देनेवाला, भक्ति और ज्ञानका मेल कराके इन दोनोंका शास्त्रोक्त व्यवहारके साथ संयोग करा देनेवाला और इसके द्वारा संसारसे दुःखित मनुष्यको शान्ति देकर उसे निष्काम कर्तव्यके आचरणमें लगानेवाला गीताके समान बालबोध-ग्रन्थ, संस्कृतकी तो बात ही क्या, समस्त संसारके साहित्यमें नहीं मिल सकता।······इसमें आत्मज्ञानके अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषामें लिखे गये हैं कि वे बूढ़ों और बच्चोंको एक समान सुगम हैं और इसमें ज्ञानयुक्त भक्तिरस भी भरा पड़ा है। जिस ग्रन्थमें समस्त वैदिक धर्मका सार स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्‌की वाणीसे संगृहीत किया गया है उसकी योग्यताका वर्णन कैसे किया जाय?·····

—लोकमान्य तिलक

गीता-तात्पर्य

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

कितने ही विद्वानोंकी भी यह धारणा है कि 'गीता ज्ञानशास्त्र' है। और हमें भी इस साधारण धारणाकी उपेक्षा करनेकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि गीतामें ज्ञानका निषेध कौन कर सकता है? परन्तु ज्ञानका कौन-सा वस्तुस्वरूप गीतामें कहा है, इतना ही कहना है। इस बातको जानकर प्रकाशित कर देना, यह कोई अशक्य विषय नहीं है। गीता ही कह रही है कि मैं क्या हूँ।

इसपर कितने ही कहते हैं कि गीता कर्मयोगशास्त्र है। और इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि अर्जुनने युद्ध किया है, लँगोटी लगाकर संन्यास नहीं लिया। इतनेपर भी किसी-किसीको सन्तोष नहीं होता, अतएव वे लोग कहते हैं कि गीता न कर्मयोग है और न यह ज्ञानयोग है, गीता तो भक्तिशास्त्र है।

आजकी सुधरी हुई श्रेणी कुछ और ही कहती है। उनका कहना है कि गीता साम्यवाद है। यदि ऐसा न होता तो 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः', 'समत्वं योग उच्यते', 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' इत्यादि वाक्य क्यों कहे जाते? इनका अर्थ स्पष्ट ही साम्यवाद है।

क्या मैं उक्त वचनोंके विषयमें कह सकता हूँ कि इनमें साम्यवाद नहीं है? इसी प्रकार न मैं ज्ञानका, न कर्मका और न भक्तिका ही निषेध कर सकता हूँ। भगवद्गीतामें सब कुछ है। सब कुछ रहते हुए भी तात्पर्य किसी एकपर ही है। प्रायः यह देखा गया है कि वक्ता लोग सब कुछ कहते हैं, किन्तु उनका तात्पर्य—स्फुट न कहते हुए भी किसी एक विषयपर ही होता है। हृदयकी विशेष प्रीति किसी एकपर ही होती है, अनेकपर नहीं। और वाणीपरसे हृदयको खोज निकालना इतना कठिन नहीं है। नेत्र और वाणी दोनों हृदयको बाहर प्रकट कर देते हैं; अतएव शास्त्रकारोंने वाणीपरसे वक्ताके तात्पर्यको खोज निकालनेके लिये कितने ही उपाय गिनाये हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफले ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छः ग्रन्थके तात्पर्य जान लेनेके उपाय हैं।

उपक्रमोपसंहार—ग्रन्थका प्रारम्भ और समाप्ति जिस विषयपर हों, प्रायः ग्रन्थका वही तात्पर्य होता है।

अभ्यास—ग्रन्थकार जिस विषयको पुनः-पुनः कहता हो, समझ लेना चाहिये कि ग्रन्थका तात्पर्य भी उसी विषयपर है।

अपूर्वता—वक्ताने जो बात ग्रन्थमें नवीन कही हो, प्रायः उसी विषयपर ग्रन्थका तात्पर्य है।

फल—ग्रन्थके जिस विषयपर फल भी आया हो, तो समझ लेना चाहिये कि ग्रन्थका तात्पर्य भी यही है।

अर्थवाद-इतिहासादि—इतिहासके दृष्टान्त भी जिस विषयको सहारा दें, वही तात्पर्य ग्रन्थका होता है।

उपपत्ति—ग्रन्थकारने जिस विषयपर विशेष समन्वित युक्तियाँ दी हों, प्रायः वही विषय ग्रन्थका तात्पर्य भी होता है।

इस निर्णयके अनुसार यदि कहा जाय तो कह सकते हैं कि गीताका तात्पर्य 'श्रीकृष्णभक्ति'पर है। वास्तव रीतिसे गीताका प्रारम्भ द्वितीयाध्यायके सातवें—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

—इस श्लोकसे होता है। क्योंकि विधियुक्त कर्तव्यका निर्देश इसी श्लोकमें है। अर्जुन कहता है कि 'मैं अपने मनसे अपने कर्तव्यका निर्णय नहीं कर सका हूँ, अतएव आपके शरण आया हूँ; अब आप मुझे अपने कल्याणकारक कर्तव्यका उपदेश दीजिये।' गुरुके किंवा उपास्यदेवके शरण जाना—यह भक्तिमार्गका प्रारम्भ है। वह इस श्लोकसे स्पष्ट हो रहा है; अतएव कहना होगा कि गीताका तात्पर्य भक्तिमार्गपर है।

उपसंहार—गीताकी समाप्ति १८वें अध्यायके ६६वें—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

—इस श्लोकमें की गयी है। क्योंकि यह वचन भी विधियुक्त कर्तव्यका निर्णय कर देनेवाला है। इसमें भी भगवान् श्रीकृष्णने अपने शरण आनेके लिये कहा है, इसलिये उपसंहारसे भी स्पष्ट होता है कि गीताका तात्पर्य श्रीकृष्णभक्तिमें है।

अभ्यास—गीताके प्रत्येक अध्यायमें शब्दोंसे किंवा तात्पर्यसे पुनः-पुनः भक्तिमार्गका ही निरूपण स्पष्ट होता है। यदि इसका सङ्कलन किया जाय तो द्वितीयाध्यायके ४५, ५५, ६१, ६४, ७०, ७२वें श्लोकोंसे, तृतीयाध्यायके ३, ९, १३, १५, १७, ३०वें श्लोकोंसे, चतुर्थाध्यायके १०, ११, २३वें श्लोकोंसे, पञ्चमाध्यायके १०, १७, २०, २४, २९वें श्लोकोंसे, षष्ठाध्यायके ६, १४, १८, २०, ३०, ३१वें श्लोकोंसे, सम्पूर्ण सप्तमाध्यायसे, अष्टमाध्यायके ९, १०, ११वें श्लोकोंसे अथवा सारे ही अध्यायसे, सम्पूर्ण नवमाध्यायसे, सम्पूर्ण दशमाध्यायसे, सम्पूर्ण एकादशाध्यायसे, सम्पूर्ण द्वादशाध्यायसे, त्रयोदशाध्यायके १से १८वें श्लोकपर्यन्त, चतुर्दशाध्यायके २६, २७वें श्लोकोंसे, सम्पूर्ण पञ्चदशाध्यायसे, षोडशाध्यायके १से ३तक, सप्तदशाध्यायके ४ और १४वें श्लोकोंसे, अष्टादशाध्यायके १८, २०, ५२वें और ५४वेंसे समाप्तिपर्यन्तके श्लोकोंसे भक्तिमार्गकी सूचना हो रही है। इसलिये अभ्याससे भी गीताका तात्पर्य भक्तिमार्गपर प्रकट होता है।

अपूर्वता—विद्यमान समयमें जिस कर्तव्यकी जनसमाजको अपेक्षा हो और जो शास्त्रानुकूल तथा कल्याणकारक हो, वह विषय 'अपूर्व' कहा जाता है। गीतानिर्माणके पूर्व भी कर्म, ज्ञान और उपासनाके शास्त्र विद्यमान थे; किन्तु उसके बाद लोगोंके अधिकार बदले, शक्तियाँ बदलीं, अतएव रुचि भी बदली। केवल कर्मसे, केवल ज्ञानसे और केवल उपासनासे लोकहित होना असम्भव-सा हो गया। अतएव लोकहित विचारनेके लिये वेदव्यासके रूपमें भगवान्का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान् व्यासजीने 'दध्यौ हितममोघदृक्'के अनुसार खूब विचार किया और वेदके परोक्ष तात्पर्यको प्रकाशित किया। जिस बातकी लोगोंको अड़चन आती थी उसका निराकरण गीताके द्वारा कर दिया। योगका प्रादुर्भाव किया। केवल कर्म, केवल ज्ञान और केवल भक्ति या प्रेम भगवद्धर्म होनेसे मर्यादाके हिसाबसे जीव-धर्म नहीं हो सकते। सत्का रूपान्तर क्रियाकर्म है, यह भगवद्धर्म (अंश) होनेसे जीवका कर्तव्य नहीं होता। ज्ञान भी चिद्रूप होनेसे भगवद्धर्म है, अतएव वह भी जीवधर्म नहीं हो सकता; और प्रेम भी आनन्दका रूपान्तर होनेसे भगवद्धर्म है, अतः जीव-कर्तव्य नहीं हो सकता। कर्मका ज्ञान और प्रेमके विना कार्य नहीं चलता, ज्ञानका कर्म और प्रेम विना फल नहीं मिलता और भक्तिकी भी कर्म और ज्ञान विना फलसिद्धि हो, यह असम्भव है।

मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥

चकारद्वय देकर यह स्फुट किया है कि तीनों परस्पर सम्मिलित होकर मार्ग किंवा योग होते हैं। कर्ममें ज्ञान और प्रेमका सहारा हो,तब कर्ममार्ग किंवा कर्मयोग कहा जाता है। इसी प्रकार एक दूसरेका सहायक होकर ज्ञानयोग और भक्तियोग होते हैं। यद्यपि वेदादि प्राचीन शास्त्रोंका भी यही आशय था, पर परोक्षरीतिसे था। अनन्तरभव जनता उसको उस रीतिसे न समझ सकी। इसीको स्पष्ट करनेके लिये व्यासभगवान्का अवतार हुआ। अतएव उन्होंने श्रीमद्भागवतमें इसको स्फुट कर दिया। ज्ञान-भक्तिसहित वैदिककर्मकी व्यवस्था कर दी।

चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिति ॥
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः ॥

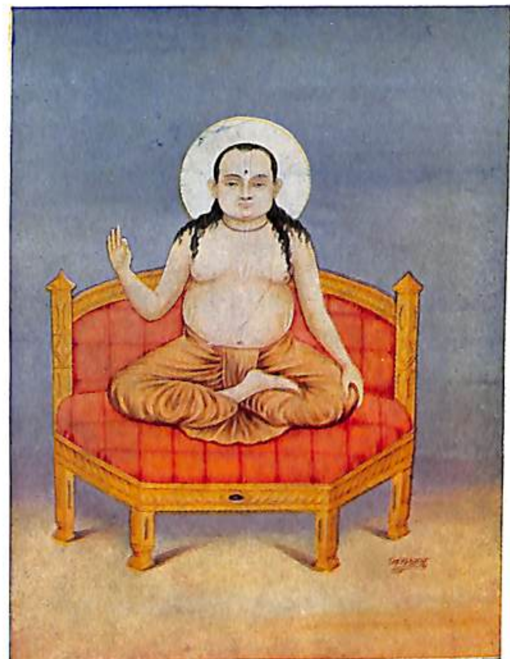
होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—चारों मिलकर एक कर्मका सम्पादन करते हैं। होता, अध्वर्युका काम क्रियासम्बन्धी है। उद्गाताका काम देवभक्तिसे सम्बन्ध रखता है और ब्रह्माका कर्म विचार (ज्ञान) सम्बन्धी है। अर्थात् यज्ञादिरूप कर्म ज्ञान और भक्तिके द्वारा सम्पत्तिवाला होता है। किन्तु पहले इस विषयके मन्त्र अव्यवस्थित—खिचड़ी हो रहे थे, व्यासजीने उस अवस्थाके मन्त्रोंसे फलसम्पन्न कर्मका होना असम्भव देखकर यज्ञकी सम्पन्नपरम्परा चली न जाय, इसलिये उस मिले हुए वेदके चार विभाग व्यवस्थित कर दिये। अब वह कर्मयोग हो गया। तथापि दुर्भग प्रजाकी

१—भौतिककालकृतदोषदूरीकरणसमर्थः । अङ्कशरतया निरूपणाद्बुद्धिसौकर्येण यज्ञसन्ततिः ॥ तेषामपेक्षितधर्मप्रतिपादकः पञ्चमो वेद इतिहासपुराणाख्यः। भागवता धर्मास्तु स्वतन्त्राः। ते ह्यन्यशेषेण निरूपिता न निरूपिता एव। आनुशासनिके हि कालादिशेषत्वेन निरूपिताः ॥
(भाग० १ स्क० ४ अ० तत्र सुबोधिनी)।

गीताप्रचारक आचार्य



श्रीरामानुजाचार्य



श्रीनिम्बार्काचार्य



श्रीमध्वाचार्य



श्रीवल्लभाचार्य

ओर देखकर उसी बातका स्पष्ट निर्देश करनेके लिये भारत-आख्यान और कतिपय पुराणोंका भी निर्माण किया। कर्मसे किस प्रकार फलसिद्धि मिल सकती है, इस बातको हृदयमें रखकर भारतस्थ गीतारूप भगवद्वचनका अनुवाद हुआ।

यह हुआ सही, पर फिर भी दुर्मेधा प्रजा मेरे गीतोक्त सूक्ष्म आशयको समझ सकेगी या नहीं? यह सन्देह बना ही रहा। हृदयको सन्तोष न हुआ तब श्रीमद्भागवतमें दृष्टान्तोंके द्वारा इस बातको विस्तारपूर्वक समझाया कि कर्म, ज्ञान, भक्ति परस्पर एक दूसरेसे मिलकर फलसमर्पक मार्ग, उपाय या योग होते हैं। यही बात गीतामें सूत्ररूपसे कही गयी है। गीता सूत्र है तो श्रीमद्भागवत उसका भाष्य है। गीताके ही तत्त्वको श्रीमद्भागवतमें विस्तारपूर्वक कहा गया है। भगवद्गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों हैं सही, पर तीनों परस्पर मिलकर तीन उपाय हुए हैं। एक अङ्गी, दूसरे उसके ही अङ्ग। और इस तरह माननेसे ही गीताकी सङ्गति लग सकती है। कोई ऐसा अध्याय नहीं जिसमें तीनोंका प्रतिपादन न आया हो और तीनोंका परस्पर समन्वय भी न आया हो। वास्तवमें देखा जाय और किसी बातको हृदयमें न रखकर विचार किया जाय तो श्रीकृष्णभक्तिपर ही गीतामें विशेष भार दिया गया है। अर्थात् गीतामें ज्ञान-कर्मसहिता भगवद्भक्तिका प्रतिपादन है और यही यहाँ अपूर्वता है। अतएव अपूर्वताके सिद्धान्तसे भी गीतामें श्रीकृष्णभक्तिका ही निरूपण है।

फल—फलकी ओर यदि दृष्टि डाली जाय तो गीतोपदेशका फल हुआ है—भगवान्की आज्ञाका पालन। भगवान्की बारंबार आज्ञा यही है कि 'युद्ध कर'। तदनुसार अर्जुनने युद्ध किया ही। अन्तमें कहा भी है कि 'करिष्ये वचनं तव' आपकी आज्ञानुसार करूँगा। भगवदिच्छानुसार और भगवान्की आज्ञाके अनुसार ही भक्तको करना चाहिये, यह भक्ति-मार्गका सिद्धान्त है। अतएव फलसे भी गीताका तात्पर्य भक्तिमार्ग है।

अर्थवाद-इतिहास—जनकादिका दृष्टान्त देकर भी यही समझाया है कि भगवान्में समर्पण करके ही सब काम करे। इसलिये अर्थवादके द्वारा भी गीताका तात्पर्य भक्तिमार्ग ही है।

उपपत्ति-युक्ति—युक्तियोंसे भी यही सिद्ध है कि भक्तिके द्वारा ही फलसिद्धि शीघ्र और सरल रीतिसे होती है। प्रत्युत

१२वें अध्यायमें तो ऐसा प्रश्न ही किया है और भगवान्ने उसपर अपना सिद्धान्त कहा है।

अर्जुन प्रश्न करता है कि 'भगवन्! जो लोग इस तरह सर्वदा रूपसेवा और नामसेवामें लगे रहनेवाले हैं वे, और जो कितने ही किसीके समझमें न आनेवाले अक्षरब्रह्मके विचारमें सर्वदा लगे रहनेवाले हैं वे—इन दोनोंमें कौन-से साधक उपाय-चतुर—साधन-कुशल कहे जा सकते हैं?'

इसके उत्तरमें श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं कि 'हे अर्जुन! जो लोग अपने मनको मुझमें फँसाकर पूर्ण श्रद्धासे सर्वदा मेरी सेवा करते रहते हैं, मुझे तो वे ही उपाय-कुशल मालूम होते हैं।'

इस प्रश्नोत्तरसे स्पष्ट ही भगवान्का क्या तात्पर्य है, यह प्रकाशित हो जाता है। सबसे बड़ी युक्ति तो यह है कि जो सर्वेश्वर हैं, स्वतन्त्र हैं, सर्वज्ञ हैं तथा उत्कृष्ट करुणाकर होकर फलदाता भी स्वयं ही हैं—उनकी भक्ति करनेसे ही फलसिद्धि शीघ्र और सहज हो सकती है। और प्रायः सारी गीतामें यही समझाया गया है।

हमें यह मान्य है कि गीता सब तरहकी समझोंसे भरा हुआ शास्त्र है, अतएव ज्ञानशास्त्र भी है; पर वह ज्ञान भक्तिके लिये है, यह मानना ही होगा। सारी गीतामें प्रायः भगवान्ने अपना स्वरूप समझाया है—'मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ' इत्यादि-इत्यादि कहकर। पर वह भी अपनी भक्ति करानेके लिये।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'

—इत्यादि वचनोंसे भगवन्माहात्म्य और स्वरूपज्ञानको परमोत्तम कहा है। पर साथ-साथ गीताहीमें यह भी कहा है कि—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

ज्ञान और भक्ति—इन दोनों साधनोंपर यदि तुलनात्मक विचार किया जाय तो कहना होगा कि भगवान्‌को भगवद्भक्ति ही विशेष अभीष्ट है।

कितने ही कहते हैं कि कर्म, ज्ञान और भक्ति तथा भगवत्स्वरूप-ज्ञान—इन सभी विषयोंको कहनेवाली गीता है, यह माननेसे तो वाक्यभेद-दोष आवेगा; इसलिये गीताका विषय तो एक ही मानना उचित है। इसके उत्तरमें हमें कहना है कि गीतामें एक ही विषय अनेक प्रकारसे कहा गया है। विषय एक ही है, अतएव वाक्यभेद नहीं होता। भक्ति-मार्गमें विषयको पूर्णतया जान लेनेकी बड़ी अपेक्षा है। अतएव विषयको ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फलकी दृष्टिसे जानना है।

परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ही गीताका विषय है। और भक्तिका विषय भी यही है। अपने आपके कहने और समझानेमें आप ही प्रमाण है, अतएव भगवान्‌ने अपना स्वरूप निर्देश करनेमें वेदादि प्रमाण न देकर अपने वचन ही प्रमाण रक्खे हैं। 'अहं सर्वस्य प्रभवः', 'मत्तः परतरं नान्यत्' 'भजस्व माम्' इत्यादि प्रमाण-दृष्टिसे भी गीताका विषय श्रीकृष्ण है। अब यदि प्रमेयकी दृष्टिका विचार किया जाय तो भी यही बात सिद्ध होती है।

दशमाध्यायमें जब सब कुछ प्रमेय अपना ही स्वरूप-अंश कहा, तब यह बात केवल अपने वचन-प्रमाणद्वारा समझायी गयी। कदाचित् इसमें किसीको सन्देह हो, इसलिये फिर प्रमेयका दर्शन कराना पड़ा। यह विश्वरूपदर्शन है। विश्व-का असङ्कुचित अर्थ है सम्पूर्ण। अर्थात् गीतामें अर्जुनके वचनोंद्वारा जो वर्णन किया गया है उतना ही नहीं, किन्तु जितना अपरिमेयस्वरूप श्रीकृष्णने वर्णन किया था वह सभी अर्जुनको दिखाया। जो अप्रमेय है, वह प्रमेय नहीं हो सकता। अतएव भगवान्‌ने दिव्य (अपनी) दृष्टि अर्जुनको दी। विरुद्धधर्माश्रय भगवान्‌को देखनेका या समझ लेनेका अधिकार जीवका नहीं है। उस स्वरूपके लिये भगवद्दृष्टिकी अपेक्षा है। वही भगवान्‌ने अर्जुनको दी। और यह बात गीतामें कह भी दी है।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

'प्रत्यक्षसे पर जो यह मेरा स्वरूप है, वह तुझको मैंने अपने सामर्थ्यसे किंवा आत्मीय उपायसे ही दिखाया है, त्वत्कृतिसाध्य उपायसे नहीं दिखलाया है।' और इसीलिये इस रूपके लिये कई बार 'अद्भुत' शब्द आया है। विरुद्ध धर्मोंसे भरा हुआ स्वरूप अद्भुत है। और 'अद्भुत' शब्द भी जीवदृष्टिकी अपेक्षासे कहा है। वास्तवमें भगवान्‌के स्वरूपमें कोई बात अद्भुत नहीं है। वहाँ सब कुछ साधारण है। अतएव अप्रमेय कहा जाता है। इसलिये गीतामें प्रमेयकी दृष्टिसे भी भगवान् श्रीकृष्ण ही विषय है।

कितने ही कहते हैं कि साधनकी दृष्टिसे तो द्वैत मानना ही पड़ेगा। भगवत्प्राप्ति साध्य है और ज्ञान, भक्ति तथा कर्म साधन हैं। यदि गीतामें ये हैं तो अवश्य द्वैत मानना होगा। और त्रिविध साधनोंका वर्णन गीतामें है, इसलिये वाक्यभेद भी हो जायगा। इसके उत्तरमें कहना है कि साधन (उपाय) साध्य (फल) की दृष्टिसे भी पदार्थान्तर नहीं होता। प्रकारभेद मात्र है। विषयभेद नहीं है। अनेक प्रकारसे भगवान् ही विषय रहता है। साधन भी भगवान् है और साध्य (फल) भी भगवान् है। साध्य भगवान् है, वह यदि पदार्थान्तररूप साधनसे प्राप्त है तो असमर्थ है। श्रीकृष्ण असमर्थ नहीं हैं, वे स्वप्रकाश ही हैं। उनकी प्राप्ति उन्हींसे होती है; उनका ज्ञान उन्हींसे होता है, अन्यसे नहीं।

यह श्रौत सिद्धान्त सबने स्वीकार कर लिया है कि भगवान् 'अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप' हैं। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस श्रौत सिद्धान्तके अनुसार यह भी सबको स्वीकार करना होगा कि उसी स्वरूपमें उसके सच्चिदानन्दधर्म भी विद्यमान हैं। तेज सूर्य है, यह भी ठीक है और 'तेजस्वी सूर्यः' यह भी ठीक है। वह वस्तु ही ऐसी है। जहाँ वस्तु ही विरोधका परिहार कर देती हो, वहाँ विरुद्ध धर्मोंका दर्शन रहते भी उसे वैसा ही मानना पड़ता है। वे भगवान् सच्चिदानन्द-स्वरूप भी हैं और सत्, चित्, आनन्द—ये उनके धर्म भी हैं। धर्म और धर्मीका ऐक्य रहते भी समझने-समझानेके लिये उनको भिन्न भी मानना पड़ता है। सत् स्वरूप है तो क्रिया उसका धर्म है, चित् स्वरूप है तो ज्ञान उसका धर्म है और आनन्द स्वरूप है तो प्रेम या प्रीति उसका धर्म है। जहाँतक ये तीनों भगवद्धर्म रहते हैं वहाँतक जीवकृतिसाध्य नहीं होते। सारे जगत्‌के पैदा करनेकी क्रिया जीवकृतिसाध्य नहीं, पर भगवद्धर्म होनेसे भगवत्कृतिसाध्य होती हैं। अतएव श्रुति कहती है—'स सर्वं भवति', 'सर्वे आत्मानो व्युच्चरन्ति', 'स आत्मनः स्वयमकुरुत'। ये सब क्रियाएँ भगवद्धर्म हैं। इसी तरह

चित् और आनन्दके विषयमें भी समझ लेना उचित है। विस्तारके भयसे इस विषयको मैं यहाँ ही छोड़ देता हूँ।

पर 'बुद्धिसंयोगं लभते', 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः', 'इदं तु ते गुह्यतमम्', 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' इत्यादि भगवद्वचनोंके अनुसार भगवान् अपने धर्मोंका दान जीवके लिये करते भी हैं—क्रीडाके लिये कुछ दिनके लिये आत्मीय सेवकोंको अपने क्रिया, ज्ञान आनन्दादि धर्म उधार दिये जाते हैं। यह भगवान्का अनुग्रह है। उस समय वे धर्म, कर्म, ज्ञान और प्रेम या भक्ति कहे जाते हैं। और वे जीवधर्म कहे जाते हैं, जीवके उद्धार करनेवाले उपाय हो जाते हैं। इस तरह साधन भी वही हैं और फल भी वही हैं। वे सर्वसमर्थ हैं—'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः'। साधन भी सच्चिदानन्द हैं और फल भी सच्चिदानन्द हैं। अतएव गीताका विषय भी एक ही है।

ऐसी अवस्थामें अब यहाँ कई एक विचार होते हैं कि जब भगवान् स्वयं अपने तत्त्व या स्वरूपका उपदेश कर रहे हैं, तब ऐसे सर्वोत्तम उपदेशके आदिमें अभक्त और भक्त-द्वेषी धृतराष्ट्रकी वाणीसे ग्रन्थका प्रारम्भ करना उचित नहीं मालूम पड़ता। और उसके पुत्र दुष्ट दुर्योधनादिकी चर्चा भी प्रारम्भमें ठीक नहीं लगती। अर्जुन क्षत्रिय है, उसका इस तरह समयपर घबरा जाना भी आदिमें कहना उचित नहीं है। कदाचित् उपदेश देनेमें अर्जुनका विषाद ही कारण हुआ है, यह समझकर इसका समाधान करें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उपदेशके पूर्व ही विषाद हो जानेसे उपदेश श्रवण करनेमें अर्जुनको चित्तविक्षेप होना सम्भव है। क्योंकि उपदेश-श्रवणके समय शान्तिकी अपेक्षा है और विषाद तो शान्तिका भङ्ग करनेवाला है।

इससे यह भी विदित होता है कि जिसको श्रवणके समय विषाद और अशान्ति है, उस अर्जुनको उपदेश सुननेका अधिकार ही नहीं रहता। इसलिये उस विषादको दूर करनेके प्रारम्भमें भगवान्को कोई अनुरूप लौकिक आख्यायिका कहनी थी—न कि शान्त, दान्त अधिकारीके योग्य आत्मतत्त्वका निरूपण! जिस प्रकार उपक्रमपर सन्देह-तर्क होते हैं, उसी तरह उपसंहारपर भी अनेक तर्क होते हैं। उपदेश सुन लेनेके बाद अर्जुनको भी ब्रह्मविद्याका श्रवण कर लेनेसे वैराग्य उत्पन्न हो जाना चाहिये था। और उस वैराग्यसे राज्य आदि सब अनात्मवस्तुओंका परित्याग कर देना योग्य था। किन्तु यह कुछ न करके अर्जुनने तो अपने गुरु आदि पूज्य और भीष्म आदि आत्मीय वर्गोंका नाश किया, यह तो विद्याश्रवणके सर्वथा अनुचित हुआ। असल तो यही विरुद्ध-सा जँचता है कि सर्वरक्षक धर्मसंस्थापक सर्वेश्वर भगवान्ने अर्जुनको पूज्य गुर्वादिहननका उपदेश ही क्यों और कैसे दिया! इस तरह पूर्वापरका विचार करनेसे बुद्धि सन्दिग्ध हो जाती है।

इसके उत्तरमें कहना पड़ता है कि भक्तिमार्ग और अनुग्रहका मार्ग मर्यादामार्गसे कुछ पृथक् ही है। 'तेषामहं समुद्धर्ता', 'अपि चेत् सुदुराचारः', 'मत्प्रसादात्', 'मत्प्रसादात् तरिष्यसि', 'इष्टोऽसि मे', 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इत्यादि अनेक भगवद्वचन इस बातको स्पष्ट कर रहे हैं कि वेद-शास्त्रकी मर्यादासे भक्ति-स्नेहकी मर्यादा कुछ पृथक् ही है। यह बात लोकमें भी विद्यमान है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'पार्थास्तु देवो भगवान् मुकुन्दो गृहीतवान्'—क्रीडारसिक श्रीमुकुन्दभगवान्ने पाण्डवोंको 'ये अपने हैं' इस तरह स्वीयभावसे ग्रहण किया है। युद्धके समय भ्राता भी भ्राताको मारे, इस न्यायसे यदि अब अर्जुनादि भगवद्भक्त भी इतर जनकी तरह अपने वैरियोंको मारकर राज्यका उपभोग करें तो ऐसे राज्यमें भगवत्सम्बन्ध न होनेसे उसके भगवदीयत्वका निर्वाह नहीं होता। क्षत्रिय और वीर रहते भी जो अर्जुनके हृदयमें उसी समय सहसा वैराग्यकी उत्पत्ति हुई, उससे यह सूचित होता है कि उस वैराग्यके होनेमें कोई लौकिक भाव कारण नहीं है, किन्तु भगवदीयत्वसम्बन्धी अलौकिक भाव ही है। 'भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्', 'क्षत्रियाणामयं धर्मः' इत्यादि वचनोंसे यह स्पष्ट है कि क्षत्रियश्रेष्ठ वीराग्रणी अर्जुनको युद्धके समय वीररसका ही प्रादुर्भाव होना उचित था, किन्तु वैराग्यका होना तो सर्वथा अननुरूप ही था। स्वभाव किसी अवस्थामें भी नष्ट नहीं होता। अतएव वीरस्वभाव क्षत्रिय अर्जुनको युद्धमें वैराग्य होना ही स्पष्ट कहे देता है कि यह वैराग्य किसी लौकिक भावसे नहीं, किन्तु भगवद्भक्त होनेसे भगवत्प्रेरणासे ही हुआ। यदि किसी लौकिक भावसे यह वैराग्य होता तो जैसे अर्जुनके दुर्योधनादि प्रिय बान्धव थे, उसी तरह दुर्योधनादिके भी अर्जुनादि प्रिय बान्धव थे ही; फिर समान न्यायसे दुर्योधनादिके हृदयमें भी वैराग्य होना चाहिये था। परन्तु ऐसा न होनेसे यह सिद्ध होता है कि अर्जुनको भगवदीय होनेसे ही वैराग्य उत्पन्न हुआ और अभक्त होनेसे दुर्योधनादिके

हृदयमें न हुआ। अर्जुनका यह उत्तमाधिकार स्पष्ट करा देनेके लिये ही गीताके प्रारम्भमें धृतराष्ट्र और उसके पुत्रोंकी चर्चा की गयी है। भक्तिमार्गकी रीति लोकसे जुदी है, यह यहाँतकके वक्तव्यसे स्पष्ट हुआ। अब यह भक्तिमार्ग वैदिकमर्यादासे भी जुदा है, यह दिखानेके लिये 'गुरु आदिके मारनेमें अर्जुनकी प्रवृत्ति क्यों हुई' इसका उत्तर देते हैं।

'विनाशाय च दुष्कृताम्' इत्यादि वचनोंसे यह विदित होता है कि 'भगवान्का प्रादुर्भाव असुरोंका संहार करनेके लिये है। असुर-संहार करना भगवान्का लीला-कर्तव्य है।' इस भगवान्के कार्यके अनुसार कार्य करना, किंवा तदनुकूल बुद्धि रखना—यह भगवद्भक्तका धर्म है; भगवत्कार्यके विरुद्ध बुद्धिका होना भगवद्भक्तके योग्य नहीं। यदि भगवत्कार्यसे विरुद्ध मति भगवदीयकी हो तो वह कुमति कही जायगी। दुर्योधनादि सभी असुरावेशी होनेसे असुर थे, अतः उनका संहार कराना भगवान्का कर्तव्य था। किन्तु इस प्रभुके अभीष्टसे विरुद्ध अर्जुनकी जो वैराग्यबुद्धि हुई, वह वास्तवमें कुमति थी। भगवत्कार्यसे विरुद्ध जो अर्जुनकी मति हुई उसको दूर करनेके लिये श्रीहरिने अठारह अध्यायोंके द्वारा अपने परमतत्त्वका उपदेश किया और कुमतिका नाश करके सुमतिका दान किया।

भगवदिच्छाके अनुकूल बुद्धि सुमति और जो बुद्धि भगवदभीष्टके विरुद्ध हो, वह कुमति है। यदि यह न होता तो श्रीमद्भागवतादिमें गुरु आदिको न मारनेकी इच्छाको कुमति न कहते। मर्यादामार्गमें वेद-शास्त्रोक्त विधिके अनुसार चलना धर्म है और भक्तिमार्गमें प्रभुकी इच्छाके अनुकूल चलना धर्म है। यद्यपि गुरु आदिका मारना धर्मशास्त्रादिमें निषिद्ध है—अतएव वैदिकमार्गके अनुसार, वैसा करना अधर्म है, तथापि उस समय भगवान्की इच्छा उन्हें मारनेकी ही थी; पर उससे विरुद्ध अर्जुनको युद्धसे वैराग्य हुआ, यह भगवदिच्छाविरुद्ध होनेसे कुमति ही थी। इस कुमतिका भगवान्ने गीतातत्त्वके द्वारा नाश किया। इस बातको श्रीमद्भागवतमें भगवद्भक्त श्रीभीष्मपितामहने कहा है—

> व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
> स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।
> कुमतिमहरदात्मविद्यया यः
> स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥

'विरुद्ध पक्षकी सेनाको युद्धके लिये तैयार देखकर और उस युद्धको दुष्कर्म जानकर निज बान्धवोंको मारनेसे विमुख हुए अर्जुनकी उस कुमतिको जिसने आत्मविद्याके उपदेशसे दूर किया, वे भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों।'

इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भक्तिमार्गकी मर्यादा वेद-शास्त्रसे भी अतीत है। इसीसे लोक और वेदके अनुसार ही भक्तिमार्गका भी विचार करना युक्त नहीं। कारण कि भगवद्भक्त लोक-वेदातीत होते हैं। इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त यही है कि ब्रह्मविद्याका उपदेश हो जानेपर भी तत्क्षण ही अर्जुनकी असुर-हननमें प्रवृत्ति हुई और किया भी। जो लोग यह तर्क करते हैं कि ब्रह्मविद्या-श्रवणानन्तर अर्जुनको सर्वत्याग करना युक्त था—गुर्वादिहनन अयुक्त था, इस सिद्धान्तसे उनके इस तर्कका समाधान भी हो जाता है।

वास्तवमें तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस सिद्धान्तके अनुसार लौकिक-वैदिक सर्वकर्तव्योंका त्याग करके केवल श्रीकृष्णमात्रका ग्रहण ही सर्वत्याग है। और इसीलिये 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ' इस भगवान्के प्रश्नके उत्तरमें—

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

—यह उत्तर दिया कि अब मैं आपकी आज्ञाके अनुसार करूँगा। इत्यादि सिद्धान्तोंसे यह स्पष्ट होता है कि भगवती गीताका तत्त्व या तात्पर्य भगवद्भक्ति है। भगवद्गीताका तत्त्व यदि भगवान् श्रीकृष्ण है तो वह भी भजनके लिये है और गीताका तात्पर्य यदि भगवद्भक्तिपर है तो वह भी श्रीकृष्ण-भक्तिका प्रचार करनेके लिये है!

गीतामें ईश्वरवाद

भगवद्गीता यथार्थमें हिन्दुओंके ब्रह्मवादका नहीं, अपितु प्राधान्यतः उनके ईश्वरवादका ग्रन्थ है। इस बातको प्रायः न तो हमारे ही देशके लोगोंने और न गीताके गहन तत्त्व और उसके व्यापक सार्वभौम सिद्धान्तपर मुग्ध होनेवाले विदेशियोंने ही हृदयङ्गम किया है, ऐसा प्रतीत होता है। —श्रीविपिनचन्द्र पाल

गीतामें वेदों और दर्शनादिके सिद्धान्त

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १०८ युक्त स्वामी भागवतानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर, काव्यसांख्ययोगन्याय-वेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य)

जातासि त्वं मुरहरमुखाज्जाह्नवी तस्य पादात्
सर्वानभ्युद्धरति भवती सा तु मग्नान् विधत्ते ।
प्रत्यग्ब्रह्मामृतरसनिधिं प्राप्य विश्राम्यसि त्वं
मातर्गीते जडनिधिमियं माति न त्वत्प्रभावः ॥१॥

जब मनुष्य निरतिशय शाश्वत सुखकी खोजमें आगे बढ़ता है तब उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सर्वोत्तम साधन कौन है। जिसके द्वारा स्थायी सुख प्राप्त हो सके। मनुष्यका मनुष्यत्व भी तो तभी सफल माना जाता है जब वह सोच-विचार कर कार्यारम्भ करे।

निरुक्तमें लिखा है—

'मनुष्याः कस्मान्मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः' (३ । ७ । १)

'मनुष्य नाम क्यों पड़ा ? परिणामादिका विचार करके कर्मारम्भ करनेके कारण 'मनुष्य' यह नाम प्रसिद्ध हुआ है।' जैसे किसी राजा, महाराजाको उपहार देनेके लिये कारीगर बड़े ही मनोयोगके साथ उस देय वस्तुके निर्माणमें अपना सारा बुद्धि-वैभव खर्च कर डालता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माजीने भी सार्वभौम परमात्माकी संसाररूपी आश्चर्यशाला (अजायबघर) में रखनेके लिये निर्माताके कौशलके प्रदर्शनके लिये 'मनुष्य' को बड़े ध्यानसे बनाया है। इस मनुष्य-पदके निर्वचनसे विचार्य-कार्यकारी ही 'मनुष्य' उपाधिके योग्य सिद्ध होता है। सूक्ष्म विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि मनुष्यके लिये गीतागत धर्म ही परमानुष्ठेय है। एक तो महाभारत ही अनुपम ग्रन्थ है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥
(महाभारत १ । ६२ । ५३)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जितना विशद विचार महाभारतमें है, उतना अन्यत्र नहीं है। प्रायः सब ग्रन्थ इसका ही आश्रय लेकर अपने-अपने प्रतिपाद्य विषयका प्रतिपादन करते हैं। 'यन्न भारते तन्न भारते' किंवदन्तीकी यह उक्ति भी उक्त कथनकी समर्थिका है। जिसके प्रणेता विश्व-विश्रुत महर्षि व्यास हैं, लेखक विश्ववन्द्य गणेश हैं—उस महाभारतरूपी दुग्ध-सिन्धुसे उद्धृत गीता नवनीतस्वरूप है। उसकी महिमा व्यासजीने स्वयं निज मुखसे यों गायी है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥
षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु सञ्जयः ।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ॥
भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥
(महाभारत, भीष्मपर्व ४३ । १–५)

गीताका ही भलीभाँति विचार करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि भगवान् विष्णुके मुख-कमलसे मकरन्दस्वरूप 'गीता' उद्भूत हुई है। सब शास्त्रस्वरूप गीता है, गीतामें निखिल शास्त्रोंके सिद्धान्त वर्तमान हैं; गीता, गङ्गा, गायत्री, गोविन्द—ये चार गकार अर्थात् चारों नाम यदि हृदय-मन्दिरमें स्थापित कर लिये जायँ तो पुनः सदाके लिये जन्म-मरणका बखेड़ा समाप्त हो जाता है। इन चार गकारोंमें भी प्रथम श्रेणीमें 'गीता' का नाम आया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'गीता' के विचारसे अग्रिम तीनों गकार सुलभ और गतार्थ हो जाते हैं। गीताके ६२० श्लोक भगवान् श्रीकृष्णने, ५७ श्लोक अर्जुनने, ६७ श्लोक सञ्जयने और १ श्लोक धृतराष्ट्रने कहा है; इस संख्यामें कुछ मतभेद भी है, परन्तु सामान्यतः यह गीताके श्लोकोंकी संख्या है।

महाभारतरूपी अमृतका सर्वस्वस्वरूप गीताका मथितार्थ-सार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें होम (उपदेश) किया।

'होम' कहनेसे अर्जुनका मुख कुण्डरूप है, गीताका उपदेश होतव्य द्रव्य है, होता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, फल परम मुक्ति है—यह तात्पर्य होमके रूपकसे प्रतीत होता है । उक्त व्यासजीके वचनोंसे गीताका महत्त्व स्पष्ट झलकता है ।

युद्धके अनन्तर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा कि आपने जो युद्धके आरम्भमें मुझे गीताका उपदेश किया था, वह मैं युद्धादिमें व्यग्रचित्त होनेके कारण भूल गया हूँ । इसके उत्तरमें श्रीकृष्णजीने कहा कि--

हे अर्जुन ! तूने बड़ी ही भूल की है जो गीताको भूल गया है; वह गीताका उपदेश तो मैंने बड़े ही योगयुक्त मनसे किया था । वह उपदेश ब्रह्मके स्वरूपबोधनमें पर्याप्त था, अब वह सारा गीताका उपदेश मेरे स्मृतिपथमें नहीं आ सकता; अतः मैं अब पुनः गीताका उपदेश नहीं कर सकूँगा ।

उस प्रसङ्गके कुछ श्लोक ये हैं--

अबुद्धया नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति ॥
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव ।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय ॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने ।
(महाभारत आश्वमेध० । १६ । १०-१२)

वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्णके लिये गीताका पुनः उपदेश करना अशक्य या असम्भाव्य नहीं था, किन्तु भगवान्ने इस उक्तिके मिससे गीताकी सर्वश्रेष्ठता स्पष्टरूपसे बतलायी है ।

अब यह सर्वमान्य सिद्धान्त सुस्थिर हो गया है कि केवल संस्कृत साहित्यमें ही नहीं किन्तु संसारकी सम्पूर्ण भाषाओंके साहित्योंमें गीताका सर्वोच्च विशिष्ट स्थान है । अनेक ऋषि, मुनि, महात्मा, विभिन्न सम्प्रदायोंके प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यगण तथा पाश्चात्य और प्राच्य विद्वान्-सभीने इसका अत्युत्तम अध्ययन और परिशीलन कर एतद्विषयक अनेक व्याख्या-निबन्ध आदिकी रचना की है । बिना मनोहारी सौरभके कहीं भ्रमरगण पुष्पपर ऐसे ही मुग्ध हो सकते हैं ? कभी नहीं । संसारके सब विद्वानोंको आकृष्ट करना ही गीताकी सर्वोत्कृष्टताका अकाट्य प्रमाण है ।

गीतामें यह एक सर्वातिशायी वैशिष्ट्य है कि सब शास्त्रोंके सिद्धान्त इसमें विस्तार, संक्षेप, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट-रूपसे निहित हैं ।

इसी कारणसे--'सर्वशास्त्रमयी गीता' (महा० भीष्म० ४३ । २, नरसिंहपुराण ६६ । ४१) यह प्रसिद्धि है ।

उक्त वचनमें आये हुए 'शास्त्र' शब्दका सङ्कुचित अर्थ न लेकर वेद, षड्दर्शन, निरुक्त, व्याकरण, इतिहास, पुराण, स्मृति, तन्त्र आदि अर्थ लेना उचित है[1] । इस लघुकाय लेखमें 'गीतामें सब शास्त्रोंका सिद्धान्त अन्तर्भूत है' इसका दिग्दर्शन कराया जायगा ।

वेद, वेदान्त, साङ्ख्य, योगदर्शन

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (गीता ४ । ३९)

श्रद्धावान् ज्ञानको पाता है ।

'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी'
(तै० ब्रा० ३ । १२ । ३)

श्रद्धासे देवता देवत्वको प्राप्त होता है, श्रद्धादेवी सब लोकोंकी प्रतिष्ठा (स्थितिका कारण) है ।

'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुर्वेद १९ । ३०)

श्रद्धासे सत्यरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है ।

ऋग्वेद (१० । १५१) में तो एक 'श्रद्धासूक्त' ही है, जिसमें श्रद्धाका महत्त्व विशदरूपसे वर्णित है ।

१-यद्यपि 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग बहुधा षड्दर्शनोंके लिये ही होता है, परन्तु 'शास्त्रयोनित्वात्' (वेदान्तदर्शन १ । १ । ३), 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (मीमांसादर्शन ७ । ८ । १८), 'शिष्याणां शासनाच्छास्त्रमृग्वेदादि' (भामती १ । १ । ३), 'न हि वेदात्परं शास्त्रम्' (अत्रिसंहिता १ । १४८, महा० अनु० १०६ । ६५), 'वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति' (नरसिंहपुराण १८ । ३३) इत्यादि स्थलोंमें 'वेद' अर्थमें भी प्रयुक्त होता है । और 'शास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः' (वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १४८)—यहाँ आयुर्वेद, व्याकरण, वेदान्त अर्थमें 'शास्त्र' शब्द आया है । 'तच्छास्त्रं हि प्रवर्तते', 'स्वशास्त्रे लघुबोधार्थम्' (श्लोकवार्तिक क्रमशः २०३, ३०६), 'व्याकरणस्य शास्त्रत्वनिराकरणानुपपत्तिः' (मीमांसादर्शनका कुमारिल-भट्टकृत तन्त्रवार्तिक १ । ३ । ८ । २७)—यहाँ व्याकरण आदि अङ्गोंको भी 'शास्त्र' कहा है । 'शासनाच्छंसनाच्छास्त्रम्' (पराशर उपपुराण १८ अ०) के अनुसार हिततम कर्त्तव्यके उपदेश करनेवालेको 'शास्त्र' कहते हैं ।
—लेखक

'श्रद्धा श्रद्धानात्' (निरुक्त ९ । ३ । ३१)

सत्य (परमात्मा) का स्थापन (प्रादुर्भाव) जिससे हो, वह श्रद्धा है।

'श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृह० उ० ४।४)

श्रद्धारूपी धनको प्राप्त कर अन्तःकरणमें आत्माको देखे।

'सापि जननीव कल्याणी योगिनं पाति' (योगभाष्य १ । २०)

वह कल्याणकारिणी श्रद्धा माताके सदृश योगीकी रक्षा करती है।

'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा' (गीता १५ । १३)

मैं पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे चराचरको धारण करता हूँ।

'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (तैत्तिरीयसंहिता ४।१।८; ऋग्वेद १० । २१ । ५)

'स दाधार पृथिवीम्' (तै० सं० ४ । १ । ८; ऋग्वेद १० । २१ । १)

उस परमात्माने ही पृथ्वी और आकाशको धारण कर रक्खा है।

'सर्वतःपाणिपादं तत्' (गीता १३ । १३)

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (ऋ० १० । ९० । १)

यह परमात्माके विराट् स्वरूपका वर्णन करनेवाला 'पुरुषसूक्त' चारों वेदोंमें है।

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' (यजु० १७ । १९; ऋ० ८ । ३ । १६)

'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' (गीता ३ । १३)

'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ० १० । ११८ । ६)

केवल अपने लिये भोजन बनानेवालेका अन्न व्यर्थ है, अकेले खाना पाप है।

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥'
(गीता ५ । २२)

हे अर्जुन ! विषयेन्द्रियसम्बन्धजन्य सम्पूर्ण भोग दुःखोंके ही कारण हैं और उत्पत्ति-विनाशवाले हैं, बुद्धिमान् उन भोगोंमें मन नहीं लगाते।

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (माण्डूक्यकारिका २ । ६)

संसार और उसके भोग आदि और अन्तमें नहीं रहते, अतः वर्तमानमें भी नहीं हैं।

'न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्' (योगभाष्य २ । १५)

भोगोंके भोगनेसे इन्द्रियोंको निरीह—संतुष्ट नहीं किया जा सकता।

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥'
(विष्णुपुराण ४ । १० । २३; यह श्लोक महाभारत, मनुस्मृति आदिमें भी है)

भोगोंके भोगनेसे विषय-लालसा शान्त नहीं होती, किन्तु घृत आदिकी आहुति डालनेसे अग्निके सदृश अधिक बढ़ती है।

'सर्वं दुःखेनानुविद्धम्' (न्यायभाष्य १ । १ । २)

'सर्वं दुःखमेव विवेकिनः' (योगदर्शन २ । १५)

विवेकीको सब संसार दुःखरूप ही भासता है।

'तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ति विवेचकाः' (साङ्ख्यदर्शन ६ । ८)

विषमिश्रित मिष्टान्नके सदृश सांसारिक सुखको भी विवेकीजन दुःख ही समझते हैं।

'यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० उ० ७ । २४ । १)

जो परिच्छिन्न पदार्थ है, वह विनाशी है।

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गी० १५ । ६)

मेरा वह धाम (प्रकाशस्वरूप) है, जहाँ जाकर फिर संसारमें नहीं आते—अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (वेदान्तदर्शन ४ । ४ । ७ । १७)

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८ । ६ । ६; कठ० ६ । १६)

'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृह० उ० ६ । २ । १५)

'आवर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४ । १५ । ५)

'न च पुनरावर्तते' (छा० ८ । १५ । १)

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गीता १५।६)

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (कठ० २।२।१५; श्वेता० उ० ६।१४; मुण्डक० २।२।१०)

उस परमात्माको सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत्, अग्नि आदि प्रकाशित नहीं कर सकते।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५।१५)

सब वेदोंका वेद्य (ज्ञेय) मैं ही हूँ।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ० १।२।१५)

'कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः' (उदयनाचार्य-कृत कुसुमाञ्जलि ५।१५)

'वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयते' (महा० शान्ति० ३३४।२६)

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' (गीता ६।३५)

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (योगदर्शन १।१२)

'वैराग्यादभ्यासाच्च' (साङ्ख्यदर्शन ३।३६)

अभ्यास और वैराग्यसे मनका निग्रह होता है।

'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गीता ६।११)

योगी एकान्त पवित्र स्थानमें आसन जमाकर मनको वशमें करे।

वे स्थान नदीतट,गिरिगुहा आदि हैं। वेदमें भी कहा है—

'उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत' (ऋ० ८।६।२८; सामवेद २।२।२।९)

पर्वतोंके गुहादि रम्य स्थानोंमें और नदियोंके सङ्गमपर ध्यान, योग, प्रार्थना आदिसे प्रसन्न हुए भगवान् बुद्धिमान् उपासकोंको दर्शन देनेके लिये प्रकट होते हैं।

'वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च' (गीता ११।३९)

हे भगवन्! वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति आदि आप ही हो।

वेदोंमें भी यही कहा है—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।' (ऋग्वेद १।१६४।४६)

उस एक ही परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और दिव्यस्वरूप सुन्दर पंखवाला गरुत्मान् (गरुड़) कहते हैं। वस्तुतः परमात्मा एक ही है; परन्तु विप्र[1] (मेधावी) उस परमात्माको वृष्टि करनेवाली बिजलीरूप अग्नि, यम और मातरिश्वा (वायु) कहते हैं।

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः' (यजु० ३२।१)

वही परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्र, प्रजापति और शुद्ध ब्रह्म है।

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋ० १०।११४।५)

बुद्धिमान् उस एक परमात्माके अनेक नामोंकी कल्पना करते हैं।

'एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति' (अथर्ववेद १३।३।१७)

वह परमात्मरूप ज्योति नाना प्रकारसे प्रकाश करती है।

परमात्मा नाना देवरूप ही क्यों, सर्वरूप है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१)

ब्रह्म सर्वस्वरूप है।

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातोऽसि विश्वतोमुखः' (अथर्ववेद १०।८।२७)

हे भगवन्! तुम ही स्त्री, पुरुष, कुमार और कुमारी हो; तुम ही बूढ़े हो, दण्ड लेकर चलते हो; तुम ही सर्वव्यापी प्रकट होते हो।

'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' (गीता १५।१०)

'पश्यदक्षण्वान्नविचेतदन्धः' (ऋ० १०।१२९।२)

उस परमात्माको आँखोंवाला (ज्ञानदृष्टिवाला) देखता है, अन्धा (अज्ञानी) नहीं देख सकता।

१—'विप्र' शब्दका अर्थ विशेष स्मरणशक्तिसम्पन्न बुद्धिमान् है, देखिये 'निरुक्तनिघण्टुकाण्ड ३।१९।'

माखनकी चाह



माखन तनक दै री माय ।

'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'(गीता ११ । ४३)

आपके सदृश भी कोई नहीं है, अधिक कहाँसे हो सकता है ?

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे० उ० ६ । ८)

'नकिरन्यस्त्वावान्' (ऋ० १ । ५२ । १३)

आप-जैसा कोई है ही नहीं ।

'न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः' (यजु० ३२।३)

उस परमात्माके सदृश और कोई नहीं है, जिसका बड़ा यश है ।

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' (गीता३।९)

निष्कामभावसे परमेश्वरके आराधनार्थ कर्मसे भिन्न कर्म मनुष्यके बन्धनका कारण है । (यज्ञ) परमेश्वरका नाम है—

'यज्ञो वै विष्णुः' (यजु० २२ । २०; कौषीतकी ४ । २ । १८ । ८ । १४; ताण्ड्यब्राह्मण ९ । ६ । १०; शतपथब्राह्मण १३ । १ । ८ । ८; गोपथब्रा० उत्तर भाग ४ । ६; तैत्तिरीयब्रा० १ । २ । ५ । १; तैत्तिरीयसंहिता १ । ७ । ४)।

वैशेषिकदर्शन

'शब्दः खे' (गीता ७ । ८)

मैं आकाशमें शब्द हूँ ।

'परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य' (वैशेषिकदर्शन २।१।२७)

शब्द अन्यका गुण सिद्ध नहीं हो सकता, अतः परिशेषात् आकाशका गुण होनेसे आकाशका अनुमापक है । परिशेषका विशेष विचार 'कन्दली', 'किरणावली' आदि बड़े ग्रन्थोंमें देखिये ।

न्यायदर्शन

'वादः प्रवदतामहम्' (गीता १० । ३२)

वादियोंकी कथाओंमें मैं वादरूप कथा हूँ ।

'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' (न्यायदर्शन १।२।१)

जिसमें प्रमाण और तर्कसे ही स्वपक्षका स्थापन (मण्डन) और परपक्षका खण्डन हो और सिद्धान्तके अनुकूल हो तथा प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवोंसे युक्त हो, ऐसा जो पक्ष-प्रतिपक्षका स्वीकार है वह वाद है ।

मीमांसादर्शन

'त्रिविधा कर्मचोदना ।' (गीता १८।१८) ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता—ये तीन कर्मके प्रवर्तक हैं ।

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः' (मीमांसादर्शन, शाबरभाष्य १।१।२ । २)

'तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते' (कुमारिलभट्टकृत श्लोकवार्तिक १ । १ । २ । ३)

'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः ।' (श्लोकवार्तिक १ । १ । ५ । ११)

व्याकरण

'द्वन्द्वः सामासिकस्य च' (गीता १० । ३३)

समाससमुदायमें मैं द्वन्द्वसमासरूप हूँ । द्वन्द्वसमासमें समस्यमान पदोंके अर्थ प्रधान होते हैं । गीताका रचनाकाल ईस्वी सन्से २००० वर्ष और १५०० वर्ष पूर्वके बीचका निश्चित है । पाणिनि ईस्वी सन्से लगभग ८००-९०० वर्ष पूर्व हुए हैं, यह ऐतिहासिक पण्डितोंका मत है; परन्तु 'व्याकरण' पाणिनिसे पहले भी था, अतः गीतामें उस 'व्याकरण' के अनुसार उक्त वचनकी सङ्गति हो सकती है ।

मन्त्रशास्त्र

'स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या' (गीता ११ । ३६)

इस श्लोकको मन्त्रशास्त्रमें रक्षोघ्न मन्त्र कहा है—अर्थात् इसका जप करनेसे भूत, प्रेत, राक्षसोंकी बाधा दूर होती है । उक्त श्लोककी व्याख्यामें मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—'अयं श्लोको रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः' ।

साहित्य (अलङ्कार)

'दिवि सूर्यसहस्रस्य' (गीता ११ । १२)

यदि हजारों सूर्योंका एक ही समय आकाशमें उदय हो तो शायद कहीं विराट्रूप भगवान्के तेजकी सदृशता (उपमा) हो सके ।

इस गीता-श्लोकमें 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्' (कुमारसम्भव १ । ४४), 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ' (माघकाव्य ३ । ८) के सदृश आकाशमें एक समय हजारों सूर्योंका असम्बन्ध रहनेपर भी हजारों सूर्योंके सम्बन्ध-कथनसे यहाँ 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है ।

उपसंहार

उक्त उद्धरणोंसे 'स्थालीपुलाकन्याय'से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतामें सब शास्त्रोंका मौलिक सिद्धान्त स्थित है।

गीताके सम्बन्धमें चुप रहना मानो वाणीको निष्फल करना है, नैषधकार श्रीहर्षकी 'वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्' (नैषध ८। ३२) यह उक्ति यहाँ लागू होती है।

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथकी यह अन्योक्ति यहाँ ठीक घटती है—

> गाहितमखिलं गहनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
> सहकार! न प्रपेदे मधुपेन भवत्समं जगति॥
> (भामिनीविलास १। २०)

भ्रमरने सब वनको खूब टटोला, सब वृक्षोंको खूब अच्छी तरह देखा; परन्तु भ्रमरको आम्रवृक्षके तुल्य और कोई भी वृक्ष नहीं मिला। ठीक इसी प्रकार विद्वज्जन-भ्रमरगणको सर्वसाहित्य-वनको खूब देखनेपर भी गीता-वृक्षकी तुलनामें दरिद्रता (अभाव) ही नजर आती है।

किसी पहुँचे हुए कविने ठीक ही एक दोहेमें कहा है—

> जोगी ताहि न जानिये जो गीताहि न जान।
> जोगी ताही जानिये जो गीता ही जान॥

वह योगी नहीं है जो गीताको नहीं जानता, वही योगी है जो गीताको जानता है।

इतिशम्, श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

गीताकी व्यापक दृष्टि

(लेखक—श्रीयुत चार्ल्स जॉन्स्टन महोदय)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतवर्षके उदात्त तथा संसारके गम्भीर धर्मशास्त्रोंमें मुकुटमणि है। काव्यकी सुषमा और शक्तिका यह एक अक्षय भण्डार है। इसके पात्र समराङ्गणकी शौर्यपूर्ण अत्यन्त प्रभावशाली योजनामें अपने वीरोचित दर्प तथा प्रतापके कारण सबका ध्यान आकृष्ट करते हैं। निराशा, सन्देह और अवसादके कारण अर्जुन हमें कितना 'मानव' प्रतीत हो रहा है और वहीं अपने गौरवपूर्ण, सुदृढ़, प्रभावशाली व्यक्तित्वके कारण श्रीकृष्ण कितने अलौकिक लगते हैं! और ये दोनों ही प्रकारके व्यक्तित्व कितने सुस्पष्ट, सजीव और विश्वके सनातन सत्यके अमर प्रतीक हैं। इतना ही क्यों, गीता ईश्वरीय प्रेरणा, भावभरी भक्ति और मानव-हृदयको परखनेवाली सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिसे परितः सम्पन्न है, ओतप्रोत है। हमारे कर्मसम्पादनमें नाना प्रकारकी परस्परविरोधी भावनाएँ आ-आकर जो हमें विचलित कर देती हैं, स्वार्थकी वे बेड़ियाँ जो हमें परमात्मपथमें बढ़ने नहीं देतीं, हृदयकी सूक्ष्म प्रेरणाओं और सूचनाओंकी अवहेलना कर मनमाना चलनेका जो हमारा स्वभाव बन गया है—गीतामें इन सारी बातोंका बहुत ही विशद विवेचन हुआ है और इनका अत्यन्त स्पष्ट दर्शन भी हमें होता है। फिर भी, गम्भीर आत्मचिन्तनकी आवश्यकताकी गीता अवहेलना नहीं करती, उसे स्वीकार करती है और इसी कारण, भारतीय दर्शनके क्रम-विकासकी एक-एक अवस्थाका, तर्क और अध्यात्मशास्त्रकी एक-एक सूक्ष्म बारीकीका गीतामें समुचित समावेश है और साथ ही भारतीय राजनीति तथा भारतीय इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक समस्याओं तथा प्रश्नोंपर गीताने बड़े ही सुन्दर ढंगसे प्रकाश डाला है तथा सुलझावका व्यावहारिक मार्ग दिखलाया है—गीताका वह मार्ग-निदर्शन, वह सङ्केत आज भी हमारे लिये उतना ही उपयोगी और कामका है जितना दो हजार वर्ष पूर्व था।

गीताका हृदय

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८ स्वामी श्रीविद्यानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर)

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

यह वचन सर्वविश्रुत है । एक ही वस्तुके दो विरुद्ध फल होना बड़ी विस्मयजनक बात है, इसमें सन्देह नहीं; तथापि केवल आपातदृष्टिसे ही इसमें आश्चर्य प्रतीत होता है । नहीं तो वास्तवमें इस कथनमें विसंगति कुछ भी नहीं है । यों तो सारी सृष्टिकी बुनियाद ही द्वन्द्वमयी है । इस संसारमें जिधर ही नजर फेंकिये, सर्वत्र द्वन्द्व-ही-द्वन्द्व दीख पड़ेगा । द्वन्द्वोंकी संख्या अनन्त है । क्योंकि जीवमात्रका ज्ञान आपेक्षिक होता है । सब द्वन्द्वोंका शीर्षस्थानीय, राजा, किं बहुना प्रेरक अथवा प्रसवस्थान सुख और दुःख हैं । गीताकी उक्ति भी है—

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः ।

(१५ । ५)

और इनके विषयमें गीताका सिद्धान्त है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

(२ । १४)

अर्थात् सुख ही दुःखमें परिणत होता है और दुःख सुखमें । इस अद्भुत मालूम होनेवाली घटनाका कारण भी सबको सहजहीमें बोधगम्य है । वह है बाह्य वा आन्तर उपाधि । इसका निदर्शन देना अनावश्यक है, क्योंकि यह जीवोंका दैनन्दिन—नित्यप्रतिका—अनुभव है ।

यही सिद्धान्त धर्मके विषयमें भी लागू है और उपर्युक्त वचनमें स्वयं उसके अभियुक्त वक्ताने उपाधिनिर्देश भी स्पष्ट शब्दोंमें कर दिया है—जो उसकी हत्या करेगा उसकी हत्या धर्म भी करेगा; जो उसकी रक्षा करेगा, उसकी रक्षा धर्म भी करेगा । अस्तु,

मनमें आज इन विचारोंके उदय होनेका निमित्त यह हुआ कि गोरखपुरसे प्रकाशित होनेवाले, समस्त संसारके आबालवृद्ध आम्लेच्छब्राह्मण पाठकवृन्दोंके द्वारा सादर प्रशंसित 'कल्याण' पत्रके मेरे श्रद्धाभाजन विद्वान् सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजीने, उक्त मासिकके आगामी विशेषाङ्कके लिये एक छोटा-सा लेख भेजनेके लिये अनुरोध किया है । तदनुसार 'गीतातत्त्वाङ्क'में प्रकाशनार्थ कुछ मामूली विचार आगे लिपिबद्ध करके भेजता हूँ ।

गीताका प्रतिपाद्य विषय स्वयं भगवान्‌के कथनानुसार ही योग है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

(४ । १)

गीताकारकी भी इसमें सम्मति है—

'इति श्रीमद्भगवद्गीतासु ········ योगशास्त्रे ।'

—पुष्पिकावाक्य

और सञ्जय भी इस बातकी पुष्टि करते हैं—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

(१८ । ७५)

'त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः' इस न्यायसे यह बात संशयातीत हुई । लेकिन प्रस्तुत निबन्धके लिये, इस योगका स्वरूप क्या है—यह जाननेका मुझे विशेष प्रयोजन है । इसके लिये भगवान्‌को छोड़कर और किसके वचनको अधिक प्रमाण माना जा सकता है ?

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

(१८ । ७०

अर्थात् योगका अर्थ हुआ—धर्म ।

अभियुक्तोंका वचन भी है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

इस प्रकार यही प्रमाणित हुआ कि धर्म ही गीतातत्त्व है । कोई यदि जानना चाहे कि धर्म क्या है, तो इसका उत्तर यही है कि गीताप्रतिपादित योग ही धर्म है ।

'धारणाद्धर्ममित्याहुः'—'धर्म' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

भी ऐसा ही है। लेकिन धारण किसका ? गीतामाहात्म्यकार ऋषि कहते हैं—

गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्।

और पालन माने क्या ? इसका उत्तर भगवान्के मुखसे ही सुनिये—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(३।२२, २३, २४)

अर्थात् संसारमें वस्तुमात्रका साङ्कर्यनिवारण ही भगवान्का कर्म है और इसीका नाम धर्म है; और (गीताकारकी परिभाषामें) इसीका नाम लोकसंग्रह, पालन, धारण है। आजकल तर्कपटु, स्थूलदृष्टि, प्रत्यक्षवादी लोग धर्मका क्षोदक्षम लक्षण न पानेसे उसका अपलाप करना ही पण्डितम्मन्यता समझते हैं। मैं आशा करता हूँ, धर्मकी यह व्याख्या ऐसे वावदूकोंको भी स्वीकृत होगी। धर्मका लक्षण स्थिर करना सर्वोपरि आवश्यक है, नहीं तो उसका अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ? और अगत्या कहना पड़ेगा—

गीता ह्येव हता हन्ति गीता रक्षति रक्षिता।

स्वधर्मका आचरण ही गीताकी रक्षा है।



'धर्म' एवं 'शरण' शब्दके तात्त्विक अर्थ

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिकसार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर)

श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः।
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमं
द्वैतं स्वप्नसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चानन्दताम्॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

यह गीताका प्रसिद्ध श्लोक है। विद्वानोंकी सम्मति है कि इस श्लोकमें समस्त गीताके तात्पर्यका संग्रह है। अतएव इसका रहस्य गूढ है। भगवान्ने 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः', 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इत्यादि वचनोंसे स्वधर्मके पालनका महत्त्व एवं विशिष्ट फल बतलाया है और 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि' इस वचनसे यह सिद्ध किया है कि उनका अवतार धर्मकी स्थापनाके लिये होता है, फिर वही भगवान् पूर्वोक्त श्लोकमें धर्म-परित्यागका उपदेश क्यों करते हैं ? धर्म-परित्यागका क्या रहस्य है ? इत्यादि शङ्काएँ गीतास्वाध्यायीके हृदयमें हो सकती हैं। अतएव उन शङ्काओं-का समाधान करनेके उद्देश्यसे धर्म-परित्याग एवं शरणागति-का अनेकार्थरहस्य 'गीतातत्त्वाङ्क' प्रेमियोंके समक्ष प्रकट किया जाता है—

'धर्म' शब्दके अर्थ

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस श्लोकमें 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हो सकते हैं। सिद्धान्तसे अविरुद्ध अर्थ सभीको माननीय होता है, अतएव कुछ अर्थ यहाँ यथासम्भव क्रमशः दिखाये जा रहे हैं—

(१)

'धर्म' शब्दसे लोकमें प्रसिद्ध स्मार्त-धर्म, वैष्णव-धर्म, शैव-धर्म, हिन्दू-धर्म, यवन-धर्म, ईसाई-धर्म आदि सम्पूर्ण धर्मोंका ग्रहण होता है। भगवान् कहते हैं कि हे भारत ! इन सब धर्मोंके झंझट (अवान्तर विभाग) को छोड़कर तू मुझ एक, अद्वय परमात्माके ही शरणमें आ जा। अर्थात् जबतक मनुष्य अपने धर्ममें अविवेकपूर्वक राग-अभिनिवेश और अन्य धर्मोंसे द्वेष-घृणा करता है, तबतक उसको परमतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती। एक, अद्वय प्रभुके वह शरण नहीं हो पाता। इसलिये मुमुक्षु साधकोंको चाहिये कि वे किसी भी सङ्कुचित धर्मविशेष या सम्प्रदायविशेषमें अभिनिवेश न करें। 'यत्सत्यं तदुपासितव्यम्'—जो सत्य-तत्त्व है, उसीकी उपासना करनी चाहिये। किसी एक धर्मविशेषकी अन्ध-श्रद्धा-से दुम पकड़ लेनेसे तत्त्व-दृष्टिका लोप हो जाता है। साधक

उदार भावनाके विशुद्ध प्रदेशमें प्रविष्ट नहीं हो पाता; उलटे घृणा, द्वेष एवं क्रोधसे उसका हृदय विवेकशून्य हो जाता है। अतः 'सब धर्मोंको छोड़कर एक ही परमात्माके शरण हो जाना' इसका यह तात्पर्य है कि एक ही लक्ष्यको सिद्ध करनेके लिये अनेक साधक मुमुक्षु अपनी-अपनी सुविधा एवं रुचिके अनुसार अपने-अपने सुगम मार्गसे चलें और गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाय। जिस मार्गसे हम जाते हैं, उस मार्गसे यदि कोई दूसरा न जाय तो उससे द्वेष या घृणा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः तत्त्व एक ही है, हमारा आत्मा ही भगवान् है; हम, तुम एवं यह समस्त जगत् उससे भिन्न नहीं है। विष्णुपुराणमें कहा है—

> एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्
> तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
> सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-
> दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥
> (२। १६। २३)

समस्त चराचर प्राणियोंका हृदय ही उसका पवित्र मन्दिर है। उस सर्वगत घट-घटनिवासी पूर्णात्मा परमेश्वरसे हमें अनन्य निष्कपट प्रेम करना चाहिये। सब धर्मोंमें एक ही तत्त्व गुप्तरूपसे छिपा हुआ है। इसी तात्त्विक दृष्टिमें निमग्न होना सब धर्मोंका समन्वय है। यह तात्त्विक दृष्टि किसी भी धर्मसे विरुद्ध नहीं पड़ती, इसमें लेशमात्र भी विवादकी कोई बात नहीं है। अतएव पूज्यवर गौडपादाचार्यजीने कहा है—

> स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
> परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुद्ध्यते॥
> (मा० का० अद्वै० ३। १७)

> अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
> अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्॥
> (मा० का० अला० ४। २)

भेददर्शी द्वैतवादी लोग अपने भिन्न-भिन्न सङ्कुचित सिद्धान्तोंकी व्यवस्था करनेके लिये दृढ अभिनिवेशपूर्वक एक दूसरेके मतका खण्डन करके राग-द्वेष आदिके कीचड़में फँसकर परस्परविरोधी बन जाते हैं। परन्तु यह तात्त्विक अद्वैतसिद्धान्त किसीके भी विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि इसका सर्वाभिन्न, सर्वात्म, एक, अद्वय, विशाल तत्त्व ही लक्ष्य है। इसमें भेद-भावका नाम-निशान भी नहीं है, परायेपनका विचार ही नहीं है, तेरे-मेरेका अत्यन्ताभाव है। यह अद्वैत सिद्धान्त अस्पर्शयोग है। इसमें राग-द्वेषका स्पर्श नहीं है। यह समस्त प्राणियोंके लिये सुखकारक एवं हितप्रद है। यह किसीसे भी विवाद एवं विरोध नहीं करता। ऐसा तात्त्विक सिद्धान्त जिस शास्त्रने या जिस गुरुने उपदेश किया है, उसको मैं श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

इसी उदार भावनाके विशाल प्रदेशमें प्रवेश करनेसे साधकको तत्त्व-दृष्टि प्राप्त होती है। तब सङ्कुचित क्षेत्रवाले धर्मोंसे उसकी आस्था उठ जाती है। वह एक ही आत्म-स्वरूपकी प्रेममयी दृष्टिसे सबको देखता है। यही गीताके कथनानुसार सब धर्मोंको छोड़ देना है।

(२)

'धर्म' शब्दसे निषिद्ध धर्मोंका ही ग्रहण होता है, विहित धर्मोंका ग्रहण नहीं होता। गीतामें भगवान्ने कहा है—

> यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
> यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
> (१८। ५)

यज्ञ, दान और तपरूप विहित कर्म त्याज्य नहीं हैं, किन्तु कर्त्तव्य हैं। क्योंकि यज्ञ, दान और तप महान् विद्वानोंको भी पवित्र करते हैं।

इसलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'का दूसरा अर्थ यह हुआ कि निषिद्ध धर्मोंका मन, वाणी एवं शरीरसे परित्याग करके एकमात्र भगवान्की शरणमें हो जाना चाहिये। शास्त्रमें मानसिक, वाचिक और कायिक निषिद्ध कर्म संक्षेपमें दस प्रकारके कहे गये हैं। मानसिक निषिद्ध कर्म तीन प्रकारके होते हैं—

(१) बुरी नीयतसे दूसरेके धनको ले लेनेका चिन्तन करना, (२) मनसे दूसरोंका अनिष्ट-चिन्तन करना, (३) मिथ्या—तुच्छ वस्तुओंमें अत्यन्त आसक्ति करना।

वाचिक निषिद्ध कर्म चार प्रकारके हैं—

(१) कठोर भाषण करना, (२) झूठ बोलना, (३) चुगली करना, (४) पागलकी तरह व्यर्थ अंड-बंड बकना।

कायिक निषिद्ध कर्म तीन प्रकारके हैं—

(१) दूसरेके पदार्थको अन्यायसे ले लेना, (२) स्वादके लिये निर्दोष प्राणियोंका अशास्त्रीय रीतिसे वध करना, (३) परदारा (स्त्री) का उपभोग करना इत्यादि ।

जबतक मनुष्य इन निषिद्ध कर्मोंका परित्याग न करेगा, तबतक वह भगवच्छरणागतिका अधिकारी नहीं हो सकता । निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे ही मनुष्य शुद्ध बनकर भगवान्‌की शरणमें जानेका अधिकारी होता है ।

(३)

'धर्म' शब्दसे वर्णधर्म, आश्रम धर्म, साधारण धर्म और असाधारण धर्म इत्यादि नित्य-नैमित्तिक काम्य-प्रायश्चित्तरूप विहित धर्मोंका भी ग्रहण होता है । 'त्यज धर्ममधर्मञ्च' इस स्मृतिवचनके अनुसार अधर्मके साथ धर्मका भी ग्रहण है । अस्तु, इससे यह तात्पर्य निकला कि विहित-अविहित सब धर्मोंको छोड़कर, सब धर्मोंके अधिष्ठाता एकमात्र शुद्धानन्दाद्वय परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये । 'इन सब विहित धर्मोंका अनुष्ठान ईश्वरेच्छासे हो अथवा न हो, इसकी चिन्ता नहीं; भगवान्‌के एकमात्र अनुग्रहसे ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगा । 'सर्वतोभावेन' मन, वचन एवं कर्म (देह) से ईश्वरकी शरणमें होना ही मेरा परम कर्त्तव्य है; ईश्वर-शरण ही सब धर्मोंका मूल है । प्रतिक्षण परमानन्दघन भगवान्‌का चिन्तन करना ही परम धर्म है, इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है ।'—ऐसा दृढ निश्चय कर संसारके सब वर्णादि धर्मोंकी चिन्ता या वर्णादि धर्मोंके अभिमानसे मुक्त होना ही सब धर्मोंका त्याग करना है, यह आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन स्वामीका सिद्धान्त है ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भगवच्छरणार्थी यदि विहित धर्मोंका परित्याग करेगा तो उसको महान् प्रत्यवाय होगा । शास्त्रोंमें भी कहा है—

> नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
> स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
> अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन् ।
> प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥ मनु० ॥

अर्थात् जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) प्रातः एवं सायंसन्ध्याकी उपासना नहीं करता, वह शूद्रके तुल्य होता है । द्विजातिके कर्मोंमें उसका अधिकार नहीं रहता । जो विहित कर्मोंको नहीं करता, इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होकर निषिद्ध कर्मोंको करता है, वह पापकी पोटली बाँधकर नरकादि निम्न स्थानोंमें गिरता है । अतः विहित कर्मोंका त्याग श्रेयस्कर नहीं है ।

इसका उत्तर यह है कि सन्ध्या आदि नित्य-नैमित्तिक विहित धर्मोंके त्यागमात्रसे प्रत्यवाय नहीं लगता; क्योंकि विहित कर्मोंका न करना अभाव है । अभावसे भावरूप पापकी उत्पत्ति नहीं होती, यह प्रत्यक्षसिद्ध है । किन्तु बहिर्मुख मनुष्य विहित कर्मोंका परित्याग कर अवश्य कुछ-न-कुछ करेगा ही, भगवच्चिन्तन तो बहिर्मुख व्यक्तिसे हो ही नहीं सकता । जैसे गीतामें कहा है—

> न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

'कर्मको न करके भी कोई एक क्षणभर बेकार नहीं रह सकता' यह प्राणिमात्रका प्राकृतिक नियम है । अर्थात् विहित कर्मोंको छोड़ देनेपर बहिर्मुख मनुष्य निषिद्ध कर्मोंको अवश्य करेगा । फलतः निषिद्ध कर्मोंके सेवनसे पापकी उत्पत्ति अवश्य होगी, अतएव कहा जाता है कि विहित कर्मोंके न करनेसे पाप होता है । इसका मतलब यह है कि विहित कर्मोंका न करना निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पापका ज्ञापक है । अतएव पूर्वश्लोकघटक 'अकुर्वन्' इस पदमें शतृप्रत्यय 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इस पाणिनीय सूत्रसे ज्ञापकत्वरूप लक्षणके अर्थमें समझना चाहिये ।

प्रकृतमें भगवच्छरणार्थी विहित धर्मोंका त्याग कर एकाग्रता एवं अनन्यभक्तिसे सकलधर्मशिरोमणिरूप भगवान्‌के चिन्तनमें तत्पर होता है । निषिद्ध कर्म कभी करता ही नहीं, उनको तो वह पहलेसे ही छोड़ देता है । इसलिये उसके द्वारा पापकी उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि भगवच्चिन्तनसे महान् पुण्यकी ही उत्पत्ति होती है । यदि वह भगवच्चिन्तनको भी छोड़ देगा तो भगवच्छरणार्थी ही न रहेगा, बहिर्मुख हो जायगा, उभयभ्रष्ट कहलायगा । अतः विहित कर्मोंका त्याग कर उसके स्थानमें भगवच्चिन्तन करनेवाला पुरुष प्रत्यवायी नहीं होता । यद्यपि भगवत्प्रेमीके लिये उचित है कि वह जहाँतक बने वहाँतक लोकसंग्रहार्थ विहित कर्मोंको अवश्य करता रहे, परन्तु भगवच्चिन्तनमें विशेष प्रेमोद्रेक होनेपर परवशताकी अवस्थामें विहित कर्म आप-से-आप छूट जाया करते हैं । कहा है—

> न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ ।

योगी कर्मोंको न त्यागे; यदि कर्म उसको त्याग दें तो उसमें कोई चिन्ताकी बात नहीं।

(४)

'धर्म' शब्दसे धर्मके कारणभूत कर्मका भी ग्रहण होता है। अर्थात् अनन्य भक्तको लौकिक, वैदिक सर्वकर्मोंका त्याग कर देना चाहिये। सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग हुए विना मनुष्य निवृत्तिपरायण कभी नहीं होता। वह ईश्वर-चिन्तनमें अहर्निश नहीं लगा रह सकता। अतः लौकिक और वैदिक यावत् कर्मोंके संन्यासकी आवश्यकता है। सम्पूर्ण कर्मोंको त्यागकर—विरक्त, निःस्पृह संन्यासी बनकर 'सर्वात्मा अद्वय अच्युत भगवान् ही मैं हूँ। मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।' इस प्रकार सदा-सर्वदा दृढ़ धारणा करना ही सर्वधर्मोंका परित्याग है। यह भाष्यकार आचार्य श्रीशङ्कर-भगवत्पादका सिद्धान्त है।

(५)

'धर्म' पदसे देहधर्म, इन्द्रियधर्म, प्राणधर्म, मनोधर्म, बुद्धिधर्म आदि धर्मोंका भी ग्रहण होता है; इन सब धर्मोंका परित्याग कर भगवान्‌रूप आत्माकी शरणमें होना चाहिये। ब्राह्मणत्वादि जाति, देवदत्तादि नाम, पितृत्व-पुत्रत्वादि सम्बन्ध, शुक्लत्वादि रूप एवं जन्म लेना, मरना, चलना, फिरना, बैठना आदि देहके धर्म हैं। देखना, सूँघना, सुनना, स्वाद लेना, स्पर्श करना, लेना-देना आदि इन्द्रियोंके धर्म हैं। क्षुधा, पिपासा आदि प्राणोंके धर्म हैं। सुख-दुःख, सङ्कल्प-विकल्प आदि मनके धर्म हैं। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, निश्चय करना बुद्धिके धर्म हैं। 'ये सब-के-सब धर्म देहादिके हैं। देहादिसे अतिरिक्त साक्षी चिदात्मारूप मुझमें ये धर्म नहीं हो सकते। मैं चिदात्मा इन सब धर्मोंसे रहित हूँ, असङ्ग हूँ, निर्लेप हूँ, निर्विकार हूँ।' ऐसा दृढ निश्चय करके देहादिके धर्मोंकी उपेक्षा करना ही सब धर्मोंका परित्याग है। आचार्य श्रीशङ्करभगवत्पादने कहा है—

न त्वं देहो नेन्द्रियाणि न प्राणो न मनो न धीः।
विकारित्वाद्विनाशित्वाद् दृश्यत्वाच्च घटो यथा॥
विशुद्धं केवलं ज्ञानं निर्विशेषं निरञ्जनम्।
यदेकं परमानन्दं तत्त्वमस्यद्वयं परम्॥
(सदाचारानुसन्धानम्)

हे मुमुक्षो! जैसे विकारी, विनाशी एवं दृश्य होनेसे घटरूप तू नहीं है; वैसे विकारी, विनाशी एवं दृश्य होनेसे तू देह, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धिरूप भी नहीं हो सकता। तू अविकारी, अविनाशी एवं द्रष्टा है। जो विशुद्ध, केवल, निर्विशेष, निरञ्जन, परमानन्दस्वरूप, एक, अद्वय, विज्ञानघन परतत्त्व है, वही तू है। ऐसा निश्चयकर इन देहादिकोंके तुच्छ धर्मोंको अपनेमें मत मान।

(६)

अथवा 'ध्रियते आश्रितो भवतीति धर्मः' इस व्युत्पत्तिसे 'धर्म' शब्द दृश्य, परिच्छिन्न, जडरूप अज्ञान और अज्ञानकार्य समस्त संसाररूप अनात्मवर्गको बतलाता है। भगवान्‌रूप आत्माके अतिरिक्त यावत् कल्पित पदार्थोंका ग्रहण करनेसे इस पक्षमें 'सर्वधर्मान्' इस वाक्यका 'सर्व' शब्द असङ्कुचितवृत्ति होकर चरितार्थ होता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
(१० । २०)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
(१३ । २)

'वासुदेवः सर्वमिति'

अर्थात् हे गुडाकेश अर्जुन! सर्वचराचर भूतोंके हृदयमें साक्षीरूपसे वर्तमान आत्मा मैं ही हूँ। हे भारत! शरीररूपी सब क्षेत्रोंमें स्थित रहनेवाला क्षेत्रज्ञ, आत्मा मैं ही हूँ। वासुदेव ही सब है, अन्य कुछ नहीं है। ऐसा तुम निश्चय करो।

आत्माके अतिरिक्त सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक वस्तुओंको मिथ्या—कल्पितरूपसे निश्चय करना ही सर्वधर्मोंको छोड़ना है। आचार्य श्रीशङ्कर स्वामीने भी कहा है—

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम्।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम्॥
(विवेकचूडामणि)

अर्थात् तमाम दुःखोंके कारण महान् पापमय अनात्मचिन्तनका त्याग करो और मुक्तिके कारण आनन्दस्वरूप आत्माका ही सर्वदा चिन्तन करो।

इस प्रकार 'धर्म' शब्दके और भी अनेक अर्थ हो सकते हैं। गीताकी संस्कृतटीकाओंमें तथा महात्माओंके अनुभवमें इन अर्थोंका संग्रह है। विस्तारभयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं करता हूँ।

'शरण' शब्दके अर्थ

आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन स्वामीने गीतोक्त 'शरण' शब्दके तीन अर्थ किये हैं। जैसे—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः॥

अधिकारि-भेद एवं साधनाभ्यासके तारतम्यसे भगवच्छरणागति तीन प्रकारकी सिद्ध होती है।

(१) 'तस्यैवाहम्' उस प्रभुका ही मैं हूँ।
(२) 'ममैवासौ' वह प्रभु मेरा ही है।
(३) 'स एवाहम्' वह प्रभु मैं ही हूँ।

प्रथम शरणागति मृदु है। आचार्यपाद भगवान् श्रीशङ्कर स्वामीने उसका स्वरूप इस प्रकार बताया है।

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

(षट्पदीस्तोत्रम्)

जैसे जलरूपसे समुद्र और तरङ्ग दोनों एक हैं, जल-दृष्टिसे दोनोंमें भेद नहीं है; परन्तु समुद्र एवं तरङ्गकी दृष्टिसे दोनोंका कल्पित भेद है—वैसे ही सच्चिदानन्दरूप-दृष्टिसे जीव और ईश्वर एक ही हैं। दोनोंमें लेशमात्र भी भेद नहीं है। परन्तु समष्टि एवं व्यष्टिरूप उपाधिसे अर्थात् जीवत्व-ईश्वरत्व-दृष्टिसे दोनोंमें भेद है। जैसे समुद्रकी तरङ्गें कही जाती हैं परन्तु तरङ्गोंका समुद्र नहीं कहा जाता। समुद्रके अधीन तरङ्गें होती हैं। तरङ्गके अधीन समुद्र नहीं होता। समुद्रके गुण, कर्म, शक्ति अनन्त हैं। तरङ्गके गुण आदि अनन्त नहीं, अपितु स्वल्प हैं। इसी प्रकार ईश्वरके जीव कहे जाते हैं, जीवोंका ईश्वर नहीं कहा जाता। ईश्वरके अधीन जीव हैं, जीवके वशमें ईश्वर नहीं। ईश्वरके गुण, कर्म, शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि अनन्त हैं; जीवके गुण आदि अनन्त नहीं, अपितु स्वल्प हैं। अतएव 'मैं ईश्वरका ही हूँ, परमेश्वरका दास हूँ या मित्र हूँ अथवा पुत्र हूँ, ईश्वरके ही शरण हूँ।' इस प्रकारके भावका नाम मृदु भगवत्-शरणागति है।

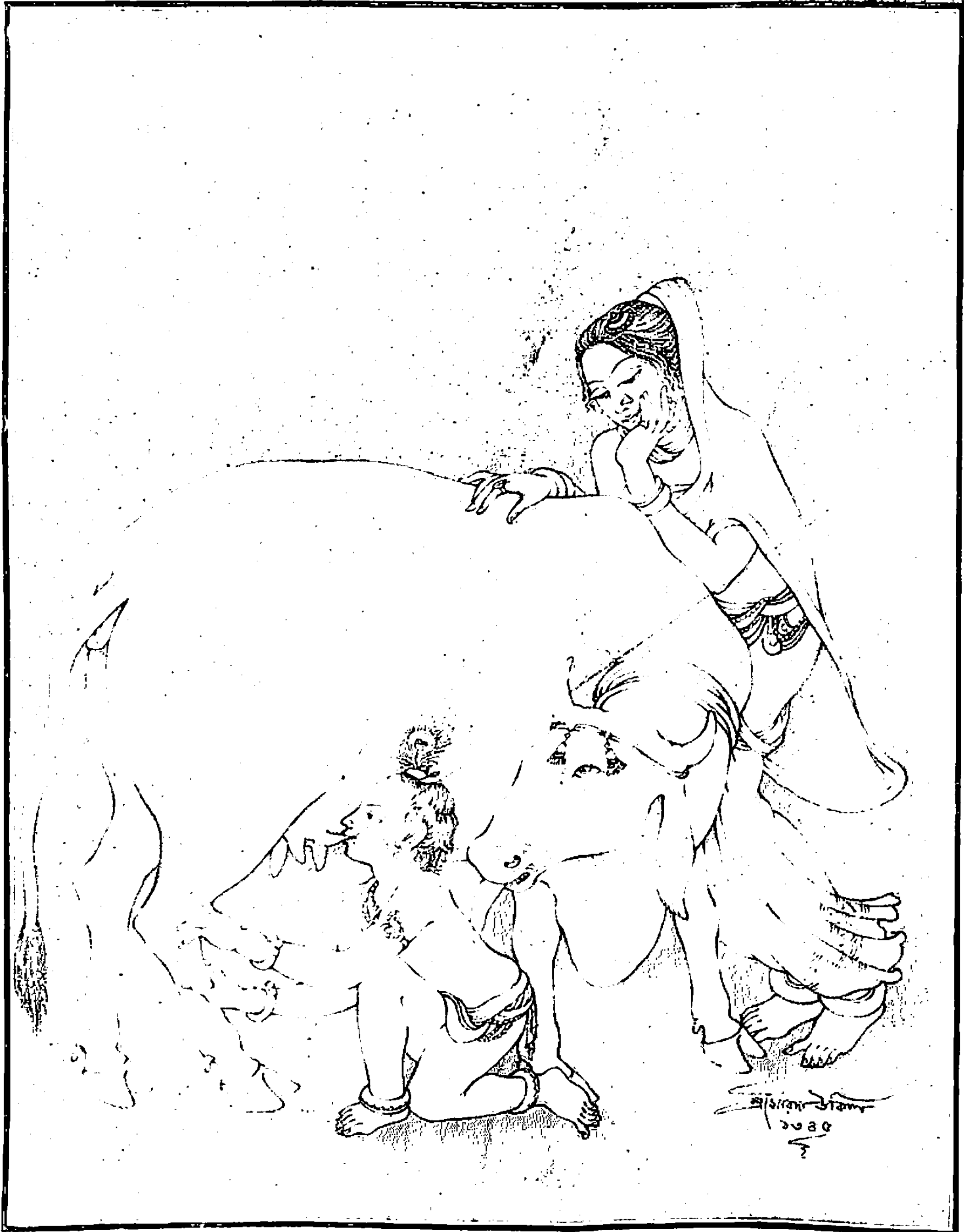
द्वितीय शरणागति मध्यम है। उसका स्वरूप भक्तप्रवर बिल्वमंगलजीके आदर्श चरित्रसे स्पष्ट होता है। किसी समय बिल्वमंगलजी वृन्दावन जा रहे थे। मार्गमें बड़े-बड़े खड्डे एवं टूटे-फूटे कूप पड़ते थे। परन्तु बिल्वमंगलजी पक्के भक्त थे। एकमात्र प्रभुपर ही उनको विश्वास था। वे निरन्तर अपने प्यारे प्रभुका ही स्मरण करते चले जा रहे थे। यकायक एक कूप सामने आ गया। वे चक्षु-विहीन थे ही, एक कदम भी और आगे बढ़ते तो उस कूपमें गिर जाते; परन्तु अन्तर्यामी प्रभु जिनके रक्षक हों, वे भला कूपमें कैसे गिर सकते थे! शीघ्र ही भक्तवत्सल प्रभु एक बालकका रूप धारण करके प्रकट हो गये, उन्होंने मधुर वाणीसे कुछ कहकर बिल्वमंगलका हाथ पकड़ा और इस प्रकार उन्हें कूपमें गिरनेसे बचा लिया। इतना ही नहीं, भगवान् मीठी-मीठी बातें करते हुए बिल्वमंगलजीको वृन्दावनकी ओर ले जाने लगे। इधर बिल्वमंगलजीको निश्चय हो गया कि यह बालक साधारण नहीं है, मनुष्यका ऐसा दिव्य भाषण एवं दिव्य स्पर्श कदापि नहीं हो सकता; यह साक्षात् भगवान् ही है। थोड़ी देर बाद जब कठिन मार्ग समाप्त हो गया, तब बालकरूप भगवान् जानेके लिये कहने लगे। बिल्वमंगलजी उनको रोकनेके लिये अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करने लगे। परन्तु जब बालकरूप भगवान् जबर्दस्तीसे हाथ छुड़ाकर चल दिये, तब बिल्वमंगलजीने कहा—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे प्यारे कृष्ण! आप बलपूर्वक मेरा हाथ छुड़ाकर चल दिये हैं। यह आपका अद्भुत पराक्रम नहीं माना जा सकता। आपका पराक्रम तो मैं तब मान सकता हूँ, जब आप मेरे हृदयसे निकलकर अलग हो जावें। अर्थात् 'आप तो सर्वदा मेरे ही हैं। आपकी श्यामसुन्दर मुनि-मनोहारिणी मनोहर साकार मूर्ति मेरे हृदयसे कभी भी नहीं निकल सकती।' यह बिल्वमंगलजीका दृढ अभिनिवेश था।

इसी प्रकार न्यायाचार्य श्रीउदयनाचार्यजीने भी प्रेमावेश-में 'प्रभु मेरा है' ऐसा भाव प्रदर्शित किया था। एक समय उदयनाचार्यजी जगन्नाथ भगवान्का दर्शन करनेके लिये पुरी गये थे। परन्तु वहाँ मन्दिरके फाटक बन्द थे, अतएव वे भगवान्को उलाहना देने लगे। उन्होंने कहा—

गायके बड़े भाग्य



गायके भाग्य सराहै कौन ?
मुँह लै थन चूँघत नँदनंदन मैया चकित रही धरि मौन।

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे ।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

'हे भगवन्! इस समय तुम ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो रहे हो, मेरी अवहेलना कर मुझे दर्शन नहीं देते। परन्तु ख्याल रखना कि जब नास्तिक बौद्धलोग आपका खण्डन करने आयँगे, तब मेरे ही अधीन आपकी स्थिति होगी। क्योंकि इस समय इन नास्तिकोंका शास्त्रार्थके द्वारा मुखमर्दन कर आपकी सिद्धि करनेवाला एकमात्र मैं ही हूँ।'

उदयनाचार्यके इस प्रकारके प्रेमभरे वचनोंको सुनकर भगवान्‌के मन्दिरके द्वार आप-ही-आप खुल गये। भगवान्‌ने मनोहर दर्शन देकर आचार्यजीको कृतार्थ किया। श्रीउदयनाचार्यजीकी प्रेमभक्तिका परिचय उनके इन श्लोकोंसे मिलता है—

अस्माकं तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ।
तन्नाथ त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकात्मतां
याते चेतसि नाप्नवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥
कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात्संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति ।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रतिनमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥
(न्यायकुसुमाञ्जलि)

'हे निसर्गसुन्दर! हे आनन्दनिधे परमात्मन्! मेरा चित्त आपमें दीर्घकालसे आसक्त हो रहा है; परन्तु वह चञ्चल चित्त आपके दर्शन विना सन्तृप्त नहीं होता। इसलिये हे नाथ! आप ऐसी करुणा कीजिये कि आपमें यह चित्त तन्मय हो जाय, जिससे शतशः यमयातनाओंको मैं न प्राप्त होऊँ। जो भगवान् आकाशादि कार्य द्रव्यसमुदायको बना-बनाकर संहार करते हैं, पुनः अपनी मायाके द्वारा इन्द्रजालकी तरह इस जगत्‌की रचना करके क्रीडा करते हैं—उन विश्वसनीय, संसारके कारण, प्रतिबन्धरहित इच्छाप्रभाववाले कल्याणमय परमात्माको मैं शरीरान्तके समय भी प्रणाम करूँ।'

तृतीय भगवच्छरणागति विष्णुपुराणमें कही है—

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥
(३।७।३२)

यमराज अपने भटोंसे कहते हैं कि 'हे भटो! यह विश्व वासुदेवरूप ही है। 'मैं वासुदेव हूँ' ऐसी जिसकी भावना दृढ हो गयी है, उसको तुम लोग दूरसे ही छोड़ देना। वहाँ तुम लोगोंका जाना ठीक न होगा।' अस्तु, 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकारकी अचल भावना उत्तम भगवच्छरणागति है।

भागवतमें भी कहा है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(११।२।४५)

'सर्वचराचर भूतोंमें जो एकमात्र भगवान्‌रूप अधिष्ठान अपनी आत्माको ही देखता है और आत्मारूप भगवान्‌में सम्पूर्ण भूतोंको कल्पित देखता है, वही सर्वोत्तम भागवत है। यानी उसीकी शरणागति सर्वोत्तम है।'

भगवच्छरणागति एक महान् धर्म है, जो वेदादि सकल शास्त्रमें प्रतिपादित है; उसके लिये गौणधर्मोंके परित्यागकी आवश्यकता है। अतएव 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' इत्यादि वचनोंके साथ इस प्रकारके धर्मपरित्यागका कुछ विरोध नहीं हो सकता।



साहित्य-भण्डारका अमूल्य रत्न

भूमण्डलके साहित्य-भण्डारमें श्रीमद्भगवद्गीता एक अमूल्य, अद्वितीय एवं अनुपम रत्न है। हिन्दू-धर्मके मुख्य-मुख्य दार्शनिक विचार, वैज्ञानिक सिद्धान्त, धार्मिक तत्त्व, नैतिक उपदेश एवं ज्ञान-योग-भक्तिमार्गोंके साधन आदि सभीका प्रतिपादन इस अमूल्य ग्रन्थमें है। —लाला कन्नोमल, एम्० ए०

गीता-ज्ञातव्य

(लेखक--पं० श्रीव्रजवल्लभशरणजी विद्याभूषण, सांख्यतीर्थ)

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

श्रीगीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—इन तीनोंकी प्रस्थानत्रयीके नामसे प्रसिद्धि है । अनन्त श्रीश्रीनिम्बार्कभगवान् एवं उनके पश्चात् होनेवाले सभी आचार्यपादोंने अपने-अपने भाष्योंके द्वारा इन्हीं तीनोंसे मुमुक्षुजनोंकी जिज्ञासाओंकी पूर्ति की है । इनमेंसे प्रत्येक प्रस्थान तत्त्वत्रयके प्रतिपादनमें ही पर्यवसित होता है । यद्यपि तीनोंका मुख्य विषय एक ही है, तथापि प्रतिपादनशैलीमें अवश्य तारतम्य है--जैसे कि उपनिषदोंकी अपेक्षा गीतामें और गीताकी अपेक्षा ब्रह्मसूत्रोंमें तत्त्वत्रयका प्रतिपादन संक्षिप्तरूपसे हुआ है । परन्तु प्रस्थान-त्रयीकी भाँति पदार्थत्रयी भी इनके प्रतिस्थलमें भासित हो रही है ।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

—इस प्रथम वेदान्तसूत्रसे ही जिज्ञासा, जिज्ञास्य और जिज्ञासु—इन तीनोंकी प्रतिपत्ति हो जाती है । एवञ्च उपनिषदोंके भी—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा'

—इत्यादि वाक्योंसे भोक्ता (जीव), भोग्य (प्रकृति) और प्रेरिता (परमात्मा)—ये तीन ही पदार्थ सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार गीता भी तत्त्वत्रयके प्रतिपादनमें ही चरितार्थ हुई है ।

गीताके प्रथम षट्कमें प्रधानतया कर्म और द्वितीय षट्कमें उपासना एवं तृतीय षट्कमें प्रधानतया भक्तवत्सल आनन्द-कन्द श्रीगोपालकृष्णके स्वरूपका ज्ञान वर्णित हुआ है । उसमें भी तृतीय षट्कके मध्यमें ही—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

—इन वाक्योंमें जडात्मक सम्पूर्णभूतोंको क्षर कहकर प्रकृतिका निर्देश किया और उसमें रहनेवाले कूटस्थ जीव—चैतन्यको अक्षर कहा है । इन दोनों क्षर और अक्षरसे उत्कृष्ट अन्तर्यामी परमात्मा तृतीय तत्त्व है ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

—जो कि समस्त ब्रह्माण्डोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट होकर चराचर जगत्‌का धारण एवं पोषण करता हुआ अपने अद्भुत शासनसे इसको मर्यादितरूपमें रखता है; किन्तु स्वयं सर्वथा निर्विकारी ही बना रहता है ।

यद्यपि इन तीनों तत्त्वोंके अवान्तरभेद बहुत-से हैं, तथापि उन सभी भेदोंका उद्गम और तिरोभाव इन्हींमें होता है; एवं इन दोनों तत्त्वोंकी स्थिति एवं प्रवृत्ति केवल एक उत्तम पुरुष श्रीनन्दनन्दनके ही अधीन है—इस रहस्यको स्वयं श्रीमुखसे ही प्रकट किया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

'हे अर्जुन ! क्षर और अक्षर, इन दोनोंसे पर होनेके कारण वेद और लोकमें मैं पुरुषोत्तम कहा गया हूँ ।' क्योंकि--

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

'मुझसे पर और कोई वस्तु है ही नहीं; यह सम्पूर्ण जगत् जैसे डोरेमें मनिये गुँथे हुए रहते हैं, वैसे ही मुझमें पिरोया हुआ है ।' उपर्युक्त वाक्योंसे परमात्मामें जगदाधारता एवं निर्विकारता दोनों सिद्ध होती हैं ।

यद्यपि ये दोनों बातें विरुद्ध प्रतीत होती हैं क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि जो प्राणी किसी गुरुवस्तुको धारण करता है, वह भारसे दबनेपर कुछ पीडित होता है और पीडित होते ही उसकी आकृतिमें विकृति उत्पन्न हो जाती है; इसी प्रकार पालक भी पाल्यवस्तुमें ममत्व-बुद्धिके कारण उस वस्तुके उपचयापचयके अनुसार हर्ष-शोकादियुक्त होकर विकृत बन ही जाता है--तथापि परमात्माके स्वरूपमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं होता, क्योंकि वह अव्यय है । यहाँपर

'विभर्ति' और 'अव्यय'—इन दोनों पदोंसे परमात्मा और चराचररूपी जगत्का स्वाभाविक 'भेदाभेद' सम्बन्ध सिद्ध होता है, जिसका कि 'तादात्म्य' शब्दसे भी अन्यत्र सङ्केत हुआ है। कारण कि सर्वथा भिन्न होनेसे, त्रिगुणात्मक जगत्का धारण-पोषण नहीं हो सकता, और जगत्से सर्वथा अभिन्न माननेसे निर्विकारता सिद्ध नहीं होती। अतः इसी सम्बन्धको नवम अध्यायमें भगवान्ने स्वयं स्वीकार किया है। यथा हि—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

हे अर्जुन! तुम मेरे ऐश्वर्ययोगको अर्थात् विचित्र सम्बन्धको देखो, इसमें कैसी विचित्रता है! मेरा कोई अन्य आधार नहीं, किन्तु मैं समस्त जगत्का उत्पादक और आधार हूँ। तथापि जैसी जल आदि वस्तुओंकी घटादि पात्रोंमें आधारता है, वैसी आधारता मुझमें नहीं है। अन्तर यह है कि घट आदि पात्र अपने आधेय जलादि वस्तुओंके गुण-दोषोंसे लिप्त हो जाते हैं, परन्तु मैं आधार होकर भी आधेय वस्तुओंके गुण-दोषोंसे लिप्त नहीं होता; कारण कि मैं असङ्ग हूँ। अतएव समस्त चराचर जगत् स्वरूपेण मुझसे भिन्न है और स्थिति-प्रवृत्ति मेरे अधीन होनेके कारण मुझसे अभिन्न भी है। बस, इसी प्रकार भिन्नाभिन्नरूपसे जो मुझको जानता है—वही सब प्रकारसे मेरा भक्त है। इसी भावको गीता अ० १५ श्लो० १९ में—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

—भगवान्ने श्रीमुखसे व्यक्त किया है। और भी कहा है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

'हे अर्जुन! इसी तत्त्वत्रय और इनके भेदाभेदसम्बन्धको जानकर ही ज्ञाता कृतकृत्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।'

वस्तुतः इस समस्त जगत्की स्फूर्ति, वृद्धि, तिरोभाव—सब कुछ उसी अखिल ब्रह्माण्डनायक, नटवर नन्दकिशोर, गोलोकाधिपति, सर्वेश्वर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रसे ही होता है और वह जगत्से बाहर है; तथापि जगत् उसके बाहर नहीं है, किन्तु उसीकी शक्तिपर निर्भर है। वह अत्यन्त समीप होते हुए भी भक्तिके विना व्यक्त नहीं होता। मायिक गुणोंसे रहित होनेपर भी वह समस्त सद्गुणोंका समुद्र ही है। उनसे अधिक तो क्या, समान भी दूसरा कोई नहीं है। अतएव वही एक शरण्य है, उसीकी शरण लेनी चाहिये; कोई दूसरी गति नहीं है। बस, यही समस्त शास्त्रोंका रहस्य है और इसी रहस्यको भगवती गीता व्यक्त करती है। भगवान् श्रीआद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य प्रभुने भी यही व्यक्त किया है कि—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्॥

'ब्रह्मा, शिव आदिसे वन्दनीय तथा भक्तोंकि इच्छानुसार ध्यान करने योग्य मनोहर विग्रह धारण करनेवाले, अचिन्त्य शक्ति और अमित प्रभाववाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके पदारविन्दोंके अतिरिक्त कोई दूसरी गति (शरण) नहीं दिखायी देती।'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

भगवान्का भी अन्तिम उपदेश और प्रतिज्ञा बस, यही है कि सभी आशाओंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जाओ, मैं ही तुमको सब दुःखोंसे छुड़ा दूँगा। बस, यही गुह्यतम शास्त्र और गीताका ज्ञातव्य विषय है; इसीको जानकर भगवत्-शरणापन्न जीव मुक्त हो सकता है।



गीतामें अवतार-सिद्धान्त

भगवद्गीता महाभारतका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश है।······यह एक नाट्य-पद्य-काव्य है और इसकी शैली कुछ-कुछ प्लेटोके संवाद (Dialogue of Plato) से मिलती है। विष्णुके अवतार श्रीकृष्ण और महाभारतके चरित्रनायक वीर अर्जुनका संवाद इसका विषय है। भगवद्गीताका सर्वत्र ही महान् आदर है और हिन्दू-जातिके विचार तथा विज्ञानपर इसके सिद्धान्तोंका गहरा प्रभाव है। इन्हीं सिद्धान्तोंमें ईश्वरके अवतारका सिद्धान्त भी पाया जाता है, जिसपर हिन्दू-जातिका अटल विश्वास है।

—रेवेरेंड ई० डी० प्राइस

गीता-तत्त्वार्थ

(लेखक--पं० श्रीअमोलकरामजी तर्कतीर्थ, वेदान्तवागीश, द्वैताद्वैतमार्तण्ड)

हार्दध्वान्तनिरासवासरमणिर्विज्ञानवारांनिधिः
भक्ताभीष्टसहस्रपूरणविधौ चैतन्यचिन्तामणिः ।
सद्भृङ्गेप्सितविष्णुभक्तिनलिनीव्याकोशहेतूदयः
सोऽस्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं निम्बार्कनामा मुनिः ॥

श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी अनन्त और अचिन्त्य शक्तिसे समुत्पन्न इस संसाररूपी वृक्षके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों फल शास्त्रमें पुरुषार्थके नामसे कहे गये हैं। उन चतुर्विध पुरुषार्थोंसे प्रेम एक सर्वोत्तम और विलक्षण पुरुषार्थ है, यह कहना अनुचित न होगा। कारण कि जिस प्रेमरूप दृढतर डोरीसे आनन्दकन्द व्रजचन्द श्रीनन्दनन्दनके मनोहर, सन्तापहारी, दिव्य, परम मङ्गलकारी, सुभग, परम सुशीतल, अरुणवर्ण श्रीचरणकमलोंको जिस रसिक भक्तने अपने भक्तिसंशोधित हृदयकमलमें बाँध लिया है—उस भक्तके हृदयागारसे भगवान् कदापि दूर नहीं हो सकते। प्रेमके वशीभूत होकर ही परमपुनीत भक्ताग्रगण्य श्रीपाण्डुपुत्रोंकी प्रभुने रक्षा की और उनके अनुचर बनकर पार्थके सारथि बने, एवं भारतके भीषण युद्धमें कर्णप्रभृति महान् बलशाली योद्धाओंके असह्य बाणोंसे अपने प्रेमी भक्त अर्जुनको अपनी भुजाओंमें रखकर बचाया।

उसी सङ्कट-दशामें अखिलब्रह्माण्डनायक सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वायु, अग्नि, मृत्युप्रभृति चेतनाचेतनके नियन्ता, जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण और उसकी वृद्धि और लय करनेवाले, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, चेतनाचेतनमात्रके भिन्नाभिन्नसम्बन्धी, परात्पर, परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी शक्ति और गुणविषयक विद्याका उपदेश किया—जो कि मूर्तिमती होकर आज गीताके रूपमें समस्त जगत्को कल्याणकी ओर आकर्षित कर रही है। इस अनुपमोपकारकारिणी श्रीभगवती गीताका मूलतत्त्वार्थ निम्नोक्त प्रकारसे है।

प्रथम अध्याय

श्रीअर्जुनको आत्मतत्त्वके उपदेश करनेका कारण—शोक और मोहका प्रदर्शन। बस, यही गीताशास्त्रकी उपोद्घातसङ्गति है।

द्वितीय अध्याय

श्रीअर्जुनके शोक-मोहकी निवृत्तिके लिये देहसे आत्माका पार्थक्यरूप विवेक।

विवेकका साधन निष्कामकर्मयोग। कर्मयोगसे अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक भगवान्का आश्रयण। भगवान्के आश्रयसे इन्द्रियोंका संयम। इन्द्रियसंयमसे स्थितप्रज्ञता और उसका फल सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वक परम शान्तिकी प्राप्ति। वस्तुतः उपर्युक्त द्वितीयाध्यायके भावार्थको ही विस्तृतरूपसे भगवान्ने शेष सोलह अध्यायोंमें दिखाया है।

तृतीय अध्याय

अमृदितकषाय मुमुक्षु मोक्षके लिये सहसा ज्ञानयोगका अधिकारी नहीं हो सकता, अतः उसको ज्ञानकी तरह निःसन्देह कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। एवं ज्ञानयोगाधिकारीके लिये भी फलकी आकांक्षा छोड़कर लोकसंग्रहके लिये कर्मयोगका पालन करना आवश्यक है।

चतुर्थ अध्याय

कर्मयोगका फल ज्ञानयोग है। ज्ञानके अनुसन्धानका प्रकार और कर्मोंका स्वरूप तथा भेद।

पञ्चम अध्याय

माहात्म्यपूर्वक कर्मयोग और ज्ञानयोग। ज्ञानका अन्तरङ्ग उपाय ध्यानयोग।

षष्ठ अध्याय

विस्तारपूर्वक ध्यानयोग। इस प्रकार अनन्य भक्तियोग अर्थात् परम प्रेमका साधन 'त्वं' पदार्थ प्रत्यगात्माके स्वरूपका ज्ञान है। एवं निष्कामकर्मयोग, उपशम, वैराग्य और योगादि भी अनन्य भक्तियोगके ही साधन हैं। यह प्रथम षट्कका संक्षिप्त सार है।

सप्तम अध्याय

भजनीय प्रभुके स्वरूपका वर्णन और भक्तोंके भेद।

अष्टम अध्याय

[illegible] ही संसारनिवृत्तिपूर्वक भगवान्की प्राप्ति।

भगवत्प्राप्तिके प्रकार। ज्ञानयोग और ध्यानयोग भगवत्प्राप्तिके असाधारण साधन हैं।

कारण, ज्ञानयोग और ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाले मुमुक्षुजनोंको ही अर्चिरादि मार्गके द्वारा परमपदकी प्राप्ति होती है। अन्यथा ज्ञान-ध्यानरहित जनोंको तो जन्म-मरणादि संसारचक्रमें ही भटकना पड़ता है।

नवम अध्याय

ज्ञान-माहात्म्य। अभक्तोंकी निन्दा। भक्तोंको परमफलकी प्राप्ति और भक्तिका माहात्म्य।

दशम अध्याय

भक्तिकी उपपत्तिके लिये भगवान्‌की विभूतियोंका वर्णन।

एकादश अध्याय

अर्जुनको दिव्य चक्षु देकर विराट् स्वरूप दिखाना।

द्वादश अध्याय

भक्तिका स्वरूप, सगुणोपासना और उसकी विशेषता एवं प्रिय भक्तोंके लक्षण।

त्रयोदश अध्याय

परमात्माकी परा और अपरा प्रकृतिका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञरूपसे वर्णन। और उन दोनोंका परमात्माके साथ भेदाभेदसम्बन्ध। आत्माको उत्तम या अधम योनिकी प्राप्तिमें प्रकृतिके गुणोंका सङ्ग ही कारण है। आत्मज्ञानके अमानित्वादि २० साधन। आत्माका अणुपरिमाण होते हुए भी धर्मभूत अपने व्यापक ज्ञानसे समस्त शरीरको प्रकाशित करना इत्यादि विषयोंके प्रतिपादनसे ये सन्देह मिटाये गये हैं कि प्रकृति-पुरुषका परमात्माके साथ केवल भेद है अथवा अभेद-सम्बन्ध है? पुरुषका वास्तविक स्वरूप कैसा है और वह संसारी कैसे बनता है? और संसारी जीवकी मुक्ति कैसे होती है? मुक्तिका स्वरूप क्या है?

चतुर्दश अध्याय

आत्माके बाँधनेवाले गुणोंका कारण भी परमात्मा ही है। बन्धनोंके लक्षण और प्रकार, बाँधनेवाले गुणोंके कार्योंके भेद, गुणातीत पुरुषोंके लक्षण, गुणोंके अतिक्रमण करनेकी रीति। गुणातीतोंको ब्रह्मभावकी प्राप्ति।

पञ्चदश अध्याय

ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य पुरुषके बन्धन हटानेके लिये वैराग्य उत्पन्न करनेके निमित्त संसारको पीपलका वृक्ष कहकर ज्ञानरूप तलवारसे उसको छेदन करनेके लिये कहना। शरणागतिका भाव ग्रहण करनेसे मान-मोहादिके त्यागपूर्वक परमपदकी प्राप्ति होती है। शरण्य और प्राप्तव्य परमात्मा सम्पूर्ण चेतनाचेतनका आत्मा और प्रकाशक, सब जीवोंका अंशी, वेदोंसे जाननेयोग्य और वेदोंका प्रकाश करनेवाल तथा वेदोंके अर्थका यथार्थ ज्ञाता एवं प्रकृति और जीवसे पृथक् है।

इस प्रकारसे जो परमात्माको जानता है, वह सर्वज्ञ एवं कृतकृत्य हो जाता है।

षोडश अध्याय

अधिकारी और अनधिकारियोंके निर्णयके लिये हेय और उपादेय दैवासुरसम्पत्तिके भेद। दैवीसम्पदा मोक्षका कारण और आसुरीसम्पदा अधम गतिको देनेवाली है।

सप्तदश अध्याय

आसुरीसम्पत्ति त्याज्य और दैवीसम्पत्ति ग्राह्य है—एतदर्थ तीनों गुणोंके भेदसे श्रद्धा, आहार, तप, यज्ञ और दानके गुणानुसार विभाग।

अष्टादश अध्याय

समस्त अध्यायोंको एकत्र ही ग्रहण करनेके लिये अठारहवें अध्यायमें यह बतलाया है कि पराभक्तिके अनधिकारियोंको, जिनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं है, श्रद्धापूर्वक यज्ञ, दान, तप आदिमें निष्ठा रखनी चाहिये। जिनकी बुद्धि विशुद्ध और काम-क्रोधादिसे रहित है, ऐसे ब्रह्मभूत ज्ञानियोंको ही पराभक्ति प्राप्त होती है और पराभक्तिसे ही भगवान्‌के स्वरूप, गुण, ऐश्वर्यके यथार्थ ज्ञानका लाभ करके भक्तजन जनार्दनकी प्राप्ति करते हैं।

सब जीवोंके नियन्ता, स्वतन्त्र और निरङ्कुश ऐश्वर्यवाले प्रभुकी आज्ञामें रहनेवाला अनन्य शरणागत और निरतिशय प्रेमसे प्रभुका भजन करनेवाला निष्कामी भक्त चाहे अपनी इच्छासे कुछ भी कर्म करे या न करे, उसको कोई भी पाप नहीं छू सकता। इतना ही नहीं, अपितु उसको भगवत्प्राप्तिमें भी कुछ सन्देह नहीं रह जाता।

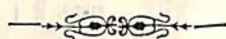
समस्त निगमागमसारस्वरूप इस गीताशास्त्रका सच्चा और प्रमुख अधिकारी वही है जो कि प्रेमार्द्र अपने मानस-सरोवरको अगाध प्रेमपयोधि बनाना चाहता हो और उसके लिये तन-मन-धनसे शुश्रूषा एवं तपःकर्मोंमें निरत हो। अतएव श्रीसर्वेश्वर प्रभुने प्रेम और प्रेमके साधनोंसे रहित पुरुषोंको गीतातत्त्वार्थ कहनेका निषेध किया है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

हे अर्जुन! यह गीतातत्त्व मेरे निन्दक, अभक्त और तप एवं सेवाशून्यको न देना; अपितु मेरे प्रेमी भक्तोंको, जो कि इसके अधिकारी हैं, देना। कारण——

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

भक्तों और प्रेमियोंको गीतातत्त्व देनेवालेके अतिरिक्त जगत्में मेरा कोई प्रिय नहीं है और न होगा ही। इसलिये परमप्रेम ही गीताका तत्त्व और विलक्षण पुरुषार्थ है।



गीताका तात्पर्य

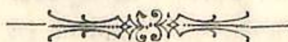
(लेखक—पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराज)

मेरे विचारसे गीताका मुख्य तात्पर्य ज्ञानमें है, कर्म या भक्तिमें नहीं। गीतामें इनका जो वर्णन किया गया है वह गौणरूपसे है, मुख्यतः नहीं। वस्तुतः तो भगवान्ने अर्जुनको तत्त्वज्ञान देनेके लिये ही गीताका उपदेश किया था। अर्जुनको मोह हुआ था। मोहकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है। अतः भगवान्ने गीताके द्वारा अर्जुनको ज्ञानका ही उपदेश किया है। वे कहते हैं—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

इस श्लोकमें जो उत्तम रहस्य बताया गया है, वह ज्ञान ही हो सकता है। 'रहस्य' शब्दका प्रयोग प्रायः ज्ञानके लिये ही किया जाता है। इसके सिवा वे अर्जुनको भक्त और सखा तो स्वयं ही कह रहे हैं; इसलिये भी उसे कर्म या भक्तिका उपदेश करना तो अनावश्यक ही होगा।

ज्ञानसे निवृत्ति या प्रवृत्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानीके लिये निवृत्ति अवश्य ज्ञानका परम्परागत साधन है, किन्तु ज्ञान होनेके पश्चात् तो वह प्रारब्धाधीन है। अर्जुन तो गीतोक्त ज्ञान प्राप्त करके युद्ध-जैसी दुष्कर प्रवृत्तिमें तत्पर हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानके पश्चात् निवृत्ति अनिवार्य नहीं है। ज्ञान अज्ञानका विरोधी है, प्रवृत्तिका नहीं; और न वह निवृत्तिका उत्पादक ही है। ज्ञानके पश्चात् जीवन्मुक्तिसुखके लिये निवृत्तिपरायण होना निष्कामकर्म और भक्तिका फल है। इसलिये यद्यपि गीताका प्रधान विषय तो आदिसे अन्ततक ज्ञान ही है, तथापि ज्ञानकी दृढ़ताके लिये उसमें जगह-जगह ध्यानादिपर भी बहुत जोर दिया गया है तथा ज्ञानके साधन होनेसे निष्काम कर्म और भक्तिका भी पर्याप्त वर्णन किया गया है; क्योंकि जबतक इनके द्वारा दृढ़ वैराग्यकी प्राप्ति नहीं होती तबतक ज्ञानमार्गमें प्रवृत्त होना गजस्नानके समान निरर्थक ही है।



गीतासार

(लेखक—पूज्यपाद स्वामी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

गीताका तत्त्व समझना तो बहुत ही कठिन है, करोड़ोंमें कोई एक विरला माईका लाल ही समझता होगा। मैं तो गीताका आशय इतना ही समझा हूँ कि मनकी दुर्बलता त्यागनेसे सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है, इसलिये कल्याणकाङ्क्षीको हृदयकी क्षुद्रता त्यागनी चाहिये—जैसा कि भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है।

भोगोंकी आसक्तिसे मन दुर्बल होता है, भोगोंकी आसक्ति त्यागनेसे मन बलिष्ठ होता है। आत्मानुसन्धान करनेसे भोगोंकी आसक्ति छूटती है, भोगोंकी आसक्ति त्यागनेसे आत्मज्ञान होता है, इसलिये मुमुक्षुको नित्य-निरन्तर भोगासक्ति त्यागनेका प्रयत्न करना चाहिये। आत्माका अनुसन्धान करना चाहिये। आत्माका स्वरूप भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक बताया है। जिनके अन्तःकरण शुद्ध हैं, उनको उन श्लोकोंके श्रवण-मनन करनेसे आत्माका ज्ञान हो सकता है। जिनके अन्तःकरण शुद्ध नहीं हैं, उनको भगवान्‌ने कर्मयोग बतलाया है। ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मयोग है। कर्मयोगका अनुष्ठान करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, अन्तःकरण शुद्ध होनेसे आत्माका ज्ञान हो जाता है, आत्माका ज्ञान होनेसे भोगोंकी आसक्ति निवृत्त हो जाती है, भोगोंकी आसक्ति निवृत्त होनेसे वासनाओंकी निवृत्ति हो जाती है, वासनाओंकी निवृत्ति होनेसे अधिकारीका संसार निवृत्त हो जाता है, संसार निवृत्त होनेसे अधिकारी एक ईश्वरकी शरण लेता है, ईश्वरकी शरण लेनेसे सब धर्म छूट जाते हैं; क्योंकि समस्त धर्म देहके हैं, देही—आत्माका कोई धर्म नहीं है। सब धर्म छूट जानेसे जैसे आँख सर्वत्र रूपको देखती है, उसी प्रकार अधिकारीकी बुद्धिकी वृत्ति सर्वत्र ब्रह्म—आत्माको ही विषय करती है। ऐसा पुरुष जीता हुआ ही निरन्तर जीवन्मुक्तिके सुखका अनुभव करता है और शरीर त्यागनेके पीछे विदेहमुक्तिके सुखका अनुभव करता है।

ऐसे पुरुषका ही नर-जन्म सफल है; साँस तो धौंकनी भी लेती है, जीते तो वृक्ष भी हैं, पशु-पक्षी भी खाते-पीते और सन्तान उत्पन्न करते हैं। इनका जीना जीना नहीं है, क्योंकि उनके जीवनसे उनका अथवा अन्य किसीका लाभ नहीं है।

रे मन ! चेत जा ! भोगोंकी आसक्ति छोड़ दे ! भोगतत्पर मत हो ! भोगोंकी आसक्तिने तुझे दीन, दुःखी, छोटा, रोगी बना रक्खा है; नहीं तो तू न तो दीन है न दुःखी है, न छोटा है और न रोगी है किन्तु स्वतन्त्र, सुखी, महान् और नीरोगी है; न तू जन्मता है, न तू मरता है, न तू वृद्ध होता है किन्तु सर्वथा अज, अजर और अमर है। गीता पढ़ना सफल कर ले; गीताका पठन-पाठन नर-जन्ममें ही मिल सकता है, अन्य योनिमें नहीं मिल सकता। यदि इस जन्ममें गीताका तत्त्व न समझा, तो फिर समझनेकी आशा नहीं है ! गीतातत्त्व न समझा तो बार-बार जन्मता, मरता और दुःख पाता ही रहेगा। कभी संसारचक्रसे छूटेगा नहीं ! समझ जा ! समझ जा !! अब भी समझ जा !!!

कुं०—गीता पढ़ रे ! नित्य ही, अन्य धर्म दे त्याग। अपने आत्मा कृष्णमें कर केवल अनुराग ॥
कर केवल अनुराग एक अद्वय शिव माहीं। सबमें उसे निहार, स्वप्न भी दूजा नाहीं ॥
भोला ! चित्त मलीन, शान्तिसे रहता रीता। पढ़ गीता हो शान्त, यही कहती है गीता ॥

गीता धर्मकी निधि है

मेरा विश्वास है कि मनुष्य-जातिके इतिहासमें सबसे उत्कृष्ट ज्ञान और अलौकिक शक्तिसम्पन्न पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण हुए हैं। मेरा दूसरा विश्वास यह है कि पृथ्वीमण्डलकी प्रचलित भाषाओंमें उन भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई भगवद्गीताके समान छोटे वपुमें इतना विपुल ज्ञानपूर्ण कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

वेद और उपनिषदोंका सार, इस लोक और परलोक दोनोंमें मङ्गलमय मार्गका दिखानेवाला, कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनों मार्गोंद्वारा मनुष्यको परमश्रेयके साधनका उपदेश करनेवाला, सबसे ऊँचे ज्ञान, सबसे विमल भक्ति, सबसे उज्ज्वल कर्म, यम, नियम, त्रिविध तप, अहिंसा, सत्य और दयाके उपदेशके साथ-साथ धर्मके लिये धर्मका अवलम्बन कर, अधर्मको त्याग कर युद्ध करनेका उपदेश करनेवाला यह अद्भुत ग्रन्थ है—जिसमें १८ छोटी अध्यायोंमें इतना सत्य, इतना ज्ञान, इतने ऊँचे गम्भीर सात्त्विक उपदेश भरे हैं, जो मनुष्य-मात्रको नीची-से-नीची दशासे उठाकर देवताओंके स्थानमें बैठा देनेकी शक्ति रखते हैं। मेरे ज्ञानमें पृथ्वीमण्डलपर ऐसा कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है जैसा भगवद्गीता है। गीता धर्मकी निधि है। केवल हिन्दुओंकी ही नहीं, किन्तु सारे जगत्‌के मनुष्योंकी निधि है। जगत्‌के अनेक देशोंके विद्वानोंने इसको पढ़कर लोकको उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले परमपुरुषका शुद्ध सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और उनके चरणोंमें निर्मल निष्काम परमा भक्ति प्राप्त की है। वे पुरुष और स्त्री बड़े भाग्यवान् हैं, जिनको इस संसारके अन्धकारसे भरे घने मार्गोंमें प्रकाश दिखानेवाला यह छोटा किन्तु अक्षय स्नेहसे पूर्ण धर्म-प्रदीप प्राप्त हुआ है। जिनको यह धर्म-प्रदीप (धर्मकी लालटेन) प्राप्त है, उनका यह भी धर्म है कि वे मनुष्यमात्रको इस परम पवित्र ग्रन्थका लाभ पहुँचानेका प्रयत्न करें।

मेरी यह अभिलाषा और जगदाधार जगदीशसे प्रार्थना है कि मैं अपने जीवनमें यह समाचार सुन लूँ कि बड़े-से-बड़ेसे लेकर छोटे-से-छोटेतक प्रत्येक हिन्दू-सन्तानके घरमें एक भगवद्गीताकी पोथी भगवान्‌की मूर्तिके समान भक्ति और भावनाके साथ रक्खी जाती है। और मैं यह भी सुनूँ कि और-और धर्मोंके माननेवाले इस देशके तथा पृथ्वीमण्डलके और सब देशोंके निवासियोंमें भी भगवद्गीताके प्रचारका इस कार्यके महत्त्वके उपयुक्त सुविचारित और भक्ति, ज्ञान और धनसे सुसमर्थित प्रबन्ध हो गया है।

॥ श्रीकृष्णः प्रीणातु ॥

मदन मोहन मालवीय



गीताका महत्त्व

(महात्मा गांधीजी)

गीताकी शिक्षा

मैं तो चाहता हूँ कि गीता न केवल राष्ट्रीय शालाओंमें ही बल्कि प्रत्येक शिक्षा-संस्थाओंमें पढ़ायी जाय। एक हिन्दू बालक या बालिकाके लिये गीताका न जानना शर्मकी बात होनी चाहिये। यह सच है कि गीता विश्वधर्मकी एक पुस्तक है। बाहरी दबावसे गीता कभी विश्वव्यापिनी नहीं होगी। वह विश्वव्यापिनी तो तभी होगी जब उसके प्रशंसक उसे जबर्दस्ती दूसरोंके गले न उतारकर स्वयं अपने जीवनद्वारा उसकी शिक्षाओंको मूर्त रूप देंगे।

गीतामें श्रद्धा

जो वस्तु बुद्धिसे भी अधिक है, परे है—वह श्रद्धा है। बुद्धिका उत्पत्ति-स्थान मस्तिष्क है, श्रद्धाका हृदय। और यह तो जगत्‌का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धि-बलसे हृदयबल सहस्रशः अधिक है। श्रद्धासे जहाज चल रहे हैं, श्रद्धासे मनुष्य पुरुषार्थ करता है, श्रद्धासे वह पहाड़ों-अचलोंको चला सकता है। श्रद्धावान्‌को कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमान्‌को हमेशा पराजयका डर रहता है। इसी कारण भगवान्‌ने गीताके सतरहवें अध्यायमें कहा है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः', जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बनता है। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे? इसका उत्तर गीतामें है, रामचरितमानसमें है। भक्तिसे, सत्सङ्गसे श्रद्धा प्राप्त होती है।

गीतामें अनासक्ति

अपने-परायेके बीच भेद न रखनेकी बात तो गीताके पन्ने-पन्नेमें है। पर यह कैसे हो सकता है? यों सोचते-सोचते हम इस निश्चयपर पहुँचेंगे कि अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीताकी प्रधान ध्वनि है।

गीतासे सब समस्याओंका हल

'......जब-जब सङ्कट पड़ते हैं, तब-तब सङ्कट टालनेके लिये हम गीताके पास दौड़ जाते हैं और उससे आश्वासन पाते हैं। हमें गीताको इस दृष्टिसे पढ़ना है। वह हमारे लिये सद्‌गुरु-रूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिये कि उसकी गोदमें सिर रखनेसे हम सही-सलामत रहेंगे। गीताके द्वारा हम अपनी तमाम धार्मिक उलझनें सुलझावेंगे। इस विधिसे जो रोज गीताका मनन करेगा, उसे उसमेंसे नित्य नया आनन्द मिलेगा—नये अर्थ प्राप्त होते रहेंगे। ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके।' (संकलित)

गीता-तत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम्० ए०, एल्-एल्० डी०, डी० लिट्०)

इन पंक्तियोंका लेखक सच्चे जिज्ञासुओंको यह चेतावनी देना अपना कर्तव्य समझता है कि वे गीताके टीकाकारों तथा व्याख्याकारोंसे सावधान रहें। गीताके उपदेशोंको सुनकर अर्जुनने क्या किया, उसीसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णने उसे क्या उपदेश दिया था। और भगवान् अन्ततक अर्जुनके पथप्रदर्शक, सलाहकार और सखा बने रहे—इससे यह स्पष्ट है कि उसने जो कुछ किया उससे उनको सन्तोष था।

तब यह प्रश्न होता है कि अर्जुनने गीताका उपदेश सुनकर क्या किया।

उसने अपने क्षात्रधर्मका पालन किया। उसने जङ्गलकी राह नहीं ली, न उसने गृहस्थ-धर्मका परित्याग ही किया। अतः गीताका उपदेश स्पष्ट ही यह था कि मनुष्यको अपनी सामाजिक स्थिति एवं अवस्थाके अनुकूल कर्तव्योंका पालन करना चाहिये।

यदि किसी-किसी श्लोकमें इससे भी ऊँचे सिद्धान्तोंकी ओर सङ्केत पाया जाता है तो इससे यही द्योतित होता है कि मानवी आकाङ्क्षाके ऐसे क्षेत्र भी हैं जो सामान्य मनुष्यके मन और बुद्धिसे परे हैं। परन्तु ये आकाङ्क्षाएँ कुछ गिने-चुने मनुष्यों-के लिये ही हैं, जनसाधारणके लिये नहीं।

अतः इन आकाङ्क्षाओंके कारण हमें अपने गन्तव्य मार्गपर रुकनेकी आवश्यकता नहीं है, न इनके कारण हमें अपने निश्चित कर्तव्योंके पालनमें ही किसी प्रकारकी बाधा होनी चाहिये। बल्कि भगवान् तो हमें चेतावनी देते हैं कि हम अपनी प्रकृति अर्थात् अपनी योग्यता और परिस्थितिका अतिक्रमण नहीं कर सकते—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(गीता १८। ५९)

'यदि तू अहङ्कारका आश्रय लेकर ऐसा मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तेरा यह निश्चय झूठा है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे युद्धमें लगा ही देगा।'

गीताके साथ उसके दार्शनिक व्याख्याताओंने न्याय नहीं किया है; विकट परिस्थितिमें पड़े हुए एक मित्रको राह बतलानेके अभिप्रायसे जो एक सर्वथा व्याबहारिक सलाह दी गयी थी, उसमेंसे इन लोगोंने एक सर्वाङ्गपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तको मथकर निकालनेकी चेष्टा की है। भगवान्का आशय यह न था कि ऐसे समयमें जब कि उनका अनुगत सखा उनसे कर्तव्य पूछ रहा था वे उसके सामने एक दार्शनिक वक्तृता झाड़ते।

अतः गीता हमें यही सिखाती है कि हम वही करें जो अर्जुनने किया था; हम ईमानदारीके साथ अपने कर्तव्यका, अपने निःशेष कर्तव्यका पालन करें—'कर्मण्येवाधिकारस्ते।'

गीताका निष्कर्ष

(लेखक—डाक्टर भगवानदास, एम्० ए०, डी० लिट्०)

निष्कर्ष यह है कि अध्यात्मशास्त्र ही गुह्यतम श्रेष्ठ शास्त्र है। उसीके आदेश-उपदेशके अनुसार कर्तव्यका निर्णय करना और कार्य करना चाहिये। जिसका प्रत्यक्ष तात्कालिक उदाहरण भी स्वयं गीतारूपी अध्यात्मशास्त्रका सार और तदनुसार अर्जुनके युद्धरूपी कृत्यका निर्णय और युद्ध है। 'मामनुस्मर युध्य च'—'माम्'=आत्मानम्; अनुस्मर= बुद्धौ धारय, युध्य=युध्यस्व, सर्वपापैः सह युद्धं कुरु। यही गीताका निष्कर्ष है।

गीताका सन्देश

(लेखक—साधु टी० एल्० वास्वानी)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके विचार भरे हैं। यह ग्रन्थ इतना अमूल्य और आध्यात्मिक भावोंसे पूर्ण है कि मैं समय-समयपर परमात्मासे यह प्रार्थना करता आया हूँ कि वे मुझपर इतनी दया करें और शक्ति प्रदान करें जिससे मैं मृत्युकालपर्यन्त इस सन्देशको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचा सकूँ।

मनुष्य-जातिके कल्याणके लिये गीता ही सबसे अधिक उपयोगी ग्रन्थ है

(लेखक—प्रिंसिपल श्रीयुत श्यामाचरण दे, एम्० ए०)

मुख्य प्रश्न जो अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा और सो भी कई बार, वह यह था—'मेरा निश्चित कल्याण किसमें है? मुझे एक निश्चित राय बताओ जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँ।' अतः मालूम होता है कि गीताका मुख्य विषय यह है—मानव-जातिका सबसे अधिक कल्याण किस बातमें है और वह किस तरह प्राप्त हो सकता है? संक्षेपमें भगवान् श्रीकृष्ण हमें बतलाते हैं कि मोक्ष (अर्थात् जीवात्माका जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट जाना) ही मनुष्यके लिये सबसे बड़ा कल्याण है और वह निष्काम (फलकी इच्छासे रहित) कर्मके अनुष्ठानसे प्राप्त हो सकता है; क्योंकि इस संसारमें हम अपने ही कर्मोंका फल भोगनेके लिये बार-बार जन्म लेते हैं। भगवद्गीता हमें निष्काम कर्मके योग्य बननेके साधन और उपाय बतलाती है और निष्काम कर्मकी पहली सीढ़ी है—जिस तरहसे भी हो स्वधर्मका पालन करना। कोई भी समाज, यदि उसके अङ्गभूत व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते, जीवित नहीं रह सकता और न कोई व्यक्ति ही उन्नति कर सकता है, फल-फूल सकता है और सुखी हो सकता है यदि वह अपने विहित कर्मका त्याग कर देता है। अतः मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये भगवद्गीताके समान उपयोगी ग्रन्थ कोई भी नहीं है। इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि लोग उसके आशयको भलीभाँति समझें और उसका जगत्में अधिकाधिक प्रचार हो। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'कल्याण' ने इस महान् कार्यको हाथमें लिया है। मैं भगवान्से प्रार्थना करता हूँ कि वे इस कार्यमें पूर्ण सफलता प्रदान करें।

गीताका विश्वव्यापी प्रचार

(लेखक—रेवरेंड सी० एफ्० एंड्रूज़ महोदय)

भारतवर्षके पिछले डेढ़ सौ वर्षके इतिहासमें एक बात सबसे अधिक उल्लेखयोग्य यह हुई है कि धार्मिक विषयके सरल एवं छोटे ग्रन्थोंमें गीताके प्रति लोगोंकी रुचि खूब बढ़ गयी है। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके प्रारम्भिक कालमें बंगालमें वारेन हेस्टिंग्ज़को उन्हींके साथ आये हुए एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान्ने जब गीताकी एक मूल प्रति अंग्रेजी-अनुवादसहित दी तो उन्होंने इसका संस्कृत-साहित्यकी एक बहुत बड़ी खोजके रूपमें अभिनन्दन किया। उनका एक पत्र अबतक सुरक्षित है, जिसमें उन्होंने यह लिखा है कि प्रशंसा एवं पुरस्कारकी इच्छासे रहित जीवनके सम्बन्धमें जो गीताका उपदेश है, उससे मेरी आत्माको बड़ी शान्ति मिली। उन्होंने उस पत्रमें गीताके निम्नलिखित श्लोकका उल्लेख किया है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

इसके बाद फ्रांसकी क्रान्तिके दिनोंमें एक विशेष उल्लेखयोग्य बात हुई। हैमिल्टन नामका एक विशिष्ट व्यक्ति बंदी बनाकर पैरिस लाया गया। वह भारतवर्षमें रह चुका था और वहाँसे अपने साथ कुछ संस्कृतके ग्रन्थ ले आया था, जिनमें कुछ उपनिषद् तथा गीताकी भी एक प्रति थी। उसे पैरिसमें नजरबंद कर दिया गया और उस हालतमें वहाँ रहकर उसने कई प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वानोंको उपर्युक्त ग्रन्थोंमें वर्णित सिद्धान्तोंको शिक्षा दी। इस प्रकार मोक्षमूलर तथा पॉल डायसनके बहुत पहले भारतवर्षकी प्राचीन संस्कृत-विद्याकी ओर लोगोंकी अभिरुचि धीरे-धीरे बहुत दूरतक फैल गयी थी।

भारतवर्षमें भी गीताकी ओर लोगोंकी अभिरुचि बहुत बढ़ गयी है। पैंतीस वर्षसे ऊपर हुआ जब मैं भारतवर्षमें आया था, उस समय विश्वविद्यालयोंके कालिजोंमें गीताकी ओर विद्यार्थियोंकी इतनी अभिरुचि नहीं थी जितनी आजकल पायी जाती है। स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द तथा बीसियों अन्य विद्वानोंने गीतापर टीकाएँ लिखकर उसके प्रचारमें बहुत सहायता की है। सभीने अपने-अपने ढंगसे देशी भाषाओंमें अथवा अंग्रेजीमें उसका तात्पर्य बतलानेकी चेष्टा की है। परन्तु सबसे अधिक प्रभाव इस दिशामें महात्मा गांधीका पड़ा है। उनकी गीतापर टीका तथा उनका दैनिक गीतापाठ और सर्वोपरि गीतोक्त आदर्शके अनुकूल उनके दैनिक जीवनका समस्त भारतवासियोंके जीवनपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है।

दक्षिणके प्रधान मन्त्री श्रीयुत सी० राजगोपालाचार्यने भी अपने ढंगसे गीताका प्रचार करनेमें मदद की है और इस प्रकार जो कार्य दक्षिणमें श्रीमती एनी बेसेंटने अपने अनुवादके द्वारा प्रारम्भ किया था उसको चालू रक्खा है।

उपर्युक्त थोड़ी-सी पंक्तियोंसे अधिक लिखना मेरे लिये असम्भव है, क्योंकि इस समय मैं अस्पतालमें हूँ और डाक्टरोंने मुझे अधिक परिश्रम करनेके लिये मना कर रक्खा है; परन्तु जब कल्याण-सम्पादककी गीता-तत्त्वाङ्कके लिये लेख लिखनेकी प्रार्थना मेरे पास पहुँची तो मुझसे ऊपरकी पंक्तियाँ लिखे विना न रहा गया, यद्यपि उतने समयके लिये मुझे डाक्टरकी आज्ञाकी अवहेलना करनी पड़ी।

भगवद्गीताका प्रभाव

(लेखक—श्रीमेहरबाबाजी)

आध्यात्मिक दृष्टिसे सारी मानव-जातिपर भगवद्गीताका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्णका हिन्दू-जातिमें जन्म होनेके कारण, गीताको लोग प्रायः हिन्दुओंका ही धर्म-ग्रन्थ समझते हैं; परन्तु वास्तवमें यह ग्रन्थ केवल हिन्दुओंका ही नहीं, अपितु समस्त मानव-जातिका है। इसके अंदर जो उपदेश दिया गया है, वह केवल भारतवर्षके ही लिये नहीं अपितु सारे जगत्के लिये है। मनुष्य-जाति इसके उपदेशोंके अनुसार आचरण करे, केवल इतनी ही देर है; फिर तो सारे मानव-समाजमें बन्धुत्व (प्रेम) की स्थापना अवश्य और अपने-आप हो जायगी। जो श्रीकृष्णके पूर्ण पुरुष होनेमें सन्देह करते हैं, वे जान-बूझकर ऐसा नहीं करते। श्रीकृष्ण अवश्य ही ईश्वरके अवतार थे और स्वयं सद्गुरु (पूर्ण पुरुष) होनेके कारण उन्होंने आध्यात्मिक भाव और उच्च आध्यात्मिक उपदेशोंकी पीयूष-वर्षासे जगत्को प्लावित कर दिया।

गीताकी महिमा अवर्णनीय है

(लेखक—श्री एस्० सत्यमूर्ति)

एक विस्तृत निबन्धमें भी गीताकी महिमाका वर्णन करना असम्भव है; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता हमारे धर्मका प्राण है। मेरा निजका मत यह है कि गीताका अध्ययन सभी हिन्दू विद्यार्थियोंके लिये अनिवार्य कर देना चाहिये। गीतामें जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, वे त्रिकालमें सत्य हैं और सभी युगोंके लिये उपयोगी हैं।

गीतासे परम कल्याण

(लेखक—श्रीबाबू सम्पूर्णानन्दजी, शिक्षा-सचिव, युक्तप्रान्त)

सचमुच दुःखकी बात है कि जिस देश और समाजमें गीताका रव पहले-पहल सुन पड़ा वहीं इसका समादर नहीं है। गीताके अध्ययन और उसकी व्याख्याके तो अनेक प्रकार हैं और सम्भवतः सबमें ही कुछ तथ्य है; पर यदि हम सचमुच निष्कामभावसे कर्म करनेके मार्गपर आरूढ़ हों और उस अद्वैतभावनासे यत्किञ्चित् भी प्रेरित हो सकें जो निष्काम कर्मके तहमें होती है, तो व्यष्टि और समष्टि—दोनों दृष्टियोंसे हमारा परम कल्याण होगा। मैं आशा करता हूँ कि यह विशेषाङ्क इस सदुद्देश्यमें सहायक होगा।

गीतासेवन साक्षात् हरिसेवन है

(लेखक—श्रीयुत बाबू रामदयालुसिंहजी, स्पीकर, बिहार एसेम्बली)

श्रीहरिके शीतल, सुखद, त्रिविध-तापनाशक श्रीचरणकमलोंसे बिछुड़ा हुआ मायामोहित जीव, विषय-बयारके झकोरोंसे इतस्ततः प्रेरित, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे आच्छन्नविवेक और चञ्चलमति होकर क्लेश-शोकसागरमें ऊबता-डूबता नितान्त दुखी रहता है। उसकी जीवन-नौका विना पतवार और विना दिग्दर्शनयन्त्रके उद्देश्य और निश्चयसे रहित यों ही बहती जाती है और वह कब किस घाटपर जा लगेगी या किस सङ्कटमें जा पड़ेगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं। ऐसा जीव एकदम गुमराह और किंकर्तव्यविमूढ होकर सदा संशय और दुविधाका शिकार बना रहता है। कुरुक्षेत्रके मैदानमें महावीर अर्जुनकी भी कुछ ऐसी ही दशा हो गयी थी। वैसे महान् पुरुषका वह हाल तो साधारण, अल्पज्ञ और दुर्बल जीवोंका क्या कहना है! अर्जुनकी वह विषादमय अवस्था मानो दुखिया सांसारिक जीवोंका नमूना या फोटो है। ऐसे शोक-सन्तप्त जीवोंके उद्धारके लिये भगवान्ने गीतोपदेश-रूपी महान् अनुग्रह किया है। भटकते हुए जीवोंके यथार्थ कल्याणके लिये गीता-तत्त्व अचूक पथप्रदर्शक है; और विवश बहती हुई जीवन-तरणीके लिये पतवार और दिग्दर्शनयन्त्र है। गीता उच्चतम दर्शनोंको मथकर निकाला हुआ माखन है, जीवन-यापनका सर्वश्रेष्ठ नियम है, अन्धोंके लिये आँख और पङ्गुओंके लिये पाँव है, असहायोंका सहाय और निर्बलोंका बल है। गीता-ज्ञान अज्ञानको ज्ञानी, कायरको शेर और क्षण-क्षणमें मरनेवालोंको अमर बनानेवाला है; परम सुख, परम प्रकाश और परम शान्ति देनेवाला है; विषयदावाग्निके लिये वर्षा है और मानव-समाजकी सर्वोत्तम सम्पत्ति है। गीता-तत्त्व भवरोगके लिये रामबाण महौषध है। साधारणतः भिन्न-भिन्न रोगियोंके भिन्न-भिन्न रोगोंमें जुदा-जुदा औषधोंका प्रयोग होता है, पर गीता-तत्त्व-रूपी महौषध सभी रोगियोंके सभी रोगोंपर अव्यर्थ-रूपसे चलता है। प्रत्येक प्राणीकी रुचि, प्रकृति, प्रवृत्ति और संस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं। भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न कालकी आवश्यकताएँ अलग-अलग होती हैं और उन्हें पूरा करनेके उपाय भी भिन्न-भिन्न होते हैं; किन्तु गीता-तत्त्वमें यह विलक्षण खूबी है कि वह हर एक समयके, हर एक देशके, हर एक जीवके उद्धार और कल्याणके लिये सीधी राह दिखलानेवाला है। कोई भी जिज्ञासु प्राणी थोड़ा-सा भी अनुशीलन और अभ्यास करने-पर गीताके अंदर अवश्य ही अपनी दशाका चित्र, अपने रोगका निदान और उसके लिये तैयार लासानी नुसखा पाता है। गीता-तत्त्व देश, काल आदिसे अबाधित नित्य सत्य है।

छोटे-बड़े, पण्डित-मूर्ख, सभीके लिये गीताका सहारा प्राप्य है। गीता सभीके लिये सरल और सुलभ है, उससे हर एक खोजी जीव हर एक दर्जे और विकासके प्रत्येक स्तरका अनमोल लाभ उठा सकता है। यों तो अति गहन-गम्भीर गीता-ज्ञान बड़े-बड़े पण्डितोंके लिये भी अथाह और दुरूह है, फिर भी अल्पज्ञ-से-अल्पज्ञ जीव भी गीताका आश्रय लेनेपर अपनी आवश्यकता, शक्ति और योग्यताके अनुसार यथार्थ सुख और शान्तिका मार्ग अवश्य पा लेता है। गीता-ज्ञानके अमृत-सागरके पास जो कोई जायगा, वह अपनी तृप्ति और

शान्तिके लायक अपने पात्रभर जल अवश्य ले आवेगा। कोई प्यासा वहाँसे निराश नहीं लौट सकता। खूबी यह है कि जो सम्पूर्ण गीताका विधिवत् अध्ययन नहीं कर सकते वा जिन्हें गीता-रहस्यका सिलसिलेवार अनुशीलन-मनन कर पानेका सुपास नहीं है, वे भी गीताके एक श्लोक वा श्लोकखण्डसे ही अपना काम पूरा कर सकते हैं। दयामयकी कैसी अलौकिक दया है! मेरे-सरीखे अजान जीवोंके हितार्थ एक-एक श्लोक वा श्लोक-खण्डमें गीतातत्त्व गागरमें सागरकी तरह भरकर रख छोड़ा है। ज़रूरत है कि हम उसे अपनावें और अमलमें लावें।

पारमार्थिक कल्याण चाहनेवाले तथा सांसारिक सुख-सफलताके इच्छुक—दोनोंहीके लिये गीता अचूक मार्गप्रदर्शक है। गीता-ज्ञानके सहारे दोनों ही अपने-अपने मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं, लोक-परलोक बना सकते हैं तथा प्रेय और श्रेय पा सकते हैं। दुनियादारीके लिये भी गीता सर्वोत्तम गुरु है। गीताके बारेमें यह बिल्कुल सही है कि 'एकै साधे सब सधै'। गीताकी शाहराह जिसने पकड़ ली, वह बेखटके सब घाटियोंको लाँघता हुआ, सब विघ्न-बाधाओंसे बचता हुआ, सर्वाङ्गीण सफलता और आनन्द पाता हुआ अपने गन्तव्य स्थान—मंज़िले मक़सूद—को जरूर पहुँचेगा।

गीता श्रीप्रभुका वचनामृत है, प्रत्यक्ष भगवत्-स्वरूप है। गीतासेवन साक्षात् हरिसेवा है। गीताके एक-एक शब्दका पाठ उनके अमियमय मधुर मङ्गलमय नामका जप है। वही अनन्त कल्याणका कारण हो सकता है। अपार दुःख और सङ्कटसे भरे संसारके प्रत्येक व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्रके लिये कल्याणका दूसरा मार्ग नहीं है। उसीके द्वारा वर्तमान शोक-सन्तापका नाश हो सकता है और व्यापक सुख, समृद्धि, शान्ति और एकताका रामराज्य आ सकता है। आवश्यकता है गीता-ज्ञानके व्यापक प्रचारकी। इस विषयमें 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'के अति प्रशंसनीय उद्योग यथार्थतः कल्याणकर हैं। हर आदमीको उसमें यथाशक्ति हाथ बँटाना चाहिये। गीतागायक दयामय दीनानाथसे प्रार्थना है कि वह ऐसी अनुकम्पा करें कि संसारमें घर-घरमें गीताका प्रचार हो, हर मनुष्यकी जिह्वापर गीताका वास हो और हर दिलमें मनमोहनकी गीता-वंशी अनवरत बजा करे!

भगवद्गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता।
सकृदपि येन मुरारिसमर्चा क्रियते तस्य यमेन न चर्चा॥
गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्॥

—भगवान् शङ्कराचार्य

गीताका सिद्धान्त संसारके लिये महान् आदर्श है

(लेखक—श्री बी० पट्टाभि सीतारामय्या)

गीतातत्त्वाङ्कके लिये कोई सन्देश भेजना मेरे लिये बहुत कठिन है ।······क्योंकि गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञका आदर्श सुगम नहीं है । अनासक्ति कदाचित् उसका सबसे दुर्गम पहलू है तथा अपरिग्रह तो उससे भी कठिन है । हाँ, गीताका यह सरल सिद्धान्त कि यदि हम जय-पराजय, लाभ-हानि तथा सुख-दुःखका विचार छोड़कर केवल अपना कर्तव्य पालन करते रहें तो पापके भागी नहीं होंगे, अलबत्ता उतना कठिन नहीं है और इसका पालन करनेसे हमारे आदर्शके ऊपर कहे हुए दोनों पहलू सुगम हो जायँगे । भगवान् करें आपका उद्योग भारतके इस महान् आदर्शका प्रचार करनेमें सहायक हो ।

गीता—ईश्वरोंके ईश्वरका गीत

(लेखक—श्रीयुत जॉर्ज सिडनी अरंडेल, प्रधान, थियासॉफिकल सोसाइटी)

जो संसारकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है, उसके सम्बन्धमें भला, मैं क्या लिखूँ ! यों तो गीताके अतिरिक्त और भी कई महान् धर्म-ग्रन्थ हैं, परन्तु भगवद्गीताकी तो बात ही निराली है । वह तो ईश्वरोंके भी ईश्वर—परम महेश्वरका दिव्य सङ्गीत है ।

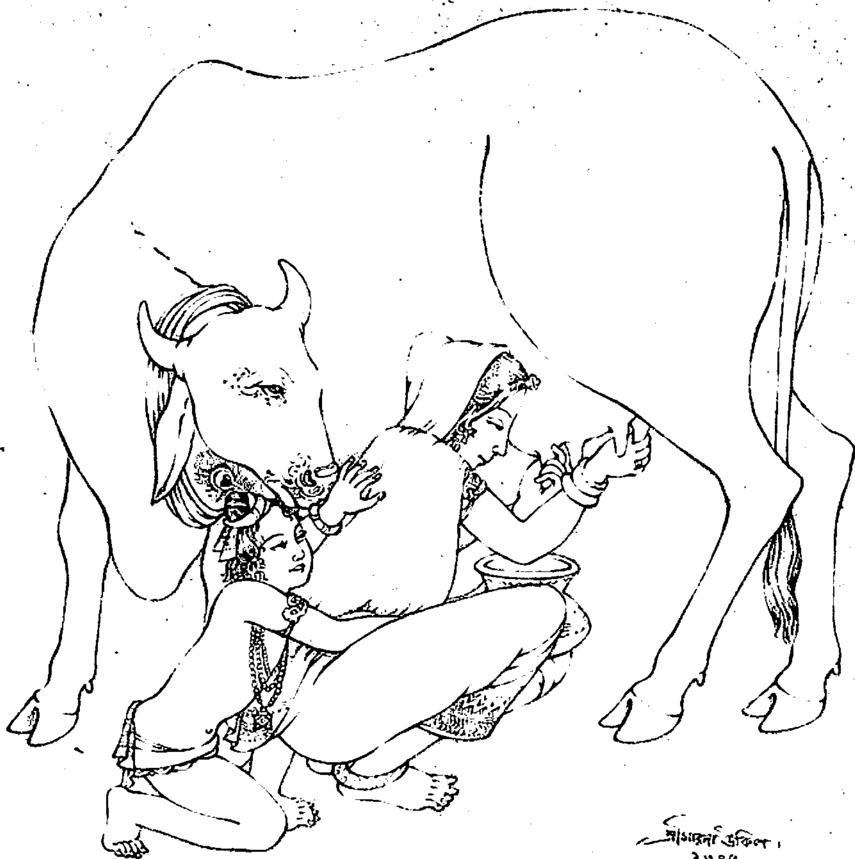
कोई मनुष्य किसी भी धर्मको माननेवाला हो, उसे इस ग्रन्थसे प्रगाढ़ ईश्वरीय भाव मिले विना नहीं रह सकते । यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे कुछ लोग हिन्दुओंकी सम्पत्ति कह सकते हैं, परन्तु उदार मनोवृत्तिके लोग निश्चय ही इसे समस्त धर्मोंके बाह्य स्वरूपसे परे समझते हैं ।

भगवद्गीता परमेश्वरकी वाणी है । वे इसमें जीवात्मा एवं परमात्माकी पूर्ण एकताकी बात कहते हैं और उस सनातन कर्ममार्गका उपदेश देते हैं जो मोह-निशामें सोनेवाले अज्ञानी जीव और पूर्णताको प्राप्त हुए ज्ञानी महात्माओंके बीचमें होकर जानेवाला दिव्य मार्ग है ।

देववाणी संस्कृतमें लिखे जानेसे ग्रन्थका मूल्य और भी बढ़ गया है । क्योंकि उसका उपदेश तो सर्वाङ्गसुन्दर है ही, साथ ही वह सर्वाङ्गसुन्दर भाषामें भी ग्रथित हुआ है । गीताका एक अक्षर, एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा नहीं है जिसमें सङ्गीत न हो । भगवद्गीताका पाठ अथवा उसे ऊँचे स्वरसे गाना भी एक योग ही है—खासकर जब उसे ऐसे लोग पढ़ते हैं जो पाठ करनेकी शैलीसे परिचित हैं ।

इस प्रकार गीताको चाहे हम बहिरङ्ग दृष्टिसे देखें या अन्तरङ्ग दृष्टिसे, वह ईश्वरीय प्रकाशको साक्षात्‌रूपसे हमारे सामने प्रतिविम्बित करती है । उस वाणीके प्रति, जो थोड़े-से शब्दोंमें हमारे ईश्वरत्वकी अपरिमेय विभूतिको प्रकट करती है, अपना श्रद्धायुक्त सम्मानका भाव व्यक्त करनेके लिये इससे अधिक हम क्या कह सकते हैं ?

दूधकी माँग



गैया दुहति महतारी ।
ललन कहैं मोहि नेक दूध दै भूख लगी भारी ॥

गीताके उपदेशका सार—ईश्वरभक्त सभी भाई हैं

(लेखक—श्रीविनायक नन्दशङ्कर मेहता, आई० सी० एस्०)

जो देश आपसके सत्यानाशी कलहोंसे छिन्न-भिन्न हो रहा है, उसके लिये गीताके उपदेशका सार यही सन्देश है—ईश्वरभक्त सभी आपसमें भाई हैं। आपके अंदर जितना ही अधिक सच्चा धार्मिक भाव होगा, आपके और आपके पड़ोसीके बीचमें कृत्रिम भेदभाव उतना ही कम होगा। हम जगत्में चारों ओर झूठे धर्मका झंडा फहराता हुआ देखते हैं, यह झूठा धर्म भाई-भाईमें अन्तर डालकर जो स्थान मनुष्य-जातिको उदात्त बनानेवाले और उसमें एकताका भाव उत्पन्न करनेवाले सच्चे धार्मिक भावके लिये सुरक्षित हैं, वहाँ धर्मके बाह्यरूपको प्रतिष्ठित करता है। गीताका प्रत्येक भारतवासीके लिये एक सन्देश है, चाहे वह किसी सम्प्रदाय या वर्गका हो। वह सन्देश यह है कि 'यदि आपने परमात्माके साथ अपने यथार्थ सम्बन्धको समझ लिया है, तो आप अपने पड़ोसीके साथ भी अपना यथार्थ सम्बन्ध समझ सकेंगे।' संक्षेपमें गीता हमें सामाजिक सङ्गठनकी शिक्षा देती है और केन्द्रसे दूर हटानेवाली उन सभी बातोंका खुल्लमखुल्ला विरोध करती है, जो सर्वत्र विरोध एवं कलहके बीज बो रही हैं। मैं चाहता हूँ—इस पवित्र धर्मग्रन्थकी शिक्षा हमें सच्चे गुरुओंसे प्राप्त हो और लोग इसके वास्तविक अभिप्रायको हृदयङ्गम करके उसे अपने दैनिक व्यवहारमें उतारनेकी चेष्टा करें।

गीता वेदमाता

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

गीता वेदोंकी माता है। ऐसा तुकारामजी महाराज कहते हैं। वेदोंने केवल तीन ही वर्णोंको अपने घरमें आश्रय दिया है, परन्तु गीतामाताकी उदारता वेदोंसे कहीं बढ़ी हुई है। वह स्त्री, शूद्र और पतित चाण्डाल—सभीको समानभावसे अपने अंदर स्थान देती है। सब प्रकारके मनुष्योंको, भिन्न-भिन्न प्रकारके अधिकारी जीवोंको गीताने भगवत्प्राप्तिका सुन्दर, सुगम, प्रशस्त पथ दिखला दिया है और वह है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—यही गीताकी शक्ति है। इसी शक्तिका आश्रय करनेसे समस्त पापोंसे (स्वर्ग-नरक-प्रद पुण्य-पापरूप कर्मोंसे) छूटनेकी चाभी मिल जाती है।

गीता गीता गाय, जन्मसो बीता जाय है।
रीता मत रह जाय, दुख पावेगा 'राजिया'॥

—राजिया

गीता-गौरव

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

गीता समस्त शास्त्रोंका सार है, इससे यह श्रद्धालु और आस्तिकबुद्धिसम्पन्न पुरुषोंके लिये सर्वथा आदरणीय और ग्रहणीय है। इसमें विषयोंकी अवतारणा अत्यन्त गम्भीर और बड़े ही ऊँचे ढंगकी है। शास्त्रके गम्भीरतम मर्मस्थलको स्पर्शकर उसके अन्तरतम लक्ष्यको सुस्पष्ट भाषामें प्रकट किया गया है; इसीसे इसने साधक और प्रवीण ज्ञानियोंकी उच्चतम श्रद्धाको अपनी ओर खींच लिया है। यदि इसमें सुन्दर-से-सुन्दर तीक्ष्ण युक्तियोंद्वारा शास्त्रका यथार्थ रहस्य खोलनेकी शक्ति न दीखती, तो केवल भगवत्-वाक्यके नामपर सम्भवतः अधिकांश लोगोंका इतना आकर्षण नहीं किया जा सकता। इसके दार्शनिक विश्लेषण ऐसे युक्तियुक्त हैं कि जिससे आस्तिक-नास्तिक दोनों प्रकारके मनीषियोंकी श्रद्धा इसकी ओर खिंच गयी है। इसमें आलोच्य विषय हैं—योग, ज्ञान, कर्म और भक्ति। सभी वेद-विज्ञानसम्मत और अखण्डनीय युक्तियोंके आधारपर सुप्रतिष्ठित हैं। गीतामें साम्प्रदायिकता-को स्थान नहीं है, साथ ही इसमें एकदेशदर्शिताका भी पूर्णरूपसे अभाव ही दिखायी देता है। जिस समय देशाचार, धर्मानुष्ठान और उनके अनुकूल-प्रतिकूल मत क्रमशः विद्रोही होने लगे थे, ठीक उसी समय गीताने प्रकट होकर जगत्की बहुत-सी जटिल समस्याओंकी मीमांसा कर दी। प्राचीन और नवीन तन्त्रोंके मतोंकी भलीभाँति आलोचना कर गीताने यह निर्भ्रान्तरूपसे बतला दिया कि उनमें कौन-सा कहाँतक ग्राह्य और त्याज्य है। सनातन वेद-शास्त्रोंके प्रति अनास्था न हो और उनके अन्तरतम भावोंके प्रति लोगोंका लक्ष्य च्युत न हो, उनके प्रति लोगोंकी अटूट श्रद्धा बनी रहे, इसके लिये भगवान्ने अपने वक्तव्यका वेद-वाणीसे समर्थन किया। जिन साधन-तत्त्वोंकी इससे पहले, उन्हें कठोर श्रमसाध्य समझकर उपेक्षा की जाती थी और 'वह सबको मिलनेकी वस्तु नहीं है' ऐसा समझकर प्रवीण साधकमण्डलीने एक प्रकारसे हताशाके कठोर तप्त श्वाससे मनुष्यके चित्त-क्षेत्रको उत्तप्त और विषादयुक्त बना दिया था, गीताने प्राचीन तन्त्रकी उस अन्ध और विषादमयी चिन्ताको चूर्णकर साधनाकी निर्जन अरण्यस्थलीको पारिजात-गन्ध-मोदित नन्दनकाननकी अपूर्व सुरभिसे पूर्ण कर उत्सुक जनसमुदायको अध्यात्मचिन्तनका एक नवीन मार्ग दिखला दिया तथा भीत, विषादग्रस्त और हताश जीवनको आशाका आलोक दिखलाकर उसके प्राणोंमें पुनः नवीन बल और उत्साहका सञ्चार कर दिया। हम उस सर्वजनवन्दित गीताको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं और प्राचीन कवियोंके सुरमें सुर मिलाकर फिरसे कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

—यही गीताका विशेषत्व है।

वृन्दावनके कोकिल-काकलि-मुखरित, घनवृक्ष-छायामण्डित, मधुर-निकर-गुञ्जित निकुञ्ज-काननमें एक दिन जिस मुरलीकी ध्वनिने बजकर गृह-कर्म-संलग्न गोप-ललनाओंका मन हरणकर उन्हें सदाके लिये श्रीकृष्णाभिसारिणी बना दिया था, वही सुमधुर वंशी बजानेवाला ही पार्थ-सारथिके वेशमें इस गीतार्थसंगीत-तत्त्वका गायक और उपदेष्टा है। कुरुक्षेत्रके भीषण समराङ्गणमें अर्जुन और श्रीकृष्णका अत्यद्भुत कथोपकथन ही गीताके नामसे प्रसिद्ध है।

गीताका सन्देश

(लेखक—त्या० गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी)

गीताका सन्देश सारे विश्वके लिये है। किसी भी देश, जाति या समाजमें कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके लिये गीतामें कोई लाभप्रद सन्देश न हो। सकल वेद-शास्त्र-पारङ्गत पण्डितसे लेकर निपट निरक्षर मूर्खतक; चक्रवर्ती सम्राट्से लेकर घास-फूँसकी झोंपड़ीमें रहकर दिन काटनेवाले अकिञ्चन-तक; तथा इस मायामय संसारसे पूर्णतः विरक्त रहनेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे लेकर इसीमें आमूल-चूल अनुरक्त कामुकों-तक—बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष—सभीके लिये गीतामें अमूल्य सन्देश भरे पड़े हैं।

चाहे कोई वैदिक धर्मावलम्बी हो या पौराणिक, न्याय-का प्रतिपादक हो या सांख्यका, योगका अभ्यासी हो या वेदान्तवादी, दक्षिणमार्गी हो या वामाचारी—वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर—सभी श्रद्धालु हिन्दुओंके लिये गीताजीमें उन्हींके सम्प्रदायानुकूल अमूल्य सन्देश भरे पड़े हैं।

केवल श्रद्धालु हिन्दुओंके लिये ही नहीं—विश्वके समस्त धर्म और मत-मतान्तरानुयायियोंके लिये गीताकी अमृतमयी वाणी दिव्य सन्देशसे भरी पड़ी है।

श्रद्धालु भक्त ही क्यों, मानवमात्रके लिये—चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक—गीता अनुपम लाभपूर्ण सन्देशसे भरी है।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—भगवान् श्रीकृष्णका यह महावाक्य भगवान्की ओर जितना चरितार्थ होता है, उतना ही गीताजीकी ओर भी। नन्द और यशोदा-ने भगवान्की पुत्ररूपमें भावना की तो भगवान्ने लौकिक पुत्ररूपमें उनकी गोदमें क्रीडा की और अपने मनोहर बाल-चरित्रोंसे उन्हें रिझाया। प्रेमावताररूपमें भजनेवाली गोपियोंको वे प्रेमाम्बुधिके रूपमें दिखलायी दिये। द्रौपदीने उन्हें दीनार्तिहर और परित्राणपरायणके रूपमें देखना चाहा और भगवान् उसके सम्मुख उसी रूपमें प्रकट हुए। अर्जुनने भगवान्की सच्चे सुहृद्के रूपमें भावना की और भगवान्ने उसके अड़े समयमें सारथि बनकर सुहृदताका परिचय दिया। कंस और शिशुपालादिकी भावना भगवान्को शत्रुरूपमें देखती थी, अतएव भगवान् उनके लिये सर्वसंहारक महाकालके रूपमें प्रकट हुए। यही बात गीताजीके सम्बन्धमें भी है।

गीताजीको जो जिस रूपमें देखता है, उसे गीता उसी रूपमें दिखायी देती है। और यह एक ऐसा तथ्य है जिसे देखकर नास्तिकोंको भी आश्चर्यपूर्वक गीताका दैवी उद्गम (Divine Source) मानना पड़ता है।

माया-मोहके पाशसे मुक्त योगीके लिये गीताजीमें जीव-न्मुक्तिका सन्देश है। उसे पढ़कर वेदान्तीकी धारणा विरक्तिकी ओर और भी अधिक दृढ़ होती है। पर कर्मयोगी उसीके महावाक्योंको कर्मक्षेत्रमें उतरनेके लिये आह्वान करते हुए पाता है। गीताका उपदेश मोहग्रस्त अर्जुनको वीरत्वका सन्देश सुनाकर उन्हें युद्धके लिये प्रेरित करता हुआ भगवान्को द्रोण, भीष्म, दुर्योधनादि आततायी और आसुरीसम्पदाओं-के संहारकके रूपमें देखनेका मार्ग बतलाता है; वही सम्राट् गोपीचन्दको पूर्ण विरक्तिका सन्देश सुनाकर, क्षणभङ्गुर राज्यलिप्साको त्यागकर हिमालयकी शान्त कन्दराओंमें भगवान्को ढूँढ़नेकी युक्ति बतलाता है।

भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग—कौन-सा ऐसा मार्ग है जिसका पथिक गीताको अपने सिद्धान्तोंकी पुष्टि करते नहीं देखता ? गीताके सन्देशको सुनकर दुर्बल आत्मा अज्ञानके पाशको तोड़कर प्रकाशमें आ खड़ा होता है; उसकी भीति, भ्रम और संशय नष्ट होकर उसमें अभयता, स्पष्टता और अमरत्वका प्रादुर्भाव होता है और उस समय यदि त्रिपुण्ड्र और तुलसीकंठी धारण करनेवाला भक्त खड्ग लेकर आततायीका संहार करनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है, तो यह न तो आश्चर्यमय है और न अनुचित; कर्मक्षेत्रमें कमर कसकर कार्यमें संलग्न पुरुष भी भगवद्भक्तिमें ही लीन है। उसकी तन्मयता और कर्मद्वारा पूजाका महत्त्व कीर्तन या आरतीमें मस्त भक्तकी तन्मयता और पूजासे कम नहीं। यह तथ्य गीताजीसे प्राप्त होता है, जिसका पालन करते हुए पूज्य मालवीयजी-जैसे भक्त संगठनका बिगुल बजाते दिखायी देते हैं।

गीताका सन्देश दक्षिणके एक भक्त ज्ञानेश्वरको करताल लेकर 'हरे कृष्ण', 'हरे कृष्ण' पुकारनेकी सुझाता है तो उसीके पड़ोसी प्रान्तके दूसरे भक्त गांधीजीको गीता पढ़कर चरखेकी घर्र-घर्रमें देश-जाति और मानव-समाजके कल्याणके रागकी झनकार सुनायी देती है।

आत्माकी उन्नति और परमात्माकी प्राप्तिके अर्थ उत्सुक ज्ञानी हृदयके लिये, देशकी स्वतन्त्रता और जातिके उत्थानके अर्थ व्यग्र कर्मयोगीके लिये, मानवमात्रके हित और प्राणिमात्रके अधिकारोंकी रक्षाके अर्थ छटपटानेवाले साम्यवादीके लिये गीता अमृतमय सन्देशसे पूर्ण है।

इस विकट परिस्थितिमें, जब कि मानव-समाज अत्यन्त सङ्कटमय अवस्थामें पड़ा है, गीताके वास्तविक तत्त्वको समाजके सम्मुख रखनेकी अत्यधिक आवश्यकता है। 'गीताप्रेस' ने 'कल्याण' का 'गीतातत्त्वाङ्क' प्रकाशित करनेका आयोजन करके इस आवश्यकताकी पूर्ति करनेका प्रयत्न किया है। हमें आशा है कि 'कल्याण' के अन्य विशेषाङ्कोंकी भाँति यह विशेषाङ्क भी अनुपम एवं संग्रहणीय ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित होगा, मैं इसके लिये पूर्ण सफलताकी तथा 'कल्याण'के उत्तरोत्तर प्रचारकी कामना करता हूँ।

गीताका सर्वगुह्यतम चरम मन्त्र

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६४-६६)

श्रीभगवान्‌के सार-तत्त्वपूर्ण अन्तिम वचन गीताके इन्हीं उपर्युक्त ६५ और ६६वें श्लोकोंमें हैं, इनके पश्चात् और कोई उपदेश नहीं है। इन श्लोकोंके वाक्य वैसे ही हैं, जैसे कोई प्रवक्ता अपना मुख्य एवं अन्तिम सिद्धान्त संक्षेपमें कहकर चुप हो जाता है कि बस, यही मेरा अटल, अपेल और अकाट्य निश्चय है। भगवान्‌ने ऊपरके ६४वें श्लोकमें इन वचनोंको परम गोपनीय (सर्वगुह्यतम) और सब वचनोंसे परे (परमं वचः) बतलाया है तथा अर्जुनजीको परम अधिकारी और प्रियतम (इष्टोऽसि मे दृढमिति) बतलाकर यह कहा है कि मैं इन वचनोंको तुम्हारे हितके लिये ही कथन करता हूँ (वक्ष्यामि ते हितम्)। अस्तु,

जब इन दो ही श्लोकोंमें गीताभरका समस्त सार-तत्त्व दे दिया गया है और जब देखता हूँ कि न जाने कितने ही मीमांसकों, विद्वानों, श्रोत्रियों, ब्रह्मनिष्ठों एवं आचार्योंद्वारा साधारण सरल टीकाग्रन्थोंसे लेकर शाङ्करभाष्य और श्रीभाष्य-तकमें इन श्लोकोंके शब्दार्थ, भावार्थ, गूढार्थ, रहस्यार्थ आदि लिखे गये हैं; तब मुझ बुद्धिहीन 'दीन' की सामर्थ्य ही क्या है कि मैं इनके सम्बन्धमें कुछ लिखनेका साहस करूँ? रही पाठकोंके समझनेकी बात, सो उनके लिये तो 'गीतातत्त्वाङ्क' में सम्पूर्ण मूलका अनुवाद और उसकी विस्तृत टीका छप ही रही है। यहाँ श्रीभगवान्‌की निर्हैतुकी कृपा-प्रेरणासे मनमें अपनी वाणीको पावन करनेकी जो लालसा उत्पन्न हो रही है, उसकी पूर्तिके लिये समस्त गीताप्रेमी पाठकोंकी सन्निधिमें बालवचनवत् केवल कुछ शब्द समर्पित किये जा रहे हैं।

श्रीभगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे गीताके अन्तमें अपना परम गोपनीय मत 'भक्ति' और 'शरणागति' के ही पक्षमें देते हैं और अर्जुनजीके मनमें उन्हींका निश्चय कराते हुए जो अपर समस्त लौकिक-वैदिक धर्मोंका परित्याग करनेकी आज्ञा देते हैं, इस प्रकारकी बात केवल यहाँ ही पायी जाती है। यहाँ सर्वधर्मोंके परित्यागके साथ-साथ निर्विवादरूपसे यह भी स्पष्ट किया जा रहा है कि उन सर्वधर्मोंका परित्याग करनेके कारण पापभागी भी अवश्य होना पड़ेगा। यदि ऐसा न होता तो यहाँ 'सर्वपापेभ्यः' पद ही न दिया जाता, अर्थात् यह नहीं कहा जाता कि 'उन धर्मोंका परित्याग करनेसे जो पाप लगेंगे, उन सम्पूर्ण पापोंसे

मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा, तुम उनका सोच मत करो।' अतएव यहाँ विचार करनेसे यह एक बड़े मर्मकी बात समझमें आती है कि कृपानिधान श्रीभगवान्ने अपने इस परम वचनद्वारा बड़े भारी धर्म-संकटका निर्णय करके धार्मिक जगत्को अपूर्व एवं अनुपम अवलम्बन दे दिया है--अर्थात् यह स्पष्टरूपेण बतला दिया है कि यदि किसी समय ऐसी परिस्थिति सामने आ जाय, जब हम अपना वैदिक धर्म पालन करना चाहें तो श्रीभगवान्की शरणागतिसे विमुख होना पड़ता हो और जब हम भगवान्की शरण लेना चाहें तो वैदिक धर्मोंसे च्युत होनेकी सम्भावना हो, तब ऐसी दुतरफी हानिकी दशामें हमें क्या करना चाहिये। श्रीप्रह्लादजीके सामने ऐसी ही परिस्थिति तो आयी थी! उनके लिये पिताका वचन मानना धर्म था, परन्तु पिता आज्ञा करता था कि 'भगवद्भजन मत करो—उनका नामतक मत लो!' ऐसे अवसरके लिये यदि श्रीभगवान्का यह स्पष्ट निर्णयपूर्ण वचन न होता कि 'मेरी शरणागतिके लिये सभी धर्मोंका परित्याग कर दो; उनके त्यागनेमें जो पाप लगेगा, उससे मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा' तो भक्तराज श्रीप्रह्लाद किस आधारपर पिताकी आज्ञा न मानकर श्रीभगवान्की शरणागति प्राप्त करनेका सुयोग पाते? केवल इसी परम वाक्यने तो विभीषण, भरत, बलि तथा व्रजगोपिकाओंको महान् वैदिक धर्मोंका परित्याग कर देनेपर भी कल्याणका मूल बना दिया! यथा—

> 'पिता तज्यो प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
> बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितन भये जगमंगलकारी॥'
>
> —बिनयपत्रिका

केवल ऐसे ही अवसरपर भगवान्की ओरसे धर्मके त्यागकी विधि कही गयी है। जब धर्म भगवत्-शरणागतिमें बाधक हो जायँ और उनके त्यागका प्रयोजन आ पड़े, तब उन्हें निर्भयतापूर्वक छोड़कर श्रीहरिकी शरण ले लेनी चाहिये। परन्तु जहाँ धर्म बाधक न हों; बल्कि भगवद्भजनके ही साधक हों, तब उन्हें कभी भी त्यागनेकी आज्ञा नहीं है। श्रीलक्ष्मणजीकी माता सुमित्राजीका उदाहरण लीजिये। वे स्वयं आज्ञा दे रही थीं कि—

> भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
> जौं तुम्हरें मन छाँड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ॥

ऐसी दशामें श्रीलक्ष्मणजीके लिये श्रीभरतजीकी भाँति मातृधर्मके परित्यागका प्रयोजन क्यों उपस्थित होता? अतः 'पापेभ्यः' पर ध्यान देकर यह निश्चय करना चाहिये कि शरणागतिके प्रयोजनके अतिरिक्त किसी भी अवस्थामें धर्मका त्याग करना अवश्य ही पापका भागी बना देगा; उस पापसे कोई छुड़ा नहीं सकेगा, उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। उपर्युक्त ६६वें श्लोकका 'मा शुचः' पद केवल भगवच्छरणापन्न जीवोंके निमित्त ही है, जो गीताके अध्याय २ श्लोक ११के श्रीमुखवाक्यारम्भ-पदका ठीक सम्पुट (उपक्रम) है।



गीतावक्ता साक्षात् भगवान्

> गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
> या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

भगवद्भक्त हिन्दूकी दृष्टिमें इस पद्यका उत्तरार्द्ध बहुत महत्त्वपूर्ण है। गीताकी उपादेयतामें यह एक मुख्य हेतु है कि वह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे निकली है। 'महाभारत', जिसका कि गीता एक अंश है, 'पञ्चम वेद' माना गया है। महाभारतका युद्ध एक ऐतिहासिक घटना है, हिन्दुओंका सदासे यही विश्वास है।

आस्तिक हिन्दूकी दृष्टिमें गीताका महत्त्व इसीलिये सर्वाधिक है कि उसकी अवतारणा महाभारतके ऐतिहासिक युद्धके अवसरपर कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें षोडशकला-सम्पूर्ण अवतार साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हुई है। इतिहासमूलक इसी धार्मिक धारणाने गीताको उस उच्च पदपर पहुँचाया है, जो उसे प्राप्त है। किसी काल्पनिक उपन्यासको यह पद कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

—साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा

गीता-दर्शन और शाक्तवाद

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीपञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य)

श्रीमद्भगवद्गीता कैसा अपूर्व ग्रन्थ है, यह वाणीके द्वारा नहीं बतलाया जा सकता। साक्षात् श्रीभगवान्‌के मुखकमलसे निकला हुआ होनेके कारण यह महाग्रन्थ भी श्रीभगवान्‌के ही समान है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन! जो जिस भावसे मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, उन्हें उसी भावसे मैं भी भजता हूँ; इसलिये विज्ञ मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं।'

ठीक यही युक्ति श्रीमद्भगवद्गीताके लिये भी प्रयुक्त होती है। भगवान्‌की भाँति श्रीगीताजीके भी जो पुरुष जिस भावसे शरण होता है, गीता उसके सामने उसी भावसे अपनेको प्रकट करती है।

इसीलिये सभी सम्प्रदायोंके पूर्वतन आचार्योंने गीताकी व्याख्या करके उसमें अपने-अपने सिद्धान्तका ही उज्ज्वल प्रकाश प्राप्त किया है।

गीताकी ऐसी असाधारण महिमा होनेपर भी उसका एक अपना रूप है, उसी रूपको मैंने 'गीतादर्शन' कहा है। शाक्तवाद उसीपर प्रतिष्ठित है।

विपरीत शिक्षाके कारण शाक्तवादका नाम सुनते ही लोगोंके मानस चक्षुओंके सामने शराबका प्याला, कामिनी और मांसादि खाद्य वस्तुओंसे युक्त रात्रि-विहारका स्थल आ जाता है; मैं ऐसे शाक्तवादकी बात नहीं कहता। जिस शाक्तवादमें ज्ञान और कर्मका समन्वय हुआ है—सप्तशतीने जिस शाक्तवादको दृष्टान्तोंके द्वारा समझाया है, मैं उसी शाक्तवादकी बात कह रहा हूँ।

गीताका रूप क्या है?

प्रचलित षड्दर्शनसे गीताका रूप पृथक् है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसाके साथ तो कोई मेल ही नहीं है; कारण इन तीनों दर्शनोंमें अव्यक्त, बुद्धि, अहङ्कार और एकात्मवाद नहीं हैं। ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यके पदार्थोंमें पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत भूत हैं, वे गीतामें नहीं हैं; शाङ्करभाष्यमें अविद्याका नाम है, गीतामें कहीं अविद्याका नामतक नहीं है; पञ्चकोषका विचार भी नहीं है; अधिक क्या, असलमें जो विवर्तवाद है वही नहीं है। ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यमें मोक्षके विषयमें 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' जिस अर्थमें आया है, वह गीतामें नहीं है। गीतामें स्पष्ट ही कहा गया है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(३। ३)

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
(५। ४)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
(५। ५)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मैंने पहले कही है—ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।' 'सांख्य और कर्मयोगको मूर्ख लोग ही भिन्न-भिन्न फलवाले बतलाते हैं, पण्डित नहीं; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनोंके ही प्राप्तव्य फल (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है।' 'सांख्ययोगी जिस स्थानको प्राप्त करते हैं, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है।'

केवल ज्ञानमार्ग ही नहीं, कर्ममार्ग भी है अतएव 'अन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' दूसरा पथ भी है।

तो क्या गीता उपनिषद्-सिद्धान्तके विरुद्ध है? नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता। तो फिर दो मार्ग किस तरह बतलाये गये? हाँ, यह समस्या अवश्य है किन्तु निरुत्तर समस्या नहीं है। अद्वैतमतसे 'तं विदित्वैव मृत्युम् अत्येति' इस तरहका अर्थ किये जानेसे ही उसका गीताके साथ मेल नहीं खाता; उपनिषद्में जो पाठ है, अन्वयमें उसके विपरीत न करनेपर गीता और उपनिषद्का सिद्धान्त एक ही ठहरता है। उपनिषद्में स्पष्ट कहा गया है—उनको ही, परमेश्वरको

ही जाननेपर मृत्युको अतिक्रमण किया जा सकता है, दूसरा मार्ग नहीं है—अर्थात् परमेश्वरके अतिरिक्त और कुछ जाननेसे मृत्युको अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गोंसे ही उनको जाना जा सकता है, उनका साक्षात्कार किया जा सकता है—इस अर्थमें 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' कहनेपर उसके विरुद्ध गीता कुछ नहीं कहती; परन्तु यदि कहा जाय कि जाननेसे ही मुक्ति है अर्थात् एकमात्र ज्ञानयोग ही मुक्तिका कारण है, तो यह अद्वैतवादीका सिद्धान्त है—गीताका नहीं। इसीलिये गीताने साफ कहा है—

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा·········इत्यादि'

शाङ्करभाष्य और श्रीभाष्यके मतसे 'प्राण' जीवका एक पृथक् उपकरण है। ब्रह्मसूत्रके सिद्धान्तसे भी यही बात है। परन्तु गीतामें प्राणके पृथक् रूपका निर्देश नहीं है। ब्रह्मसूत्रमें 'न वायुक्रिये' [२।४]* से जो प्राणका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है, वह गीतासम्मत नहीं है। क्योंकि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तम यही—त्रितत्त्व गीतोक्त हैं; इन तीन तत्त्वोंमें प्राणके नामसे किसीका परिचय नहीं है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्राणको तो उपनिषद्‌में भी पृथक् रूपसे माना गया है। जैसे—

'स[1] प्राणमसृजत।'

'एतस्माज्जायते[2] प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि।'

'खं[3] वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्।'

गीतामें यदि यह बात नहीं है तो फिर उपनिषद्‌के साथ उसकी एकता कैसे रह सकती है? इसका उत्तर 'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' में है।

'इस वाक्यद्वारा अवस्थाविशेषको प्राप्त प्रज्ञाको (बुद्धिको) प्राण कहा गया है। बुद्धि गीताका स्वीकृत तत्त्व होनेके कारण प्राणका अलग उल्लेख न होनेपर भी उपनिषद्‌के साथ कोई मतभेद नहीं रह जाता।

* शाङ्करभाष्यके मतानुसार नवम और श्रीभाष्यके मतानुसार अष्टम सूत्र।

१. उसने प्राणकी सृष्टि की। २. इससे प्राण, मन और समस्त इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। ३. आकाश, वायु (प्राण), तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय।

गीतामें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तम—ये तीन तत्त्व स्वीकृत हैं; इसका प्रमाण—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (१३।५,६)
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। (१३।२)

'पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त (मूलप्रकृति), दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (स्थूलशरीर), चेतना और धृति—यह विकारोंसहित क्षेत्र संक्षेपसे बताया गया है।' 'हे अर्जुन सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझे ही जान।'

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

'हे गुडाकेश (अर्जुन)! मैं सम्पूर्ण भूतोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित आत्मा हूँ।'

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ (१५।१६)
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। (१५।१७)

'इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके पुरुष हैं, उनमें सम्पूर्ण भूत-समुदाय [के शरीर] क्षर हैं और कूटस्थ—जीवात्मा अक्षर कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो इन दोनोंसे भिन्न ही है, जो 'परमात्मा' कहा गया है।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (१५।१८)

'चूँकि मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

क्षेत्रमें भी प्राणका समावेश नहीं है। यदि कहा जाय कि संघातमें प्राण भी हैं, तो उसका उत्तर यह है कि—ऐसा होता तो 'चेतना', 'धृति' आदिका भी पृथक् उल्लेख न होता; क्योंकि संघातमें तो ये सभी हैं।

सांख्य और योगदर्शनके जो सब पदार्थ और सिद्धान्त हैं, गीताके वैसे नहीं हैं। सांख्य और योगमें नानात्मवाद है, गीतामें एकात्मवाद है। प्रश्न हो सकता है कि जब तीन तत्त्व

हैं, तब एकात्मवाद कहाँ रहा। इसका उत्तर है—अंश और अंशीके अथवा प्रतिविम्ब और विम्बके लोकव्यवहारमें गृहीत भेदको लेकर ही क्षेत्रज्ञ और परमात्मामें भेदकी कल्पना की गयी है; इसीलिये तीन तत्त्व हैं, नहीं तो दो ही तत्त्व रह जाते हैं। इस पुरुषोत्तम या परमात्माके लिये गीता कहती है—**अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥** (१३। १२) वह अनादिमत् है—दो अनादिका अविच्छेद्य सम्बन्ध जिसमें वर्तमान है, वह परब्रह्म है। दो अनादि हैं—प्रकृति और पुरुष।

'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (१३। १९)

'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको अनादि जान।'

इन दोके सम्मेलनके कारण उसको केवल सत् नहीं कह सकते; इसी प्रकार केवल असत् भी नहीं कह सकते। प्रकृति परिणामिनी है, इसलिये उसका नाम 'असत्' होनेपर भी पुरुष अपरिणामी होनेसे 'सत्' है। यह सम्मिलित तत्त्व है, इसीलिये 'न सत्तन्नासदुच्यते'—उसे सत् भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कह सकते। यही गीतादर्शन सप्तशती-में अभिव्यक्त है—

अव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या। (मा०पु०८४।६)

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।

(मा० पु० ८५।३४)

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।

(मा० पु० ८१। ६३)

'क्योंकि तुम आदिभूत अव्यक्त परा प्रकृति हो।' 'जो भगवती चेतनारूपसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित है।' 'हे सर्वस्वरूपे! जो कोई भी कहीं 'सत्' या 'असत्' वस्तु है (उस सबकी शक्ति तुम्हीं हो)।'

इस सिद्धान्तको सप्तशतीमें भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने गीतासे ही ग्रहण किया है।

ज्ञानयोग और कर्मयोगके उदाहरण हैं—समाधि और सुरथ। ज्ञानयोगी समाधिकी साधनाका प्रथमारम्भ कर्मयोगसे होता है, सुरथकी तो कर्मयोग ही निष्ठा है। पहले सकामभाव होनेपर भी वह सकाम कर्म महामाया-की कृपासे निष्काम हो जायगा और कर्मयोगी सुरथ दूसरे मन्वन्तरमें मनु होकर मुक्ति प्राप्त करेंगे।

यह उपाख्यान ज्ञानयोगनिष्ठा और कर्मयोगनिष्ठाके उदाहरणरूपमें ही दिया गया है।

गीतादर्शनमें यही शाक्तवाद दर्शनके रूपमें उपदिष्ट है।

भगवान्‌का हृदय

अहा! गीता भगवान्‌का हृदय है! उसी भगवत्-हृदयको स्पर्श करना चाहते हो? जैसे-तैसे ही उसका स्पर्श न करना, भीतर-बाहरसे कुछ पवित्र होकर उसे स्पर्श करनेकी चेष्टा करो। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनो, इससे बाहरकी पवित्रता होगी; परन्तु इसीसे काम नहीं चलेगा, भीतरकी पवित्रता चाहिये। मनमें विचार करो, श्रीकृष्णको स्पर्श करने जा रहे हो। वे कितने पवित्र हैं, और तुम कैसे हो? दूसरे लोग तुम्हें नहीं जानते, परन्तु तुम तो अपनेको जानते हो और श्रीकृष्ण भी तुम्हें जानते हैं। कितने दोष हैं, कितने अपराध बन चुके हैं, कितना पाप कर चुके हो, कितनी अपवित्रताओंने हृदयमें आश्रय ले रक्खा है! बताओ, इस हालतमें श्रीकृष्णके हृदयरूप इस गीताको कैसे स्पर्श करोगे?

अहा! कातर होकर एक बार श्रीकृष्णके स्वभावको याद करो। वे बड़े ही क्षमा-सागर हैं, वे किसीका अपराध नहीं देखते, उनकी ओर मुख फिराते ही वे हाथ फैलाकर हृदयसे लगा लेते हैं। वे हरि कंगालके सर्वस्व हैं, वे पापी-तापीके आश्रय हैं, वे दीनबन्धु हैं, वे अगतिके गति हैं। वे अपने जीवोंको निर्मल बनाकर गोदमें उठानेके लिये निरन्तर पुकार रहे हैं, वे सभीको भरोसा दे रहे हैं। आओ! आओ! इस गीताको नित्य सङ्गिनी बनाओ, गीताका नित्य पाठ करो, पाठ करते-करते जितना हो सके इसका प्रवाह हृदयके अंदर बहानेकी चेष्टा करो, बड़ा कल्याण होगा।

—पं० श्रीरामदयाल मजूमदार, एम्० ए०

गीताका कर्मयोग

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)

महाभारतके महायुद्धके प्रारम्भमें पाण्डवसेनाके सर्वप्रधान नेता अर्जुन युद्धारम्भके पहले जब शोक-मोहसे ग्रस्त होकर युद्ध करनेसे इन्कार कर गये तब उनको युद्धमें प्रवृत्त करानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने जो अत्यावश्यक उपदेश दिया, उसे ही हम गीता कहते हैं। इसी उपदेशको प्रणिधान और श्रद्धाके साथ सुननेका ही फल हुआ था—अर्जुनका मोह-नाश, स्मृतिकी प्राप्ति तथा भगवान्‌के उपदेशके अनुसार कर्म करनेका दृढ़ सङ्कल्प। यही बात गीतामें भी लिखी गयी है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(१८। ७३)

अर्जुनने कहा 'मेरी विपरीत बुद्धि नष्ट हो गयी है, पूर्व-स्मृति जाग्रत् हो आयी है। हे अच्युत! तुम्हारे ही अनुग्रहसे मुझे यह लाभ हुआ है; अब कर्त्तव्यके विषयमें मेरे सब सन्देह निवृत्त हो गये हैं, मैं दृढचित्त हो गया हूँ। तदनुसार (मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि) अबसे तुम्हारे उपदेशानुसार ही कर्त्तव्य-कर्म करूँगा।'

गीताका यह श्लोक स्पष्ट निर्देश कर रहा है कि गीता सुननेसे अर्जुनकी कर्त्तव्य-कर्ममें दृढ़ प्रवृत्ति हुई थी। जो लोग अर्जुनके समान श्रद्धान्वित होकर गीता-श्रवण करेंगे, उनके भी शास्त्रविहित अपने कर्त्तव्य-कर्मोंमें सब प्रकारके संशय निवृत्त हो जायँगे तथा उनमें दृढ़ प्रवृत्ति होगी। यही था भगवान् वेदव्यासके गीताप्रणयनका मुख्य उद्देश्य; इस विषयमें मैं समझता हूँ किसीके भी मतभेदकी सम्भावना नहीं है। अतएव गीता प्रवृत्तिपर ग्रन्थ है, निवृत्तिपर नहीं—यह सभीको मानना पड़ेगा। परन्तु गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका दी गयी है, उसके देखनेसे मनमें संशय उठता है कि गीता केवल प्रवृत्तिपर ग्रन्थ है—यह कैसे सम्भव है? क्योंकि प्रत्येक अध्यायके मुख्य प्रतिपाद्य विषयके निर्देशके साथ इन सब पुष्पिकाओंमें गीताका यही विशेषण सन्निहित रहता है, जैसे—'श्रीमद्भगवद्गीतासु-उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि श्रीमद्भगवद्गीता 'उपनिषद्' है, 'योगशास्त्र' है और 'ब्रह्मविद्या' है।

ब्रह्मविद्या और उपनिषद्—इन दो विशेषणोंके द्वारा यह अनायास ही समझा जा सकता है कि गीता प्रवर्त्तक शास्त्र नहीं है, बल्कि निवर्त्तक शास्त्र है; उपनिषदोंका तात्पर्य निष्प्रपञ्च अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्ममें ही है—इसे आचार्य शङ्कर प्रभृति सभी अद्वैतवादी, ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार एक वाक्यमें स्वीकार करते हैं। 'ब्रह्मविद्या' यह विशेषण और भी स्पष्टभावसे इसको व्यक्त करता है और 'योगशास्त्र' यह तीसरा विशेषण भी स्पष्ट कह रहा है कि गीता प्रवृत्तिपर ग्रन्थ नहीं, निवृत्तिपर ग्रन्थ है; क्योंकि योगशास्त्र कहनेसे निवृत्तिपर शास्त्रका ही बोध होता है, इसे सभी अध्यात्मविद् पण्डित स्वीकार करते हैं। हिन्दू-योगशास्त्रके परम आचार्य भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें योगका जो लक्षण किया है, वह है 'चित्तवृत्तिका निरोध'। यदि चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है, तो वह प्रवृत्तिके अनुकूल नहीं बल्कि प्रतिकूल ही हो सकता है—इसे सभी शास्त्रीय तत्त्वोंके ज्ञाता पण्डित जानते हैं।

ये पुष्पिकाएँ किसने लिखीं, इसका निर्णय करना भी अत्यन्त कठिन है; यदि यह महर्षि वेदव्यासद्वारा लिखित है, तो गीताके उपसंहारका जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है उसके साथ इन विशेषणोंका विरोध अनिवार्य हो जाता है।

गीताके उपक्रम और उपसंहारकी एकरूपताकी रक्षा करके आपाततः प्रतीयमान इस विरोधका समाधान करनेके लिये जिस मार्गका अवलम्बन करना ठीक जान पड़ता है, उससे तो यह गीता सचमुच उपनिषद् प्रतीत होती है। क्योंकि समस्त प्रामाणिक उपनिषदोंका जो सार अर्थात् भगवत्तत्त्व है—वह गीतामें जिस प्रकार सरल रीतिसे विवृत हुआ है, वैसा अध्यात्मशास्त्रके किसी अन्य ग्रन्थमें प्रतिपादित नहीं हुआ; इसी कारण गीता ब्रह्मविद्या है। इसके अतिरिक्त जिसके द्वारा इस ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार किया जा सकता है वह उपाय अर्थात् योग भी इस गीतामें प्रतिपादित हुआ है। इसी कारण यह गीता योगशास्त्र है। गीताका यह योग तीन भागोंमें विभक्त है—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। गीताके अतिरिक्त अन्य अध्यात्मशास्त्रोंमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग पृथक्-पृथक् साधनरूपमें

निर्दिष्ट हैं—ऐसा आपाततः प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः ज्ञान, भक्ति और कर्म परस्पर निरपेक्ष साधन नहीं हैं; बल्कि वास्तवमें वे भगवत्तत्त्व-साक्षात्कारके असाधारण और अभिन्न साधन हैं—यही बात गीतामें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित हुई है। भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये जो कर्म करने पड़ते हैं वे यदि ज्ञान और भक्तिनिरपेक्ष हों तो फलप्रद नहीं होते, कर्मनिरपेक्ष ज्ञान और भक्ति भगवत्तत्त्वके साक्षात्कारमें पर्यवसित नहीं हो सकते—यही महर्षिसम्मत सिद्धान्त साधनतत्त्वके विषयमें गीताका असाधारण वैशिष्ट्य है; इसी कारण गीता उपनिषद् है, गीता ब्रह्मविद्या है और गीता ही योगशास्त्र है। अतएव गीता निवृत्तिपर होते हुए भी प्रवृत्ति-पर शास्त्र है। गीताके निवृत्तिमार्गमें कर्मका परित्याग नहीं है, उसमें है फलके सङ्कल्पका पूर्णतः त्याग करते हुए कर्तव्य-कर्मका आचरण करना। इस प्रकारका कर्मानुष्ठान क्या ज्ञानी, क्या भक्त, क्या कर्मिष्ठ—सभीको करना पड़ेगा। जबतक मनुष्यका देहाध्यास विद्यमान है, तबतक उसे सङ्कल्पका परित्याग करके यह कर्मानुष्ठान करना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त न तो भगवत्तत्त्वके साक्षात्कारका कोई दूसरा उपाय है और न हो ही सकता है। यही है गीताका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय।

इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(२।३८)

'हे अर्जुन! युद्ध करनेसे गुरु-स्वजन आदि आत्मीयोंकी हिंसा करनी पड़ेगी और उससे पाप होगा—इस भयसे धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होनेमें तुम्हें जो सङ्कोच हो रहा है, यह ठीक नहीं। क्योंकि सुख और दुःख, लाभ और अलाभ, जय और पराजयको समान करके तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ेगा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तुम पापके भागी नहीं होओगे।' यही है गीताका कर्मयोग—इस कर्मयोगका स्वरूप प्रथम अध्यायसे अन्तिम अध्यायपर्यन्त गीतामें भगवान्‌ने अनेकों स्थानोंमें नाना प्रकारसे विस्तार करके समझाया है। इस कर्मयोगके कर्म विहित कर्म ही हों, ऐसी बात नहीं है—ये विहित भी हो सकते हैं और प्रतिषिद्ध भी; क्योंकि अठारहवें अध्यायमें श्रीभगवान् ही कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८।५६)

'प्रतिषिद्ध हो, काम्य हो अथवा विहित (अर्थात् नित्य) हो—सब कर्मोंको जो सर्वदा एकमात्र मेरे (भगवान्‌के) आश्रय होकर करता है, वह मेरी कृपासे शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२।६-७)

'सब कर्मोंका फल मुझमें संन्यस्त करके अनन्ययोगसे मेरा ही ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ! मुझमें आवेशितचित्त उन भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ।'

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५।८—१०)

'कर्मयोगपरायण तत्त्वविद् कर्म करनेमें प्रवृत्त होकर मैं कुछ भी नहीं करता, (अर्थात् भगवदिच्छानुसार प्रकृति ही सब कार्य करती है) इस प्रकार विचार करे। देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, भोजन करना, गमन करना, सोना, श्वास लेना, बातें करना, परित्याग करना, ग्रहण करना, आँखें खोलना, आँखें मूँदना इत्यादि सारी क्रियाओंके होते समय चिन्तन करे कि इन सारे विषयोंके साथ प्रकृतिवश ही इन्द्रियोंका सम्बन्ध हो रहा है (मैं कुछ भी नहीं करता)। इस प्रकार ब्रह्मके ऊपर सब कर्मोंको आरोपित कर कर्मफलकी भोगासक्तिका त्याग कर जो मनुष्य कार्य करता है, वह जलके साथ कमलकी भाँति किसी भी पापसे लिप्त नहीं होता।'

इस प्रकार सब अवस्थाओंमें सब प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करनेका नाम ही गीतोक्त कर्मयोग है—इस कर्मयोगका प्रत्येक मनुष्य अधिकारी हो सकता है। ज्ञानी या भक्तका भी इसी कर्मयोगके साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है; यह ज्ञान या भक्तिके प्रतिकूल नहीं, बल्कि ऐकान्तिक भावसे अनुकूल ही है। अतएव यह गीतोक्त कर्मयोग सब अवस्थामें सब मनुष्योंके लिये अनुष्ठेय है।

अर्जुनको भगवान्‌ने जिस युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये इस कर्मयोगका उपदेश दिया है, उसका प्रकृत स्वरूप क्या है—इसकी भी यहाँ विशेषरूपसे विवेचना की जायगी।

गीतामें ही भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

हे अर्जुन! इस कारण सर्वदा मेरा अनुस्मरण करो और युद्ध करो।

महाभारतका ऐतिहासिक युद्ध अठारह दिनोंमें ही समाप्त हो गया था; परन्तु इस गीतावाक्यमें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनके प्रति आदेश किया है कि मेरा स्मरण करते हुए सब समय अर्थात् मृत्युकालपर्यन्त युद्ध करो। अतएव यह युद्ध केवल महाभारतका ही युद्ध नहीं है, यह जीवनव्यापी युद्ध है। इस संसारमें मनुष्य युद्ध करनेके लिये ही जन्म लेता है। जबतक जीवित रहता है, युद्ध करता रहता है, अन्तिम श्वास निकलनेके पहलेतक इस युद्धसे हट जाना सम्भव ही नहीं है—यह ऐसा ही युद्ध है। इस युद्धके विषयमें उपनिषद्-युगमें इस भारतवर्षमें बहुत ही विस्तृतभावसे आलोचना और विवृतियाँ हुई हैं।

इस युद्धका नाम है आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम। प्रत्येक मनुष्यके शरीरके भीतर ये दो प्रकारके विवदमान या कलह-प्रवण भाव अनादिकालसे युद्ध करते आ रहे हैं—एकका नाम है आसुरभाव और दूसरेका दैवभाव। इस संग्राममें अधिक स्थलोंमें आसुरभाव ही विजयी होता है, दैवभावके विजयके लिये जन-साधारणमें अलौकिक शक्तिसम्पन्न महा-पुरुषका या भगवद्‌वतारका आविर्भाव हुआ करता है। इस देवासुर-संग्रामके दैवभाव और आसुरभावोंका प्रकृष्ट परिचय श्रीगीताशास्त्रमें देखा जाता है।

दैवभाव या दैवीसम्पद् किसे कहते हैं? इस प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
(गीता १६।१-३)

निर्भीकता, विशुद्धचित्तता, ज्ञानयोगपरता, दान, बाह्य इन्द्रियोंका संयम, यज्ञ (अर्थात् देवताके उद्देश्यसे त्याग), अध्ययन, विहितक्लेशशीलता, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, वञ्चना-त्याग, जीवदया, अलोभ, मृदुता, लज्जा, अचापल्य, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुचिता, अद्रोह और नातिमानिता—ये भाव उनके होते हैं जो दैवी-सम्पद्‌के अधिकारी होकर जन्म लेते हैं।

इसके आगे ही आसुरभाव या आसुरीसम्पद् किसे कहते हैं, इसके समझानेके लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
(गीता १६। ७—१६)

आसुरभावसे युक्त मनुष्य सत् कार्यमें प्रवृत्ति और असत् कार्यमें निवृत्तिके स्वरूपको नहीं समझता। उसमें शौच, आचार और सत्य नहीं होता। यह जगत् असत् है, यह किसी परमार्थ सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित नहीं, इसकी उत्पत्ति सुनियन्त्रित पूर्वापर भावकी अपेक्षा नहीं करती, मनुष्यका जन्म स्त्री और पुरुषके परस्पर कामरूप हेतुके अतिरिक्त अन्य किसी हेतुके ऊपर निर्भर नहीं करता। इस जगत्का उत्पादन करनेवाला कोई सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं है। इस प्रकारकी बुद्धिके ऊपर निर्भर कर वे अल्पबुद्धि और हतभाग्य अपने हिंसात्मक कर्मोंके द्वारा जगत्का क्षय करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। ये समस्त आसुरी प्रकृतिसे युक्त मनुष्य अपवित्र कार्यको ही व्रतरूपसे ग्रहण करते हैं। अतएव ये लोग प्राणियोंके शत्रु ही होते हैं। इनकी विषयभोगकी स्पृहाकी पूर्त्ति होनेकी सम्भावना नहीं, ये लोग भोगकी आकाङ्क्षाके द्वारा ही परिचालित होते हैं। ये दाम्भिक होते हैं, पागल होते हैं, अभिमानी होते हैं। मोहके वश होकर असद् उपायोंका ही ये लोग अवलम्बन करते हैं। इनके विचारसे भोगाकाङ्क्षाकी चरितार्थता ही मनुष्यका उद्देश्य है। इनकी चिन्ता अपरिमेय होती है और जीवनके अवसानतक इस चिन्ताकी विरति नहीं होती। ये लोग सर्वदा विचारते हैं कि 'मैंने जो समझा है उसके अतिरिक्त समझनेके लिये और कोई वस्तु बाकी नहीं है।' ये आशारूपी सैकड़ों पाशोंके द्वारा सर्वदा बद्ध रहते हैं और काम-क्रोध इनमें सर्वदा ही विद्यमान रहते हैं, कामभोगके लिये ये लोग न्यायविगर्हित पथसे अर्थ-सञ्चय करनेके लिये प्रस्तुत होते हैं, ये सोचते हैं—'आज मैंने यह प्राप्त किया, कल इससे भी अधिक प्राप्त करूँगा, मेरे पास इतना धन है, भविष्यमें और भी अर्थकी प्राप्ति करूँगा, मैंने इस शत्रुका नाश कर दिया है, भविष्यमें इसी प्रकार अनेकों शत्रुओंका मैं अवश्य ही नाश करूँगा। मैं ऐश्वर्यसम्पन्न हूँ, मैं भोगी हूँ, मैंने साधनामें सिद्धि प्राप्त की है, मैं बलवान् हूँ, अतएव मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कुलीन हूँ, इस संसारमें मेरे समान दूसरा कौन हो सकता है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं सुख भोग करूँगा'—इस प्रकार अज्ञानद्वारा जो सर्वदा विमोहित रहते हैं, वे ही आसुरभावापन्न पुरुष हैं। ये आसुरभावोंसे युक्त मनुष्य अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधके वशमें होकर अपने शरीर तथा दूसरोंके शरीरमें अपने ही समान जीवभावमें अवस्थित परमेश्वरके प्रति विद्वेष-परायण होकर सबके प्रति असूयासे युक्त रहते हैं, इस प्रकारके विद्वेषपरायण क्रूर प्रकृतिके नराधमोंको मैं (अर्थात् श्रीभगवान्) बारम्बार आसुरी योनिमें ही निक्षेप करता हूँ (क्योंकि आसुरभावका यही अवश्यम्भावी फल है)।

इस दैव और आसुर, दो प्रकारके परस्पर विरुद्ध भावोंके पारस्परिक संघर्षसे अध्यात्मराज्यके जागरण और स्वप्न—इन दो प्रदेशोंमें जो अविराम संग्राम दिन-रात चल रहा है उसीका नाम देवासुरसंग्राम है। अध्यात्मराज्यमें व्यक्तिगत भावसे इस संग्रामका आभ्यन्तरिक वेग जब प्रबल होता है, बाहरके आधिभौतिक जगत्में उस वेगसे उत्पन्न हुई प्रबल बाढ़ जब समष्टिगत मानवजीवनको दिग्दिगन्त प्लावित कर समाज-परिस्थितिरूप सुख और शान्तिके नन्दनकाननको उन्मूलन करनेके लिये प्रवृत्त होती है, तब उसीका परिणाम होता है पृथ्वीव्यापी महासंग्राम। इसी महासंग्रामके धारावाहिक इतिहासका नाम है मानवजातिका इतिहास; यह भीषण संग्राम अनादिकालसे होता चला आ रहा है, कब इसकी आत्यन्तिक विरति होगी—यह कौन कह सकता है? भारतीय अध्यात्मशास्त्र मानव-सभ्यताके उषाकालसे लेकर आजतक मानवजन्मको विफल बनानेवाले इस महासंग्रामकी निवृत्तिके लिये मार्ग प्रदर्शन करता आ रहा है। भारतीय सभ्यताके ऐतिहासिक युगमें इस महासंग्रामके आरम्भके समय पाण्डव-सेनाके सर्वप्रधान नेता अर्जुन जब आसुरभावोंकी प्रबलतासे विक्षिप्तचित्त होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गये थे, तब अधर्मका निराकरण और धर्मकी संस्थापनाके लिये अवतीर्ण करुणामय स्वयं श्रीभगवान्ने अर्जुनको धर्मयुद्धमें प्रवर्तित कर चिरकालके लिये पृथ्वीपर धर्मराज्यकी संस्थापना करके इस महासंग्रामके मूलोच्छेदके लिये जो दिव्य उपदेश प्रदान किया था, उसीका नाम है श्रीमद्भगवद्गीता। यही भगवद्गीताका एकमात्र प्रतिपाद्य कर्मयोग है। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिके साथ-साथ प्रत्येक मनुष्यकी ब्राह्मी स्थिति इस कर्मयोगका मुख्य प्रयोजन है। इस मुख्य प्रयोजनको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन है—कर्तृत्वाभिमानको दूर करते हुए सर्व कर्मोंके अनुष्ठानके समय सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीभगवान्की शरणागति। यही बात अष्टादश अध्यायके अन्तमें उपसंहारके समय श्रीभगवान्ने दैवीसम्पद्-अधिरूढ़ परम भक्त श्रीअर्जुनको बतलायी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

हे अर्जुन ! सब प्राणियोंके हृदयदेशमें ईश्वर अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे विनिर्मित देहाभिमानरूपी यन्त्रके ऊपर नियतरूपसे आरूढ़ जीवमात्रको भ्रमाते हुए विराजमान रहते हैं। हे भारत ! उन्हें ही सर्वतोभावसे शरण अर्थात् आश्रय और रक्षकरूपमें स्वीकार करो, उन्हींकी करुणासे तुम परम शान्ति और शाश्वत पदको प्राप्त करोगे ।

यही है गीतोक्त कर्मयोगका प्रकृत स्वरूप । इसीका फल है भुवनव्यापी धर्मराज्यकी संस्थापना, इसीका नाम है देवासुर-संग्रामका आत्यन्तिक समुच्छेद !

श्रीमद्भगवद्गीताका चरम तात्पर्य

(लेखक—वैष्णवाचार्य श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण)

गीताशास्त्रके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय करनेके लिये प्रयास करना मेरे-जैसे मनुष्यके लिये एकदम असम्भव है। गीताके भाष्यकार और टीकाकारोंने कर्म, भक्ति और ज्ञान—इन तीन मार्गोंका अवलम्बन कर अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार गीताके उद्देश्यका निर्णय किया है। प्राचीन भाष्यकारों और टीकाकारोंमें ज्ञान-सम्प्रदायके अग्रगण्य श्रीमच्छङ्कराचार्य तथा भक्ति-सम्प्रदायके अग्रगण्य श्रीपाद रामानुजाचार्य ही प्रधान माने जाते हैं। कर्मयोगकी प्रधानताको प्रदर्शित करनेवाले मीमांसकोंमें बहुतोंने कर्मयोगके उत्कर्षकी स्थापना की है। परन्तु वे सुप्रसिद्ध नहीं हैं। आधुनिक गीताशास्त्रकी पर्यालोचना करनेवालोंमें लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलकने अपने 'गीतारहस्य' में कर्मयोगकी प्रधानताका प्रदर्शन कर गीताशास्त्रकी नाना प्रकारसे सुविस्तृत आलोचना की है। उन्होंने पाश्चात्य विद्वान् दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंके साथ तुलना करके गीताशास्त्रको कर्मयोगप्रधान शास्त्रके रूपमें स्वीकार किया है। हम स्थूलभावसे पहले यही देखते हैं कि गीतामें पहले ही वेदान्तशास्त्रकी पद्धतिके अनुसार नित्यानित्य वस्तुका विचार किया गया है। देह जड और नश्वर तथा अनित्य है; परन्तु आत्मा चिन्मय, शाश्वत और नित्य है। अनित्य शरीरका परिणाम मृत्यु है; परन्तु आत्मा नित्य और शाश्वत है, अतएव जीवके लिये आत्मतत्त्वकी प्राप्ति ही अवश्य कर्तव्य है। परन्तु इसके लिये सबसे पहले चित्तशुद्धिके निमित्त कर्मयोगके साधनकी आवश्यकता है। कर्मयोगका अनुष्ठान किये विना चित्तशुद्धिका उपाय सहज ही प्राप्त नहीं होता। श्रीधरस्वामीने लिखा है—

'अतः सम्यक् चित्तशुद्धया ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं वर्णाश्रमोचितानि कर्माणि कर्तव्यानि । अन्यथा चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानानुत्पत्तिरित्याह, न कर्मणामिति ।……न च चित्तशुद्धिं विना कृताद् संन्यसनाद् एव ज्ञानशून्याद् सिद्धिं मोक्षं समधिगच्छति प्राप्नोति ।'

अर्थात् सम्यक् चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त वर्णाश्रमोचित कर्मोंको अवश्य करना चाहिये। चित्तशुद्धिके विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानके विना मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं होती।

'ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्यत्वं च हि तत्फलम् । तत्फलं ज्ञाननिष्ठैव'

कर्मयोगका यही प्रधान उद्देश्य है। श्रीमच्छङ्कराचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयको नहीं मानते; कुछ आचार्योंने इससे विपरीत माना है। हम भी समझते हैं कि हमलोग देहधारी संसारी जीव हैं। व्यावहारिक रूपमें ही हमारी संसारमें स्थिति है। कर्मके विना जब शरीरयात्राका निर्वाह ही नहीं होता, तब कर्मत्याग करके जीवनके निर्वाहका कोई उपाय नहीं। ऐसी अवस्थामें वेदविहित कर्मोंका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्त्तव्य है और इसी कर्मके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अतएव ज्ञान और भक्तिकी प्राप्तिके लिये कर्मयोग साक्षात् कारण न होते हुए भी गौण कारणके रूपमें अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है, यही वेदका अभिप्राय है। श्रौतधर्मप्रवक्ता स्वयं भगवान् वासुदेवने भी गीता-उपनिषद्में यह उपदेश प्रदान किया है।

परन्तु एकमात्र कर्मयोगका आश्रय लेकर ही सारे जीवनको बिता देना वेदका उद्देश्य नहीं है। वेदान्तशास्त्रने मोक्ष या भगवत्प्राप्तिका भी उपदेश दिया है तथा भगवत्प्राप्तिको ही जीवका वास्तविक उद्देश्य निश्चय किया है।

गीताशास्त्रमें इन तीनों मार्गोंका अति सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है और अन्तमें पराभक्तिकी प्रशंसा की है ।

> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
> भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
> (१८ । ५४-५५)

अर्थात् ब्रह्मभावमें स्थित प्रसन्नात्मा पुरुष किसी विषयके लिये शोक नहीं करता तथा किसी विषयकी आकाङ्क्षा भी नहीं करता । सब प्राणियोंमें वह एक भाव (समदर्शी) रहता है, तत्पश्चात् वह मत्सम्बन्धिनी पराभक्ति प्राप्त करता है । मैं किस प्रकारका हूँ तथा मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है, इस विषयमें तत्त्वपूर्वक पराभक्तिके द्वारा मुझे पूर्णरूपसे जान लेता है । इस प्रकार तत्त्वतः मुझको जानकर तत्पश्चात् मुझमें ही प्रविष्ट होता है ।

पराभक्तिकी प्राप्तिके पहले सब प्रकारकी विषय-वासनासे चित्तको विशुद्ध करना होगा । पातञ्जलदर्शनमें जो प्रकृतिसे पुरुषकी पूर्णरूपेण असङ्गताकी प्राप्तिका उपदेश दिया गया है, भगवद्गीतामें वही सांख्यज्ञानके उपदेशके रूपमें कहा गया है । इसके द्वारा चित्त जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे विच्छिन्न हो जाता है । इस अवस्थाके पश्चात् जो आनन्दकी प्राप्ति होती है, वही वेदान्तका मोक्ष है । इसी अवस्थाको हम ब्रह्मभूत-अवस्था कह सकते हैं । ज्ञानयोगकी साधनाकी यह चरमावस्था है । परन्तु भक्तोंकी साधनाका अन्त यहाँ नहीं होता । इस समदर्शन और ब्रह्मदर्शनके बाद उनकी श्रीभगवान्‌में पराभक्तिका आरम्भ होता है । इस पराभक्तिकी प्राप्तिका फल होता है—साक्षात् भगवत्प्राप्ति । श्रीभगवान् जो आनन्दमय, प्रेममय और रसमय हैं, इसकी अनुभूति पराभक्तिके साधकको ही प्राप्त होती है । तैत्तिरीय उपनिषद्में लिखा है—'ज्ञानं ब्रह्म' । 'आनन्दं ब्रह्म' । सबके अन्तमें लिखा है 'रसो वै सः' । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति ।' अतएव रसब्रह्मकी अनुभूति ही मनुष्यकी साधनाका चरम लक्ष्य है । पराभक्तिकी साधनामें साधक इस चरम लक्ष्यको प्राप्त होता है । 'विशते तदनन्तरम्' इस वाक्यांशका यही अभिप्राय है । अतएव हम गीताके कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके बीच पृथक् साधनाका उपक्रम नहीं देखते । यहाँ त्रिविध साधनाके द्वारा एक ही लक्ष्यमें पर्यवसित होनेका उपदेश दिया गया है । कर्मयोगसे प्रारम्भ करके पराभक्तिकी प्राप्तिके द्वारा रसब्रह्मके साक्षात्कार-पर्यन्त इस साधनाका पर्यवसान होता है । कर्मयोग इसका प्रथम प्रधान स्तर है, ज्ञानयोग द्वितीय स्तर है और पराभक्तिकी प्राप्तिमें ही जीवकी साधनाकी सिद्धि होती है । गीतामें भक्तियोगके द्वारा जिस रसब्रह्मकी साधनाका सङ्केत किया गया है, श्रीमद्भागवतमें इसीको सुस्पष्ट कर दिया गया है । श्रीगीताशास्त्रके इसी अभिप्रायको श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके पार्षद गोस्वामिगणने स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त किया है । श्रीमान् जीवगोस्वामीने अपने भागवत-व्याख्याके क्रमसन्दर्भमें तथा षट्सन्दर्भान्तर्गत भागवतसन्दर्भमें, परमात्मसन्दर्भमें और अन्तमें प्रीतिसन्दर्भमें इसी तथ्यको विवृत किया है । हमारा विश्वास है कि यही श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्रका चरम तात्पर्य है ।



गीताकी उपयोगिता

त्याग मनुष्यका अनन्त कर्तव्य है । जिनके साथ हमारा रक्त-सम्बन्ध है, अबतक हम उन्हींके लिये त्याग करते आये हैं । किन्तु अब हमें इससे अधिक एवं उत्कृष्ट कोटिके त्यागकी आवश्यकता है । भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें जो कुछ उपदेश दिया है, यदि हम उसे अपना पथप्रदर्शक मानते तो ऐसा त्याग हो गया होता । श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान समयमें शिक्षित भारतीय समुदायके लिये उपयुक्त ग्रन्थ है । फलकी कामनासे रहित होकर कर्तव्यका कर्तव्यकी दृष्टिसे पालन करना ही गीताकी शिक्षा है ।

—जस्टिस पी० आर० सुन्दरम् अय्यर

कुरुक्षेत्रमें अर्जुनका मोहभङ्ग

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमि संसारक्षेत्रकी एक समुज्ज्वल प्रतिच्छवि है। देश और कालकी दृष्टिसे निःसीम, अनन्त प्रकारके जड-चेतनसे समन्वित यह विशाल संसार वस्तुतः एक युद्धक्षेत्र है। प्रत्येक जीव युद्ध करता हुआ ही अपना अस्तित्व रखता है, युद्ध करते हुए ही जीवनको विकसित किया जाता है। युद्ध करना अनिवार्य होनेके कारण ही जीवोंके शरीर, इन्द्रिय और मनमें विचित्र शक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। युद्धक्षेत्रमें विजय-प्राप्ति और आत्म-प्रतिष्ठाकी चेष्टासे ही उनमें विचारशक्ति और कर्मशक्तिका विकास होता है, नाना प्रकारके दोषों और गुणोंकी भी स्फूर्ति होती है। जगत्में जन्मग्रहण करते ही नाना प्रकारकी प्रतिकूल शक्तियाँ जीवको जीवन-संग्राममें आह्वान करती हैं। इस संग्राममें विजय प्राप्त कर संसारमें आत्मप्रतिष्ठा करनेके लिये ही सब जीवोंको संघबद्ध होना पड़ता है और उसी सिलसिलेमें समानजातीय जीवोंमें आत्मीयताका बन्धन क्रमशः दृढ़ हो जाता है। इसी प्रकार उन्नत जीवोंमें परिवार, समाज और जातीयताकी सृष्टि होती है। इस युद्धमें जो व्यक्ति, जाति या संघ दुर्बल होते हैं, जिनकी जीवनीशक्ति—आत्मरक्षा और आत्मप्रतिष्ठाकी शक्ति—इस संसारमें युद्धकी योग्यताको खो बैठती है, वे पिसने लगते हैं और समय पाकर संसारक्षेत्रमें उनका विनाश हो जाता है। यहाँ यह समझना चाहिये कि मानो सृष्टि-प्रवाहमें उनका कार्य समाप्त हो गया है, इसलिये अब उनका अस्तित्व अनावश्यक है। यह युद्ध अखिल विश्वका एक प्रधान धर्म है।

इस जीव-जगत्का विधान ही ऐसा है कि एक जीव दूसरेका आहार है। एक जातिके जीवोंके विनाशके ऊपर दूसरी जातिके जीवोंका जीवन निर्भर करता है। स्थावर जीव जङ्गम जीवोंके आहार हैं, छोटे जीव बड़े जीवोंके आहार हैं, दुर्बल प्राणी अपेक्षाकृत सबल प्राणियोंके आहार हैं। इसी कारण जीव-जगत्में विभिन्न श्रेणीके जीवोंमें नित्यप्रति संग्राम चल रहा है। इस संग्रामके द्वारा ही व्यष्टि और समष्टिभावसे जीव-जगत्में क्रमविकास होता रहता है। दुर्बलतर जीवोंका नाश करके बलवान् प्राणियोंका उद्भव होता है और इसी चेष्टामें उनकी शक्ति और कौशल-की अधिकाधिक वृद्धि होती है। बलवान् प्राणियोंमें भी युद्धका अभाव नहीं होता। एक वनमें दो सिंहोंका रहना कठिन होता है।

बुद्धिशक्तिसम्पन्न मनुष्यजातिने अन्यान्य प्राणियोंको अपनी बुद्धिशक्तिके प्रभावसे संग्राममें जीतकर पृथ्वीपर अपना राज्य स्थापित किया है। मनुष्यके भयसे दाढ़, नख और पूँछोंसे प्रहार करनेवाले भयङ्कर प्राणी भी बीहड़ वन, जङ्गल और पर्वतोंकी गुफाओंमें जा छिपे हैं। मनुष्य अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर उन निर्जन स्थानोंमें भी उनपर आक्रमण करके अपनी युद्धप्रियता और विजय-वासनाको चरितार्थ करता है। पुनः मानव-जगत्में भी प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति अपने-अपने जीवनकी रक्षा, प्रभावकी वृद्धि और गौरवकी स्थापनाके लिये दूसरोंके साथ युद्धमें प्रवृत्त होता है। इस युद्धमें विजय-वैजयन्ती फहरानेके लिये जो जाति जितने ही अधिक साधन और सामग्रीके सञ्चयमें समर्थ होती है, वह जाति उतनी ही प्रभावसम्पन्न समझी जाती है। इस आत्मप्रतिष्ठा और दूसरोंके पराजयकी चेष्टामें जगत्में जो ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति होती है, प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्यके हस्तगत हो जाती हैं, यन्त्र आदि आविष्कृत होते हैं और शिल्प-वाणिज्यका विस्तार होता है—इन सबका मूल मनुष्यका जीवन-संग्राम ही तो है।

इस प्रकार प्राणिवर्गके संग्रामके अतिरिक्त मनुष्यके बुद्धिराज्यमें और भी नाना प्रकारके युद्ध चलते रहते हैं—आदर्शके साथ आदर्शका युद्ध, विचार-विचारमें युद्ध, मत-मतान्तरके युद्ध आदि। मनुष्यजातिके जीवनप्रवाहके ऊपर इन आदर्शों, विचारों और मतोंके संघर्ष और संग्राम अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। मानव-जगत्में एक-एक आदर्श, विचार-प्रवाह तथा मत-मतान्तरकी प्रतिष्ठाके लिये भी बहुधा अनेकों प्रकारके संघर्षोंकी सृष्टि होती है, बहुत जन-संहार होता है और बहुतेरी दुर्बल जातियोंका नाश हो जाता है। मानवसभ्यताके क्रम-विकासके इतिहासमें संस्कृतिकी जितनी उन्नति हुई है, मनुष्यकी चिन्ताधारा, विचारधारा और कर्मधारामें जितना उत्कर्ष हुआ है, मनुष्यके भीतर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'का जितना विकास हुआ है और मनुष्य पूर्णताकी ओर जितना अग्रसर हुआ है—प्रायः

सब कुछ इस संग्रामके द्वारा ही हुआ है। युद्ध ही संसार-प्रवाहका सनातन नियम है, सृष्टिके अंदर भगवान्‌का अटल विधान है और जीव-जगत्‌के क्रमिक विकासके लिये भगवान्‌का अचिन्तनीय कौशल है।

इसके सिवा, संसारमें प्राकृतिक नियमोंके अनुसार कितने उल्कापात, वज्रपात, भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड, आँधी-तूफान, विप्लव और विध्वंसलीलाएँ नित्यप्रति होती रहती हैं! ये सभी इस जगत्‌के नित्यके व्यापार हैं। इस जगत्‌में उत्पत्ति और विनाश, जन्म और मृत्यु, स्वास्थ्य और रोग, जवानी और बुढ़ापा, सुख और दुःख, संयोग और वियोग, प्रेम और हिंसा, दया और घृणा, सम्पत्ति और विपत्ति, लाभ और हानि तथा जय और पराजय–सभी एक सूत्रमें ग्रथित हैं। इस प्रकारके द्वन्द्वोंके द्वारा ही यह संसार रचा हुआ है। इन द्वन्द्वोंके साथ हमारा नित्य परिचय है। इस द्वन्द्व और संग्रामके द्वारा ही विश्वसृष्टिमें भगवान्‌का गूढ उद्देश्य सिद्ध होता है।

इन द्वन्द्वोंमें हम एकको चाहते हैं, दूसरेको नहीं चाहते। हम जय चाहते हैं, पराजय नहीं चाहते; सुख चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते; लाभ चाहते हैं, हानि नहीं चाहते; मिलन चाहते हैं, वियोग नहीं चाहते; उत्पत्ति चाहते हैं, विनाश नहीं चाहते। परन्तु निरपेक्षभावसे विचार करनेपर हम सहज ही समझ सकते हैं कि एक पक्षके जयमें दूसरे पक्षका पराजय निहित है, एक पक्षके लाभान्वित होनेपर दूसरे पक्षकी हानि अवश्यम्भावी है, नूतनकी उन्नतिके साथ-साथ पुरातनका विध्वंस अनिवार्य है, वियोगकी व्यथाके विना मिलनका आनन्द असम्भव है। इनमें एकको छोड़कर दूसरेका उपभोग सम्भव नहीं। इतना होनेपर भी एकके त्याग और दूसरेकी प्राप्तिके लिये प्राणियोंकी आकांक्षा स्वभावतः ही होती है और इस आकांक्षाकी पूर्त्तिकी चेष्टामें युद्धका होना भी अनिवार्य है।

यह द्वन्द्व और युद्ध ही संसारकी चिरन्तन नीति है; इसे हम सर्वदा देखते हैं, सर्वदा इस युद्धमें लिप्त रहते हैं; तथापि हम इसका गम्भीरतापूर्वक अनुभव नहीं करते, व्यापकरूपसे इसकी पर्यालोचना नहीं करते। परन्तु जब इस युद्धकी विकराल नग्न मूर्त्ति हमारे स्वार्थके क्षेत्रमें भयङ्कर रूपमें प्रकट होती है, इसका अनिच्छित अनिष्टकारक परिणाम जब हमको या हमारे प्रिय स्वजनोंको खा डालनेके लिये तैयार होता है, तब हमारा हृदय भय, वेदना और दुःखसे व्याकुल हो उठता है। तब यह युद्ध हमें मानो एक अचानक मिली हुई नयी-सी चीज मालूम होती है, हमारी विचारशक्ति मोहग्रस्त हो जाती है, कर्तव्यबुद्धि अपना स्थान छोड़ देती है, धीरता और स्थिरता नष्ट हो जाती है, हम अपने-आपको खो देते हैं। यह हमारी क्लीबताका परिचायक है।

कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये तैयार दो आत्मीय पक्षोंके बीच स्थित महावीर अर्जुनकी यही अवस्था हुई थी। अर्जुन युद्धविद्याविशारद थे और दीर्घकालतक युद्ध करके उन्होंने असाधारण महावीरकी ख्याति प्राप्त की थी। उनके इस विशिष्ट गौरवके साथ कितनी वेदनाओंकी कथाएँ सम्बन्धित हैं, उनका, इतने दिनोंतक उन्होंने विशेष गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन नहीं किया था। उनके असाधारण कीर्ति-मन्दिरकी नींवमें कितने कुलोंका ध्वंस और जातियोंका विनाश, कितने नर-नारियोंके आत्मीय स्वजनोंके विरहका करुण क्रन्दन, कितनी रमणियोंके पति-शोक और पुत्रशोकका दारुण आर्त्तनाद, कितने वंशोंका उच्छेद और वर्णसंकरोंकी उत्पत्ति और परम्परागत कितने सामाजिक और साम्प्रदायिक साधनोंका अन्त भरा हुआ है–विजयोन्मत्त अर्जुनके हृदयमें इतने दिनोंतक इसके लिये किसी गम्भीर वेदनाको सृष्टि नहीं हुई थी, उधर ध्यान देनेका उन्हें अवसर ही कहाँ था? उन्होंने इन सब काण्डोंको एक विजयी वीर तथा कीर्तिमान् पुरुषकी दृष्टिसे ही देखा था। जो लोग उनके विजयसे पराभूत थे, उनकी वीरतासे पीसे गये थे, उनके लाभसे हानिग्रस्त थे और उनकी कीर्तिसे ध्वस्त हो गये थे–उनकी दृष्टिसे अर्जुनने इनको नहीं देखा था। उनकी मर्मभेदी यातनाएँ अर्जुनके हृदयको विक्षुब्ध नहीं कर सकी थीं।

आज युद्धके लिये तैयार दोनों पक्षोंमें आत्मीय–स्वजनोंके मुखोंको देखकर युद्धके भयङ्कर परिणामके विषयमें वे सजग हो उठे। आज उन्होंने गम्भीरतापूर्वक अनुभव किया कि चाहे किसी भी पक्षकी विजय हो, दूसरा पक्ष पराजित और नष्ट हो जायगा और उस विजित पक्षमें भी अपने ही आत्मीय हैं। इस युद्धके परिणामसे जो लोक-संहार, कुल-नाश, कुल-धर्म और जाति-धर्मका लोप, वर्णसङ्करकी उत्पत्ति और पितरोंका पिण्डलोप हो जायगा–उसकी आशङ्कासे ही वे व्याकुल हो उठे। उन्हें अपना चिरकालसे आचरित स्वधर्म आज नितान्त अधर्मके रूपमें दीखने लगा। वे धर्मसम्मूढचेता और किंकर्तव्यविमूढ होकर भयानक यन्त्रणाका अनुभव करने लगे।

जिस युद्धका अवलम्बन कर मनुष्यकी जीवन-धारा

प्रवाहित होती है, उसी युद्धकी यह कठोरता और भीषणता जब उसके चित्तदर्पणमें स्पष्टतया दिखलायी पड़ती है तब युद्धमें लगनेका उसका उत्साह ठंडा पड़ जाता है, वह इस अत्यन्त दारुण युद्धक्षेत्रका त्याग कर संन्यास ग्रहण करनेके लिये तैयार हो जाता है अथवा युद्धक्षेत्रमें ही निश्चेष्ट होकर आत्मबलि देनेको प्रस्तुत हो जाता है। अर्जुनकी भी यही दशा हुई। परन्तु युद्धक्षेत्रसे भागनेका स्थान ही कहाँ है? सारा संसार ही तो युद्धक्षेत्र है, सभी जगह तो यह दारुण युद्ध चल रहा है। विभिन्न स्थानोंमें, विभिन्न अवस्थाओंमें और विभिन्न प्रकारके वातावरणमें युद्धका केवल आकारमात्र बदलता है। केवल शरीररक्षाके लिये ही जीवको अनेकों विरुद्ध शक्तियोंके साथ सतत युद्ध करना पड़ता है। एक विशाल देशकी शान्ति-शृङ्खलाकी रक्षाके लिये जो लोग युद्ध करते हैं उनके युद्धसे इस युद्धका आकार-प्रकार भिन्न है अवश्य, परन्तु हैं दोनों ही युद्ध। जो व्यक्ति जिस देशमें, जिस कालमें, जिस प्रकारकी शक्ति-सामर्थ्यको लेकर, जिस प्रकारकी अवस्थामें पड़ा होता है, उसे तदनुसार युद्ध करना ही पड़ता है। इच्छापूर्वक और विचारपूर्वक नहीं करता तो प्रकृति या भगवान्‌का विधान उसको बलपूर्वक युद्धमें लगा देता है। मृत्युके उपस्थित होनेपर भी जीवको स्वभाववश मृत्युके साथ युद्ध करके बचनेकी चेष्टा करनी पड़ती है तथा अन्तमें मृत्युसे पराजित होकर अपनी हार मानकर मरना पड़ता है। संसारमें रहते हुए कोई भी प्रकृतिको पूर्णतया अतिक्रम या अग्राह्य नहीं कर सकता।

संसारक्षेत्रमें युद्धकी भीषणता और अनिष्टकारिताका तीव्र अनुभव करते हुए भी युद्धसे पूर्णतया हट जानेका कोई उपाय ही नहीं है। जबतक जीते रहना है, तबतक प्रकृतिकी तीव्र प्रेरणासे, भगवान्‌के सृष्टिविधानसे युद्ध करना ही पड़ेगा;—चाहे वह विचारपूर्वक हो या अविचारपूर्वक, इच्छासे हो या अनिच्छासे, तेजके भावसे हो या निस्तेजभावसे। ऐसी अवस्थामें, जिस प्रकारके युद्धमें, जिस प्रकार अपनेको लगानेपर मनुष्योचित आदर्शका अनुसरण होता है, मानव-जीवनके चरम लक्ष्यकी सिद्धिमें सहायता मिलती है, समाजमें शान्ति-व्यवस्था प्रतिष्ठित होती है, उन्नततर आदर्शके प्रभावकी वृद्धि होती है और मानवजाति आध्यात्मिक सभ्यताके उच्चतर सोपानपर आरोहण करती है, उसी प्रकारके युद्धमें, उसी प्रकारसे यथाशक्ति अपनेको लगा देना ही उचित है। मनुष्य युद्धसे भाग तो नहीं सकता। परन्तु वह आदर्शकी उन्नति और तदनुसार युद्धका सुनियन्त्रण अवश्य कर सकता है।

परन्तु मनुष्यका चित्त जितना ही विशुद्ध होता जाता है, बुद्धि जितनी ही उन्नत होती है, वासना और कामनाका वेग जितना ही कम हो जाता है, हृदयमें प्रेम, मैत्री और करुणाका जितना ही विकास होता है, शरीर, इन्द्रिय तथा मनकी चञ्चलता जितनी ही नष्ट होती है, युद्धके प्रति स्वभावतः उतना ही वैराग्य उत्पन्न होता है, हिंसादि व्यापारोंमें अरुचि उत्पन्न होती है, जितने भी कर्म वासनामूलक हैं, सब बन्धन-जनक जान पड़ते हैं और संसारके कोलाहलसे भागकर शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्राण व्याकुल हो उठते हैं। संसारमें जब चारों ओर द्वन्द्व, सङ्घर्ष और संग्राम दिखलायी देता है, तब सारा ही संसार दुःखमय जान पड़ता है। और संसारसे मुक्ति प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है, ऐसा ज्ञात होता है।

तब फिर मनुष्यके अन्तःकरणमें एक नवीन युद्धकी आयोजना होती है। एक ओर संसार अपने स्वाभाविक नियमके अनुसार युद्धके लिये आह्वान करता रहता है और दूसरी ओर युद्धके प्रति वैराग्य उसको त्यागके लिये युद्धक्षेत्रसे भागनेके लिये उत्साहित करता है। तब अन्तःकरणमें कर्मप्रवृत्तिके साथ संन्यासप्रवृत्तिका, युद्ध-प्रवृत्तिके साथ युद्ध-त्यागकी प्रवृत्तिका एक तुमुल युद्ध आरम्भ हो जाता है। युद्धत्याग करनेका भी कोई उपाय नहीं दिखलायी देता और युद्धके नाना प्रकारके दोष स्पष्ट दीखनेके कारण उसमें रुचि भी नहीं होती। तब एक प्रकारकी कष्टप्रद किंकर्तव्यविमूढ अवस्था हो जाती है। संसारक्षेत्रमें सभी विचारशील पुरुषोंके सामने यह समस्या उपस्थित होती है। सभी युगोंके सभी विचारशील पुरुषोंकी यह समस्या, आभ्यन्तरिक युद्ध—कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें खड़े हुए पुरुषरत्न अर्जुनके चित्तमें बड़े ही विकटरूपमें जाग उठा। इसी समस्याके समाधानके लिये अर्जुन अपने सारथी श्रीकृष्णके शरणागत हुए।

जो इस संसाररूपी युद्धक्षेत्रके स्रष्टा हैं, जो जीवके स्वभावमें विचित्र भाव, विचित्र प्रवृत्ति, विचित्र रुचि तथा विचित्र अभाव और उद्देश्यकी सृष्टि करके युद्धक्षेत्रमें प्रेरित करते हैं तथा स्वयं छिपे रहकर उनके विचित्र कर्म-फलका नियमन करते हैं, जो सारी कर्मप्रवृत्ति और भोगप्रवृत्तिके प्रेरक और नियन्ताके रूपमें प्रत्येक जीवके अंदर विद्यमान

रहते हुए भी उनके सामने अपने अस्तित्वतकको छिपाये रखते हैं, विश्वनाटकके वे ही अद्वितीय अभिनेता अर्जुनके सारथीके रूपमें विद्यमान हैं। सभी मनुष्योंके देहरूपी रथपर वे सारथीके रूपमें नित्य विराजमान रहते हैं। वे सबके ही नित्य सुहृद्, नित्य सखा और नित्य सञ्चालक हैं। परन्तु जबतक मनुष्य अपनेको ही कर्त्ता, भोक्ता, स्वेच्छाचारी और अपना भाग्यविधाता समझकर अभिमानमें मतवाला रहता है, तबतक उसको वे अन्तर्यामी विश्वनाट्यकार सखाके रूपमें नहीं दिखायी देते। उनकी सत्ताका ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्य कभी उन्हें केवल अपना सहायक और कामनाकी पूर्त्ति करनेवाला समझता है, कभी कर्मफल प्रदान करनेवाला, अथवा कभी उदासीन निष्क्रिय सर्वसम्बन्धरहित ही देखता है, अभिमानवश उन्हें सखारूपमें देखनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त करता!

विषम सङ्कटमें पड़कर जब अभिमान चूर्ण-चूर्ण हो जाता है, प्रवृत्ति सङ्कुचित होती है, चाञ्चल्य दूर हो जाता है और बुद्धि अपनी शक्तिका विश्वास खोकर प्रकाशकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठती है, तब भगवान् कृपा करके अपनेको प्रकट करते हैं, संसार-संग्रामके तात्पर्यको समझाते हैं और उनको परम कल्याणका पथ दिखलाते हैं। अर्जुनके हृदयमें वही विषम सङ्कट उपस्थित है। वे दूसरे लोगोंकी भाँति भगवान्‌की दैवी मायासे विमोहित होकर राज्य, ऐश्वर्य, कीर्त्ति, सुख और ऐहिक तथा पारलौकिक धर्मोंका अनुसरण करते हुए अभिमानपूर्वक अपनी विद्या और बुद्धि-शक्तिका जिस पथमें प्रयोग करते चले आ रहे थे, कुरुक्षेत्रमें दोनों ओर आत्मीय स्वजनोंको देखकर और उनके परिणामका विचार करके उसी पथके स्वरूपको एक नये ही आकार-प्रकारमें देखने लगे। क्या यही स्वधर्म है? क्या इसी स्वधर्मके अनुष्ठानमें सारा जीवन लगाया गया है? क्या इस भयानक परिणाममें ही वीरधर्मका पर्यवसान है? यह तो अत्यन्त घोर अधर्म है! मनुष्यत्वहीनता है! पितरोंको भी नरकमें डुबानेकी व्यवस्था है। अर्जुनकी अन्तरात्मा 'त्राहि-त्राहि' पुकार उठी। उनकी बुद्धि किंकर्त्तव्यविमूढ होकर चिरसुहृद् स्थितप्रज्ञ सारथी श्रीकृष्णके शरणापन्न हुई। धर्म-सङ्कटमें पड़े हुए इस पुरुष-प्रवरके सामने भगवान्‌ने अपनेको प्रकट किया—उनके सखा और सारथीके अंदर स्वयं विश्वनियन्ता प्रकट होकर उनकी सारी समस्याओंका समाधान करने लगे।

तत्त्वज्ञानविहीन मनुष्योंकी भाँति अर्जुनके विचारविभ्रमके मूलमें यही मिथ्या ज्ञान था कि 'मैं ही सब कर्मोंका कर्ता हूँ, मैं किसी कर्ममें प्रवृत्त होने या न होनेमें स्वयं पूर्णतया स्वाधीन हूँ, मेरी स्वतन्त्र विचारशक्ति और इच्छाशक्ति ही मेरे सारे कर्मोंका नियमन करती है।' वे अबतक युद्धमें अपनी शक्तिका प्रयोग कर स्ववंश, स्वजाति, स्वदेश, स्वकीय स्नेहास्पद, प्रेमास्पद और सेवकोंकी तथा उसीके साथ-साथ अपनी भोग-सम्पत्ति, यश-मान और प्रभावशीलताको बढ़ानेमें लगे थे; उन्होंने यही समझ रक्खा था कि 'मैं स्वाधीन हूँ और अपनी इच्छासे पूर्णरूपसे विचार करके ही प्रत्येक कार्य करता हूँ। युद्ध मेरा धर्मसङ्गत कर्तव्य है।' अन्यान्य अनेकों वंश, जाति और देशकी सम्पत्तिके नाश, कीर्तिनाश और ध्वंसपर उन्होंने कुछ भी विचार नहीं किया था। आज जब युद्धका विषमय फल अपने ही वंश, जाति और देशके ऊपर पड़ते देखा, तब वे इसे अधर्म समझकर भयभीत और विचलित हो उठे। उनका कर्तव्यज्ञान और पूर्वसङ्कल्प बह चला!

क्या मैं अबतक अधर्म ही करता आ रहा था? शास्त्रोंने जिसे क्षत्रियोंका स्वधर्म बतलाया है, क्या वह वस्तुतः अधर्म है? यदि अधर्म ही है, तो इस अधर्मको अधर्म समझनेके साथ ही, उसी क्षण त्याग देना चाहिये। अर्जुनने खूब विचार करके यह समझ लिया कि यह युद्ध अत्यन्त घोरतर अधर्म है; अतएव इसका तुरंत त्याग करके या तो मुझे संन्यासव्रतका अवलम्बन करना चाहिये अथवा अपने पापोंके प्रायश्चित्तस्वरूप निश्चेष्ट होकर विपक्षियोंके शस्त्राघातसे प्राणत्याग कर देना चाहिये। अर्जुनने सोचा कि 'मैंने स्वतन्त्रतापूर्वक ही युद्ध स्वीकार किया था तथा अब उसका त्याग करनेमें भी मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूँ।' यह संसार भगवान्‌का है, भगवान् ही संसारके समस्त व्यापारोंके विधाता और नियन्ता हैं; सारे मनुष्य—सभी जीव उनके हाथकी कठपुतलीमात्र हैं, उनके सङ्कल्पोंको मूर्त्तिमान् करनेके लिये 'निमित्तमात्र' हैं—यह महान् तत्त्व उनके हृदयदर्पणमें प्रतिभासित नहीं हुआ। इस संसार-स्रोतमें बहता हुआ, संसार-तरङ्गोंमें नाचता हुआ प्रत्येक माया-मुग्ध मनुष्य इसी भ्रममें पड़ा हुआ है।

इस भ्रमको दूरकर अर्जुनको स्वभावस्थ करनेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको प्रकट करके उन्हें यह दिखला दिया कि इस संसारका कर्ता मनुष्य नहीं, भगवान् हैं; संसारके

कार्य-कलाप मनुष्यकी इच्छासे संघटित नहीं होते, भगवान्‌के विधानसे संघटित होते हैं। संसारक्षेत्रमें सर्वत्र ही जो युद्ध चल रहा है, वह भगवान्‌का ही विधान है। जिस जीवको उन्होंने जिस प्रकारकी शक्ति-सामर्थ्य देकर जिस प्रकारकी अवस्थामें स्थापित किया है, उसीके अनुसार उसके कर्तव्य निरूपित होते हैं, उसका स्वधर्म निर्धारित होता है और उसीके अनुसार संसार-संग्राममें प्रवृत्त होनेके लिये वह बाध्य है। जिसके जीवनमें भगवान्‌का जो अभिप्राय या उद्देश्य निहित रहता है, उसे उसका सम्पादन करना ही पड़ेगा। मानव-प्रकृतिके भीतर भगवान्‌ने जिस विचारशक्ति और इच्छा-शक्तिको अनुस्यूत कर रक्खा है, उसीसे मनुष्यकी स्वाधीनताका बोध होता है। यह स्वाधीनताकी प्रतीति मनुष्यकी भगवान्‌के द्वारा निर्दिष्ट प्रकृतिका ही अङ्ग है तथा भगवान्‌के द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्रमें ही मनुष्यके लिये यह स्वाधीनताकी प्रतीति सार्थक हो सकती है। भगवान्‌के द्वारा निर्धारित साधनक्षेत्रसे भागनेकी स्वाधीनता उसको नहीं है।

मनुष्य यदि अपनी विचारशक्तिका सम्यक् विकास करके इस तत्त्वज्ञानमें प्रतिष्ठित होकर, भगवान्‌के द्वारा निर्दिष्ट साधन-संग्राममें, भगवान्‌के द्वारा प्रदान की हुई शक्ति और सामर्थ्यको लगाता है, कर्तृत्वाभिमान और फल-कामनाकी निरर्थकताको समझकर केवल भगवत्-कर्मसम्पादनकी बुद्धिसे अपनी प्रकृति और अवस्थाके अनुसार कर्तव्य-साधनमें लग जाता है, तो इससे उसकी स्वाधीनताका यथार्थ सद्व्यवहार होता है और मानवजीवन सार्थक हो जाता है, ऐसा करनेपर शोक और मोहका कोई कारण ही नहीं रह जाता, चित्तमें विषाद नहीं होता।

प्रत्येक मनुष्य भगवद्विधानमें विश्वप्रकृति और अपनी प्रकृतिके द्वारा परिचालित होकर क्षेत्रानुसार कर्ममें प्रवृत्त होता है; परन्तु विचारशक्तिके विकासके तारतम्यसे नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिके उत्कर्षापकर्षके अनुसार वह उन सब कर्मोंका बहुत ऊँचा या अत्यन्त नीचा आदर्श लक्ष्यमें रखकर उनका सम्पादन कर सकता है। जो मनुष्य अपने शरीर-इन्द्रियोंकी तृप्ति, लौकिक सम्पदा या मान-बड़ाईकी वृद्धिको लक्ष्यमें रखकर अथवा आत्मीय स्वजन या जाति-बन्धुओंके इहलौकिक भोग, सुख, प्रभाव या प्रतिष्ठाकी प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर कर्मक्षेत्रमें अपनी शक्तिका प्रयोग करता है, वह कर्मोंको सुचारुरूपसे सम्पादन करनेपर भी अपनेको क्षुद्र सीमाके अंदर बाँध रखता है और उसको अपने उन कर्मोंके पाप और पुण्यके फलको विशेषरूपसे भोगना पड़ता है। यदि वह उन्हीं स्वभावोचित कर्मोंको सारे देश, जाति या समाजके कल्याणको लक्ष्यमें रखकर सम्पादन करता है, तो वह उनके द्वारा दैहिक और पारिवारिक क्षुद्र सीमासे मुक्त हो जाता है, उसका नैतिक और आध्यात्मिक जीवन उन्नत स्तरमें आरोहण करता है, उसकी देह, मन और बुद्धि निर्मलतर हो जाती है तथा परमार्थप्राप्तिके मार्गमें वह बहुत दूर अग्रसर हो सकता है। और यदि भगवान्‌की सेवारूपी सर्वोच्च आदर्शको लक्ष्यकर स्वधर्मका आचरण करता है तो वह कर्मोंद्वारा ही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटकर भगवत्प्राप्तिमें समर्थ होता है। फिर इन कर्मोंके आनुषङ्गिक दोष-गुण उसे स्पर्श नहीं करते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

भगवदाराधनबुद्धिसे किये हुए स्वधर्मानुमोदित कर्मोंमें यदि आपाततः हिंसादि व्यापार भी हो जाते हैं तो वे भी अहिंसामें परिणत हो जाते हैं; उन कर्मोंके बाह्य रूपोंमें रुद्रभावका ताण्डव नृत्य होनेपर भी भीतर शान्तभाव और प्रेमका प्रवाह विद्यमान रहता है। ऐसी अवस्थामें संग्रामकी भीषणता भी आध्यात्मिक साधनाके माधुर्यद्वारा परिपूर्ण रहती है।

संसारमें जन्म लेकर प्राकृतिक नियमोंके द्वारा समुपस्थित संग्रामसे भागकर कोई भी छुटकारा नहीं पा सकता। जो मनुष्य जिस प्रकारकी अवस्थाओंसे घिरा है, तदनुसार उसको संग्राममें लगना ही पड़ेगा। इस संग्रामसे मुक्ति पानेका उपाय है—भगवान्‌को अपने अंदर सारथी और सञ्चालकके रूपमें प्रतिष्ठित करके सम्पूर्ण चेष्टाओंमें एकमात्र उन्हींको समझना और उनके चरणोंमें सम्यक्‌रूपसे आत्मसमर्पण करके उनके द्वारा निर्दिष्ट संग्रामक्षेत्रमें उन्हींकी दी हुई शक्ति-सामर्थ्यको उन्हींकी सेवाके लिये सुनियन्त्रितरूपसे लगा देना। उनके विधानके अनुसार संग्राम-क्षेत्रका तथा संग्रामके बाहरी रूपका जब जिस प्रकार परिवर्तन हो उसे सिर झुकाकर स्वीकार करना पड़ेगा; तथा उसीके अंदर आदर्शको उज्ज्वल रखते हुए मनुष्यत्वकी साधना करनी पड़ेगी। भगवान्‌के उपदेशसे अर्जुनकी यह बुद्धि जब सम्यक्‌रूपसे जाग्रत हो गयी, तब 'राज्यं भोगाः सुखानि च' उनके कर्मके नियामक न रहे, कुलक्षय, वर्णसंकर और धर्महानिकी बात न जाने कहाँ विलीन हो गयी, वे भगवान्‌के हाथके यन्त्ररूपमें अपनेको—'निमित्तमात्रम्'—समझने लगे तथा 'करिष्ये वचनं तव'—कह कर भगवान्‌के आदेशानुसार स्वधर्म-सम्पादनके व्रती हो गये।

गीताका सन्देश

(श्रीअरविन्द)

'कर्मका रहस्य वही है जो सारे जीवन और जगत्का रहस्य है।' यही श्रीमद्भगवद्गीताका, गीताके वक्ता श्रीभगवान्के सन्देशका सार-मर्म कहा जा सकता है। जगत् प्रकृतिका केवल कोई यन्त्र या नियमचक्र नहीं है, जिसमें जीव क्षणभरके लिये या युग-युग जीने-मरनेके लिये जा फँसा हो; यह है परमात्माकी निरन्तर अभिव्यक्ति। जीवन केवल जीनेके लिये नहीं बल्कि परमेश्वरके लिये है और मनुष्यका अन्तरात्मा उन्हीं परमेश्वरका सनातन अंश है। कर्मका प्रयोजन है आत्मानुसन्धान, आत्मपूरण और आत्मसिद्धि, कोई तात्कालिक या भविष्यकालीन भासमात्र बाह्य फल नहीं। पदार्थमात्रके भीतर एक ऐसा आन्तरिक कर्मविधान और उसका हेतु है जो आत्माकी अव्यक्त परमा प्रकृतिको और साथ ही व्यक्त प्रकृतिको आश्रय किये रहता है। वही कर्ममात्रका सत्तत्त्व है और वह सत्तत्त्व ही देशकालपात्रानुसार अपूर्णतया और अज्ञानसे आच्छादित रूपमें मन, बुद्धि और उसके कर्मोंके बाह्य रूपोंमें प्रकट हुआ करता है। इसलिये कर्मका प्रमाद-रहित महत्तम परम विधान अपनी ही उच्चतम और अन्तस्तम सत्ताका अनुसन्धान करना और उसीमें रहना है, अन्य किसी मान या धर्मका अनुसरण नहीं। जबतक यह नहीं होता, जीवन अपूर्ण रहता है और एक सङ्कट, एक संग्राम और एक समस्या ही बना रहता है। अपने आत्माको ढूँढ़ पाना और उसकी यथार्थ यथार्थता, वास्तविक वास्तविकताके अनुसार अपने जीवनको बना लेना ही वह उपाय है जिससे जीवनकी पहेली बूझी जा सकती है, सङ्कट और संग्रामको पार किया जा सकता है, अपने कर्मोंको साक्षात् आत्माके ही निरापद आश्रयमें पूर्ण करके दिव्य कर्मके रूपमें ढाला जा सकता है। 'इसलिये अपने-आपको जानो, अपने सदात्माको ईश्वर समझो और सबके अन्तरात्माओंके साथ उसे एक जानो; अपने आत्माको ईश्वरका अंश जानो। जो जानते हो उसीमें रहो, अपने आत्मामें स्थित हो, अपनी परा आत्म-प्रकृतिमें रहो, ईश्वरके साथ एक हो और ईश्वर-सदृश बनो। उत्सर्ग कर दो पहले अपने सब कर्मोंको उनके चरणोंमें जो तुम्हारे अंदर सर्वोत्तम और एकमेव हैं, जो जगत्के अंदर सर्वोत्तम और एकमेव हैं; दे दो अन्तमें अपने-आपको—जो कुछ तुम हो और जो कुछ करते हो—उन्हींके हाथोंमें जिससे परम जगदीश्वर जगदात्मा तुम्हारे द्वारा जगत्में अपना सङ्कल्प पूर्ण करें, तुमसे अपना कर्म करावें। यही तुम्हारे सारे प्रश्नका उत्तर है और तुम अन्तमें यह देखोगे कि यही समाधान है, दूसरा कोई नहीं।'

प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धमें जो मूलगत विरोध है जिसकी बुनियादपर ही समस्त भारतीय वेदान्तकी शिक्षाके समान ही गीताकी शिक्षा भी आरम्भ होती है, उसके सम्बन्धमें गीताका क्या सिद्धान्त है—यह यहाँ बतलाना आवश्यक है। अपने सदात्माको पाना, अपने और सबके अंदर रहनेवाले इस ईश्वरको जानना कोई सुगम बात नहीं है; न यही कोई हँसी-खेल है कि आत्मविषयक इस ज्ञानको बुद्धिसे जान लेनेपर भी हम अपनी चेतना और व्यवहारकालीन अपनी अवस्थामें ला सकें। कर्ममात्र नियत होता है हमारी व्यावहारिक स्थितिसे और हमारी व्यावहारिक स्थिति बनती है हम अपने मन-बुद्धिसे अपने-आपको जो कुछ समझते हैं उससे, हमारी चेतनासे और कर्ममें हमारी प्रवृत्तिके मूल हेतुसे। अर्थात् हम अपनी सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रकृतिसे जो कुछ समझते हैं कि हम अमुक हैं और जगत्के साथ हमारे अमुक-अमुक सम्बन्ध हैं—बस वही हमारी व्यावहारिक अवस्था है, यही श्रद्धा है जो हमें वही बनाये हुई है जो कुछ हम समझते हैं कि हम हैं। परन्तु मनुष्यकी चेतना द्विविध है, जो द्विविध आत्मसत्तासे सम्बद्ध है; एक अन्तःसत्ता है और दूसरी बाह्य-सत्ता। इनमेंसे जिस सत्तामें मनुष्य स्थित होता है उसीके अनुसार वह होता है—बहिःसत्तामें वह मानव अज्ञानमें रहनेवाला मन होता है, अन्तःसत्तामें आत्मज्ञानमें स्थित जीवात्मा।

बाह्य रूपमें सत्ताका सत्तत्व वही है जिसे हम प्रकृति कहते हैं; यह वह शक्ति है, जो प्राणिजगत्का सम्पूर्ण विधान और कर्मचक्र बनी हुई है; यही उस जगत्का निर्माण करती है जो हमारी बुद्धि, मन और इन्द्रियोंका विषय है और यही उन बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको भी उत्पन्न करती है जिनसे प्राणियोंका जगत्के साथ सम्बन्ध होता है इस बाह्य रूपमें मानव जीव अपनी मन-बुद्धि, प्राण और शरीरके साथ प्रकृतिका ही निर्माण किया हुआ एक प्राणी

मालूम होता है, जो अपने शरीर, प्राण, मन-बुद्धि और विशेष कर अहंकारके पार्थक्यसे अन्य सब प्राणियोंसे विलक्षण और विशिष्ट जाना जाता है। मानव अहङ्कारका सूक्ष्म यन्त्र रचा ही इसलिये गया है कि मनुष्य इस विलक्षण पार्थक्य और वैशिष्टयको दृढ़ और केन्द्रीभूत करे। मनुष्यमें जो कुछ है, उसका अन्तःकरण और उसका धर्म, उसके प्राण और शरीर और उनके धर्म, सब उसकी प्रकृतिके द्वारा ही विहित होते हैं और मनुष्य उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। मनुष्य अपनी वैयक्तिक इच्छा, अपने अहङ्कारकी इच्छाको कुछ स्वतन्त्र मानता है; पर यह स्वातन्त्र्य यथार्थमें कुछ भी नहीं है; क्योंकि उसका अहङ्कार एक करण ही है जिससे प्रकृतिने उसे जो कुछ बनाया है उसके साथ—प्रकृतिने उसके लिये जैसे मन, बुद्धि, प्राण और शरीर निर्माण किये हैं उनके साथ वह तदाकार हो जाता है। उसका अहङ्कार स्वयं ही प्रकृतिके कर्मका एक कार्य है; और यह अहङ्कार जिसका जैसा होता है वैसी ही उसकी इच्छा होती है और वैसा ही कर्म उसे करना पड़ता है, और कुछ वह कर ही नहीं सकता।

तात्पर्य, मनुष्यकी सामान्यतः अपने सम्बन्धमें यही चेतना, अपने स्वरूपके विषयमें यही श्रद्धा होती है कि मनुष्य प्रकृतिका निर्माण किया हुआ एक प्राणी है, एक पृथक् अहंभाव है जो दूसरोंके साथ और जगत्‌के साथ अपने वही सम्बन्ध स्थापित करता है, अपना वही उत्कर्ष साधन करता है, अपने मनका वही सङ्कल्प, इच्छा और बुद्धिकी कल्पना परितृप्त करता है जो प्रकृति उसे अपने दायरेके अंदर करने देती है और जो उसके स्वभावमें प्रकृतिका ही हेतु या धर्म होता है।

परन्तु मनुष्यकी चेतनामें और भी एक बात है जो इस नियमकी चौखटमें नहीं कसी जा सकती; आत्मसत्ताका जो दूसरा और आन्तरिक सत्तत्त्व है उसमें उसकी एक ऐसी श्रद्धा होती है जो जीवभावके उत्कर्षके साथ बढ़ती जाती है। इस आन्तरिक सत्तामें सत्ताका सत्तत्त्व प्रकृति नहीं बल्कि पुरुष है। प्रकृति स्वयं पुरुषकी एक शक्ति है। एक आत्मा है, एक पुरुष है, एक आत्मस्वरूप है जो सबके अंदर एक है, वही इस जगत्‌का स्वामी है और जगत् उसका केवल एकांश है। वही आत्मा प्रकृति और उसके कर्मका धारक है, वही अनुमन्ता है—उसकी अनुमतिसे ही प्रकृतिका कानून चलता है और प्रकृतिकी शक्ति इन विविध मार्गोंमें काम करती है। प्रकृतिके अंदर जो पुरुष है, वह ज्ञेय है जो प्रकृतिको प्रकाश देता और हमारे अंदर उसे चेतन बनाता है; उसीका अन्तःस्थ और परम चित्स्वरूप सङ्कल्पबल प्रकृतिको स्फूर्ति देता और उसकी सब क्रियाओंको सङ्कल्पान्वित करता है। मानुषी तनुमें जो पुरुष है वह इन्हीं भगवान्‌का अंश है और वह उन्हींका स्वभाववाला है। हमारी प्रकृति हमारे आत्माकी अभिव्यक्ति है, आत्माकी ही अनुमतिसे वह कार्य करती और आत्मपुरुषके ही गुह्य आत्मज्ञान, आत्मचैतन्य और प्रकृतिकी घटनावलि और परिवर्तनोंमें होनेकी इच्छाको वह स्थूल रूप दिया करती है।

हमारा सच्चा अन्तरात्मा, हमारा आत्मपुरुष हमारी बुद्धिसे छिपा रहता है, क्योंकि हमारी बुद्धिको अन्तर्जगत्‌का ज्ञान नहीं है, वह मिथ्या ज्ञानके साथ तदाकार हो गयी है, मन, प्राण, शरीरके बाह्य यान्त्रिक जीवनके साथ घुल-मिल गयी है। परन्तु मनुष्यका यह व्यवहारी देही पुरुष यदि अपने इन प्राकृत करणों या यन्त्रोंके साथकी तदाकारतासे अपने-आपको कहीं एक बार पीछे खींच सके, यदि अपनी वास्तविक अन्तःसत्ताको समझकर उसीकी पूर्ण श्रद्धामें रह सके तो सब कुछ बदलकर वैसा ही बन जाय, जीवन और जगत्‌का कोई दूसरा ही रूप सामने नजर आने लगे, कर्मका कोई दूसरा ही अर्थ और स्वरूप सिद्ध हो। तब हम प्रकृतिकी निर्माण की हुई यह छोटी-सी अहंभावावृत व्यष्टि नहीं रहेंगे बल्कि एक दिव्य, अमर और आध्यात्मिक शक्तिका विशाल स्वरूप हमें प्राप्त होगा। हमारी चेतना तब ऐसी बद्ध, दीन, दुखी, मनोमय, प्राणमय प्राणीकी चेतना नहीं रहेगी; वह होगी अनन्त, दिव्य और ब्रह्ममय। हमारे सङ्कल्प और कर्म भी तब व्यष्टिबद्ध अङ्कारविमूढ न होंगे बल्कि दिव्य और ब्रह्ममय होंगे; विश्वात्मा, परमात्मा, अखिलान्तरात्मा ही मानुषी तनुमें आकर अपना मुक्त कर्म करेंगे।

'यही वह महान् परिवर्त्तन और दिव्यीकरण है जिसे साधन करनेके लिये,' नरमें रहनेवाले नारायण, भगवदवतार, श्रीगुरुरूप हरि कहते हैं कि, 'मैं अधिकारियोंको बुला रहा हूँ और अधिकारी वे सब लोग हैं जो अपने मनको प्राकृत इन्द्रियोंके अज्ञानसे हटाकर अपने आत्मविषयक गम्भीरतम अनुभव, अपने अन्तरात्मविषयक ज्ञान, ईश्वरके साथ अपने सम्पर्क और भगवान्‌में प्रवेश करनेकी अपनी शक्तिमें लगा सकते हों। अधिकारी वे सब हैं जो इस श्रद्धा

और इस महान् धर्मको ग्रहण कर सकते हों। मनुष्यकी बुद्धि सदा अपने अज्ञानके बादलों और धुँधले प्रकाशोंमें आसक्त रहती और मन, प्राण, शरीरकी और भी अधिक तामसी आदतोंमें रमा करती है, इस कारण ऐसी बुद्धिके लिये इस श्रद्धा और इस महान् धर्मको ग्रहण करना निश्चय ही कठिन होता है; परन्तु यदि यह ग्रहण हो जाय तो यह उद्धारका सच्चा रास्ता बन जाय, क्योंकि यह रास्ता वही है जो मनुष्यके वास्तविक स्वरूपसे मिला हुआ है और यही उसकी अन्तरात्मा और परमा प्रकृतिकी सच्ची स्वाभाविक गति है।

'परन्तु यह परिवर्तन सामान्य नहीं है, बहुत बड़ा रूपान्तर है; इसका होना तबतक असम्भव है जबतक तुम जो कुछ हो और जो कुछ तुम्हारी प्रकृति है उसके साथ तुम पूरे तौरपर भगवान्की ओर मुड़कर भगवान्के न हो जाओ। इसके लिये आवश्यक होगा कि तुम अपने जीको, अपनी सारी प्रकृतिको और जीवनको भगवान्पर उत्सर्ग कर दो और भगवान्हीपर और किसीपर नहीं; क्योंकि सब कुछ रखना होगा भगवान्के लिये ही; जो भी वस्तु ग्रहण की जायगी वह उसी रूपमें जिस रूपमें वह भगवान्में है, भगवान्के ही एक रूपके तौरपर और भगवान्के निमित्त ही अदृष्टपूर्व नवीन सत्यको ही ग्रहण करना होगा; अपने सम्बन्धमें, दूसरोंके सम्बन्धमें, जगत् और ईश्वरके सम्बन्धमें, प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धमें नवीन ज्ञानकी ओर, एकत्वके ज्ञानकी ओर, विश्वात्मा जगदीश्वरके ज्ञानकी ओर अपनी सारी बुद्धिको मोड़कर लगा देना होगा। आरम्भमें ज्ञानको इस प्रकार ग्रहण करना बुद्धिके द्वारा ही ग्रहण करना है, परन्तु अन्तमें यही दर्शन बन जायगा, अपनी चेतना बन जायगी, यही स्वभाव होगा और इसीमें ढलकर सारा कर्म प्रवाहित होगा।'

'इसके लिये आवश्यक होगा सङ्कल्प करनेवाला वह मन जो इस नवीन ज्ञान, दर्शन, चैतन्यको कर्मका चालक एकमात्र भाव बना दे। और कर्मका यह चालक भाव कोई लाचारीका भाव नहीं, कोई परिच्छिन्न भाव नहीं, ऐसा भाव नहीं कि प्रकृतिके जो अत्यन्त आवश्यक कर्म हैं जिन्हें करना ही पड़ता है उन्हें किया जाय, ऐसा भाव भी नहीं कि सिद्धिके बाह्य स्वरूपमें जो कर्म साधक हैं उन्हींको किया जाय अथवा जो कर्म अपनी धार्मिक प्रवृत्तिके अनुकूल या अपने वैयक्तिक मोक्षके साधक हों, केवल उन्हींको किया जाय, बल्कि यह भाव होना चाहिये सम ब्रह्मकी स्थितिमें अखिल मानव-कर्म करनेका और सो भी भगवान्के लिये और सर्वभूतहितके लिये। इसके लिये आवश्यक होगी हृदयकी वह अनन्य अभीप्सा जो भगवान्की ओर प्रधावित हो—आवश्यक होगा भगवान्का अनन्य प्रेम, अनन्य समर्थन और फिर आवश्यक होगी स्थिरीभूत और प्रबुद्ध हृदयकी वह विशालता जो घट-घटमें भगवान्का आलिङ्गन करे। मनुष्यकी जो सामान्यतः अभ्यस्त प्रकृति होती है उसका ऐसा परिवर्त्तन होना होगा कि वह परा भागवती ब्रह्मप्रकृति हो जाय। संक्षेपमें तात्पर्य यह है कि ऐसा योग आवश्यक होगा जो एक साथ पूर्ण ज्ञानका योग, पूर्ण सङ्कल्प और उसके कर्मोंका योग, पूर्ण प्रेम, पूजा और भक्तिका योग होनेके साथ-साथ मनुष्यके अन्तर्बाह्य सब अङ्गों, सब अवस्थाओं, सब शक्तियों और सब गतियोंका पूर्ण योग हो।'

'वह ज्ञान तब क्या है जिसे बुद्धि ग्रहण करे, जीवकी श्रद्धा जिसे आश्रय दे और जो अन्तःकरण, हृदय और प्राणके लिये सच्चा और जीता-जागता प्रत्यक्षरूपसे अनुभूत हो? वह ज्ञान है परमेश्वर और परब्रह्मके एकत्व और उसके समग्रत्वका ज्ञान। वह उन एकमेवाद्वितीयका ज्ञान है जो चिरकाल ही दिक्काल, नामरूप और जगत्के परे, अपने ही व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपोंके परे रहते हैं और फिर भी जिनसे यह सारा विश्व प्रवर्त्तित होता है, जिन्हें ही यह विश्व नानाविध प्रकृति और उसके असंख्यरूपोंमें प्रकट करता है। इस ज्ञानमें भगवान् एक साथ ही ब्रह्म भी हैं और शक्ति भी, प्रकृतिमें सदा उनका क्षरभाव ही प्रतीत होता है, वे ही घट-घटवासी हैं जो अपनी शक्तिके रूपके अनुरूप अपने-आपको बना लेते और उसके प्रत्येक स्तर और तरतमभाव और कर्मके अनुसार अपना रूप बदलते रहते हैं, वे ही ब्रह्म हैं जो यह सारा जो कुछ है वह बने हुए हैं और फिर भी यह जो कुछ है उससे अपार अनन्त हैं, वे ही मनुष्यमें, पशुमें और प्रत्येक पदार्थमें, अहंमें और इदंमें, अन्तरात्मामें, अन्तःकरणमें, प्राणमें और जडविषयमें, प्रत्येक सत्ता और प्रत्येक शक्ति और प्रत्येक प्राणीमें विराजते हैं।'

'इस योगका साधन सत्यके किसी एक पहलूको ही सारा सत्य मान लेनेसे नहीं हो सकता। जिन भगवान्को तुम ढूँढ़ना चाहते हो, जिस आत्माकी तुम खोजमें हो, जिस परमात्माका सनातन अंश ही तुम्हारा अन्तरात्मा है—वे भगवान्, वह आत्मा और वे परमात्मा एक ही हैं और उन्हें इन सब स्वरूपोंके एकत्वमें एक साथ तुम्हें जानना होगा, एक साथ उनमें प्रवेश करना होगा और सब अवस्थाओं और सब

पदार्थोंमें केवल उन्हीं एकको देखना होगा। यदि वे केवल प्रकृतिस्थ क्षर ब्रह्म ही होते तो यह पञ्चमहाभूतात्मक जगत् ही सब कुछ होता और वही सनातन होता। यदि इसी एक पहलूमें तुम अपनी सारी श्रद्धा और ज्ञानको आबद्ध कर रक्खो तो तुम अपने व्यष्टिरूपसे और उसके निरन्तर परिवर्तनशील आकारोंसे कभी आगे नहीं बढ़ सकोगे; इस प्रकारकी निष्ठा तुम्हें सदा सब तरफसे प्रकृतिकी क्रान्तियोंमें ही भटकाये रहेगी। पर तुम इस कालके केवल पुनरावर्त्ती आत्मरूप क्षण ही नहीं हो। तुम्हारे अंदर एक अमूर्त्त पुरुष भी है जो तुम्हारे व्यष्टि जीवनप्रवाहका आश्रय है और जो भगवान्के विशाल अव्यक्त ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्न है। और फिर इस अव्यक्त मूर्त्ति और मूर्त्त व्यष्टि पुरुषके परे, इतने परे कि जिसका कोई हिसाब नहीं, तुम अपने स्वरूपके इन दो चिरन्तन ध्रुवोंका प्रभुत्व करनेवाले सनातन और परम स्वरूप हो और सदा सनातन परम स्वरूपमें स्थित रहते हो।'

फिर, यदि वह सनातन अव्यक्त आत्मपद ही एकमात्र सत्य होता जो कोई कर्म नहीं करता, सृष्टि-स्थिति-संहारसे जिसका कोई मतलब नहीं तो यह जगत् और तुम्हारा जीवात्मा दोनों ही एक भ्रम होते जिनकी सत्यमें कोई स्थिति नहीं। यदि इसी एक स्वरूपमें तुम्हारी निष्ठा और ज्ञान आबद्ध हों तो जीवन और कर्मका संन्यास ही एकमात्र उद्धारका उपाय होता। पर जगत्में जगन्निवास जगदीश्वरका होना और जगत्में तुम्हारा होना, दोनों ही बातें वस्तुगत्या सच हैं; जगत् और तुम परमेश्वरकी कार्यशक्ति और अभिव्यक्ति हो। इसलिये जीवन और कर्मका ग्रहण करो, उनका त्याग नहीं। अपने अव्यक्त स्वरूप और सत्सत्तासे भगवान्के साथ एक होकर, उन्हींके हम सनातन अंश हैं— यह जानकर, अपने व्यष्टीभूत आत्मस्वरूपसे उसीकी अनन्त सत्ताके लिये प्रेम और भक्तिसे उनकी ओर मुड़ो और अपने प्रकृतिस्थ पुरुषको बना लो वह चीज जो चीज बननेके लिये वह व्यष्टिभूत हुआ है अर्थात् कर्म करनेवाले करण बनो, भगवत्कर्मप्रवाहके विशुद्ध साधन बनो, भगवान्की एक शक्ति बनो। यथार्थमें यही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है जो, अभी जडता और अपूर्णताके कारण निम्नगा प्रकृतिके प्रभावसे तुम्हारे अहङ्कारके द्वारा उस ईश्वरभावके आच्छादित हो जानेसे, कुछ-का-कुछ बन गया है। उसे अपने अहङ्कारसे विकृत न होने दो और अपने चैतन्य को जगाकर पूरे तौरपर अपनी परा ब्राह्मी प्रकृतिके साथ रहनेवाले भगवान्की एक शक्ति और उनके सङ्कल्प और कर्मका एक साधक अङ्ग बना दो। इस तरह तुम अपने ही आत्मस्वरूपकी पूर्ण सत्तामें रहोगे और पूर्ण भगवत्सायुज्य, विशुद्ध सम्पूर्ण योगको प्राप्त होओगे।

'परमतत्त्व पुरुषोत्तम हैं जो सारे व्यक्त जगत्के परे हैं, काल या दिक् या कार्यकारण या अपने असंख्य गुणों और रूपोंमेंसे किसी भी गुण या रूपके परे हैं। पर इसका यह मतलब नहीं कि अपने इस परम सनातन पदपर रहते हुए भगवान् जगत्में जो कुछ होता है उससे कोई लगाव नहीं रखते या जगत् और प्रकृतिसे और सब प्राणियोंसे अलग रहते हैं। वे ही अनिर्वचनीय परब्रह्म हैं, वे ही अव्यक्त ब्रह्म हैं और वे ही सर्वभूतानि हैं; आत्मा, प्राण और जड शरीर, अन्तरात्मा और प्रकृति और प्रकृतिके सब कर्म उन्हींकी अनन्त सनातनी सत्ताके विभिन्न अङ्ग और कर्म हैं। वे परब्रह्म हैं और सब कुछ उन्हींसे व्यक्त होता है, सब उन्हींके रूप और उन्हींकी आत्मशक्तियाँ हैं; सबके एक अखिलान्तरात्माके नाते जगत्में वे सब मनुष्यों, पशुओं और पदार्थोंमें प्रकृतिके प्रत्येक विषय और प्रवृत्तिमें सर्वव्यापक, सम और अव्यक्त हैं। वे परमात्मा हैं और सब आत्मा इसी एक पावक आत्माके चिरन्तन स्फुलिङ्ग हैं। सब प्राणी अपने व्यष्टीभूत आत्मस्वरूपमें उन्हीं एक पुरुषके अमर अंश हैं। वे समस्त व्यक्त जगत्के शाश्वत प्रभु हैं, सब लोकों और सब जीवोंके स्वामी हैं। सब कर्मोंके सर्वशक्तिमान् प्रवर्त्तक वे ही हैं, पर अपने कर्मोंसे वे बँधे नहीं हैं और सब कर्म और तप और यज्ञ उन्हींको प्राप्त होते हैं। वे सबमें हैं और सब उनमें हैं; वे सब हुए हैं और फिर भी सबके ऊपर हैं, अपनी सृष्टियोंसे बँधे नहीं। वे परात्पर परम पुरुष हैं; वे ही अवतार लेते हैं; वे ही प्रत्येक मानव-प्राणीमें गुह्यरूपसे रहनेवाले भगवान् हैं। मनुष्य जिन देवताओंको पूजते हैं वे केवल उन्हीं एक परम सत्यके व्यष्टि पुरुष, विभिन्न नाम और रूप और मानस शरीर हैं।'

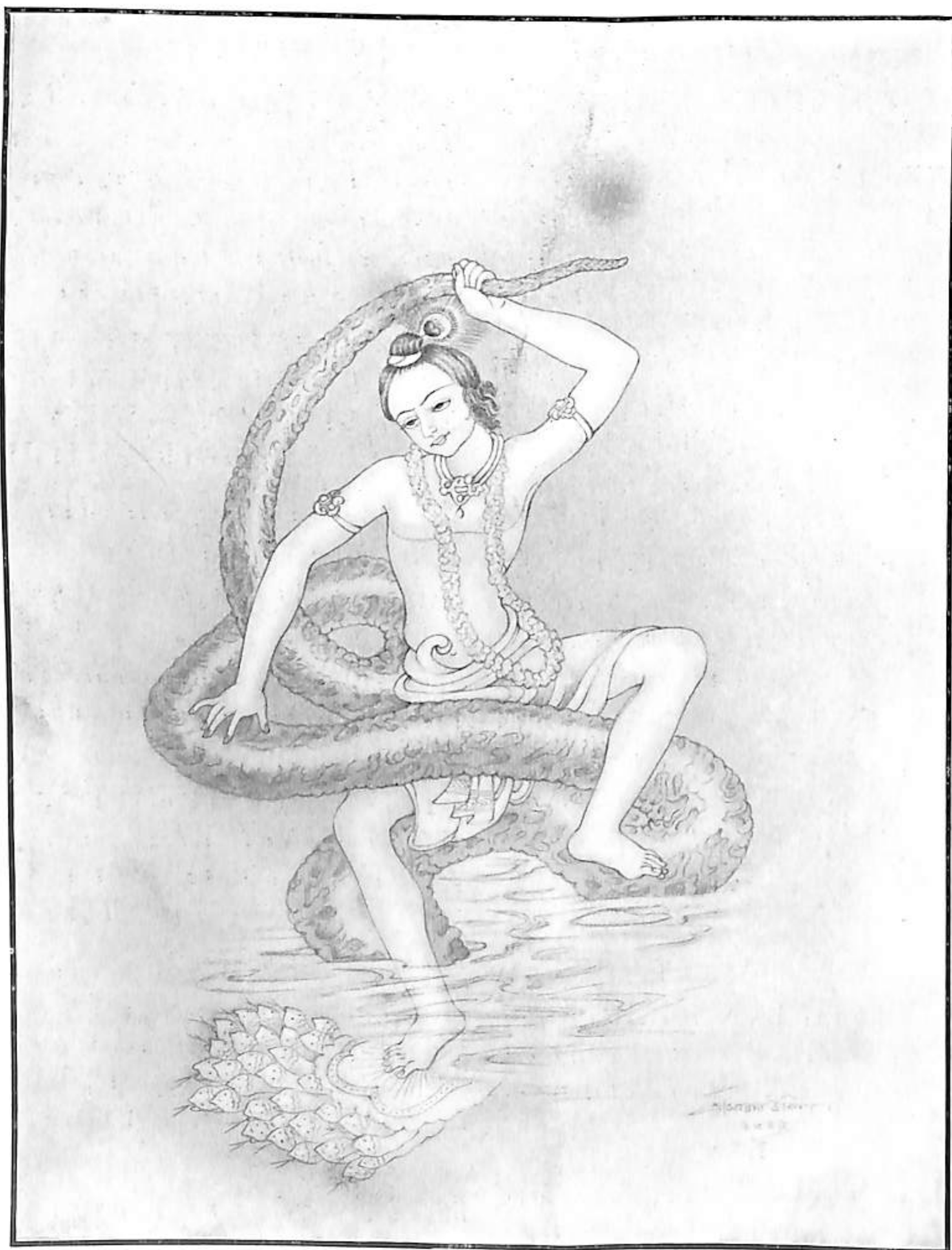
'भगवान्ने यह सारा जगत् अपनी ब्रह्मसत्तासे अपनी ही अनन्त सत्तामें आप ही व्यक्त किया है और इस जगत्में अपने-आपको भी व्यक्त किया है। सब पदार्थ उन्हींकी शक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ हैं और इन शक्तियों और अभिव्यक्तियोंका कोई अन्त नहीं है; क्योंकि

वे अनन्त हैं । सर्वव्यापक और सर्वान्तर्भावी अव्यक्त चिन्मय आत्मस्वरूपके नाते वे इस समस्त अनन्त दिक्-काल-रूप आविर्भावमें समरूपसे व्याप्त रहते हैं, किसी मनुष्य या पदार्थ या घटना या किसी प्रकारकी किसी बातसे उनका कोई पक्षपात, राग या सङ्ग नहीं होता । यह विशुद्ध सम आत्मा कोई कर्म नहीं करता पर सब-के-सब कर्मोंका निष्पक्ष आश्रय बना रहता है । और फिर भी ये ही परमेश्वर हैं, पर परमेश्वर हैं जगदात्मा और कालात्माके रूपमें जो अपनी 'बहु स्याम्' की बहुविध शक्तिके द्वारा, आत्माकी उस शक्तिके द्वारा जिसे हम प्रकृति कहते हैं, जगत्कर्मका सङ्कल्प, सञ्चालन और उसकी विधिका निश्चय करते हैं । वे ही सृष्टि, स्थिति और संहारके कर्ता हैं । वे बैठे रहते हैं प्रत्येक प्राणीके हृदयमें भी और वहाँसे व्यक्तिविशेषकी गुप्त शक्तिके रूपमें, ठीक उसी तरहसे कार्य करते हैं जिस तरहसे अखिल ब्रह्माण्डके अन्तर्यामीके रूपमें कार्य करते हैं । वे प्रकृतिकी शक्तिसे प्रकृतिके गुणमें और प्रकृतिकी कर्मशक्तिमें अपने गुह्य स्वरूपकी कोई कला प्रवर्तित और प्रकट करते हैं, प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणीको उसकी जातिके अनुसार पृथक्रूपसे रूपान्वित करते हैं और समस्त कर्मका संकल्प कर उसे उठाये रहते हैं । यही परमेश्वरसे कर्मका मूलारम्भ और यही सब पदार्थों और प्राणियोंमें उनका निरन्तर समष्टि और व्यष्टिरूपसे प्राकट्य, विश्वके विचित्र जड-चेतनमिश्रणका कारण है ।'

परम पुरुष भगवान्के तीन चिरन्तन शाश्वत पद हैं । एक सनातन अक्षर आत्मस्वरूप है, जो सब पदार्थोंका मूल और आश्रय है । दूसरा प्रकृतिस्थ क्षरस्वरूप है, जो इन सब प्राणियों और पदार्थोंके रूपमें प्रकृतिके द्वारा व्यक्त किया जाता है । तीसरा वह परम पुरुषस्वरूप है जो एक साथ यह दोनों हो सकता है—विशुद्ध अकर्ता आत्मा भी और साथ ही कर्मकर्ता जीव और जगका जीवन भी; क्योंकि वह इन दोनोंसे अन्य, अतीत और उत्तम है—अलग-अलग और एक साथ भी । हमारे अंदर वह इसी परम पुरुषका अंश है, इसी परम पुरुषकी एक चिच्छक्ति है । यह जीव वह पुरुष है जिसके अन्तस्तल—आत्मस्वरूपमें समग्र, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी भगवान् विराजते हैं और जो प्रकृतिके अंदर विश्वात्मामें रहता है । यह जीव कोई क्षणिक सृष्टि नहीं है बल्कि सनातन अन्तरात्मा है जो सनातन पुरुषमें, शाश्वत अनन्तमें रहता और कर्म करता है ।

हमारे अंदर यह जो चेतन जीव है, यह आत्माके इन पदोंमेंसे चाहे जिस पदको ग्रहण कर सकता है । मनुष्य चाहे तो केवल प्रकृतिकी क्षरतामें ही यहाँ रह सकता है । अपने सदात्मासे अनभिज्ञ, अपने अन्तःस्थित ईश्वरसे अनभिज्ञ वह केवल प्रकृतिको ही जानता है; वह देखता है प्रकृति ही यन्त्रवत् सब कर्म करनेवाली सृष्टिशक्ति है, हम और सब प्राणी उसीके निर्माण किये हुए हैं, जो इस जगत्में उसीकी पृथक्-पृथक् सत्ताएँ, पृथक्-पृथक् अहङ्कार हैं । इसी अति बाह्य भावसे वह जगत्में रहता है और जबतक वह ऐसे रहता है – अपनी बाह्य चेतनाको पारकर अपने अन्तःस्थ स्वरूपको नहीं जानता, तबतक उसका सारा विचार और विज्ञान चित्र-पटपर पड़नेवाली प्रकाशकी छायामात्र ही हो सकता है । इस अज्ञानका होना सम्भव होता है, जान-बूझकर यह अज्ञान उसपर लादा भी जाता है; क्योंकि अन्तःस्थ परमेश्वर अपनी योगमायासे समावृत है । उसका महत्तर स्वरूप हमारी दृष्टिसे छिपा रहता है, क्योंकि वह अपनी ही सृष्टि और अपने ही प्रतीकके साथ अंशतया इतना तदाकार हो जाता है और अपनी ही प्रकृतिके आवरण विक्षेपादि कर्मोंमें स्वनिर्मित अन्तःकरणको इतना मिला देता है कि बाह्यतः उसका महत्तर स्वरूप अनुभूत ही नहीं होता । इस अज्ञानका और एक कारण यह है कि परा आत्मप्रकृति, जो सब पदार्थोंका गुह्य रहस्य है, बाह्य जगत्में अपने-आपको प्रकट नहीं करती । हम अपनी बाह्य दृष्टिसे जिस प्रकृतिको देखते हैं । जो हमारे अन्तःकरण, शरीर और इन्द्रियोंमें कर्म करती है वह एक, अपरा शक्ति है, एक बहिर्भूता शाखा है । इसे हम वह जादूगर कह सकते हैं जो आत्माके प्रतीक निर्माण करता है पर आत्माको उन प्रतीकोंमें छिपाये रहता है, सत्यको छिपाता, और मनुष्योंके सामने केवल आवरण रखता है । यह भी एक शक्ति है जो भगवत्प्राकट्यके केवल गौण और निकृष्ट रूपका ही प्रदर्शन करती है, उससे भगवान्के आविर्भावकी पूर्ण शक्ति, गौरव, आनन्द और माधुर्यका कोई आस्वादन नहीं होता । हमारी यह प्रकृति अहङ्कारकी माया है, द्वन्द्वोंका एक गोरखधंधा है, अज्ञान और गुणत्रयका एक जाल है । और इसलिये जबतक मनुष्य मन, प्राण, शरीरके इस बाह्य जगत्में ही रहता है, आत्मामें नहीं, तबतक वह ईश्वरको, अपने-आपको और जगत्को उनके वास्तविक रूपमें नहीं देख सकता, मायाको नहीं पार कर सकता, तबतक उसे मायाके ही चक्करमें भटकते रहना पड़ेगा ।

कालीयके फणोंपर नृत्य



कालीके फनन ऊपर निरतत गोपाल लाल अद्भुत छबि कहि न जाय त्रिभुवन मन मोहे ।

मनुष्य अपनी प्रकृतिकी इस निम्नगतिसे अपने-आपको पीछे खींचकर इस बाह्य प्रकाशसे, जो यथार्थमें अन्धकार है, निकलकर सनातन अक्षर आत्मसत्ताके प्रकाशमें आकर इसीके दिव्य सत्यमें रह सकता है। तब वह व्यष्टिरूप संकुचित कारागारमें बन्द नहीं रहेगा—अपने-आपको यह छोटा-सा अहं नहीं समझेगा जो सोचता, कर्म करता, अनुभव करता और जरा-सेके लिये लड़ता-झगड़ता और प्रयास करता है। वह विशुद्ध आत्माकी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्थितिमें निमज्जित हो जाता है; वह ब्रह्म हो जाता है; अपने-आपको सब प्राणियों और पदार्थोंके एकमेव आत्माके साथ एक जान लेता है। उसे फिर अपने अहंकारका पता नहीं रहता, द्वन्द्व उसे कोई पीडा नहीं पहुँचाते, हर्ष-शोक उसके पास फटकने नहीं पाते, काम उसे विचलित नहीं कर सकता, पाप-पुण्य उसे दुखी या बद्ध नहीं करते। यदि इन बातोंके आभास उसके अंदर रह भी जायँ तो उन्हें वह प्रकृतिके गुण-कर्म जानता है, उस सत्यका कोई अंश नहीं जिस सत्यमें वह रहता है। कर्म करनेवाली केवल प्रकृति है, वही अपनी जड मूर्तियाँ उत्पन्न किया करती है; पर विशुद्ध आत्मा मौन, अकर्त्ता और मुक्त रहता है। वह सदा स्थिर है, प्रकृतिके कर्मोंसे वह अलिप्त है, इन कर्मोंको वह समत्व-बुद्धिसे देखता और अपने-आपको इन सबसे 'अन्य' समझता है। यह आत्मस्थिति स्थिर शान्ति और मुक्तिकी देनेवाली है, पर कर्मकी दिव्य शक्ति देनेवाली नहीं, पूर्ण सिद्धि देनेवाली नहीं; यह बहुत बड़ी चीज है, पर समग्र भगवत्-ज्ञान और आत्मज्ञान नहीं।

सम्पूर्ण संसिद्धि परम और समग्र भगवान्में ही रहनेसे प्राप्त होती है। वहाँ भगवान्के साथ मनुष्यका वह जीवभूत आत्मा एक हो जाता है, जो उन भगवान्का ही अंश है; तब वह सब जीवोंके साथ आत्मस्वरूपसे एक हो जाता है और ईश्वर तथा प्रकृतिके स्वरूपसे भी एक हो जाता है। तब वह केवल मुक्त नहीं, प्रत्युत परिपूर्ण होता है, परमानन्दमें डूबता और अपनी परम संसिद्धिके लिये प्रस्तुत होता है। वह अब भी आत्माको सब पदार्थोंका आश्रयस्वरूप सनातन अविनाशी आत्मा जानता है; पर साथ ही वह प्रकृतिको भी, न केवल एक जड शक्ति जो गुणत्रयके यन्त्रके अनुसार ही सब कार्य करती हो, बल्कि आत्माकी ही शक्ति और ईश्वरको ही प्रकट करनेवाली शक्ति जानता है। वह यह जानता है कि अपरा प्रकृति ही आत्माके कर्मका अन्तस्तम सत्तत्त्व नहीं है; वह उस उत्तमा भागवती प्रकृतिको जान लेता है और उसमें यह देख पाता है कि मन, प्राण, शरीररूपसे अभी जो कुछ अपूर्णतया अनुभव किया गया है उसका उद्गम और वह महत्तर सत्य जो अभी प्रकट होना बाकी है, उसी भागवती प्रकृतिमें है। मन-बुद्धिके इस निम्नस्तरसे ऊपर उठकर परा उत्तमा आत्म-प्रकृतिमें आकर वह सारे अहंकारसे मुक्त हो जाता है। वह अपने मूलस्वरूपसे अपने-आपको सारे जगत् और जीवोंके साथ एकीभूत आत्मा जानता है और अपनी कर्मशील प्रकृति-के स्वरूपसे अपने-आपको एक ही परमेश्वरकी एक शक्ति और परम अनन्तका सनातन जीवभूत अंश जानता है। वह सबको भगवान्में और भगवान्को सबमें देखता है; वह सब कुछ वासुदेवरूप देखता है। वह हर्ष और शोकके द्वन्द्वोंसे, प्रिय और अप्रियसे, काम और क्रोधसे, पाप और पुण्यसे छूट जाता है। उसकी चिन्मय दिव्य दृष्टि और इन्द्रियानुभूतिमें सब कुछ भगवान्का ही संकल्प और कर्म हो जाता है। विश्व चैतन्य और शक्तिके ही अंश और जीवभूत आत्माके नाते ही वह रहता और कर्म करता है; वह भगवान्के परमानन्दसे परिपूर्ण हो जाता है। उसका कर्म दिव्य कर्म होता है और उसका पद परब्रह्मपद। (श्रीअरविन्दके Essays on the Gita द्वितीय भागसे)। (अपूर्ण)

गीताके प्रकाशकी चमक

गीता वह तैलशून्य दीपक है जो अनन्त कालतक हमारे ज्ञान-मन्दिरमें प्रकाश करता रहेगा। पाश्चात्य दार्शनिक ग्रन्थ भले ही खूब चमकें, किन्तु हमारे इस लघु दीपकका प्रकाश उन सबसे अधिक चमककर उन्हें ग्रस लेगा।

—महर्षि द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

श्रीगीताका परमतत्त्वरहस्य

(लेखक—पं० श्रीधराचार्यजी शास्त्री वेदान्ततीर्थ, व्याकरणतीर्थ)

अनेक संत, महात्मा, विद्वान्, गृहस्थ और संन्यासी सदा श्रीगीताके परिशीलनमें ही अपने जीवनका विनियोग करते हुए अपनेको जीवन्मुक्त एवं कृतकृत्य मानते हैं। क्या उन महानुभावोंका ऐसा मानना अपनी भावनाके आधारपर है, अथवा स्वबुद्धिसे कल्पित है ? नहीं, नहीं; उपनिषद्रूपी श्रीगीताशास्त्र ही इसका विशेष निरूपण करता है—

'योगी पुरुष इस रहस्य-तत्त्वको जानकर वेदोंके पढ़नेसे एवं यज्ञ, तप, दानादि करनेसे जो पुण्यफल कहा है—उस सबका उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन विष्णुभगवान्‌के परमपदको प्राप्त होता है (८ । २८)।'

'हे अर्जुन ! इस प्रकार अति गोपनीय शास्त्र मैंने कहा; इसको जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है, अर्थात् उसके लिये और कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रहता (१५ । २०)।'

सूतजी शौनकादि ऋषियोंके प्रश्न करनेपर व्यास मुनिके द्वारा कथन किया हुआ श्रीगीताका माहात्म्य इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'जिस पुरुषका मन श्रीगीताके परिशीलनमें आनन्द पाता है, वही पुरुष अग्निहोत्री, सदा जप करनेवाला, क्रियावान्, पण्डित, दर्शनीय, धनवान्, योगी और ज्ञानवान् है (गीता-माहात्म्य)।'

जिस श्रीगीताके प्रत्येक पदका तत्त्व एवं माहात्म्य वाचामगोचर है, उसके तत्त्वकी आलोचना करना उपहासास्पद है; तथापि महात्माओंकी आज्ञाका पालन करना अपना परम कर्तव्य समझता हुआ मैं शेषावतार श्रीभाष्यकार एवं अन्यान्य आचार्यचरणोंकी व्याख्याओंसे इस विषयमें कुछ उद्धृत करूँगा।

नवीन महानुभावोंने इस वैज्ञानिक तर्कवादी युगमें अपनी-अपनी कल्पनाओंके अनुसार श्रीगीताशास्त्रका तत्त्व लौकिक-वैदिक कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाना ही मान रक्खा है। विज्ञानकी पराकाष्ठापर पहुँचे हुए आचार्यचरण श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि महानुभावोंने गीताशास्त्रको निःश्रेयस अर्थात् शाश्वत मोक्षपदका प्रापक माना है। भगवान्‌के कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं साधन-भक्तियोगका साङ्ग, सपरिकर निरूपण करनेपर भी अर्जुनकी जिज्ञासाधारा शान्त नहीं हुई; किन्तु बारंबार 'अर्जुन उवाच' की गुंजार होती ही रही। परम दयालु परम पिता श्रीकृष्णभगवान्‌को अन्तमें यह कहना ही पड़ा कि 'इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा; इस रहस्यमय ज्ञानको अच्छी तरह सर्वाङ्गरूपसे समझकर जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर—अर्थात् अपने अधिकारके अनुसार कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग-का अनुष्ठान कर।' 'गुह्याद् गुह्यतरं मया' इन पदोंकी आलोचना करनेसे ही—अर्थात् 'गुह्य', 'गुह्यतर'—इन दो पदोंका अर्थ व्याकरणादि शास्त्रके अनुसार प्रकृति-प्रत्यय-विवेचनद्वारा जाननेपर गुह्यतम अवशिष्ट रह जाता है; परन्तु इस बातको समझता हुआ भी अर्जुन आगे प्रश्न नहीं कर सका। क्योंकि उत्तरवाक्यका विमर्श करनेसे प्रश्नपरम्परा समाप्त हो जाती है अर्थात् मनुष्यका कर्तव्य ही समाप्त हो जाता है, फिर प्रश्न ही किस बातका ? जब 'अर्जुन उवाच' की झड़ी बंद हो गयी, तब साधन और साध्यका सम्मिश्रण करते हुए प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र निर्हेतुक दयाके द्वारा साध्योपाय-का उपदेश अर्जुनके लिये करते हैं। जैसा कि श्रीलोकाचार्य स्वामीने कहा है—'उपायमुपेयं च ब्रह्मैव' अर्थात् उपाय और उपेय परमात्मा ही है। आचार्यचरण श्रीयामुन मुनि भी 'शास्त्रसारार्थ उच्यते' इस पद्यके द्वारा साध्य-भक्तियोगका प्रदर्शन करते हैं। आचार्यचरण श्रीरामानुजाचार्य भी यही कहते हैं कि 'अपनेसे सम्पादन किये हुए सब साधनोंका परित्याग कर परम प्रभुको अपना परम साधन मानना, यही गीताका परम रहस्य है।'

'भक्तियोगारम्भविरोध्यनादिकालसञ्चितनानाविधानन्त-पापानुगुणान् तत्तत्प्रायश्चित्तरूपान्······नानाविधानन्तां-स्त्वया परिमितकालवर्तिना दुरनुष्ठानान् सर्वान् धर्मान् परित्यज्य भक्तियोगारम्भसिद्धये मामेकं परमकारुणिकमनालोचितविशे-षाशेषलोककशरण्यमाश्रितवात्सल्यजलधिं शरणं प्रपद्यस्व।

(श्रीरामानुज-गीताभाष्य)

'भक्तियोगके आरम्भके विरोधी, अनादिकालसे सञ्चित, नाना प्रकारके अनन्त पापोंके अनुरूप तथा उनके प्रायश्चित्त-रूप, नानाविध एवं अनन्त, अतएव परिमित आयुवाले तेरे द्वारा दुःसाध्य समस्त धर्मोंको त्यागकर भक्तियोगके आरम्भकी सिद्धिके लिये तू परमकारुणिक, योग्यता-अयोग्यता-का विना विचार किये ही समस्त लोकको शरण प्रदान करने-वाले एवं आश्रित जनोंके लिये वात्सल्यके सागर मुझ वासुदेव-की शरण ग्रहण कर।'

आचार्यचरण श्रीशङ्कराचार्य स्पष्टरूपसे कथन करते हैं—

"प्रभुके चरणोंमें मन लगा, प्रभुका भक्त हो, प्रभुके लिये याग कर तथा प्रभुको ही नमस्कार कर। अर्थात् जब सब प्रकारसे श्रीवासुदेव भगवान्‌में साध्य, साधन, प्रयोजनका अर्पण तू कर देगा, तब 'हे अर्जुन! तू मुझको ही प्राप्त होगा, इस बातकी मैं दृढ प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा प्रिय है।' इस प्रकार भगवान्‌की सत्य प्रतिज्ञाको जानकर भगवद्भक्तिका अप्रतिहत फल मोक्ष है, ऐसा निश्चय कर भगवान्‌की एकमात्र शरणागतिमें परायण हो।"*

प्रिय महानुभाव! आचार्यचरणोंके लेखानुसार अन्तः-करणमें अवश्य ही यह प्रतिफलित होगा कि वास्तवमें वसुदेव-नन्दन आनन्दकन्द श्रीश्यामसुन्दरके श्रीचरणोंकी शरणागति ही श्रीगीताका परमरहस्य एवं आत्मोज्जीवनका परम उपाय है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा है—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसि ह्यकुतोभयम्॥

'हे उद्धव! विधि-निषेध और प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा सुनने-योग्य और सुना हुआ—सबका त्यागकर, सब प्राणियोंके आत्मभूत मेरी ही शरणमें सर्वात्मभावसे आओ; उसी समय अकुतोभय स्थान—अर्थात् जहाँपर कहींसे भय आनेकी सम्भावना नहीं है, ऐसे स्थानको प्राप्त होगे।'

श्रुति भी बतलाती है—'न स पुनरावर्तते' वह इस संसार-में नहीं लौटता। वेदान्तसूत्र भी इसीकी पुष्टि करता है—'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।' मनुष्यमात्रको इसी स्थानका लक्ष्य करके संसारमें जीवन बिताना चाहिये, तभी मनुष्यता है। नहीं तो गोस्वामीजीका निम्नाङ्कित पद ही चरितार्थ होगा—

अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥

बोलो भक्त और भगवान्‌की जय

गीतामें उदार भक्तिवाद

'गीताको धर्मका सर्वोत्तम ग्रन्थ माननेका यही कारण है कि उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों योगोंकी न्याययुक्त व्याख्या है; अन्य किसी भी ग्रन्थसे इसका सामञ्जस्य नहीं है।'

'ऐसा अपूर्व धर्म, ऐसा अपूर्व ऐक्य केवल गीतामें ही दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अद्भुत धर्म-व्याख्या किसी भी देशमें और किसी भी कालमें किसीने भी की हो, ऐसा जान नहीं पड़ता।'

'ऐसा उदार और उत्तम भक्तिवाद जगत्‌में और कहीं भी नहीं है।'

—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

* 'मन्मना भव, मच्चित्तो भव; मद्भक्तो भव, मद्भजनो भव; मद्याजी मद्यजनशीलो भव; मां नमस्कुरु, नमस्कारम् अपि ममैव कुरु। तत्रैवं वर्तमानः—वासुदेवे एव समर्पितसाध्यसाधनप्रयोजनः मामेव एष्यसि—आगमिष्यसि। सत्यं ते प्रतिजाने, सत्यां प्रतिज्ञां करोमि एतस्मिन् वस्तुनि इत्यर्थः; यतः प्रियोऽसि मे। एवं भगवतः सत्यप्रतिज्ञत्वं बुद्ध्वा भगवद्भक्तेः अवश्यम्भाविमोक्षफल-मवधार्य भगवच्छरणैकपरायणो भवेत्—इति वाक्यार्थः।' (श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्य)

मृत्युविज्ञान और परमपद

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

(१)

एक कहावत है कि 'जप-तपमें क्या धरा है, मरना सीखो ।' बात सीधी-सी होनेपर भी अत्यन्त सत्य है । जप, तपस्या, सदाचार आदि जीवनकी सभी प्रकारकी साधनाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, यदि मनुष्य मरना नहीं जानता । और जो मरना जानता है, उसके लिये पृथक् रूपमें किसी साधनाकी आवश्यकता नहीं होती । ऐसे कई साधकोंके इतिहास पुराणादिमें मिलते हैं, जो जीवनभर कठोर नियमोंका पालन और उग्र साधना करते रहनेपर भी मृत्युकालकी लौकिक भावनाके प्रभावसे मृत्युके बाद उसी भावनाके अनुसार अपेक्षाकृत निकृष्ट गतिको प्राप्त हुए । इसके विपरीत ऐसे लोग भी पाये जाते हैं, जो जीवनकालमें अत्यन्त साधारणरूपसे रहनेपर भी प्राणत्यागके समय दृढ़ भावनाके फलस्वरूप उस उच्च भावनाके अनुसार उच्च गतिको प्राप्त हुए हैं । मरणोत्तर गति मृत्युकालमें भावनापर ही निर्भर करती है । श्रीभगवान्ने कहा है—

> यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
> तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥
> (गीता ८ । ६)

'मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ अन्तकालमें देहत्याग करता है, उसी भावसे भावित होकर सदा उसी भावको प्राप्त होता है ।' राजा भरत मृत्युकालमें हरिणके बच्चेकी भावना करते हुए देहत्याग करनेके कारण हरिण-योनिको प्राप्त हुए थे, यह कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। इसीलिये सभी देशोंमें आस्तिक लोग मुमूर्षु (मरते हुए मनुष्य) में सात्त्विक भावोंको जगाकर उनकी रक्षा करनेके लिये मृत्युके समय नाना प्रकारकी बाहरी व्यवस्था करते हैं । मरनेवाले मनुष्यके देहको अशुद्ध और अपवित्र वस्तुके स्पर्शसे यथा-सम्भव बचाकर रखना, भगवद्भाव और अन्य प्रकारके सद्भावोंको उद्दीप्त करनेवाले वचनोंको उसे सुनाना, साधुओंका संसर्ग कराना, सद्भावसे पूर्ण होकर मुमूर्षुके समीप बैठना आदि—ये सारे उपाय एक ही उद्देश्यकी पूर्तिके लिये होते हैं ।

मृत्युकालीन भावनाका इस प्रकार असाधारण प्रभाव है; इसलिये अन्तसमयमें शुद्ध भावना बनी रहे, प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको इसका उपाय सीख रखना चाहिये । समस्त जीवनकी सारी चेष्टाएँ यदि किसी योग्य उपदेष्टाके आदेशके अनुसार इस एक ही उद्देश्यको लेकर हों तो मृत्युके समय मनुष्य निश्चय ही इष्टभावनाको प्राप्त कर सकता है और मृत्युके बाद उसीके अनुसार इष्ट-गति भी पा सकता है । उपासककी और कर्मीकी गति अलग होनेपर भी दोनों एक ही मूल विज्ञानकी आलोचनाके विषय हैं । अतएव मृत्युविज्ञानका मूल सूत्र समझ लेनेपर मरणके बाद होनेवाली सभी गतियोंका रहस्य समझा जा सकता है ।

मृत्युविज्ञानका माहात्म्य पढ़कर कोई यह न समझ बैठें कि जीवनमें साधनाकी आवश्यकता नहीं है । साधनाकी बड़ी ही आवश्यकता है, वस्तुतः साधनाका अभ्यास इस प्रकारसे करना चाहिये, जिसमें जीवित दशामें ही मृत्युकालकी अभिज्ञता प्राप्त हो जाय और मृत्युके अंदरसे नित्य जीवनका पता लग जाय ।

जो जीते ही मरना जानता है, वह मृत्युसे नहीं डरता । मृत्युको अतिक्रम किये विना अतिमृत्यु-अवस्था प्राप्त नहीं होती और पूर्ण सत्यकी यथार्थ उपलब्धि किये विना मृत्युको अतिक्रम नहीं किया जा सकता । जो जीवनकालमें पूर्ण सत्यकी उपलब्धि कर पाते हैं, मृत्युकालमें भगवत्कृपासे उनकी वह उपलब्धि अपने-आप अनायास ही आविर्भूत हो जाती है ।

यह कहा जा चुका है कि गति मनुष्यके अन्तिम भाव-पर निर्भर करती है । साधारणतः परा और अपरा भेदसे गति दो प्रकारकी है । जिस गतिमें पुनरावर्तन नहीं है, वही 'परमा गति' है । और जिस गतिमें ऊर्ध्व अथवा अधःलोकोंमें जाकर कर्मफल भोगनेके पश्चात् पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है, वह 'अपरा गति' है । देवता, मनुष्य, प्रेत, नरक, तिर्यक् आदि योनियोंके भेदसे गतिभेद हुआ करता है । अर्थात् कर्मवश कोई देवलोकको जाता है और देव-देह प्राप्त करके नाना प्रकारके दिव्य भोगोंका आस्वादन करता है । कोई 'यातनादेह'

पाकर नरक-यन्त्रणा भोगता है। उन-उन लोकोंमें इन सब भोगोंके द्वारा कर्मक्षय होनेपर शेषकर्मोंके कारण फिर मनुष्य-देहमें आना पड़ता है।

परा गति एक होनेपर भी उसमें भी भेद हैं। अवश्य ही सभी भेदोंमें सर्वत्र एक ही वैशिष्ट्य दिखलायी पड़ता है। मृत्युके साथ ही भगवान्के परम धाममें प्रवेश किया जाता है अथवा मृत्युके बाद कई स्तरोंमें होते हुए वहाँ पहुँचा जाता है। यह दूसरे प्रकारकी गति भी परमा गति ही है। कारण इस स्तरसे अधोगति नहीं होती, क्रमशः ऊर्ध्वगति ही होती है और अन्तमें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। तथापि, यह परमा गति होनेपर भी है अपेक्षाकृत निम्न अधिकारीके लिये ही।

इनमें पहली मृत्युके बाद सद्योमुक्ति है और दूसरी क्रम-मुक्ति। एक अवस्था और है—जिसमें गति ही नहीं रहती। इस अवस्थामें जीवनकालमें ही परमपदका साक्षात्कार हो जाता है। यही जीवनकालकी सद्योमुक्ति अथवा जीवन्मुक्ति है। जो पुरुष यथार्थमें इस अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिये फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। प्रारब्धवश शरीर चलता है और कर्मका क्षय होनेपर शरीरका पात हो जाता है। उस समय अन्तःकरण, बाह्यकरण और प्राणादि सभी अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं—लिङ्गकी निवृत्ति हो जाती है, उत्क्रान्ति नहीं होती। देहत्यागके साथ-ही-साथ विदेह-कैवल्य लाभ हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्तिका भेद केवल उपाधिगत ही है— वास्तविक नहीं।

जन्मान्तरमें अथवा मरनेके बाद किसी अन्य देहकी प्राप्ति न होनेसे ही जीवको परमपदकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसी बात नहीं है। परमपदकी ओर जानेके मार्गमें, क्रम-मुक्तिमें मध्यमाधिकारीको साधारणतः यही अवस्था होती है। उसको जिन स्तरों अथवा धामोंको लाँघकर जाना पड़ता है, वे शुद्ध हैं; उनमें वासना होनेपर भी वह शुद्ध वासना है; वे समस्त स्तर मायातीत होनेपर भी महामायाके अन्तर्गत हैं। उनमें अशुद्ध वासना नहीं है, इसलिये वहाँ अशुद्ध स्तरोंका अधः आकर्षण नहीं होता। विशुद्ध साधनाका आस्वादन इन्हीं सब स्तरोंमें हुआ करता है। ये सब शुद्ध धाम होनेपर भी भगवान्के परम धाम नहीं हैं। इन स्थानोंसे अधोगति अवश्य ही नहीं होती, परन्तु यहाँ अपूर्णताका बोध रहता है—यहाँ मिलन-विरह है, उत्थान है, आविर्भाव-तिरोभाव है। यहाँ भगवान्की नित्योदित सत्ताका पूर्ण साक्षात्कार नहीं मिलता।

मनुष्यका जन्म क्यों होता है? मलिन भोग-वासना ही जन्ममें कारण है। कर्तृत्वाभिमानके साथ सकामभावसे कर्म करनेपर चित्तमें नयी-नयी वासनाओंका उदय होता रहता है और उसके प्रभावसे प्राचीन संस्कार जाग्रत् होकर उन्हें पुष्ट करते रहते हैं। कालभेदसे विभिन्न वासनाएँ क्रियमाण कर्मके प्रभावसे उत्पन्न होनेके कारण और साधारणतः विक्षिप्त-चित्तमें पूर्वक्षणवर्ती और परक्षणवर्ती वासनाओंमें परस्पर विजातीय भेद होनेके कारण कोई भी वासना प्रबल आकार धारण करके फलोन्मुख नहीं हो सकती। कोई-सी भी पहली वासना अगली विजातीय वासनाके द्वारा दबकर योग्य उद्दीपक कारणकी प्रतीक्षा करती हुई अव्यक्त भूमिमें सञ्चित रहती है। मनकी क्रियाके साथ वासना-भावनादिका स्वाभाविक सम्बन्ध है, परन्तु मनकी क्रिया प्राणकी क्रियाके साथ सम्बन्धित है। प्राणके निश्चल होनेपर मन कार्य नहीं कर सकता। इसी तरह प्राणके सूक्ष्म हो जानेपर मनकी क्रिया भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म हो जाती है। इसीके फलस्वरूप जो वासनाएँ व्यक्त होती हैं या भावनाएँ उदित होती हैं, वे भी सूक्ष्म स्तरकी होती हैं। देहस्थ प्राण प्राणवाहिनी शिराका आधार लेकर कार्य करता है। इसी प्रकार मन भी मनोवहा नाड़ीका अवलम्बन लेकर क्रिया करता है। इसीलिये वासना या भावनाके तारतम्यके अनुसार विभिन्न नाड़ियोंमें क्रियाशीलता देखी जाती है। मनुष्य मृत्युके पूर्वक्षण जो चिन्तन करता है अर्थात् उस समय उसके चित्तमें जिस भावनाका उदय होता है, वही उसकी अन्तिम चिन्ता या भावना होती है; क्योंकि उसके बाद ही देहगत प्राणोंकी क्रिया निरुद्ध हो जाती है, इसलिये कोई नयी भावना उदय होकर उस अन्तिम भावनाको दबा दे—ऐसी सम्भावना नहीं रहती। अतएव वह अन्तिम भावना ही एकाग्र होकर प्रबल आकार धारण कर लेती है। देहाश्रित विक्षिप्त करण-शक्तिकी मृत्युकालीन स्वाभाविक एकाग्रतासे भी इस तन्मयताको विशेष पुष्टि मिलती है। एकाग्रताके फलस्वरूप हृदयमें एक दिव्य प्रकाशका उदय होता है, मुमूर्षुका (मरनेवालेका) अन्तिम भाव इस ज्योतिर्मय प्रकाशमें स्पष्ट विकसित हो उठता है और दृष्टिगोचर होता है। तदनन्तर वह अभिव्यक्त भाव ही जीवको यथोचित नाड़ी-मार्ग अथवा द्वारपथसे निकालकर बाहर ले जाता है और कर्मानुसार भोगायतन शरीर ग्रहण करवाकर निर्दिष्ट कालके लिये सुख-दुःखका भोग करवाता है।

मृत्युकालमें जो भावका उदय होता है, उसका तत्त्व-विश्लेषण करनेपर कई बातें जाननेमें आती हैं। उच्चाधिकार-विशिष्ट पुरुष अपने पुरुषार्थबलसे इष्टभावविशेषको प्राप्त करके उसे बनाये रख सकते हैं। मध्यमाधिकारी पुरुषकी स्वतन्त्रता परिच्छिन्न होनेके कारण मृत्युके समय हृदयमें उस भावविशेषको उद्दीपित करनेके लिये अथवा जिसमें वह भाव पहलेसे ही अविच्छिन्नभावसे जाग्रत् रहे, इसके लिये उसको जीवनभर निर्दिष्ट साधनके द्वारा चेष्टा करनी पड़ती है। प्रतिकूल दैव न होनेपर भगवान्के मङ्गलविधानसे उसकी वह चेष्टा सफल हो सकती है। दैवशक्ति अथवा महापुरुषोंका अनुग्रह होनेपर मृत्युके समय अपनी ओरसे किसी प्रकारकी विशेष चेष्टा न होनेपर भी निश्चय ही सद्भावकी जाग्रति हो सकती है। प्रबल आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न पुरुषकी, इष्टदेवताकी, सद्गुरुकी अथवा ईश्वरकी दयाको इस अनुकूल दैवशक्तिके अन्तर्गत ही समझना चाहिये। निम्नस्तरके मनुष्य अधिकांश स्थलोंमें पूर्वकर्मके अधीन होकर जडकी भाँति कालके स्रोतमें बह जाते हैं।

भावकी जाग्रति किसी भी प्रकारसे हो, भावके वैशिष्ट्यसे ही मृत्युके बाद जीवकी गति निर्दिष्ट होती है। 'जैसा भाव वैसी ही गति।' 'अन्त मति सो गति।' जो पुरुष जीवन-कालमें ही भावसे अतीत हो गये हैं—जो सचमुच जीवन्मुक्त हैं, उनकी कोई गति नहीं है। वासनाशून्य होनेपर गति नहीं रहती—वही श्रेष्ठतम परम गति है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८।५)

'अन्तकालमें भगवद्भावका स्मरण करते हुए देहत्याग कर सकनेपर भगवान्का सायुज्य-लाभ किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

(२)

यहाँ एक रहस्यकी बात कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक भावोदयके साथ मन, प्राण आदिकी अवस्था और नाडीविशेषकी क्रियाका सम्बन्ध है। इसी प्रकार मन, प्राण आदिको निर्दिष्ट प्रकारसे स्पन्दित कर सकनेपर और नाडीविशेषका सञ्चालन करनेपर तदनुसार ही भावका उदय हुआ करता है। फलतः गतिके ऊपर उसका प्रभाव कार्य करता है। आसन, मुद्रा, प्राणक्रिया प्रभृति दैहिक और प्राणिक चेष्टाओंसे मनकी क्रिया और भाव आदि नियन्त्रित होते हैं—इस बातको सभी जानते हैं। इस मृत्युविज्ञानको तिब्बतमें बहुत-से लोग अब भी जानते हैं और क्रियारूपमें उसका प्रयोग भी किया करते हैं।* हमारे यहाँ उसका ज्ञान शास्त्रोंमें और कुछ थोड़े-से महापुरुषोंमें ही सीमित रह गया है। साधारण लोगोंको न उसका कुछ पता है और न उससे कोई लाभ ही उठाते हैं।

गीताके अष्टम अध्यायमें दो जगह (श्लोक ९, १० और श्लोक १२, १३ में) इस विज्ञानका सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। यथा—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(८।९-१०)

अर्थात् 'यदि कोई मृत्युके समय भक्तियुक्त होकर स्थिर चित्तसे योगबलके द्वारा सम्यक् प्रकारसे भ्रुवोंके मध्यमें प्राणोंको आविष्ट करके, उस तमोऽतीत, सूर्यकी भाँति दीप्तिशील, समस्त जगत्के कर्ता और उपदेष्टा, परम सूक्ष्म, प्रज्ञानघन, दिव्य पुराणपुरुषका स्मरण करता है, वह उनको प्राप्त होता है।'

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(८।१२-१३)

---

* देखिये 'With Mystics and Magicians in Tibet' by Alexandra David-Neel pp. 29-33 (Penguin Books Ltd., Harmondsworth, Middlesex, England).

अर्थात्–'सब द्वारोंको संयत करके, मनको हृदयमें निरुद्ध करके, योगधारणाके द्वारा प्राणोंको मूर्धदेशमें अथवा मस्तिष्कमें स्थापन करके एकाक्षर शब्दब्रह्म ॐकारका उच्चारण और भगवान्‌का स्मरण करते-करते जो देह त्यागकर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

किस प्रकारसे देह-त्याग करनेपर साक्षात् भावसे भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति की जा सकती है, गीताके उपर्युक्त श्लोकोंमें उसीका वर्णन किया गया है। विचारशील पाठक देखेंगे कि इस वर्णनमें संक्षेपसे अष्टाङ्गयोग, मन्त्र, भक्ति, ज्ञान आदि भगवत्प्रापक सभी साधनाओंका सार उपदेश भरा हुआ है। भगवत्कृपासे इस विज्ञानरहस्यको जितना कुछ मैं समझ सका हूँ, उसीका किञ्चित् आभास थोड़े शब्दोंमें इस छोटे-से लेखमें देनेकी चेष्टा की जाती है। मेरी जडताके कारण जो त्रुटियाँ दिखलायी पड़ें, सुधीजन दया करके उनके लिये मार्जना करें।

(३)

गीताके वचनोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ॐकारके उच्चारणसे पूर्व सर्वद्वारोंका संयम, हृदयमें मनका निरोध और प्राणोंका भ्रूमध्यादि (मूर्धापर्यन्त) देशमें स्थापन होना आवश्यक है। द्वार-संयम अवश्य ही नवद्वारोंका नियन्त्रण है। मनुष्यका शरीर नवद्वारोंवाला है। मृत्युके समय साधारणतः इन्हीं नवद्वारोंमेंसे किसी एक द्वारसे प्राण बाहर निकलते हैं। अपने-अपने कर्मानुसार पुण्यवान् पुरुष ऊपरके द्वारोंसे, पापी नीचेके द्वारोंसे और मध्यश्रेणीके पुरुष बीचके द्वारोंसे जाते हैं (महाभारत-शान्तिपर्व, अध्याय २९८)। जीव जिस प्रकारके द्वार-पथसे बाहर निकलता है, उसकी उत्तरकालीन गति भी उसीके अनुसार हुआ करती है। अथवा जो जीव जिस प्रकारकी गति प्राप्त करनेवाला होता है, कर्मदेवताकी प्रेरणासे परवश होकर उसे तदनुकूल द्वारसे ही बाहर निकलना पड़ता है। परन्तु पुण्यवान् अथवा पापी कोई भी दशम द्वारसे अथवा ब्रह्मरन्ध्र-पथसे नहीं निकल सकता। ब्रह्मरन्ध्र उत्क्रमण-का मार्ग है। इस पथसे बाहर निकलनेपर फिर मानव-आवर्त-में पुनरागमन नहीं होता। मृत्युकालमें नौ द्वारोंके रोकनेका प्रधान उद्देश्य यही है कि उन मार्गोंसे निकलनेपर पुनरावर्तन अवश्यम्भावी है। उनके बंद कर देनेपर अपुनरावृत्तिद्वारका अथवा ब्रह्मपथका खुलना सहज हो जाता है। घड़ेके छेद बंद न करके यदि जल भरा जाय तो जैसे उसमें जल नहीं भरा जा सकता, वैसे ही इन सब बाहरी द्वारोंको रोके बिना अन्त-द्वारके खोलनेकी चेष्टा व्यर्थ होती है। बाह्य द्वारोंके बंद जानेपर निश्चिन्त होकर भीतरका पथ ढूँढ़कर प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु इन द्वारोंको किस प्रकारसे संयत करना चाहिये, इसके सम्बन्धमें गीतामें स्पष्ट उपदेश नहीं दिया गया है। योगीलोग कहते हैं कि यद्यपि नवद्वारोंमेंसे किसी एक द्वारका अवलम्बन करके क्रियाके कौशलसे इन द्वारोंको रोका जा सकता है, तथापि मुद्राविशेषके द्वारा गुद-द्वारको रोक दिया जाय तो सहज ही फल प्राप्त हो सकता है। कुछ ही देरतक उस विशिष्ट मुद्राका अभ्यास करनेपर एक आवेशका भाव उत्पन्न होता है, तब बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता है और सारे द्वार-पथोंमें* ताला-सा लग जाता है। यही इन्द्रियोंका प्रत्याहार है। परन्तु याद रखना चाहिये कि इस मुद्राका कार्य करनेसे पहले पूरक और तदनन्तर कुम्भक प्राणायाम कर लेना आवश्यक है। वायुको स्तम्भित करनेके बाद ही मुद्राका साधन करना पड़ता है। कुम्भक अच्छी तरह कर सकनेपर समान वायुकी तेजोवृद्धि होती है, तब प्रबल समान वायुके द्वारा आकर्षित होकर देहस्थित सभी नाड़ियाँ (तिर्यक्, ऊर्ध्व और अधःस्थ) मध्यनाड़ी या सुषुम्णामें एकीभूत हो जाती हैं और उन-उन नाड़ियोंमें सञ्चरणशील वायुसमूह भी समरसीभूत होकर एकमात्र प्राणके रूपमें परिणत हो जाता है। यही नाड़ीका सामरस्य है। इसके बाद, सुषुम्णा नाड़ी ऊर्ध्व-स्रोतस्विनी है या वह ऊपरकी ओर बह रही है–इस प्रकारकी भावना करनी पड़ती है। सुषुम्णा देहस्थित सब नाड़ियोंके बीचमें है—यह नाभिसे लेकर मस्तकस्थ ब्रह्मरन्ध्रका भेद करके शक्तिस्थानपर्यन्त विस्तृत है। इस साधनके फलस्वरूप सभी नाड़ियाँ और हृदयादि समस्त ग्रन्थि-कमल (कुम्भक और मुद्राके प्रभावसे) रुककर (भावनाके बलसे) सर्वतोभावसे विकसित हो जाते हैं—ऊपरकी ओर बहने लगते हैं।†

हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य आदि स्थानोंमें प्राणशक्ति सरलगतिसे रहित होकर कुटिल या वक्र हो गयी है, इसीसे उन सब स्थानोंको ग्रन्थि कहते हैं। ये ग्रन्थियाँ सङ्कोच-विकासशील होने-के कारण इन्हें पद्म या कमल भी कहते हैं।

द्वारसंयम या प्रत्याहार सिद्ध होनेपर, अर्थात् इन्द्रिय और प्राणोंके प्रत्याहृत होनेपर मनकी बहिर्मुखी प्रेरणा या

* यही इन्द्रियद्वार हैं।

† अबतक अपानशक्तिकी प्रधानताके कारण ये सब अधोमुखी और संकुचित थे।

आकर्षण निवृत्त हो जाता है। कारण इन्द्रिय ही वायुकी सहकारितासे मनका बाह्य जगत्‌के साथ सम्बन्ध करती है। द्वार-संयम सिद्ध हो जानेपर योगका बहिरङ्ग सम्पन्न हो जाता है।

अन्तरङ्ग अंश तब भी शेष रहता है, वह मनोनिरोधके द्वारा सम्पन्न होता है। धारणा, ध्यान और समाधिनामक अन्तरङ्ग योग वस्तुतः मनोनिरोधके ही क्रमिक उत्कर्षके नाम हैं। मनके निरोधका स्थान है हृदय। द्वार-संयमके बाद इन्द्रियपथ रुक जानेके कारण मन यद्यपि बाह्य जगत्‌में नहीं जा सकता, तथापि वह देहके अंदर प्राणमय राज्यमें अबाध सञ्चरण करता रहता है। इस सञ्चरणके फलस्वरूप सुप्त संस्कारसमूह जाग्रत् होकर स्वप्नकी भाँति दृश्य-दर्शनके कारण बन जाते हैं। स्थिरता-प्राप्तिके मार्गमें यह एक बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। यह पहले कहा जा चुका है कि मनके सञ्चरण-मार्गका नाम मनोवहा नाड़ी प्रसिद्ध है। देह-भरमें व्याप्त अति सूक्ष्म आध्यात्मिक वायुके सहारे सूतके तन्तुओंसे बने जालकी भाँति एक बहुत ही जटिल नाड़ी-जाल फैला हुआ है। यह देखनेमें अनेकांशमें मछलीके जालके समान है और बीच-बीचमें कूट ग्रन्थियोंके द्वारा संयोजित है।*

मन सूक्ष्म प्राणकी सहायतासे वासनानुसार इन स्थानोंमें भ्रमण करता है और नाना प्रकारके दृश्य देखता है। इन दृश्योंका देखना और तज्जनित भावोंका उदय होना पूर्वसंस्कार-का ही पुनरभिनय है। इन्द्रियपथके द्वारा जो आत्मतेज अबतक बाह्य जगत्‌में फैला हुआ था, वही इन्द्रियोंके रुक जानेके साथ-साथ उपसंहृत होकर अंदर संस्कार-राज्यमें फैल जाता है। उस समय बाह्य अनुभव, यहाँतक कि बाह्य स्मृतितक लुप्त हो जाती है। इसीसे इन संस्कारोंके दर्शन अत्यन्त स्पष्ट और जीवितके सदृश अनुभूत होते हैं, प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं। साधारणतः बहुत लोग इनको ध्यानजनित दर्शन कहा करते हैं। परन्तु वास्तवमें इनका बहुत अधिक मूल्य नहीं है। विक्षिप्त चित्तमें ही ऐसा हुआ करता है। बाह्य ज्ञान लुप्त होनेके साथ ही इन सारे दर्शनोंका उदय होता है। सत्यकी खोजमें लगे हुए योगीके लिये यह आवश्यक है कि वह इस प्रकारके दर्शनोंसे यथासम्भव अपनेको बचाकर चले, इनमें फँस न जाय। मनकी चञ्चलता या चलन-शक्तिके रुके विना ऐसा होना सम्भव नहीं।

परन्तु प्राणको स्थिर किये विना मनकी इस चञ्चलताको दूर करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीलिये द्वार-संयम-के बाद और मनोनिरोधके पहले प्राणोंको स्थिर करनेकी आवश्यकताका अनुभव होता है। योगधारणाके द्वारा देहके अंदर नाना प्रकारके कार्य करनेवाली प्राणशक्तिको भ्रू-मध्यमें और भ्रू-मध्यसे मूर्धापर्यन्त स्थापन करना पड़ता है। प्राण-शक्तिके सञ्चारक्षेत्र असंख्य नाड़ियोंको एक नाड़ीमें परिणत किये विना असंख्य प्राणधाराओंको एक मार्गपर चलाना और समस्त प्राणोंको एक स्थानमें एकत्र करना सहज नहीं होता। श्रीभगवान्‌ने 'योगबल' और 'योगधारणा' के द्वारा इसी योजनात्मक कार्यकी ओर ही सङ्केत किया है। इसे किस प्रकार करना पड़ता है, इसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है।† द्वार-संयम या प्रत्याहारद्वारा जैसे मनकी इन्द्रियाभिमुखी—बहुमुखी धारा रुकती है, वैसे ही इस योगधारणाके प्रभावसे

* मनोवहा नाड़ीकी अनेकों प्रकारकी शाखा-प्रशाखाओंके द्वारा यह जाल बना हुआ है। मनकी एक-एक प्रकारकी वृत्ति या भाव एक-एक प्रकारकी नाड़ीके मार्गमें क्रिया करता है अर्थात् एक-एक प्रकारके भावके उदय होनेपर मन एक-एक प्रकारके नाड़ी-मार्गमें घूमने-फिरने लगता है। ये सभी मार्ग सामान्यतया मनोवहा नाड़ी होनेपर भी इनमें परस्पर वर्णादिगत अनेकों प्रकारके अवान्तर भेद हैं। रूपवाहिनी, शब्दवाहिनी आदि नाड़ियोंके साथ मनोवहा नाड़ीका संयोग है। पञ्चभूतके सार तेजके द्वारा ही मनका प्रकाश होता है। मनके वृत्तिभेदमें भी पञ्चभूतोंका सन्निवेशगत तारतम्य है। जैसे क्रोधमें तेज और काममें जल इत्यादिका प्राधान्य है (यद्यपि प्रत्येक वृत्तिमें ही पञ्चभूतोंका अंश है)। पूर्वके अनेक जन्मोंकी वासनारूपी सूक्ष्म-वायुके कण या रेणुओंके द्वारा यह जाल भरा हुआ है। यही सब मनको चञ्चल करते हैं। हृदयके बाहर इस प्रकार एक बड़ा भारी जाल है। इस प्राणमय नाड़ी-जालके द्वारा सारा शरीर व्याप्त है। यह वायुमण्डल मनका सञ्चारक्षेत्र है। इसीके अंदर यथास्थान लोक-लोकान्तर भासित होते हैं। चञ्चल मन इसमें सर्वत्र सञ्चरण करता रहता है। इस व्यष्टि देहकी ही भाँति ब्रह्माण्डमें भी सूर्यमण्डलके बाहर इसी प्रकारका जाल सारे विश्वमें व्याप्त है। एक-एक नाड़ी एक-एक रश्मि है। इन रश्मियोंके मार्गसे ही प्राण या मन सञ्चरण किया करते हैं, देहके भीतरके लोकोंमें भी करते हैं और बाहरके लोकोंमें भी।

† कुम्भकके प्रभावसे समान वायु उत्तेजित होकर सब नाड़ियोंको एक नाड़ीमें परिणत (नाड़ी-सामरस्य) और समस्त वायु-समूहको प्राणकी धारामें पर्यवसित कर देती है, यही संयोजनकी क्रिया है।

प्राणकी बहुमुखी धाराएँ एकत्र होकर मिल जाती हैं । प्राणकी विभिन्न धाराएँ इडा और पिङ्गलाके मार्गसे द्विधा विभक्त होकर सहज ही भ्रू-मध्यमें गुप्तधारा सुषुम्णाके साथ मिलकर एक हो जाती हैं । यही ऊर्ध्वमें त्रिवेणी-सङ्गम है । अथवा पहले मूलाधारमें, अधःस्थ त्रिवेणीक्षेत्रमें ये दोनों धाराएँ सुषुम्णाके साथ सङ्गत होती हैं । इसके बाद वह एकीभूत हुई धारा क्रमशः ऊपर उठकर भ्रू-मध्यमें पहुँचकर स्थिर हो जाती है । इधर विक्षिप्त मनःशक्ति भी चञ्चलता छोड़कर हृदय-प्रदेशमें सो जाती है । मन स्थिर होनेपर वह नाड़ी-मार्गमें नहीं रहता । नाड़ियाँ मनके सञ्चरणका मार्गमात्र हैं । मन जितना ही स्थिर होता जाता है, उतना ही नाड़ीचक्रस्थ वायुमण्डल सङ्कुचित होकर हृदयाकाशमें प्रविष्ट हो जाता है । तब मनकी चञ्चलता शान्त हो जाती है, मन निरुद्धवृत्तिवाला होकर स्थित रहता है ।

यह हृदय या दहर-आकाश ही स्थिर मनके रहनेका स्थान है ।

यतो निर्याति विषयः यस्मिंश्चैव प्रलीयते ।
हृदयं तद्विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम् ॥

हृदय पुरीतत् नाड़ीके द्वारा घिरा हुआ शून्यमय अवकाश है । जब मन इस अवकाशको प्राप्त हो जाता है तब वह निर्वात देशमें स्थित होनेके कारण अचल हो जाता है । यही मनका निरोध है । मनकी क्रियाओंका अभाव होनेके कारण उस समय वृत्ति-ज्ञान नहीं रहता । इसीलिये सुषुप्तिमें मानसिक वृत्तिरूप ज्ञानका अभाव होता है । द्वार-संयम और मनोरोध होनेपर सुषुप्तिकी अवस्था ही द्योतित होती है । द्वार-संयम हो जानेसे इन्द्रियोंके विषयोंका सन्निकर्ष नहीं रहता, इस कारण जाग्रत्-ज्ञान नहीं होता और मनकी वृत्तियोंके स्तम्भित हो जानेके फलस्वरूप स्वप्न-ज्ञान भी नहीं होता । अतएव यह जाग्रत् और स्वप्ननामक दोनों अवस्थाओंसे अतीत सुषुप्तिके सदृश एक अवस्था है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

केवल सुषुप्तिके सदृश ही नहीं—यह जडवत् अवस्था है । कारण सुषुप्तिमें मनके कार्य न करनेपर भी प्राण निष्क्रिय नहीं रहते । मनुष्य अज्ञानमें निमग्न रह सकता है, ज्ञान और ज्ञानमूलक कोई वृत्ति उसके नहीं रह सकती; किन्तु उस समय भी देह-रक्षणके उपयोगी श्वास-प्रश्वास आदिकी प्राणक्रिया तो होती ही रहती है । परन्तु इस अवस्थामें प्राण भी अपने-अपने कार्योंसे छुट्टी लेकर स्थानविशेषमें स्थिर हो जाते हैं । अतएव ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियकी भाँति मन और प्राणके भी निस्तब्ध हो जानेके कारण उस समय मनुष्य एक तरहसे शव-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है । परन्तु मनकी यह जो सुषुप्तिवत् स्थिरता है, यह वास्तविक स्थिरता नहीं है । यह तमोगुणका आवरण मात्र है । यह यथार्थ निरोध नहीं है । एकाग्रताके बाद ही निरोध होता है । एकके-बाद-एक एकाग्रताकी समस्त सूक्ष्म भूमियोंको लाँघ जानेपर निरोध अपने-आप ही आ जाता है, इसीलिये योगीलोग सम्प्रज्ञात समाधिके बाद ही निरोधात्मक असम्प्रज्ञात समाधिको योगपदपर वरण करते हैं । यही 'उपायप्रत्यय' है । सम्प्रज्ञातके हुए विना प्राकृतिक कारणवश यदि मनका निरोध हो जाता है तो वह असम्प्रज्ञात होनेपर भी 'भवप्रत्यय'—योगपदवाच्य नहीं है ।

मनको संस्कृत वा शुद्ध किये विना उसे स्थायीरूपमें निरुद्ध नहीं किया जा सकता, कारण उसमें बीजका ध्वंस नहीं होता । डूबी हुई चीजके पुनः ऊपर उठ आनेकी भाँति उसका फिर व्युत्थान होता है, पुनरावृत्ति होती है । प्रज्ञाका उदय होकर क्रमशः उसका निरोध होना ही आवश्यक है । जैसे पूर्णिमाके बाद चन्द्रकलाका क्रमशः क्षय होते-होते बिल्कुल कलाहीन अमावस्या हो जाती है, वैसे ही इसको भी समझना चाहिये ।

इसलिये हृदयसे मनको चेतन करके उठाना होगा । वस्तुतः चेतन करना और उठाना एक ही चीज़ है । सुषुम्णाका स्रोत ही चैतन्यकी धारा है—मनको जगाकर ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णाकी धारामें डाल देना होगा । यह जाग्रत् मन ही मन्त्रस्वरूप है, जिसको एक तरहसे प्रबुद्ध कुण्डलिनीकी स्फूर्ति भी कहा जा सकता है । शिवसूत्रमें एक सूत्र है 'चित्तं मन्त्रः ।' इस सूत्रमें इसीलिये चित्त या मनको मन्त्र कहा गया है । प्राण सुषुम्णाके स्रोतमें बहकर ऊपर चले गये हैं । मनको भी उसी स्रोतका सहारा पकड़ना होगा । तभी प्राण और मनका पूर्ण मिलन सम्भव होगा । इस मिलनसे ही दिव्य ज्ञानका उदय होता है । अतएव हृदयमें जिस मनके रोकनेकी बात कही गयी है, उसे अशुद्ध मनका रोध ही समझना चाहिये । इसके बाद विशुद्ध सत्त्वात्मक मनका विकास (ऊर्ध्वारोहण मार्गसे), उसका क्रमिक क्षय और गीतोक्त ॐकारके उच्चारणका कार्य होता है ।

और एक बात है । हृदयरूपी शून्यमें जैसे असंख्य

नाड़ियोंका पर्यवसान होता है, वैसे ही असंख्य नाड़ियोंके एकीभूत होनेपर जिस ऊर्ध्वस्रोता महानाड़ीका विकास होता है, उसका भी पर्यवसान एक महाशून्यमें हुआ करता है। हृदयाकाशमें जैसे सञ्चार नहीं हैं, वैसे ही इस महाकाशमें भी सञ्चार नहीं हैं। परन्तु हृदयाकाश जैसे गतागतिके अतीत नहीं है, कारण बहुमुखी मन यहाँ आकर लीन होनेपर भी व्युत्थित हो फिर बहुमुखी होकर दौड़ता है; वैसे ही यह महाकाश भी गतागतिसे अतीत नहीं है। यहाँ एकीभूत मन विलीन होनेपर भी वह फिर उठकर एकमुखी होकर चलता रहता है। यद्यपि यहाँ मनकी बहुमुखी गति पहले ही निवृत्त हो चुकी है, पर उसकी एकमुखी गति तो है ही, गतिका सर्वथा निरोध नहीं है। यह नित्य, स्थिर, निर्विकार अवस्था नहीं है। इसीलिये इस महाकाशसे भी मनको ऊपर उठाना होगा। इसके ऊपर उठनेपर वहाँ न नाड़ी है और न गति ही है। वह निरोधावस्था है। परन्तु गति न होनेपर भी, वहाँ भी मनका कम्पन रहता है; वह है विकल्प या मनका स्वभाव। इस विकल्पका भी उदयास्त है। जब इस कम्पनका भी पर्यवसान हो जाता है, तभी विकल्पहीन चैतन्य सूर्यका साक्षात्कार होता है। यह विकल्प मनकी अतीत भूमि है। इसका उदयास्त नहीं है, इसलिये यह नित्योदित है, नित्य प्रकाशमान है। यही पूर्ण प्रकाशस्वरूप आत्मा या ब्रह्म है। विकल्पहीन मन तब इस प्रकाशके साथ अभिन्न होकर विमर्श रूपमें अथवा चिदानन्दमयी स्वरूपशक्तिके रूपमें स्थित रहता है। यह स्वरूप-विमर्श ही ब्रह्मविद्या है, परावाक् अथवा शब्दब्रह्मरूप ॐकार है। यह निष्कल होकर भी समस्त विद्यास्वरूपा है।

अतएव हृदयसे मूलमन्त्रस्वरूप इस ॐकारका उच्चारण ही पूर्ण ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिका सोपान है। निष्कल ॐकारमें उसकी ग्यारह कलाएँ भासती हैं। उच्चारणके प्रभावसे एकके बाद एक कलाका विकास होता है और तत्तत् अनुभूतिकी जागृति होती है। क्रमविकासके मार्गसे निम्नस्थ कलाकी अनुभूति ऊर्ध्वस्थ कलाकी अनुभूतिमें स्थित हो जाती है। योगीलोग ग्यारह कलाओंको अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना—इन ग्यारह नामोंसे पुकारते हैं। ॐकारकी इन ग्यारह कलाओंके अनुभवके बाद ही उसके निष्कल अनुभवका उदय होता है, वही परमानुभूति है। ये दोनों अनुभूतियाँ मिलकर ही पूर्ण ब्रह्मविद्या कहलाती हैं। हृदयसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जो मार्ग गया है उसी मार्गको पकड़कर साधकको चलना होता है। प्रणवकी सारी कलाओं, उनसे सम्बन्धित देवताओं और स्तरोंका अनुभव इसी मार्गमें हुआ करता है। हृदय, कण्ठ और तालुमूल—ये तीन स्थान अ, उ और म—इन तीन कलाओंके केन्द्र हैं। तालु मायाग्रन्थिका स्थान है, हृदय और कण्ठ भी ग्रन्थिस्वरूप हैं। भ्रू-मध्य बिन्दुग्रन्थिका स्थान है, यहाँ ज्योतिके दर्शन होते हैं। यह ज्योति अ, उ और म—इन तीन मात्राओंके मन्थनसे निकला हुआ उन्हींका सारभूत तेज है। इन तीन मात्राओंमें जगत्के सारे भेद और वैचित्र्य भरे हैं। और बिन्दु उनका संक्षिप्त, अविभक्त ज्ञानात्मक स्वरूप है। अतएव समस्त मायिक जगत् इन पहली तीन कलाओंमें ही स्थित है, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्थूल, पुर्यष्टक (लिङ्ग) और शून्य अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन भागोंमें विभक्त समग्र द्वैत-जगत् इन तीन कलाओंमें प्रतिष्ठित है। चतुर्दश-भुवनान्तर्गत ब्रह्माण्ड इसीका एकदेश मात्र है। मायाग्रन्थिका भेद होनेके साथ ही मायिक जगत् और उसकी कारणभूता माया अतिक्रान्त हो जाते हैं। मायिक जगत्में मन्त्र और देवता अथवा वाच्य और वाचकका भेद रहता है। इस जगत्में द्रष्टा दृश्यमात्रको अपनेसे अलग देखता है। यह भेद-दर्शन मायाका कार्य है और सभी मायिक स्तरोंमें इसकी उपलब्धि होती है। बिन्दुमें इस वैचित्र्यके अनुगत केवल अभेदके दर्शन होते हैं। यही अनन्त भेदोंका एकीभूत भावमें अथवा अविभक्तरूपमें दीखना है। अनन्त ज्ञेय पदार्थ यहाँ एक ज्ञानाकाररूपमें प्रतिभासित होते हैं। यही ज्योतिरूपमें उनका दृष्टिगोचर होना है। यह ज्योतिरूप बिन्दु ही ईश्वरतत्त्वकी अधिष्ठानभूमि है। ईश्वर योगीश्वर हैं। साधक बिन्दुका साक्षात्कार करके एक प्रकारसे अखिल स्थूल-प्रपञ्चके ही दर्शन करता है। बिन्दु-ध्यानके फलस्वरूप त्रिकालदर्शी होनेका यही कारण है। ध्यानके उत्कर्षसे ईश्वर सायुज्यपर्यन्त प्राप्त हो सकता है। इस बिन्दु-सिद्धिको ही लौकिक दृष्टिमें दिव्यचक्षु अथवा तीसरे नेत्रका खुल जाना कहते हैं।

योगीलोग 'बिन्दु' से 'समना'तक आठ पदोंका परिचय प्राप्त करते हैं।* ये सब आज्ञाचक्रसे सहस्रारकी

* बिन्दुभेद होते ही एक प्रकारसे भेदमय संसारका उल्लङ्घन हो जाता है। तब साधक स्थूल और सूक्ष्म देहसे मुक्त हो जाता है। स्थूल देह प्रसिद्ध षाट्कौशिक देह है। सूक्ष्म देह दो प्रकारकी है—एक पुर्यष्टकस्वरूप, पाँच तन्मात्रा और मन, बुद्धि तथा अहङ्कार,

कर्णिकातक फैले हुए विशाल मार्गके अन्तर्गत हैं। यह मार्ग मायासे अतीत होनेपर भी महामायाकी सीमाके अन्तर्गत है। जो लोग अशुद्ध विकल्पजालरूपी भेदमय जगत्से मुक्त होना ही वाञ्छनीय समझते हैं, वे आज्ञाचक्रका भेद करके महामायाके राज्यमें प्रवेश करनेको ही मुक्ति मानते हैं। परन्तु वस्तुतः यही मुक्तिपद नहीं है। यद्यपि यहाँ कर्मजाल उपसंहृत है, माया क्षीण है; तथापि विशुद्ध विकल्प तो है ही। परमपदके यात्रीके लिये यह भी बन्धनस्वरूप है। महामायाके राज्यमें भेदाभेदमय अभेददर्शन होनेके कारण यह उपादेय होनेपर भी चरम उपादेय नहीं है। कारण, भेददर्शनका सम्यक् रूपसे अन्त हुए विना अर्थात् निर्विकल्प पदपर अधिरूढ हुए विना पूर्णताकी प्राप्ति नहीं होती।

मायिक जगत्में जैसे विविध लोक हैं, महामायाके शुद्ध राज्यमें भी वैसे ही अनेकों धाम हैं। प्रत्येक स्तरमें उस स्तरके उपयोगी जीव हैं, भोग्य वस्तु हैं और भोगोंके उपकरण हैं। प्रत्येक स्तरकी अनुभूति विलक्षण है। जितना ही ऊँचा आरोहण किया जाता है, उतना ही अभेदानुभव बढ़ता जाता है। ऐश्वर्य और शक्ति प्रबल होती जाती है, व्याप्ति बढ़ती जाती है और देशकालगत परिच्छेद घटता जाता है।

'अ'कारकी मात्रा १, 'उ'कारकी २ और 'म'कारकी ३—सब मिलाकर ६ मात्राएँ हैं। विन्दु अर्ध मात्रा है। अर्धचन्द्र आदिकी मात्रा क्रमशः और भी कम है। 'विन्दु'से 'समना'तक मात्रांशको जोड़ देनेपर १ मात्रा होती

इन आठ अवयवोंवाली। (इसीको सांख्यदर्शनमें सतरह या अठारह अवयवयुक्त लिङ्गशरीर कहा गया है।) दूसरी शून्यदेहके नामसे प्रसिद्ध है, यह निरवयव है। जाग्रत्कालमें प्राण स्थूल देहमें, स्वप्नकालमें पुर्यष्टकमें और सुषुप्तिमें शून्यदेहमें रहते हैं। विन्दुके अतिक्रम कर जानेपर जीव इन तीन देहोंसे और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत हो जाता है। विन्दु ईश्वरवाचक है, स्वयं ईश्वर है। इसके ऊपर ललाटदेशमें अर्धचन्द्र और उसके कुछ ऊपर निरोधिका है। यह निरोधिका कला साधारण योगीकी ऊर्ध्वगतिमें प्रतिबन्धक है। एक विन्दुज्योति ही अर्धचन्द्र और निरोधिकापर्यन्त व्याप्त है। विन्दुमें ज्ञेयका प्राधान्य रहता है, यद्यपि ज्ञेय अविभक्त–एकाकार ज्योति मात्र है। अर्धचन्द्रमें ज्ञेयप्राधान्य बहुत कम है और निरोधिकामें ज्ञेयप्राधान्य बिल्कुल ही नहीं रहता। विन्दु आदि तीनों कलाओंमें प्रत्येकमें पाँच अवान्तर कलाएँ हैं। इसीसे उस ज्योतिमें पन्द्रह कलाएँ भासती हैं। यह विन्दु-आवरण ही प्रथम आवरण है। इस आवरणमें तीन सूक्ष्म स्तर हैं। इसके बाद मन्त्रस्रोत ब्रह्मरन्ध्र या शक्तिस्थानकी ओर प्रवाहित होकर पहले नाद और फिर नादान्त भूमिमें पहुँचता है। ललाटसे मूर्धापर्यन्त यह भूमि व्याप्त है। विन्दु-तत्त्वमें जिस ज्ञेयप्राधान्यका परिचय पाया जाता है, वह निरोधिकामें शान्त हो जाता है; इसीलिये नादभूमिमें समस्त वाचकों या मन्त्रोंकी अभिन्नताका अनुभव प्रधानतया हुआ करता है। विन्दुमें वाच्य और वाचकका भेद लुप्त होनेपर भी विभिन्न वाचकोंके पारस्परिक भेद लुप्त नहीं होते। नाद और नादान्तमें वे भी लुप्त हो जाते हैं। यहाँ सब मन्त्रोंकी अभिन्नताका ज्ञान हो जाता है। इस भूमिके अधिष्ठाता सदाशिव हैं। इस नादावरणमें पाँच और नादान्तमें एक सूक्ष्म स्तर है। नादान्तमें जो सूक्ष्म स्तर है, उसके साथ सुषुम्णा नाड़ीका साक्षात् सम्बन्ध है। यहाँ नादका विश्राम होता है—इसीको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। यही देहका ऊर्ध्व छिद्र है। इसको भेद करना अत्यन्त कठिन है। मूर्धाके मध्यदेशमें शक्तिका स्थान है—यहाँ श्वास-प्रश्वासके अथवा प्राणापानके मिलनेके कारण एक अनिर्वचनीय स्पर्शमय तीव्र आनन्दकी अनुभूति मिलती है। यहाँ केवल सुषुम्णाकी क्रिया रहती है, यहाँ सृष्टि-प्रलयका द्वन्द्व नहीं है, केवल सृष्टि भासती है, दिन-रात एकाकार होकर दिनमात्र रह जाता है। हृदयसे सूक्ष्म प्राणोंका सञ्चरण इस शक्तिस्थानतक हुआ करता है। इस शक्त्यावरणमें परा शक्तिका एक स्तर है, अत्यन्त दुर्भेद्य इस शक्तिकलाको भेद करके योगी ऊर्ध्व प्रवेशमार्गमें व्यापिनी अथवा महाशून्यमें प्रवेश करते हैं। वहाँ प्राणोंका सञ्चरण नहीं है, सुषुम्णाकी क्रिया भी अस्तमित है। नित्य सर्गका अन्त है; महादिन भी नहीं है;—कलनात्मक काल यहाँ साम्यरूपमें स्थित है। यह महाशून्य ही शक्तिपर्यन्त नीचेके समस्त विश्वमें व्यापक है। स्मरण रखना चाहिये कि यह महाशून्य भी ॐकारकी ही एक कला है। इसमें पाँच अवान्तर कलाएँ हैं और उनमें प्रत्येकमें एक-एक स्तर हैं। विशेष प्रक्रियाके विना इस महाशून्यको भेद करना और परागति प्राप्त करना सम्भव नहीं। इस प्रक्रियाको योगीलोग 'दिव्यकरण' कहते हैं। इससे दिव्य ज्ञानका उन्मेष होता है। इस महाशून्यके बादकी अवस्थामें महामायाका साक्षात्कार होता है। यही प्रणवकी अन्तिम कला है। योगीलोग इसीको मनस्स्वरूप या इच्छाशक्ति कहा करते हैं। इसके बाद ही निष्कल परमपद है, जहाँ ॐकार परब्रह्मके साथ अभिन्न है।

है।† यद्यपि मायाजगत्में मन्त्रकी ६ मात्राएँ हैं, परन्तु मायातीत पदमें वह केवल एक ही मात्रा है। वह एक मात्रा भी सूक्ष्म है और सूक्ष्मतर होते-होते सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य करती है।

हम पहले ही कह आये हैं कि विन्दुमें ज्ञेय और ज्ञान अथवा वाच्य और वाचक अभिन्नरूपमें ज्योतिके आकारमें स्फुरित होते हैं। यह अभिन्नता ऊपर और भी परिस्फुट होती है। जितना ही ऊपरको चढ़ा जाता है, उतना ही ज्ञानात्मक ज्ञेयभाव क्रमशः शान्त होता चला जाता है। अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंमें प्रथमावस्थामें (मायाकी भूमिमें) परस्पर स्पष्ट ही अत्यन्त पार्थक्य दिखलायी देता है। फिर अनन्त ज्ञेय-राशि एक विशाल ज्ञानमें पिण्डित होकर उसके साथ अभिन्नभावसे प्रकाशित होती है। तब एक ही अभेदज्ञान रह जाता है। उसीके अंदर सारे भेद निहित रहते हैं। यह ज्ञान और वह प्राथमिक ज्ञान एक नहीं है। प्राथमिक ज्ञान अशुद्ध विकल्परूप था और यह ज्ञान विकल्परूप होनेपर भी विशुद्ध है। इसके बाद क्रमशः यह विशुद्ध विकल्प भी शान्त होता जाता है। महामायाकी ऊर्ध्व सीमाका अतिक्रमण करनेके साथ-साथ यह विशुद्ध विकल्प भी बिल्कुल शान्त हो जाता है अर्थात् यह विशुद्ध विकल्प ज्ञातामें अस्तमित हो जाता है, तब एकमात्र ज्ञाता ही रह जाता है। यही शुद्ध आत्माकी द्रष्टारूपमें स्वरूपावस्थिति है। कहना नहीं होगा कि पूर्वावस्थाका ज्ञाता और यहाँका ज्ञाता या द्रष्टा एक-सा नहीं है। उस ज्ञातामें विकल्पका संस्पर्श था, उसके ज्ञानसे विकल्प हट नहीं गया था; परन्तु यह ज्ञाता विकल्पसे अतीत है। इस अवस्थामें द्रष्टा आत्मा समग्र मनोराज्य और विकल्पमय विश्वसे उत्तीर्ण होकर अपने बोधमात्र स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। यह विश्वातीत आत्मा निर्विकल्प ज्ञानके प्रभावसे समना-भूमिको लाँघकर अपनेको निर्मल और निर्विकल्प समझता है। परन्तु इसमें भी पूर्णता नहीं है। कारण इस अवस्थामें विश्व अथवा विकल्पसे अपने शुद्ध विकल्पातीत रूपका भेद वर्तमान रहता है। इसमें भी पूर्णताका सङ्कोच है। इसके बाद पराशक्तिके अथवा उन्मना-शक्तिके आश्रयसे केवली पुरुष परमावस्था या पूर्णब्रह्मरूपमें स्थिति प्राप्त करता है, तब विकल्प और निर्विकल्पका भेद भी मिट जाता है। इसीलिये पूर्ण सत्य विश्वातीत होकर विश्वमय है; वह एक ही साथ निराकार और साकार और साकार-दृष्टिसे भी एक ही साथ एकाकार तथा भिन्न अनन्त आकारमय है। तब समझा जाता है कि एक पूर्ण सत्य ही अपनी स्वातन्त्र्यशक्तिमें या अपनी स्वरूप-महिमामें अपने निरञ्जन स्वभावसे अच्युत रहता हुआ ही विश्वरूपमें प्रतिभासित होता है।

ॐकारकी ग्यारहवीं कलाकी अनुभूति ही समस्त अनुभूतियोंमें चरम महामाया अथवा समना शक्तिकी अनुभूति है। इसमें नीचेके समस्त स्तरोंकी अनुभूतियाँ अङ्गीभूतरूपसे वर्तमान रहती हैं। यही आत्माका भिन्नाभिन्नरूपमें विश्वरूप-दर्शन है। पूर्ण निर्विकल्पक ज्ञानसे पूर्व इसका निश्चय ही उदय होता है, ॐकारकी यह अन्तिम कला या महामाया ही विकल्प या इच्छाशक्तिरूपिणी है। यही विशुद्धतम मनका स्वरूप है। इस अवस्थामें जो मननात्मक बोध अवशिष्ट रहता है, उसमें कोई भी विषय नहीं रहता—सारे विषय पहले ही क्षीण हो जाते हैं। यह मन्तव्यहीन मनन इसीलिये अविकल्पक है; पर इस मननका भी त्याग करना पड़ता है। अविकल्पक मनके द्वारा ही इस अविकल्पात्मक शुद्ध मनका परिहार होता है, शुद्ध मन एकाग्रताका प्रकर्ष प्राप्त करते ही त्यक्त हो जाता है। मनके त्यागका अर्थ आत्मा या जीवके सङ्कोचात्मक ज्ञानका प्रशमन समझना चाहिये। इस सङ्कोचात्मक ज्ञानका स्वरूप है ज्ञेयाभ्यासके ग्रहणकी इच्छा। इस इच्छाके त्यागसे ही आत्मा सत्ता या चिन्मात्र स्वरूपमें

---

† मात्रांश इस प्रकार हैं—

विन्दु	—१/२ मात्रा
अर्धचन्द्र	—१/४ ,,
निरोधिनी	—१/८ ,,
नाद	—१/१६ ,,
नादान्त	—१/३२ ,,
शक्ति	—१/६४ ,,
व्यापिनी	—१/१२८ ,,
समना	—१/१२८ ,,
जोड़	—१ मात्रा

स्थित होता है। यह विशुद्ध कैवल्य-दशा है—मनके अतीत, इच्छाहीन अवस्था है। परन्तु यह भी परमपद नहीं है—भगवत्साधर्म्य नहीं है, पूर्णाहंता और चिदानन्द-रसघन स्वातन्त्र्यमय रूप इसका नहीं है। इसीलिये आत्मा विश्वातीत रहनेपर भी अपूर्ण रहता है, मुक्त होनेपर भी भगवद्धर्मसे वञ्चित रहता है। यहींपर भगवान्‌की स्वतन्त्रभूता नित्य समवेता स्वरूपाशक्ति या उन्मनाशक्तिकी उल्लासरूपिणी 'परा भक्ति' आवश्यक होती है। 'भक्त्या युक्तः' (गीता ८। १०) से भगवान्‌ने 'परा भक्ति' का ही लक्ष्य कराया है। उन्मनाशक्ति एक ही साथ अशेष विश्वके अभेददर्शनमें स्फुरित होती है। आत्मा इस शक्तिके आश्रित होकर भगवान्‌के साथ एकात्मता या पूर्णता प्राप्त करता है। फिर चलन नहीं रह जाता। सङ्कोच बिल्कुल ही मिट जाता है। आत्मा व्यापकत्व प्राप्त करके एक ही साथ विश्वरूपमें और उससे उत्तीर्ण रूपमें प्रकाशित होता है। अर्थात् पहले आत्मा विश्वको अतिक्रम करके अपने निर्विकल्पक पदको पहुँचता है, फिर भगवान्‌की परमाशक्तिके अनुग्रहसे अपने पूर्णत्वको उपलब्ध करता है—भगवान्‌से अभिन्नताका अनुभव करता है। तब वह अनुभव करता है कि उस पूर्ण सामरस्यमय स्वरूपमें एक ओर जैसे अनन्त शक्तिका सामरस्य है, दूसरी ओर वैसे ही शक्ति और शक्तिमान्‌का भी सामरस्य है। उसमें विश्व और विश्वातीत एक अखण्ड बोध या प्रकाशके रूपमें स्फुरित होता है—बन्धन-मोक्षका भेद, सविकल्पक-निर्विकल्पकका भेद, मन और आत्माका भेद एवं दृश्य और द्रष्टाका भेद सदाके लिये सर्वथा मिट जाता है। इस अवस्था-तीत अवस्थाकी उपलब्धि ही परा गति है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८। २२)

परम पुरुष ही समग्र विश्वमें व्यापक हैं, उन्हींके अंदर सर्वभूत (विश्व) विद्यमान है, इस बातका यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। अनन्यभक्ति और पराभक्तिके अतिरिक्त उनके इस परम स्वरूपको प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह विश्वरूप ही उनका 'परमरूप' है, इस बातको भगवान्‌ने अर्जुनसे स्पष्ट ही कहा है (गीता ११। ४७)। यह 'तेजोमय' शुद्ध चिन्मय रूप है; वेत्ता और वेद्य—ज्ञाता और ज्ञेय—इसके अन्तर्गत हैं (गीता ११। ३८)। यही 'परमधाम' है (गीता ११। ३८)।

मृत्युकालमें प्रणवका उच्चारण करते-करते कलात्याग होनेपर निष्कल परा विद्या या दिव्य ज्ञानका आविर्भाव होता है, तब भगवान्‌की अनन्यभक्तिके प्रभावसे भगवान्‌का परमरूप प्रकाशित हो उठता है। यही मरणोत्तर परमा गति है।

वस्तुतः यह मृत्युकालीन 'निर्बीज वैज्ञानिक दीक्षा' का फल है। शास्त्रोंमें इसकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है।

हरिः ॐ तत्सत्।

गीतामें विश्वधर्मकी उपयोगिता

भगवद्गीताके अन्दर वे सारी विशेषताएँ मौजूद हैं, जो एक धर्मपुस्तकके अन्दर होनी चाहिये। हिन्दू-धर्मके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंको एकताके सूत्रमें बाँधनेवाला यह एक अनुपम ग्रन्थ है। विश्वके भावी सार्वभौम धर्मका सूत्रग्रन्थ बननेके लिये भी गीता ही सर्वथा उपयुक्त है। भारतके गौरवपूर्ण प्राचीन कालके इस अमूल्य रत्नसे मानवजातिके और भी गौरवपूर्ण समुज्ज्वल भविष्यके निर्माणमें अनुपम सहायता मिलेगी।

—एफ़० टी० ब्रुक्स

गीताकी चतुःसूत्री

(लेखक—'सुदर्शन')

बड़ी सुन्दर बात है—टेढ़ी भी ।

दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं—

यदि जीवन चाहिये—जीवित जीवन और उसमें शान्ति भी चाहिये तो मानना ही पड़ेगा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

१–कर्म करनेमात्रमें तेरा अधिकार है ।

(कर्मण्येवाधिकारस्ते)

नियम बतला दिये गये हैं, पर कोई हाथ नहीं पकड़ता । अच्छे काम करो या बुरे, कोई मना करनेवाला नहीं ।

२–फलमें तेरा कभी अधिकार नहीं ।

(मा फलेषु कदाचन)

लाख सिर मारो, पर होगा वही जो नटखट नन्दनन्दन चाहेगा । तुम्हारा हाय-हाय करना कोई अर्थ नहीं रखता !

३–कर्मफलके कारण मत बनो !

(मा कर्मफलहेतुर्भूः)

यही कारण बनना तो बन्धनका कारण है । कर्मका फल प्रत्यक्षमें प्रकट होनेपर भी वह तुम्हारे कर्मका फल थोड़े है ! ऐसा होता तो सब समान कर्मोंके फल समान होते । अरे वह तो उसका प्रसाद है । ले लो और सिर चढ़ाओ !

४–कर्महीनताको मत अपनाओ !

(मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि)

हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहकर आलसी बननेसे कुछ न होगा !! तमोगुण दबा लेगा और फिर 'धोबीका कुत्ता न घरका न घाटका ।'

लोक और परलोक एक भी न रहेगा !!!

तब ?

तब क्या—यह कर्मयोगका सार उस चपलने चार शब्दोंमें बता दिया और इतनेके आगे भी 'तब' बचा रहे तो—

'मामनुस्मर युध्य च'

उसकी विस्मृति एक पलके लिये भी न हो ! फिर चाहे जैसे कार्य करनेकी पद्धति रक्खो !

इस कर्मका पर्यवसान होता है—समर्पणमें और वही उसने कहा भी है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

भगवद्गीताका सन्देश

(लेखक—डा० श्रीयुत एस्० के० मैत्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवद्गीतामें निःसन्देह भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों एवं मतवादोंका निरूपण मिलता है, परन्तु मेरी समझमें इस विभिन्नताके रहते हुए भी सारी गीतामें एक ही विचार-धारा दृष्टिगोचर होती है । विचारधाराकी इस एकताको 'योग' शब्दसे व्यक्त किया गया है ।* गीताके लिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'योगशास्त्र' शब्दका प्रयोग हुआ है और प्रत्येक अध्याय भी किसी-न-किसी योगके नामसे ही अभिहित हुआ है—जैसे अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इत्यादि । 'योग' शब्द संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है जोड़ना । अतः 'योग' का अर्थ हुआ भगवान्‌के साथ युक्त हो जाना । गीतामें वर्णित विविध योग भगवान्‌के साथ युक्त होनेके ही भिन्न-भिन्न मार्ग हैं । गीतामें

---

* महात्मा श्रीकृष्णप्रेमजीकी लिखी हुई 'श्रीभगवद्गीताका योग' नामकी एक महत्त्वपूर्ण अंगरेजी पुस्तक हालहीमें प्रकाशित हुई है, जिसका उद्देश्य यह दिखलाना है कि गीता योगका प्रतिपादक ग्रन्थ है, योगमार्गपर चलनेवालोंके लिये उत्तम पथ-प्रदर्शक है । अपने आशयको स्पष्ट करनेके लिये, जिससे उसके सम्बन्धमें किसीको भ्रम न हो, वे लिखते हैं—'योगसे यहाँ उक्त नामसे प्रसिद्ध किसी दर्शनविशेषका तात्पर्य नहीं है; न 'योग' शब्दका अर्थ यहाँ ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग अथवा महर्षि पतञ्जलिप्रोक्त अष्टाङ्गयोग ही है । यहाँ योगसे वह मार्ग अभिप्रेत है जो परिच्छिन्न जीवको अपरिच्छिन्न परमात्मासे मिला देता है । यह वह आभ्यन्तर मार्ग है जिसके ये विविध योग एकदेशीय अङ्ग अथवा पहलू हैं । यह योग उपर्युक्त विविध योगोंका समन्वयमात्र नहीं है, किन्तु वह मूल एवं अखण्ड तत्त्व है जिसके ये अङ्ग अथवा एकदेशीय रूप हैं ।' (देखिये 'भगवद्गीताका योग' की प्रस्तावना पृ० १४) । उन्होंने यह भी लिखा है कि गीताके अध्यायोंका क्रम बड़े महत्त्वका है ।

'योग' शब्दका विविध अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। कहीं इसका प्रयोग कर्म करनेकी कुशलता ('कर्मसु कौशलम्') के अर्थमें हुआ है, कहीं समताके अर्थमें और कहीं समाधिके अर्थमें। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि 'योग' का अर्थ है भगवान्‌के साथ युक्त हो जाना और यह योग हमारे समग्र स्वरूपसे—ज्ञानसे, कर्मसे तथा भाव एवं सङ्कल्पसे होना चाहिये।

पिछले दिनों 'प्रबुद्ध भारत'में मैंने 'The Cosmic Significance of *Karma* in the *Bhagavad-gītā*' (भगवद्गीतामें कर्मका सार्वभौम अर्थ) शीर्षक एक लेख लिखा था, जिसमें मैंने बतलाया था कि इस योगकी दो प्रधान श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी तो वह है जिसे मैंने उपर्युक्त निबन्धमें जीवात्माका परमात्माकी ओर बढ़ना या आरोहण कहा है और दूसरी श्रेणी है जीवात्माका परमात्माका साक्षात्कार करनेके बाद जगत्‌के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थानके लिये उसमें उतरना।

इसीलिये गीताके सिद्धान्तकी सांख्य, वेदान्त, भक्तिशास्त्र अथवा और किसी मतवादसे एकता नहीं की जा सकती। गीताका उद्देश्य अभिनिवेशपूर्वक किसी ऐसे सिद्धान्तका प्रचार करना नहीं है जो किसी एक मतवादके अनुकूल हो। उसका उद्देश्य है वह गुर बतलाना जिसके द्वारा मनुष्य पूर्ण मनुष्य—सोलहो आने मनुष्य—बन जाय, जिसके द्वारा वह ऊँचा उठते-उठते उस सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त कर सके जहाँतक पहुँचनेकी मनुष्यमें क्षमता है। यह एक निरा संग्रह-ग्रन्थ नहीं है; विविध मतवादोंका एक निर्जीव संग्रह उपस्थित करना अथवा भिन्न-भिन्न मतोंका विरोध-परिहारके लिये ही विरोध-परिहार करना उसका उद्देश्य नहीं है। यदि गीताने केवल इतना ही किया होता तो आज वह विश्वसाहित्यमें अमर न होती।

गीता एक निरा दार्शनिक अथवा हेतुशास्त्रका ग्रन्थ भी नहीं है। उसमें एक विशिष्ट समस्यापर विचार किया गया है—एक ऐसी समस्यापर जो हममेंसे प्रत्येकके जीवनकी किसी विकट घड़ीमें हमारे सामने उपस्थित होती है। ऐसे धर्मसङ्कट जिनके कारण हम किङ्कर्तव्यविमूढ होकर चेष्टाहीन बन जाते हैं, मनुष्यजीवनमें कोई असाधारण घटना नहीं है। शेक्सपियरकी अमर कृति 'हैमलेट'में ऐसी कई विकट परिस्थितियोंका उल्लेख हुआ है; उनमें सबसे कठिन परिस्थिति वह है जिसे हैमलेट अपने इस* 'स्वगत' संवादके द्वारा प्रकट करता है कि 'जीवन और मृत्युमें वरणीय कौन है? यही प्रश्न है!'

गीता नैतिक प्रश्नोंका साङ्गोपाङ्ग उत्तर देती है। अर्जुनके धर्मसङ्कटको दूर करनेके लिये सारे प्रश्नपर मूलतः विचार करना—यह दिखलाना कि सदाचारका स्वरूप क्या है—आवश्यक था और सदाचारका स्वरूप बतलानेके लिये उसका ज्ञान और भक्तिके साथ सामञ्जस्य करना आवश्यक था। अन्तिम बात यह है कि सदाचारका मूल दार्शनिक सिद्धान्तोंके गर्भमें छिपा है और सदाचारके प्रश्नपर विचार करनेके लिये पुरुष एवं पुरुषोत्तमका स्वरूप क्या है, इस दार्शनिक प्रश्नपर विचार करना होगा। दार्शनिक तत्त्वोंपर गम्भीर विचार किये बिना नैतिक प्रश्नोंकी यथार्थ आलोचना सम्भव नहीं है। अतएव नैतिक जीवनके तात्त्विक आधारका निरूपण करनेके लिये गीता दार्शनिक प्रश्नोंके विवेचनपर उतरती है। ज्ञान, कर्म और भक्ति हमारे नैतिक जीवनके आधारस्तम्भ हैं। यूनानके महात्मा सुकरात तथा अरस्तूके अनुयायियोंमें जो यह वाद-विवाद छिड़ा था कि नैतिक जीवनके लिये ज्ञान अधिक उपयोगी है या अभ्यास, इसका गीता यह उत्तर देती है कि दोनोंकी समान आवश्यकता है। इसी प्रकार नैतिक जीवन भक्तिकी उपयोगितासे भी उदासीन नहीं रह सकता।

गीतामें यज्ञका नया ही अर्थ किया गया है। यज्ञका प्रचलित अर्थ है—अपने निजके लौकिक अथवा पारलौकिक कल्याणके लिये किया गया शुभ कर्म, किन्तु गीताके यज्ञका अर्थ इससे विपरीत है। गीता २। ४२–४४ से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। गीता कहती है कि इस प्रकारके कर्मसे (जिसका उल्लेख इन श्लोकोंमें किया गया है) मोक्ष नहीं मिलता, वह तो निष्काम कर्मसे—ऐसे कर्मसे ही जिसमें अपने व्यक्तिगत लाभका कोई विचार नहीं किया जाता—मिल सकता है। इसी प्रकारके (निष्काम) कर्मको यज्ञ कह सकते हैं। गीता कहती है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३।९)

'यज्ञके निमित्त किये हुए कर्मके सिवा दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य ही कर्मोंसे बँधता है; अतः हे अर्जुन! आसक्तिसे रहित होकर तू यज्ञके लिये ही भलीभाँति कर्म कर।'

निष्काम कर्मके सम्बन्धमें गीता कहती है—

*To be or not to be—that is the question.

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥(३ । १९)

'अतः तू अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्यकर्म कर । अनासक्त होकर कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है ।' वैदिक कालसे ही मोक्षकी प्राप्तिके दो मार्ग स्वीकार किये गये हैं—ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग—

द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाषिता ॥
(महा० शान्ति० २४१ । ६)

'निःश्रेयसप्राप्तिके दो ही मार्ग हैं—प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म; इन्हींमें वेदकी प्रतिष्ठा है । इनमेंसे निवृत्तिधर्म वैकल्पिक (ऐच्छिक) है ।'

गीताने एक बीचका मार्ग ढूँढ़ निकाला है । वह न ज्ञान है और न वेदोक्त कर्म ही है; वह निष्काम कर्म है ।* महाभारतके शान्तिपर्वमें भी राजा जनकने इस मार्गका उल्लेख किया है और यह बतलाया है कि मुनि पञ्चशिखने उन्हें इसका उपदेश दिया था । गीता वैदिक कर्मकाण्डको मोक्षका हेतु नहीं मानती । दूसरे अध्यायके श्लोक ४२–४६ इस विषयमें प्रमाण हैं । गीतोक्त कर्मका स्वरूप इससे भिन्न है; यही कारण है कि गीता ३ । ३ में, जहाँ निःश्रेयसप्राप्तिके दो मार्ग बतलाये गये हैं, वैदिक कर्मकाण्डका कोई उल्लेख नहीं किया गया है । यदि गीता वैदिक कर्मकाण्डको भी मोक्षका मार्ग मानती होती तो उसमें दोकी जगह तीन मार्गोंका उल्लेख होता, जैसा कि महाभारत-शान्तिपर्व ३२० । ३८–४० में राजा जनककी उक्तिमें पाया जाता है ।

किन्तु गीता निःश्रेयसप्राप्तिके दो ही मार्ग स्वीकार करती है—(१) ज्ञान अथवा कर्मसंन्यास एवं (२) कर्मयोग अथवा निष्काम कर्म; और उनमेंसे दूसरे मार्गको श्रेष्ठ समझती है ।

लोकमान्य तिलक अपने प्रसिद्ध 'गीतारहस्य'में कहते हैं कि भक्ति कोई स्वतन्त्र मार्ग नहीं है, वह तो यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिका एक उपायमात्र है । भक्ति वास्तवमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका ज्ञानमार्गकी अपेक्षा अधिक सुगम एवं सीधा मार्ग है । भगवान्‌ने भी कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
(गीता १२ । ५)

'उन निराकार ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष होता है, क्योंकि निराकारविषयक गति देहाभिमानियोंको कष्टसे प्राप्त होती है ।'

संन्यासमार्गी अपनी ही मुक्ति चाहता है, अतः उसके उद्देश्यमें एक परिष्कृत स्वार्थका भाव छिपा रहता है । जगत्‌की ओरसे उदासीनताका भाव नहीं रक्खा जा सकता । भगवान् स्वयं कहते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
(गीता ३ । २३-२४)

'यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्ममें न बरतूँ, तो हे अर्जुन ! सब प्रकारसे मनुष्य मेरे बर्तावके अनुसार बरतने लग जायँ । यदि मैं कर्म न करूँ तो सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसङ्करका करनेवाला होऊँ तथा इस सारी प्रजाको मारनेवाला बनूँ ।'

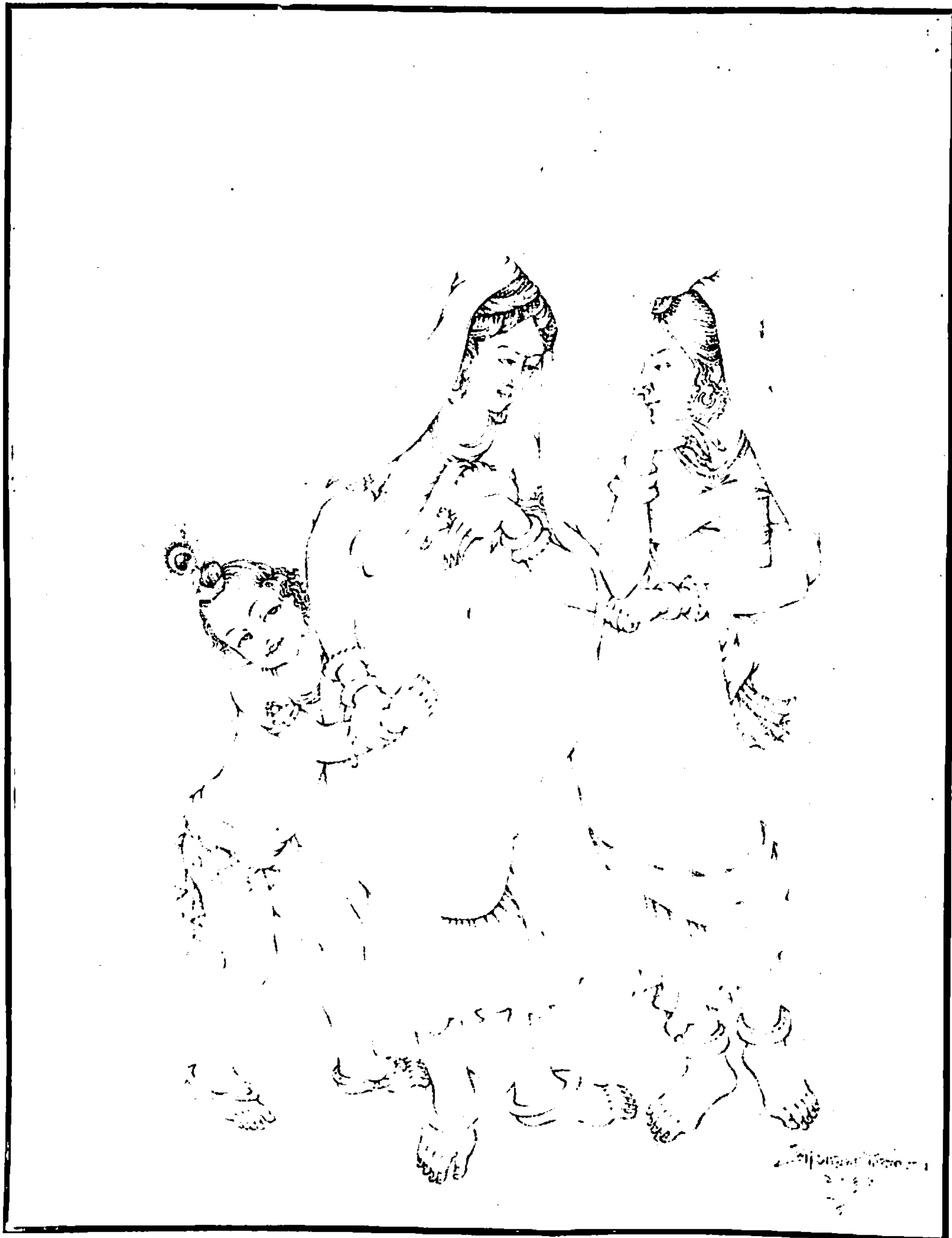
अतः कर्मका परित्याग सम्भव नहीं है । इतनी ही बात नहीं है, ऐसा करना वाञ्छनीय भी नहीं है । जो लोग संसार-त्यागका समर्थन करते हैं, उनके उद्देश्यकी सिद्धि निष्काम कर्मसे—अर्थात् ऐसे कर्मसे जिसमें अपने हित अथवा अहित-का विचार नहीं किया जाता—हो जाती है । यह बात अवश्य ध्यानमें रखनेकी है कि गीता जहाँ यह कहती है कि कर्मफल-की परवा न करके कर्म करो, वहाँ कर्मफलका अर्थ है—कर्म करनेवालेका निजी स्वार्थ । जगत्‌को—मानवजातिको उससे जो लाभ या हानि हो सकती है, उसकी ओरसे कभी उदासीन नहीं होना चाहिये, क्योंकि गीता स्पष्टरूपसे यह निर्देश करती है कि कर्मका उद्देश्य लोक-कल्याण अथवा लोकसंग्रह है । इस लोक-कल्याणके जो-जो साधन हैं, उन्हें यदृच्छा या संयोगके ऊपर न छोड़कर उनके लिये प्रयत्नपूर्वक चेष्टा करनी चाहिये । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥
(गीता ३ । २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी [आसक्तिरहित] कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तुझे कर्म करना ही उचित है ।'

* यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें वर्णित यज्ञका स्वरूप वैदिक यज्ञसे भिन्न है और गीताके निष्काम कर्मसे मिलता है ।

उलाहना



ऐसो वेहाल मेरो घर कीन्हो, हौं ले आई हौं तुम्हरे ढिग पकरिके ।
फोरे सब बासन, दधि खायो, उबर्‌यो सो डार्‌यो रिस करिके ॥

गीता स्वभावनियत कर्म अथवा सहज कर्मके सिद्धान्तकी स्थापना करती है। 'स्वभावनियत' एवं 'सहज'—इन दोनों शब्दोंके अर्थके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। स्वभावनियत कर्मके सिद्धान्तका निरूपण निम्नलिखित श्लोकोंमें हुआ है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(गीता १८। ४७-४८)

'भलीभाँति आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। स्वभावसे नियत किये हुए कर्मको करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता। स्वाभाविक कर्मको, चाहे वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, त्यागना नहीं चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार धूएँसे अग्नि आच्छादित रहती है,उसी प्रकार सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे ढके रहते हैं।'

निम्नलिखित श्लोकको भी इन्हींके साथ पढ़ना चाहिये—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'भलीभाँति आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता यहाँ उस कर्मका उल्लेख करती है जो किसी मनुष्यकी सामाजिक स्थितिके अनुकूल हो और इस प्रकार गीताका सिद्धान्त ब्रैडलेके उस सिद्धान्तसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जिसका उसने अपने नैतिक विचार (Ethical Studies) के 'मेरी सामाजिक स्थिति और तत्सम्बन्धी कर्तव्य' (My station and its duties) शीर्षक अध्यायमें निरूपण किया है। गीताका एक उद्देश्य उस नीतिकी असारताको प्रकट करना है जो अधिक ऊँचे कहलानेवाले कर्तव्यके लिये अपने अधिकारोचित कर्मके परित्यागकी शिक्षा देती है–जिस नीतिके चक्करमें स्वयं अर्जुन पड़ गया था। जैसा कि श्रीअरविन्द अपने 'गीता-निबन्ध' ('Essays on the Gita') में कहते हैं, बाह्य परिस्थितिपर अधिक जोर देना गीताके अभिप्रायके सर्वथा विरुद्ध है। वे कहते हैं—'मनुष्यके कर्म अथवा कर्तव्यका निर्णय उसके गुणसे होता है, वही उसका स्वभावज एवं स्वभावनियत कर्म है। गीताके कर्म-सिद्धान्तका रहस्य यही है, उसमें कर्मके द्वारा व्यक्त हुए भीतरी गुण अथवा स्वभावको अधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार बाह्य स्वरूपकी अपेक्षा भीतरी तत्त्वपर अधिक जोर देनेके कारण ही गीता स्वधर्माचरणको विशेष आध्यात्मिक महत्त्व देती है एवं उसकी विशेष उपयोगिता स्वीकार करती है। सच पूछिये तो गीता बाह्य नियमको बहुत कम गौरव देती है और आभ्यन्तर नियमपर अधिक जोर देती है; वर्णव्यवस्थाके द्वारा इसी आभ्यन्तर नियमको व्यवस्थितरूपसे बाह्य आचरणमें परिणत करनेकी चेष्टा की गयी है। इस नियमके वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक महत्त्वपर ही, न कि उसके जातीय एवं आर्थिक अथवा सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्वपर, दृष्टि रक्खी गयी है। गीताने यज्ञके वैदिक सिद्धान्तको स्वीकार तो किया परन्तु उसे एक गम्भीर रूप, एक आभ्यन्तर एवं सार्वभौम अर्थ, एक आध्यात्मिक तात्पर्य एवं पहलू दे दिया, जिससे उसका महत्त्व कुछ और ही हो गया। इसी प्रकार गीता चातुर्वर्ण्यके सिद्धान्तको भी अङ्गीकार करती है परन्तु उसे एक गम्भीर रूप, एक आभ्यन्तर अर्थ, एक आध्यात्मिक तात्पर्य एवं पहलू दे देती है। ऐसा होते ही इस सिद्धान्तके मूलमें छिपे हुए भावका महत्त्व कुछ और ही हो जाता है–वह एक शाश्वत एवं सजीव सत्य बन जाता है, जिसका सम्बन्ध किसी खास सामाजिक आचार एवं व्यवस्थाके अस्थिर स्वरूपसे नहीं होता। गीताका प्रयोजन आर्योंकी सामाजिक व्यवस्थाकी युक्तियुक्तताको प्रमाणित करना नहीं है—यदि गीताका यही प्रयोजन होता तो उसके स्वभाव एवं स्वधर्मके सिद्धान्तका कोई स्थायी मूल्य अथवा वास्तविकता नहीं होती–बल्कि मनुष्यके बाह्य जीवनका उसके आभ्यन्तर स्वरूपके साथ जो सम्बन्ध है, उसकी आत्मा तथा उसकी प्रकृतिके भीतरी नियमसे उसकी क्रियाका जो विकास होता है, उसका निरूपण करना है।

गीताके अनुसार, विश्व-शान्तिकी समस्या मानव-प्रकृतिके परिमार्जित होनेसे—ईर्ष्या, लोभ और द्वेषकी भावनाओंसे मुक्त होनेसे ही हल हो सकती है। जबतक हमारे मनमें ये सब दूषित भाव भरे हैं तबतक हम हजार निःशस्त्रीकरणकी सभाएँ कर लें, परन्तु उनसे हम अपने उद्देश्यकी सिद्धिकी ओर एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। हमारा वास्तविक युद्ध तो अपने भीतर आत्माका है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
(गीता ६ । ५)

यदि हम वास्तविक शान्ति चाहते हैं, तो हमें अपनी क्षुद्र आत्माका दमन करना होगा—जो आत्मा राग-द्वेषमें डूबी हुई है—और अपनी उच्चतर आत्माको जगाना होगा, जिससे उसकी ज्योति निःशेषरूपसे जगमगा उठे । यदि हम ऐसा युद्ध चाहते हैं जिससे युद्धका अन्त हो जाय, तो हमें अपने ही अंदर रहनेवाले सभी विद्रोही भावोंके साथ लगातार युद्ध करना होगा । विश्व-शान्तिकी समस्याको हल करनेका गीतानुमोदित उपाय यही है ।



गीता और शास्त्र

(लेखक—श्रीयुत वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

१—मनुस्मृति

मनुस्मृतिमें आचारके बहुत-से सविस्तर नियम दिये गये हैं, जिनमेंसे बहुत थोड़े गीतामें उपलब्ध होते हैं । इसीलिये हम कभी-कभी लोगोंको यह कहते हुए सुनते हैं कि गीताकी प्रामाणिकताको स्वीकार करनेवालेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह मनुस्मृति तथा वैसे ही दूसरे शास्त्रोंके बहुसंख्यक आदेशोंका भी आदर करे ही । हमारे कानमें इस प्रकारके शब्द भी आये हैं कि मनुस्मृति और गीतामें परस्पर विरोध है । हम प्रस्तुत निबन्धमें यही विचार करना चाहते हैं कि इस प्रकारकी मान्यताएँ कहाँतक ठीक हैं।

यह बात ध्यान देनेकी है कि गीतामें अधिकतर इसी प्रश्नपर विचार किया गया है कि मनुष्यको अपने कर्तव्यका पालन किस प्रकार करना चाहिये। मनुष्यके कर्तव्य क्या हैं, इस प्रश्नपर बहुत कम विचार किया गया है। वह इस बातपर हमारा ध्यान विशेषरूपसे आकर्षित करती है कि कार्यके स्वरूपकी अपेक्षा हमारा कार्य करनेका ढंग विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि एक उत्तम कार्य भी बुरे ढंगसे किया जा सकता है । अतः यह पर्याप्त नहीं है कि हमारा कार्य ही उत्तम हो । हमें उसे करना भी उचित ढंगसे चाहिये । नहीं तो हम उससे पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते, बल्कि हमारी क्षति भी हो सकती है ।

किसी भी कामको करनेके समुचित ढंगके विषयमें गीताका सिद्धान्त संक्षेपमें यह है कि हमारी किसी भी कार्यमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये और दूसरी बात यह है कि हमारे अंदर कर्मफलकी इच्छा न हो । गीताने इन भावोंकी बहुत विस्तारसे व्याख्या की है । परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मनुष्यके कर्तव्य क्या हैं अथवा किसी व्यक्तिको अपने कर्तव्यका निर्णय किस प्रकार करना चाहिये, इस प्रश्नपर गीता कोई निश्चित राय नहीं देती । सोलहवें अध्यायके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

'अतः क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय करनेके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं । शास्त्रके विधानको जानकर तुम्हें उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये ।'

'शास्त्र' शब्द श्रुति एवं स्मृतिका वाचक है । श्रुतिका अर्थ है वेद, जिनमें उपनिषद् भी शामिल हैं । स्मृति कहते हैं उन धर्म-ग्रन्थोंको जो वेदमूलक एवं ऋषिप्रणीत हैं । स्वामी शङ्कराचार्यने अपने गीताभाष्यमें ऊपरके श्लोकमें आये हुए 'शास्त्र' शब्दकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की है; परन्तु अगले ही मन्त्र (१७ । १) के भाष्यमें उन्होंने 'शास्त्रविधि' शब्दका अर्थ किया है 'श्रुतिस्मृतिशास्त्रचोदना' अर्थात् श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रकी आज्ञा । गीता १६ । २३ के भाष्यमें स्वामी रामानुजाचार्यने लिखा है—'शास्त्रं वेदाः' अर्थात् शास्त्रका अर्थ वेद ही है; किन्तु अगले श्लोक (१६ । २४) की व्याख्यामें वे शास्त्रका अर्थ करते हैं 'धर्मशास्त्रपुराणोपबृंहिता वेदाः' अर्थात् धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत एवं पुराणोंके द्वारा व्याख्यात एवं अनुमोदित वेद । ऐसा अर्थ करनेमें वे निम्नलिखित शास्त्रवचनका ही अनुसरण करते हैं—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।'

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'शास्त्र' शब्दका अर्थ केवल वेद ही क्यों न लिया जाय, स्मृतियोंको भी शास्त्रके अन्तर्गत माननेकी क्या आवश्यकता है । पहली बात तो यह है कि वेदोंका वास्तविक तात्पर्य जानना बहुत कठिन है (देखिये मनुसंहिता १० । ७१ । ४-५) । गीतामें

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'वेदोंका जाननेवाला भी मैं ही हूँ' (वेदविदेव चाहम्), जिससे उन्होंने वेदोंका यथार्थ तात्पर्य जाननेकी कठिनाईको सूचित किया है। तपश्चर्या एवं साधनाके द्वारा ऋषियोंने वेदोंका गूढ़ रहस्य समझकर उसे स्मृतियोंमें ग्रथित किया। दूसरी बात यह है कि वेदोंका बहुत-सा अंश लुप्त हो गया है। उदाहरणतः महाभारतके अन्तर्गत उपमन्युके आख्यानमें कुछ वैदिक मन्त्र उद्धृत किये गये हैं (देखिये आदिपर्व ३। ६७-६८), जो उपलब्ध वेदमन्त्रोंमें नहीं मिलते। पातञ्जलमहाभाष्य (१।१।१) में ऋग्वेदकी २१ शाखाओंका, यजुर्वेदकी १२१ शाखाओंका, सामवेदकी १००० शाखाओंका और अथर्ववेदकी ९ शाखाओंका उल्लेख मिलता है—जिनमेंसे बहुत कम शाखाएँ आजकल मिलती हैं। वेदोंके कुछ अंशोंके खो जानेकी बात पहलेहीसे सोचकर त्रिकालदर्शी ऋषियोंने वैदिक आचारके नियमोंको अनेक स्मृतियोंके रूपमें सुरक्षित रक्खा और उनका वेदोंके साथ कहीं भी विरोध नहीं है, इसलिये वे वेदोंके समान ही प्रामाणिक हैं। उदाहरणतः मनुसंहिताका वचन है—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे······················॥

'मनुने जिसका जो धर्म बतलाया है वह सब वेदमें कहा हुआ है।' वास्तवमें तो स्वयं वेदोंने ही 'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्' (जो कुछ मनुने कहा है वह औषधरूप अर्थात् पथ्य है) कहकर मनुसंहिताकी प्रामाणिकतापर मुहर लगा दी है। उपर्युक्त मन्त्र वेदोंमें एक-दो नहीं, चार जगह आया है—(देखिये काठकसंहिता ११। ५, मैत्रायणीयसंहिता १। १। ५, तैत्तिरीयसंहिता २। २। १०। २ और ताण्ड्यब्राह्मण २३। १६। ७)। पाश्चात्य विद्वानोंने मनुसंहिताकी प्रामाणिकताके विरोधमें कई कल्पनाएँ की हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मनुसंहिता अनेक व्यक्तियों-द्वारा रचित पद्योंका संग्रह है; वह उन मनुकी रचना नहीं हो सकती जिनका उल्लेख वेदोंमें मिलता है, क्योंकि मनुसंहिताकी भाषा वेदोंकी भाषासे बहुत पीछेकी है। यह भी कहा जाता है कि इस ग्रन्थकी विविध हस्तलिखित प्रतियोंमें बड़ा अन्तर है; परन्तु जो अन्तर स्थूल दृष्टिसे दिखलायी देते हैं, उनका समाधान तो टीकाकारोंने किया है। हस्तलिखित प्रतियोंमें अन्तर इस कारण भी हो सकता है कि कुछ प्रतियाँ सम्भवतः खण्डित हों, जिसके कारण उनके कुछ अंश न मिलते हों; परन्तु केवल इस हेतुको लेकर उस अंशको भी अप्रामाणिक कह देना, जो सभी प्रतियोंमें मिलता है, युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही उन श्लोकोंकी अपेक्षा जो सभी प्रतियोंमें मिलते हैं, ऐसे श्लोक जो कुछ ही प्रतियोंमें मिलते हैं संख्या एवं महत्त्व दोनोंकी दृष्टिसे नगण्य हैं। यदि यह भी मान लिया जाय कि मनु वैदिक कालमें हुए थे और मनुसंहिताकी रचना बहुत पीछे हुई, तो भी इसका अर्थ यह नहीं होता कि मनुके बनाये हुए नियम मनुसंहितामें नहीं हैं। मनुने कुछ नियम बनाये और ये नियम बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझे गये, यह बात तो ऊपरके वेदमन्त्रसे स्पष्ट ही है। जो नियम इतने महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं और जिनका वेदोंने अनुमोदन किया है, वे यदि लगातार कई पीढ़ियोंतक लोगोंकी स्मृतिमें सुरक्षित रहें तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि यह उन दिनों कोई बहुत कठिन अथवा असाधारण बात न थी। मनुसंहिताका एक श्लोक यास्कके निरुक्तमें उद्धृत किया हुआ मिलता है, जिसका रचनाकाल ईसासे ७०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इससे हमलोग यह भी नहीं कह सकते कि मनुसंहिताकी भाषा बहुत पीछेकी है। यह बात भी कल्पनामें आ सकती है कि आगे चलकर उसे ग्रन्थके रूपमें लिपिबद्ध करते समय उस समयकी भाषाका भी उपयोग किया गया हो। मनु-संहिताकी भाषा तथा वेदोंकी भाषामें जो अन्तर है, उसका इस तरह सन्तोषजनक रीतिसे समाधान हो जाता है। व्यास, वाल्मीकि आदि मुनियोंने तथा शङ्कर, रामानुजप्रभृति आचार्योंने भी यह स्वीकार किया है कि मनुसंहितामें मनुके बनाये हुए मूल नियम ही संगृहीत हैं और मनुकी विज्ञताका लोहा माना है। उदाहरणतः वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें श्रीरामने मनुसंहिताके दो श्लोकोंको उद्धृत करते हुए यह कहा है कि ये मनुके कहे हुए हैं, 'मनुना गीतौ'—अतएव मेरे लिये विधिरूप हैं। महाभारतमें तो मनुसंहिताके लंबे-लंबे अवतरण मिलते हैं और उसके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि मनुसंहिताकी रचना ईश्वरीय आदेशोंके आधारपर हुई है, अतः तर्कके द्वारा उसका खण्डन नहीं हो सकता—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

'पुराण, मानव-धर्मशास्त्र, अङ्गसहित वेद एवं चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद)—इनकी प्रामाणिकताका आधार भगवान्‌की आज्ञा है; अतएव केवल तर्कके द्वारा उनका खण्डन नहीं हो सकता।'

शङ्कर एवं रामानुज दोनों ही आचार्योंने मनुसंहिताके वाक्योंको प्रमाणरूपमें उद्धृत किया है और यह भी उद्घोषित किया है कि मनुको ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त था—(देखिये ब्रह्मसूत्र २ । १ । १–२; २ । २ । १७ तथा ३ । ४ । ३८ पर उनके भाष्य ।) हमलोग शङ्कर एवं रामानुज-जैसे आचार्योंके मतका निरादर कर पाश्चात्त्य विद्वानोंकी नयी मनगढ़ंत कल्पनाओंको नहीं मान सकते, जिनकी हमारी सभ्यताकी प्राचीनता तथा महत्ताके सम्बन्धमें इतनी भ्रमपूर्ण एवं दुराग्रहयुक्त धारणाएँ हैं कि उनके कारण वे प्रायः शोचनीय भूलें कर बैठते हैं ।

इस प्रकार गीता १६ । २४ में जब भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि सदाचारका निर्णय करनेमें शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिये तो निःसन्देह उनकी दृष्टिमें मनुसंहिता भी एक प्रामाणिक शास्त्र रहा होगा ।

२—जाति जन्मसे या गुणसे ?

अब हम वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें गीताकी क्या मान्यता है, इस विषयपर विचार करेंगे । गीतामें चातुर्वर्ण्यका ईश्वरकृत सामाजिक व्यवस्थाके रूपमें उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंको अपनी योग्यताके अनुकूल विधिसे भगवान्‌की पूजा करनेके सुलभ साधन प्राप्त हो जाते हैं । गीता ४ । १३ में जो 'गुणकर्मविभागशः'—ये शब्द आये हैं इनको लेकर कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो गयी है कि जिस वर्णव्यवस्थाका गीताने समर्थन किया है उसके अनुसार जातिका निर्णय जन्मसे नहीं, अपितु गुण और कर्मसे होता है । किन्तु थोड़ा विचार करनेसे ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि भगवान् श्रीकृष्णका यह अभिप्राय नहीं हो सकता था । पहली बात तो यह है कि १६ । २४ में उन्होंने शास्त्रोंकी आज्ञाको प्रमाण बतलाया है और जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं मनुसंहिताको भी शास्त्रोंके अन्तर्गत ही मानना पड़ेगा। मनुसंहिता १० । ५ में यह बात कही गयी है कि यदि माता-पिता एक ही वर्णके हों तो उनकी सन्तानका भी वही वर्ण होगा । यदि गीता १६ । २४ में भगवान् श्रीकृष्ण मनुसंहिताका प्रामाण्य अङ्गीकार करते हैं, जिसमें यह लिखा है कि जातिका निर्णय जन्मसे ही होना चाहिये और यदि ४ । १३ में वे यह कहें कि जातिके लिये जन्मकी प्रधानता नहीं है बल्कि गुण और कर्मकी प्रधानता है, तो उनके वचनोंमें पूर्वापरविरोध आवेगा । दूसरी बात हमें यह देखनी है कि महाभारतके वीरोंकी जातिका निर्णय किस प्रकार किया गया था । द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्यने क्षात्रधर्म स्वीकार किया था, परन्तु वे क्षत्रिय नहीं कहलाये । वे जन्मतः ब्राह्मण होनेके नाते ब्राह्मण ही कहलाये । अश्वत्थामामें न तो ब्राह्मणोचित गुण थे और न उसके कर्म ही ब्राह्मणोंके-से थे। उसने भी क्षात्रवृत्ति स्वीकार कर ली थी । गुणोंकी बात कहें तो उसका स्वभाव इतना क्रूर था कि उसने द्रौपदीके पाँचों बालकोंको सोतेमें मार डाला । फिर भी वह ब्राह्मण ही कहलाया, चाहे दुष्ट ब्राह्मण ही क्यों न हो । यदि हम पाँचों पाण्डवोंके गुणोंपर विचार करते हैं तो देखते हैं कि युधिष्ठिर क्षमाकी मूर्ति थे, किन्तु भीम ज़रा-सी भी प्रतिकूलता होनेपर क्रोधसे आग-बबूला हो जाया करते थे । फिर भी क्षत्रिय-सन्तान होनेके कारण दोनों ही क्षत्रिय रहे । धर्म-व्याधमें ब्राह्मणोचित गुण थे, फिर भी वह रहा व्याध-का-व्याध ही । ब्राह्मण होनेके लिये उसे दूसरा जन्म लेना पड़ा । गीताके मुख्य प्रतिपाद्यका आधार भी 'जन्मसे जाति' का सिद्धान्त ही है । क्योंकि जब अर्जुन युद्ध करनेसे इनकार हो गया और भिक्षावृत्तिसे जीवननिर्वाह करनेको प्रस्तुत हो गया तो श्रीकृष्णने उससे कहा कि 'ऐसा करनेसे तुम्हें पाप लगेगा ।' अब यदि जाति कर्मानुसारिणी होती तो अर्जुनको युद्ध न करनेसे पाप क्यों लगता ? जबतक वह युद्ध करता तभीतक वह क्षत्रिय कहलाता, भिक्षावृत्ति स्वीकार करते ही वह ब्राह्मण कहलाने लगता । जन्मके अनुसार जाति होनेपर ही कोई वृत्ति किसी व्यक्तिविशेषके लिये उचित हो सकती है और उस वृत्तिका त्याग उसके लिये पाप समझा जा सकता है । गीता १८ । ४८ में श्रीकृष्णने 'सहज कर्म' का उल्लेख किया है—'सहज कर्म' का अर्थ है वह कर्म जो किसी मनुष्यके साथ ही पैदा होता है । यदि जन्मसे ही जातिका निर्णय होता हो और जातिसे कर्मका निर्णय होता हो तभी हम यह कह सकते हैं कि वृत्ति अथवा कर्म मनुष्यके साथ ही पैदा होता है । स्थूल बुद्धिसे भी यही समझमें आता है कि गुण या कर्मसे जातिका निर्णय होना सम्भव नहीं । किसी मनुष्यके गुण ब्राह्मणोचित हो सकते हैं, परन्तु उसके कर्म क्षत्रियके-से हो सकते हैं । तब उसकी जातिका निर्णय कैसे हो ? फिर किसी मनुष्यके गुणोंका निर्णय कैसे किया जायगा ? क्या हम कह सकते हैं कि अमुक मनुष्यके गुण ब्राह्मणके-से हैं, क्षत्रियके-से हैं, वैश्यके-से हैं या शूद्रके-से हैं ? यदि इस विषयमें हम अपनी-अपनी राय देनेका साहस भी करें तो क्या सबकी राय एक होगी ? गुणोंके द्वारा जातिका निर्णय क्या बहुमतसे किया जायगा ? फिर एक ही मनुष्यके

गुण अथवा कर्म समय-समयपर बदल सकते हैं। ऐसी दशामें क्या उसकी जाति हर समय बदलनी पड़ेगी? ऐसा होनेसे क्या घोर अव्यवस्था नहीं हो जायगी? तब प्रश्न यह रह जाता है कि गीताके 'गुणकर्मविभागशः' का क्या अर्थ है। इस समस्त पदकी व्याख्या स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने १८। ४१ में की है। वहाँ वे कहते हैं—

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

'स्वाभाविक गुणोंके अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंके कर्मोंका विभाग किया गया है।' अतः ४। १३ के 'गुणकर्मविभागशः' की व्याख्या १८। ४१ के अनुकूल करनी होगी—अर्जुनके लिये युद्ध न करना पाप है, इस गीताके प्रधान विषयके अनुकूल करनी होगी—मनुस्मृति १०। ५ के अनुकूल करनी होगी—महाभारतमें उल्लिखित तथ्योंके अनुकूल करनी होगी और साधारण बुद्धिके अनुकूल करनी होगी। जाति गुण एवं कर्मके अनुसार होती है, इस प्रकार इस पदका अर्थ करना उपर्युक्त सभी बातोंके विपरीत होगा।

३—क्या शास्त्रोंमें परिवर्तन होना चाहिये?

बहुधा यह कहा जाता है कि संसारकी प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, अतः समाजके नियम भी बदलने चाहिये; हजारों वर्ष पूर्वके बने हुए नियम वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल नहीं हो सकते। परन्तु निश्चय ही स्थूल जगत्के नियमोंका जो रूप हजारों वर्ष पूर्व था, वही रूप आज भी है। गरमी पदार्थोंका उसी रूपमें आज भी विस्तार कर देती है जिस प्रकार वह हजार वर्ष पूर्व किया करती थी। इसी प्रकार नैतिक क्षेत्रमें भी जो नियम हजारों वर्ष पूर्व लागू थे वे ही आज भी हैं। गुरु-शुश्रूषासे विद्यार्थी अधिक आसानीसे ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पिताकी सेवासे पुत्र अपने चरित्रको उदात्त बना सकता है—ये बातें आज भी उतनी ही सत्य हैं जितनी वे हजारों वर्ष पूर्व थीं। स्थिति निःसन्देह काल पाकर बदलती है, इसलिये एक दूसरे ढंगसे काम लेनेकी आवश्यकता हो सकती है। शास्त्रोंने इसका भी पर्याप्त ध्यान रक्खा है। यही कारण है कि कुछ रीति-रिवाज जो पूर्वकालमें प्रचलित थे, कलियुगमें उनका निषेध है; यह भी सत्य है कि वर्तमान परिस्थितिमें शास्त्रकी सभी आज्ञाओंका पालन होना कठिन है। परन्तु इससे यह प्रचार करनेकी आवश्यकता नहीं सिद्ध होती कि शास्त्रके आदेश हानिकर हैं, अतः उनमें परिवर्तन होना चाहिये। जहाँतक हो सके हमें उनका पालन करना चाहिये। जहाँ हम नहीं पालन कर सकते वहाँ हमें दुःख होना चाहिये। अवश्य ही हमें जान-बूझकर हठपूर्वक उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। हमें भगवान् श्रीकृष्णके इस उपदेशको स्मरण रखना चाहिये कि 'कर्तव्य एवं अकर्तव्यका निर्णय हमें शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ही करना होगा।' यदि उनकी यह धारणा न होती कि शास्त्र निर्भ्रान्त एवं अपरिवर्तनशील हैं तो वे ऐसा कभी नहीं कहते। इसीलिये उन्हें 'शाश्वतधर्मगोप्ता'—सनातन धर्मकी रक्षा करनेवाला कहा गया है।

४—हिन्दूधर्म एवं दूसरे धर्म

यह सत्य है कि हिन्दूशास्त्रोंमें कुछ आज्ञाएँ ऐसी हैं जो दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलतीं, परन्तु इसका कारण यह है कि दूसरे धर्मोंकी अपेक्षा हिन्दूधर्मने नैतिक जगत्में अधिक नियमोंको ढूँढ़ निकाला है, यदि हम केवल उन्हीं नियमोंको मानें जो सब धर्मोंमें समान हैं तो हम उस धर्मकी भूमिपर उतर आते हैं जिसने सबसे कम उन्नति की है। यदि दूसरे धर्मोंके आचार्य कुछ ऐसे सत्योंकी उपलब्धि अथवा घोषणा नहीं कर सके जिनकी उपलब्धि हिन्दू ऋषियोंने की है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम उन सत्योंको अविश्वसनीय कहकर उनका प्रत्याख्यान कर दें। उदाहरणतः कर्म एवं पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंको हिन्दू ऋषियोंने ईश्वरके द्वारा प्रकट किये हुए वेदोंकी सहायतासे ढूँढ़ निकाला; ये सिद्धान्त दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलते, इसीलिये हिन्दूधर्ममें (उपर्युक्त सत्योंके आधारपर बने हुए) कई ऐसे आचार अथवा विधान पाये जाते हैं जो दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलते।

५—ज्ञानी एवं अज्ञानी

ऐसा कहा गया है कि गीतामें आध्यात्मिक उन्नतिकी दो अवस्थाओंका उल्लेख मिलता है। निम्नावस्थामें शास्त्रोंका अनुसरण करना चाहिये, किन्तु ऊपरकी अवस्थामें उनका अनुसरण करना आवश्यक अथवा उचित नहीं है। परन्तु यह बात गीताके सिद्धान्तके स्पष्ट ही प्रतिकूल है। क्योंकि ३। २१में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। यदि श्रेष्ठ पुरुष शास्त्रका अनुसरण न करें तो साधारण मनुष्य भी वैसा ही करने लगते हैं।

३। २५में भगवान् फिर कहते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

ज्ञानी एवं अज्ञानीमें यही भेद है कि अज्ञानीलोग आसक्तिपूर्वक कर्म करते हैं और ज्ञानीलोग अनासक्तभावसे। उनके कर्मोंमें स्वरूपतः कोई अन्तर नहीं होता।

गीता ३ । २६में भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

ज्ञानीको कर्म करनेकी आवश्यकता भले ही न प्रतीत हो, परन्तु उसे चाहिये कि वह अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न न करे; उसे स्वयं कर्तव्य-कर्मका आचरण कर दूसरों-को भी वैसा करनेकी प्रेरणा करनी चाहिये ।

६–त्रिविध श्रद्धा

कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा है कि गीताके सतरहवें अध्याय-में शास्त्रोंकी अवहेलना करनेकी आज्ञा है । यदि ऐसी बात होती तो गीताके वाक्योंमें पूर्वापर विरोध आता, क्योंकि इसका तात्पर्य तो यह होता है कि सोलहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोक-में तो भगवान् कहते हैं कि 'शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये' और अगले ही अध्यायमें वे कहते हैं कि 'शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन किया जा सकता है ।' परन्तु वास्तवमें शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन करनेकी सतरहवें अध्यायमें कहीं भी आज्ञा नहीं है । सतरहवें अध्यायका प्रारम्भ अर्जुनके निम्नलिखित प्रश्नसे होता है । वे पूछते हैं—'जो लोग श्रद्धालु तो हैं, परन्तु जिनकी उपासना शास्त्रीय आज्ञाके विरुद्ध है, उनकी श्रद्धा सात्त्विक है या राजसिक या तामसिक ?' श्रीशङ्कराचार्य अपने गीताभाष्यमें ठीक कहते हैं कि यह श्लोक उन लोगोंके सम्बन्धमें है जो शास्त्रोंकी मर्यादा न जाननेके कारण शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं; क्योंकि शास्त्रोंमें श्रद्धा रखनेवाले उनके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकते, यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि शास्त्रकी आज्ञा क्या है । अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णने सामान्य नियमका निर्देश किया है । वह यह है कि मनुष्यकी श्रद्धा उसको प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक (१७ । २)। इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिये कि उक्त तीनों प्रकारके मनुष्योंके लिये शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन उचित है, क्योंकि ऐसा करना १६ । २४ के इस सामान्य वचनके विरोधमें जायगा कि शास्त्रोंका अनुसरण करना ही चाहिये । गीता १७ । ५ में अशास्त्रीय तपकी निन्दा की गयी है । १७ । १३ में विधिहीन पूजाको तामसिक कहकर उसकी निन्दा की गयी है । १७ । २० में उस दानको सात्त्विक कहा गया है जो देश, काल और पात्रका विचार करके दिया जाता है । इसका अभिप्राय यही है कि देश, काल, पात्र वे ही उत्तम हैं जिनका शास्त्रोंमें विधान किया गया है । श्रीशङ्कराचार्यने अपने भाष्यमें इसका स्पष्टीकरण किया है । वे कहते हैं कि 'कुरुक्षेत्र आदि पवित्र स्थान ही उत्तम देश हैं, संक्रान्ति आदि पर्व ही उत्तम काल हैं और वेदवेत्ता पुरुष ही उत्तम पात्र हैं ।' अन्तमें १७ । २४ में श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्रह्मवेत्तालोग शास्त्रीय विधानके अनुसार ही यज्ञ, दान और तपका अनुष्ठान करते हैं ।

७–नियत कर्म

गीता ३ । ८ में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको नियत कर्म करनेको कहते हैं । आचार्य श्रीशङ्करने 'नियत कर्म' का अर्थ किया है—वे कर्म जो शास्त्रद्वारा निश्चित किये गये हैं । श्रीअरविन्दने इस अर्थको नहीं माना है (क्योंकि उनके मतानुसार यह अर्थ सङ्कीर्ण मनोवृत्तिका परिचायक है); उनके मतमें नियत कर्मका अर्थ होना चाहिये वे कर्म जो इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक किये जाते हैं । इस सम्बन्धमें पहली बात तो ध्यान देनेकी यह है कि यदि शास्त्रविहित कर्म करनेकी आज्ञा सङ्कीर्ण मनोवृत्तिका परिचय देती है तो 'नियत कर्म' की इस प्रकार व्याख्या कर डालनेसे श्रीकृष्ण भी सङ्कीर्णताके दोषसे मुक्त नहीं किये जा सकते, क्योंकि अन्यत्र (१६ । २४ में) वे स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि शास्त्रविहित कर्म करने चाहिये और शास्त्रनिषिद्ध कर्म नहीं करने चाहिये । दूसरे 'नियत कर्म' ये शब्द गीतामें चार जगह और आये हैं—अठारहवें अध्यायके श्लोक ७, ९, २३ और ४७ में । पहले हमलोग १८ । ७ पर विचार करें । श्लोक इस प्रकार है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

'यदि कोई मनुष्य नियत कर्मका त्याग कर दे तो उसका यह कार्य उचित नहीं कहा जा सकता। और यदि वह मोहवश ऐसा करता है तो उसका यह त्याग तामसिक है ।'

नियत कर्मका जो अर्थ श्रीअरविन्दने किया है, उसकी उपर्युक्त श्लोकके साथ सङ्गति नहीं बैठ सकती; क्योंकि इस कथनका कोई अर्थ ही नहीं होगा कि इन्द्रियनिग्रहपूर्वक किये

हुए कर्मका मोहवश त्याग किया जा सकता है। शङ्करकी व्याख्या उपर्युक्त श्लोकमें तथा अन्य सभी स्थलोंमें जहाँ 'नियत कर्म' शब्दोंका प्रयोग हुआ है सटीक बैठ जाती है, किन्तु श्रीअरविन्दका अर्थ ठीक नहीं बैठता। गीता ३।८ में भी श्रीअरविन्दका किया हुआ अर्थ पुनरुक्तिदोषसे युक्त है—क्योंकि उसके पूर्ववर्ती श्लोकमें यह कहा जा चुका है कि इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एवं अनासक्तभावसे कर्म करना चाहिये। अतः अगले श्लोकमें उसी बातको दुहराना अनावश्यक था। इसके अतिरिक्त जब यह कहा जाता है कि कर्म करते समय इन्द्रियोंको काबूमें रखना चाहिये, तो स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि उक्त रीतिसे किस प्रकारके कर्म करने चाहिये। इस प्रश्नका उत्तर (१६।२४ के अनुसार) यह होगा कि शास्त्रविहित कर्मोंको ही इस रीतिसे करना चाहिये। और अगले श्लोकमें [शास्त्रविहित] यज्ञोंका उल्लेख है। इस प्रकार शङ्करकी व्याख्या पहलेके तथा पीछेके श्लोकमें भी ठीक बैठ जाती है।

८—वेद और गीता

यूरोपीय विद्वान् यह समझते हैं कि वेद और गीतामें परस्पर विरोध है; किन्तु व्यास आदि महर्षियों तथा शङ्कर, रामानुज प्रभृति आचार्योंने यह घोषणा की है कि गीता वेद एवं उपनिषदोंका सार है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि पाश्चात्त्य विद्वानोंका यह कथन सर्वथा निराधार है। वे लोग कहते हैं कि वेदोंकी आज्ञा यज्ञ करनेके लिये है, किन्तु गीता भक्तिपर जोर देती है। परन्तु गीता भी यज्ञानुष्ठानपर जोर देती है, जिसके बिना चित्तशुद्धि नहीं हो सकती और सच्ची भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(१८।५)

'यज्ञ, दान और तपको नहीं छोड़ना चाहिये; उन्हें करना ही चाहिये; क्योंकि ये तीनों अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले हैं।'

गीतामें दूसरे भी कई स्थल ऐसे हैं जिनमें यज्ञानुष्ठानपर जोर दिया गया है और यह भी कहा गया है कि यज्ञ करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३।१३)

'जो लोग यज्ञसे बचे हुए अन्नको खाते हैं, वे समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; किन्तु जो लोग अपने ही लिये भोजन बनाते हैं, यज्ञ नहीं करते, वे लोग केवल पाप खाते हैं।'

गीतामें निःसन्देह 'यज्ञ' शब्दका कई अर्थोंमें प्रयोग हुआ है और विविध यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञको सर्वोत्तम बतलाया गया है। ऐसी बात हो सकती है; परन्तु ऊपरके श्लोकमें तो निःसन्देह द्रव्य-यज्ञका ही उल्लेख है।

गीता ३।१०में भी इस बातका स्पष्टरूपसे निर्देश किया गया है कि देवताओंकी वैदिक यज्ञके द्वारा पूजा करनी चाहिये।

गीता ९।२१में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है; परन्तु स्वर्ग-प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि स्वर्गका सुख सदा रहनेवाला नहीं है। भगवत्प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिये परमात्माका ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भक्तिका होना आवश्यक है। भक्तिकी प्राप्तिके लिये चित्तशुद्धि आवश्यक है और चित्तशुद्धिके लिये यज्ञानुष्ठान आवश्यक है, परन्तु होना चाहिये वह स्वर्गरूप फलको प्राप्त करनेकी इच्छाके बिना ही।

गीता २।४५में श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

वेद सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंका ही वर्णन करते हैं। यहाँ वेदका अर्थ केवल कर्मकाण्ड ही लेना चाहिये। क्योंकि उपनिषदोंमें यह बात स्पष्टरूपसे कही गयी है कि ब्रह्म इन तीनों गुणोंसे परे है और सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंसे ऊपर उठकर ही ब्रह्मप्राप्तिकी चेष्टा करनी चाहिये। इसी प्रकार 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके' इस श्लोकका अर्थ भी अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके बाद वेदोंका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, किसी प्रकार खींचतानीसे भी इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये वेदोंमें बतलाये हुए साधन ठीक नहीं हैं। पुनः २।४२-४३('यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' इत्यादि) में वेदोंकी एक खास प्रकारकी व्याख्याकी निन्दा की गयी है—वेदोंकी नहीं। वहाँ वेदोंकी उस व्याख्याकी निन्दा की गयी है जिसमें यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्ग-प्राप्तिको ही जीवनका सर्वोच्च ध्येय बतलाया गया है। वेदोंका असली तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्ति ही जीवनका सर्वोच्च ध्येय है—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।'

उपसंहार

सारांश यह है कि वेद, पुराण, धर्मशास्त्र (मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि, रामायण, महाभारत—जिसके अन्तर्गत गीता है) आदि शास्त्र एक ही समन्वित वस्तु हैं जिनका ध्येय एक ही है, यद्यपि वे भिन्न-भिन्न स्थितिके अनुकूल भिन्न-भिन्न साधन बतलाते हैं। गीता इस महान् वाङ्मयका ही एक अङ्ग है। गीताका किसी दूसरे शास्त्रसे कोई विरोध नहीं है। गीताशास्त्र विविध विहित कर्मोंका संकेतमात्र करती है और जीवनके सर्वोच्च ध्येयकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंको करते समय चित्तकी वृत्ति कैसी होनी चाहिये, इसको समझाती है।



गीता-साधन

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

(१)

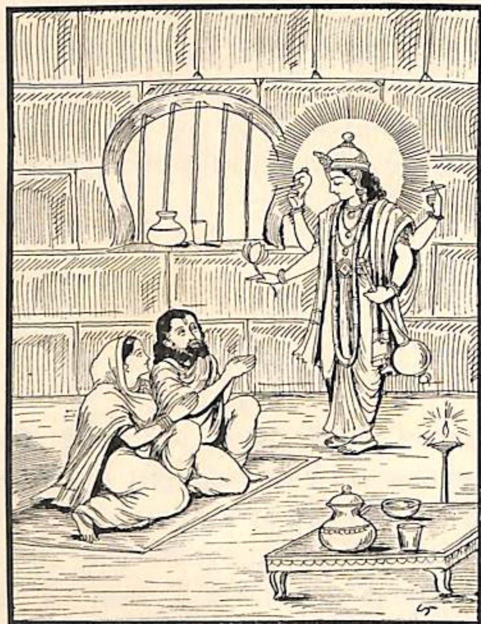
मेरे जीवनके लिये गीताका वही स्थान है जो माताके दूधका स्तनन्धय शिशुके लिये होता है। भगवान्‌के तेजोमय विश्वरूपका दर्शन कर अर्जुन इस प्रकार स्तुति करने लगा—'हे प्रभो! आप चराचर जगत्‌के पिता हैं, आप सनातन हैं, परात्पर हैं, एकमात्र वेद्य हैं, सबके धारण करनेवाले हैं', इत्यादि। इसी प्रकार जब मैं नित्य गीताका पाठ करता हूँ और तुलसीपत्रोंसे उसकी पूजा करता हूँ, उस समय मेरा हृदय गाने लगता है—'भगवति गीते! तुम्हीं मेरे सच्चे पिता हो, तुम्हीं माता हो, तुम्हीं मेरे आहार हो, तुम्हीं वह सनातन शब्द हो जो सदा मेरे अन्तस्तलके कानोंमें गूँजता रहता है, तुम्हीं परम सत्य हो; तुम्हीं प्रेम, कर्म और ज्ञानकी एकमात्र संग्रहणीय निधि हो। माँ गीते! तुम मेरे इस समर्पित जीवनरूप नदीका उस आनन्दार्णवसे समागम करा दो, जहाँसे दिव्य सुधाके रूपमें तुम्हारा उद्गम हुआ है।'

गीता मेरी दृष्टिमें एक मुद्रित ग्रन्थ नहीं है; वह तो सत्यरूपी दीपककी अखण्ड ज्योति है, जिसे मैं अपने जीवनरूपी तेलसे नित्य सींचता रहता हूँ। कहते हैं कि भक्त, भागवत (पुराण) और भगवान् एक ही हैं। यदि यह बात सत्य है तो फिर भगवद्वाणीरूप श्रीमद्भगवद्गीता भी मेरे लिये भगवद्रूप ही है, मेरी इष्टदेवी है।

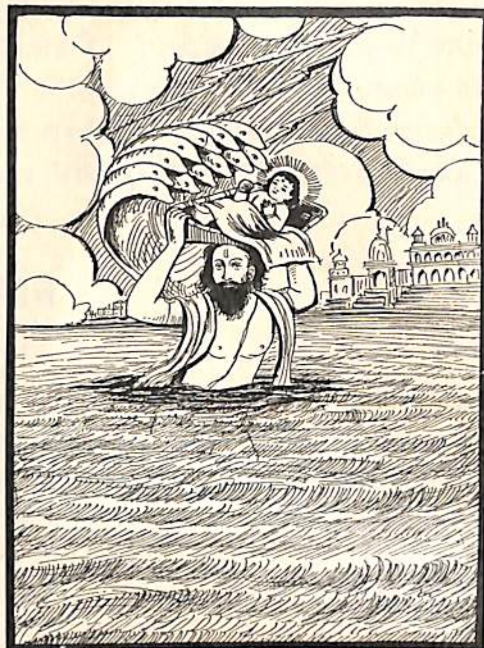
(२)

मैंने विश्वसाहित्यके नन्दनकाननकी सैर की है, परन्तु मेरे चित्तको तो विश्राम और सुख तभी मिलता है जब वह गीताकी शरणमें जाता है। जिस समय मैं गीताके परम तत्त्वका अनुशीलन करता हूँ, उस समय अन्य ग्रन्थोंकी स्मृति मेरे मानस-पटलसे उसी प्रकार विलीन हो जाती है जिस प्रकार अरुणोदयके प्रकाशमें नक्षत्रावली विलीन हो जाती है। हृदयमें प्रेमका असीम समुद्र उमड़ आता है, मन आत्मामें स्थिर हो जाता है, प्राणोंका विक्षोभ शान्त हो जाता है, नेत्र भीतरकी ज्योतिको देखने लगते हैं और इन्द्रियोंका व्यापार अन्तर्मुखी हो जाता है। उस समय गीताका परम तत्त्व मेरे अन्तस्तलमेंसे निम्नलिखित तान अलापने लगता है—

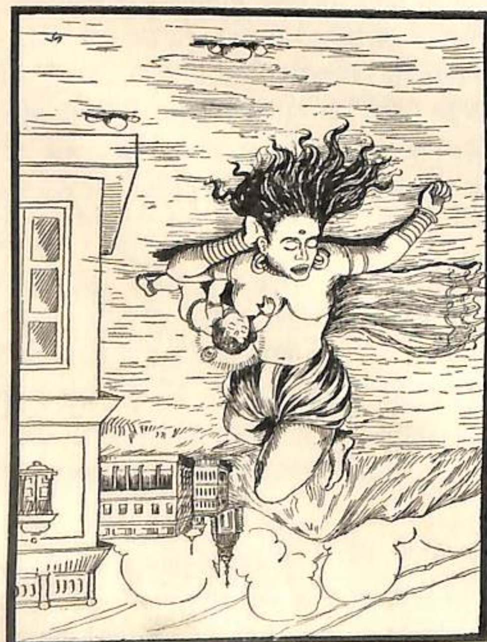
'मैं सबके हृदयमें रहनेवाला आत्मा हूँ। ये समस्त लोक मेरे ज्ञानरूपी सूत्रमें पिरोये हुए मनियोंके समान हैं। इन्द्रिय तथा उनसे होनेवाला ज्ञान, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त तथा सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व-समूह—ये सब प्रकृतिरूपी शरीरके अवयव हैं—प्रकृतिरूपी शरीर इन्हींसे बना हुआ है। यह प्रकृतिरूपी शरीर मेरा क्षेत्र है और मैं उसका जाननेवाला—क्षेत्रज्ञ हूँ। इस क्षणभंगुर शरीरका, इस प्रतिक्षण बदलनेवाले जगत्‌का भरोसा न करो। जगत्‌को मेरी योगमायाका ही विलास समझो, गुणोंकी ही लीला मानो। सत्त्व, रज, तम—इन तीनों प्राकृतिक गुणोंको लाँघ जाओ। प्राकृतिक गुणोंकी इस समरभूमिमें तुम्हें सुख अथवा शान्ति नहीं मिल सकती। इस जीवन-संग्रामसे ऊपर उठकर उस वस्तुको प्राप्त करो जो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। वह वस्तु मैं हूँ। मैं तुम्हारे अंदर मौजूद हूँ; इसीलिये तुम जीते हो, साँस लेते हो और चलते-फिरते हो। तुम्हारे रसनेन्द्रियमें स्थित होकर मैं ही भिन्न-भिन्न रसोंका आस्वादन करता हूँ। तुम्हारे कानोंके झरोखेमें बैठकर मैं ही सुनता हूँ और तुम्हारे आनन्दका उपभोग भी मैं ही करता हूँ। विविध नाम-रूपोंके पीछे मैं ही छिपा हुआ हूँ। मैं ही प्रकृति हूँ, मैं ही पुरुष हूँ और मैं ही दोनोंसे परे अद्वितीय पुरुषोत्तम हूँ। मेरी



कारागारमें भगवान्‌का प्राकट्य



मथुरासे गोकुल



पूतना-उद्धार



तृणावर्त-उद्धार

कृपाको छोड़कर जीवोंके लिये कोई आश्रय या ठिकाना नहीं है। मुझे जान लेना ही सबसे ऊँचा ज्ञान है। मुझे सर्वातिशायी, सर्वव्यापी, सर्वरूप एवं सर्वसमर्थ जान लेनेपर जिस अलौकिक आनन्दकी उपलब्धि होती है, उसके सामने अन्य सब लौकिक अनुभूतियाँ नगण्य हैं। इस प्रकार जो मुझे सबमें समानभावसे देखता है, वह मुझीमें स्थित है; नहीं, नहीं, वह मेरा ही स्वरूप बन जाता है। इसलिये सदा मुझीमें योगयुक्त होकर रहो। तुम जो कुछ भी कर्म करो, जो कुछ भी खाओ-पीओ, जो कुछ भी हवन करो, जो कुछ भी दान दो, सब मेरे ही अर्पण कर दो। सर्वतोभावेन मेरी शरणमें आ जाओ, मेरा ही भरोसा करो; मैं तुम्हें पापमुक्त कर दूँगा, मैं तुम्हें शाश्वत सुख प्रदान करूँगा। मैं ही वह हूँ।'

(३)

जप-साधनकी भाँति गीताके अनुशीलनसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। परन्तु गीता अनुभूत पारमार्थिक तत्त्वोंकी एक अनुपम निधि है। इस अलौकिक ग्रन्थका एक-एक वाक्य विचारपूर्वक मनन एवं अनुभव करनेयोग्य मन्त्र है। गीता दिव्य जीवनका मार्ग दिखलानेवाला एक सार्वभौम धर्मग्रन्थ है। इसमें कर्मयोग, प्रेमयोग (भक्तियोग), ज्ञानयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, शरणागतियोग आदि सभी योगोंका समन्वय है। यह जिज्ञासुको ज्ञानकी इतनी ऊँची भूमिकापर पहुँचा देती है जहाँसे वह भगवान्‌को आत्मामें तथा जगत्‌में देखने लगता है और सबके अंदर रहनेवाले परमात्मामें एकीभावसे स्थित हो जाता है। जो पुरुष अपना जीवन गीतामय बना लेता है और उसके उत्तम रहस्यको जान लेता है, वह परमात्माके साथ योगयुक्त हुए विना नहीं रह सकता। वह सब भूतोंको अपने ही समान तथा चराचर विश्वको अन्तःस्थित परमात्माकी लीला समझकर उनसे प्रेम किये विना रह नहीं सकता। जो सत्यका इस सार्वभौम रूपमें दर्शन कर लेता है, वह सारे सङ्कल्प-विकल्पोंको, अहंता और ममताकी सारी भावनाओंको और सामाजिक अथवा राजनैतिक सुधारकी सारी उमंगोंको त्याग देता है। वह भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है, केवल उनकी इच्छाका अनुसरण करता है और उनकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये ही जीता है। भगवद्भावमें डूबा हुआ ऐसा महात्मा जगत्‌के उद्धारका जिम्मा अपने ऊपर नहीं लेता किन्तु उस सर्वश्रेष्ठ उद्धारक भगवान्‌के हाथका एक क्षुद्र यन्त्र बना रहता है, जिसकी कृपा ही संसारका उद्धार करनेमें समर्थ है। देशको कंस अथवा दुर्योधनके अत्याचारोंसे मुक्त करना भगवान् श्रीकृष्णका ही काम है। हजारों भीम और अर्जुन उस कामको नहीं कर सकते। रावणकी अनीतिसे श्रीराम ही भारतभूमिको उबार सकते हैं। साक्षात् नारायण अपने धनुषकी टङ्कारमात्रसे जो कुछ कर सकते हैं, उसे स्वर्गके सारे देवता और ऋषि नहीं कर सकते। अतः हे भक्तजनो! आओ, अपने-अपने परिवारके, अपने समाजके तथा मानवजातिके क्षेमको भगवान् श्रीकृष्णके सर्वसमर्थ हाथोंमें सौंपकर हमलोग उन्हींके चरणोंमें अपनेको लुटा दें। हम असहाय, मरणशील एवं त्रुटियोंसे भरे हुए प्राणी उनकी कृपाके विना कर ही क्या सकते हैं? हमलोग प्रेम, भगवद्भाव, श्रद्धा एवं भक्तिसे परिपूर्ण होकर उनके क्षुद्र यन्त्र बन जायँ, उनकी कृपाको ग्रहण करनेके लिये शुद्ध पात्र बन जायँ।

(४)

अद्वैती कहता है—'अहं ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्म हूँ। परन्तु उसके, मेरे और आपके भीतर बोलनेवाला यह 'अहं' कौन है? वही भगवान्, जिनके निकल जानेपर यह शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ता है, जिनकी सत्ताके विना वाणीसे हम एक शब्दका भी उच्चारण नहीं कर सकते, जिनके अस्तित्वके विना हमारा मन कुछ भी नहीं सोच सकता। हमारे इस 'अहं' के दो रूप हैं। एक तो झूठा 'अहं' है, जिसे देहात्मबुद्धि कहते हैं। यह वञ्चक 'अहं' हमारे सारे दुःखोंकी जड है। इस झूठे 'अहं' को भगवान्‌के अर्पित करना होगा—वे ही हमारे सच्चे 'अहं', हमारी आत्मा, हमारे जीवनके दिव्य अंशी हैं। यह झूठा 'अहं', जो अपने ही सङ्कल्प-विकल्पोंसे—अपने ही पुण्य-पापके बखेड़ोंसे परेशान रहता है, अर्जुनके रूपमें प्रकट हुआ है। जब यह क्षुद्र 'अहं' परमात्मारूप सच्चे 'अहं' के अर्पित हो जाता है तब सनातनधर्मकी ज्योति हमारे लिये ध्रुवतारा बनकर प्रकाशित होती है।

(५)

गीता केवल एक इतिहास तथा दिव्य गीत ही नहीं है, वह परम तत्त्व एवं उसकी अनुभूतिका एक मर्मस्पर्शी रूपक भी है। कुरुक्षेत्रके रूपमें गुणोंकी संघर्षभूमिका निरूपण हुआ है। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र तथा उनकी तेरह अक्षौहिणी सेना रजोगुण तथा तमोगुणके ही असंख्य

रूपान्तर हैं। पाण्डवोंके रूपमें प्रेम, पवित्रता, धर्म, सत्य एवं निर्मल ज्ञानसे परिपूर्ण सत्त्वगुणका चित्रण हुआ है। परन्तु अहंकारसे, चाहे वह सात्त्विक ही क्यों न हो, शान्ति प्राप्त नहीं होती। अर्जुन जीवस्थानीय है, मनके अंदर रहनेवाला अहंकार है। वह इस विचारको नहीं छोड़ता कि अमुक मेरा भाई है, अमुक मेरा सम्बन्धी है, अमुक मेरा शत्रु है और अमुक मेरा मित्र है। वह शुभाशुभ-रूप द्वन्द्वसे ऊपर उठकर सर्वतोभावेन अपनेको भगवान्‌के अभय चरणोंमें नहीं डाल देता। श्रीकृष्ण अपनी माया-रूप नटीकी सहायतासे इस विश्वरूपी नाटकका स्वयं द्रष्टा-रूपमें रहकर सञ्चालन करनेवाले जगदीश्वर हैं। सात्त्विक अहंकारकी मूर्ति अर्जुन अपनेको जीवनरूपी संग्रामका अधिनायक मान बैठता है। वह अपने गाण्डीव धनुषको शत्रुओंका संहार करनेका साधन मान लेता है एवं अपने आपको मोहवश युद्ध एवं उसके भयंकर परिणामका हेतु समझ लेता है। जब उसका संमूढ आत्मा जीवनरूप रथके सर्वसाक्षी सारथिको अपने जीवनकी बागडोर सौंप देता है तभी उसे यह अनुभव होता है कि अर्जुन कहलानेवाला उसका क्षुद्र अहंकार द्वन्द्वोंकी लड़ाई नहीं लड़ता; अन्तरात्मा—आत्माके अंदर रहनेवाला परमात्मा—ही सब कुछ करता है, जीवात्मा तो केवल निमित्त-मात्र है। साधकको गीताका अनुशीलन करते समय परमार्थके इस रूपकका भी ध्यान रखना चाहिये। यह जगत् सनातन कुरुक्षेत्र है, इस जगत्‌रूपी कुरुक्षेत्रमें एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता जिसमें भयङ्कर संग्राम न होता हो। प्रकृतिके इस विशाल युद्धक्षेत्रमें गुणोंका परस्पर युद्ध चलता रहता है। हमारा शरीर ही रथ है, जिसके सारथि हमारे अन्तःकरणमें साक्षी-रूपसे रहनेवाले परमात्मा हैं। मनके साथ बन्धनमें जकड़ा हुआ जीव अर्जुन है। उसे अपना जीवन परमात्माको अर्पित कर उन्हींके अंदर स्थित रहना और उन्हींके अंदर कर्म करना चाहिये; और अपने सारे जीवनको उनकी इच्छाकी वेदीपर चढ़ा देना चाहिये। ऐसा करनेसे हम भी अपने अन्तःकरणमें भगवद्वाणीको सुन सकेंगे। यही नहीं, तब हम गीताके सजीव रूप बन जायँगे। तादात्म्यकी इस सर्वोच्च स्थितिको हम किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण हमें इसका सरल मार्ग बतलाते हैं। वह यह है कि हम निम्नलिखित तथ्योंका मनन करें:—

१. 'समोऽहं सर्वभूतेषु'—मैं सब भूतप्राणियोंके लिये समानरूपसे सुलभ हूँ।

२. 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'—समस्त भूतप्राणियोंके हृदयमें रहनेवाला आत्मा मैं ही हूँ।

३. 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति'—ध्यानके द्वारा आत्माका साक्षात्कार किया जाता है।

४. 'सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव'—सब समय मेरे साथ योगयुक्त होकर रह।

५. 'मन्मना भव मद्भक्तः'—मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन।

६. 'समत्वं योग उच्यते'—समचित्तता अथवा समदृष्टि ही योग है।

७. 'योगः कर्मसु कौशलम्'—भगवदर्पित कर्ममें कुशलता ही योग है।

८. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

'जो योगयुक्त, शुद्धान्तःकरण, जितेन्द्रिय एवं मनस्वी पुरुष समस्त भूतप्राणियोंके आत्मारूप परमात्मामें एकीभावसे स्थित हो गया है, वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिपायमान नहीं होता।'

९. 'मच्चित्तः सततं भव'—सदा मुझमें चित्त लगाये रह।

१०. 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति'—ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो किसी बातका सोच करता है न इच्छा ही करता है।

११. 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'—सबको वासुदेवरूप समझनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

१२. 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'—हे अर्जुन! सर्वतोभावसे तू उन्हींकी शरणमें जा।

१३. 'न मे भक्तः प्रणश्यति'—मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

१४. 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय'—हे अर्जुन! मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

१५. 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्'—शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा मनुष्य अपनेको ऊँचा उठाकर भगवान्‌के समीप ले जाय।

गीतामें दिव्य जीवन

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

गीता वेदान्तका प्रामाणिक ग्रन्थ है—सर्वशास्त्रसार, सर्वमान्य, परम अध्यात्म-शास्त्र है। गीताकी शिक्षाको ठीक-ठीक ग्रहण करनेपर तथा जीवनमें उसका अभ्यास और अनुशीलन करनेपर हम पुत्र-दारा-गृहादिकी आसक्तिसे शून्य हो सकते हैं; आत्मीय-स्वजनकी मृत्यु होनेपर शोकसे हाहाकार नहीं कर सकते; अत्यन्त गुरुतर दुःखसे भी विचलित नहीं हो सकते; अज्ञान, अहंबुद्धिके वश होकर अपनेको संसारकी अन्यान्य सब वस्तुओंसे पृथक् न मान आत्मामें सबके साथ एकत्वका अनुभव कर सकते हैं; ब्राह्मण, शूद्र, पतित, चाण्डाल इत्यादि सबको समान दृष्टिसे देख सकते हैं; वासना, कामना आदि रिपुओंके प्रभावसे मुक्त होकर संसारके सब प्रकारके दुःख और अशान्तिका मूलोच्छेद कर सकते हैं; मूल अध्यात्मसत्तामें सभी अजर-अमर हैं, संसारके समस्त सुख-दुःख चाहे जितने भी अशुभ क्यों न हों, जन्म-मृत्युके भीतरसे होकर अभिज्ञता सञ्चित करके सभी मनुष्य अमृतत्व-की ओर अग्रसर हो रहे हैं—ऐसा जानकर सब प्रकारकी घटनाओंमें, सब अवस्थाओंमें आत्माकी गम्भीर शान्ति, समता और नीरवताके अंदर प्रतिष्ठित रह सकते हैं तथा उस आभ्यन्तरिक शान्त स्थितिमें रहकर अपने-अपने स्वभावके अनुसार परम पुरुष भगवान्‌के उद्देश्यसे यज्ञरूपमें कर्म करते हुए क्रमशः इस अपूर्णतामय, सहस्रों दोषों और त्रुटियोंसे पूर्ण मानवीय प्रकृतिको रूपान्तरित करके परा प्रकृतिकी दिव्य शान्ति, ज्योति, ज्ञान, शक्ति, प्रेम और आनन्दके अंदर दिव्य जन्म, दिव्य जीवन प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्यका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन यदि इस प्रकार गीताकी शिक्षाके द्वारा प्रभावित हो तो यह पृथ्वी ही स्वर्ग हो जाय और मनुष्य ही देवता बन जायगा।

परन्तु श्रीशङ्कराचार्यने अपने मायावादके सिद्धान्त-के अनुसार जो गीताके भाष्यकी रचना की, उससे गीता केवल संन्यासियोंका शास्त्र बन गयी *। वास्तवमें गीताकी रचना संन्यासियोंके लिये नहीं हुई थी; सामाजिक मनुष्यके जीवनकी संगीन अवस्थामें जो गम्भीर प्रश्न और समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं सबका चरम समाधान गीतामें अर्जुनकी समस्याको उपलक्ष्य बनाकर किया गया है। अर्जुनके कर्मत्याग, संसारत्यागकी प्रवृत्तिको श्रीकृष्णने तामसिकता और क्लैब्य बताकर उसकी निन्दा करते हुए गीताकी शिक्षाका आरम्भ किया है और गीतामें आरम्भसे लेकर अन्ततक बाह्य संन्यास तथा संसार-त्यागका प्रतिवाद किया गया है। कुरुक्षेत्रके समान भीषण रक्तपातको भी किस प्रकार शुद्ध अध्यात्मजीवन प्राप्त करनेके उपायके रूपमें परिणत किया जा सकता है, समाजके अंदर रहकर संसारके आवश्यकीय समस्त कर्म, 'सर्वकर्माणि' करते हुए मनुष्य इस मर देहमें ही, 'इहैव' 'प्राक् शरीरविमोक्षणात्' किस प्रकार भगवान्‌के साथ युक्त हो सकता है, सुख और समृद्धिसे पूर्ण जीवन उपभोग कर सकता है, इस पृथ्वीपर ही स्वर्गराज्यकी स्थापना हो सकती है, 'भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्'—यही बतलाना गीताकी शिक्षाका लक्ष्य है। इसके लिये आवश्यकता है भीतरके त्यागकी, आन्तरिक साधनाकी—बाहरके संन्यासकी न तो कोई आवश्यकता है और न वह वाञ्छनीय ही है, 'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।' संन्यासीलोग कर्मको बन्धनका कारण समझकर कर्मत्यागका उपदेश देते हैं; मगर गीता कहती है कि यदि कर्मफलमें आसक्ति न रखकर कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म किया जाय तो वह कभी बन्धनका कारण नहीं होता, वरं इस प्रकार कर्मके द्वारा ही मनुष्यकी प्रकृतिका दिव्य रूपान्तर साधित होता है। भगवान्‌ने स्वयं अपना दृष्टान्त दिया है कि मैं स्वयं कभी कर्मका त्याग नहीं करता, 'वर्त्त एव च कर्मणि।' अर्जुन पाप और नरकके भयसे भयभीत हुए थे; गीताने इस विषयमें कहा है कि बाहर कोई कर्म किया गया या नहीं, इसके ऊपर पाप-पुण्य नहीं निर्भर करता; काम, क्रोध और लोभ–ये ही तीन चीजें सब पापोंका मूल हैं, नरकके द्वार हैं। भीतर यदि काम, क्रोध और लोभ न हों तो बाहरके किसी प्रकारके आचरणसे पाप नहीं लगता और यदि भीतर इन सबको जीवित रक्खा जाय तो बाहरमें चाहे जितना भी सदाचार क्यों न दिखलाया जाय—गीताके मतानुसार वह सब मिथ्याचार है, निष्फल है।

सभी शास्त्रोंमें दो प्रकारके सत्य हैं। एक प्रकारका सत्य किसी विशेष देश, काल या पात्रके लिये ही उपयोगी

* हमारे देशमें गीताके जितने संस्करण इस समय प्रचलित हैं, उनमें अधिकांश प्रायः मूलतः शाङ्करभाष्यके ही अनुयायी हैं।

होता है और दूसरे प्रकारका सत्य सब देशों, सब कालोंके लिये उपयोगी होता है—सनातन, शाश्वत होता है। गीता प्रधानतः सनातन सत्य, शाश्वत धर्मका शास्त्र है। गीताके अंदर इस प्रकारके सत्य बहुत कम हैं जो केवल किसी विशेष देश या कालसे सीमित हों; और जो कुछ हैं उन्हें भी गीताने इस प्रकारसे उपस्थित किया है कि उनका सनातन रूप सहज ही ग्रहण किया जा सकता है और ऐसा करना ही गीताकी शिक्षाको समझनेका वास्तविक मार्ग है। यहाँपर एक दृष्टान्तके द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। गीताने यज्ञ करनेकी बात कही है। यज्ञ प्राचीन भारतका वैदिक अनुष्ठान है और स्वयं भारतवर्षसे भी वह बहुत समय पहलेसे कार्यतः प्रायः लुप्त हो गया है। परन्तु गीताने उस बाह्य यज्ञानुष्ठानको जिस आध्यात्मिक सत्यके रूपकके रूपमें कहा है वह चिरन्तन है—वह सत्य यह है कि यह विश्वजीवन परस्पर आदान-प्रदानके द्वारा ही चलता है; यहाँपर कोई अपने लिये नहीं है, सभी सबके लिये हैं, प्रत्येक प्रत्येकके लिये है, प्रत्येकके अंदर जो भगवान् विराजमान हैं, उनके लिये है। परस्पर आत्मदानके द्वारा परस्पर सभी बढ़ रहे हैं—यही यज्ञ है। इस यज्ञके जगत्में जो लोग केवल अपने-आपको ही लेकर रहना चाहते हैं वे पापी, चोर हैं; जो केवल अपने लिये अन्नपाक करते हैं, वे पाप भक्षण करते हैं। परके लिये, भगवान्के लिये आत्मोत्सर्ग करना ही यज्ञ है तथा इसीको जीवनकी नीतिके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। गीता यज्ञका अर्थ केवल वैदिक अग्निष्टोम यज्ञ या स्मार्त्त पञ्चयज्ञ नहीं समझती। गीता कहती है कि यज्ञ अनेक प्रकारके हो सकते हैं; सभीकी मूल नीति है अपनी नीच प्रवृत्तियोंका दमन करना, उच्चतर आदर्शके लिये आत्मदान करना—इस प्रकार सब यज्ञोंके द्वारा चित्तशुद्धि करनेमें सहायता मिलती है। परन्तु गीताने ज्ञानयज्ञको अन्य सब प्रकारके अनुष्ठानों और क्रियाओंसे श्रेष्ठ कहा है। वास्तवमें हमारा अहं हमारे कर्मोंका कर्त्ता नहीं है; प्रकृति ही सब कर्म करती है, वही जगत्में भगवान्की इच्छा पूर्ण करती है—इस ज्ञानके द्वारा अपने सब कर्मोंको, 'यत् करोषि यदश्नासि', भगवान्के उद्देश्यसे उत्सर्ग करना ही प्रकृत ज्ञानयज्ञ है और यही श्रेष्ठ है। क्योंकि इसीके द्वारा हमारी प्रकृतिका दिव्य रूपान्तर सिद्ध होता है।

भिन्न-भिन्न मनुष्य शास्त्रकी भिन्न-भिन्न रूपसे व्याख्या करते हैं, विवेकके साथ भी [illegible] हो सकता है; इस प्रकार मनुष्यकी बुद्धि विभ्रान्त हो जाती है, 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धिः।' कुरुक्षेत्रमें अर्जुनकी भी ठीक यही दशा हुई थी। वे यद्यपि धार्मिक और शास्त्रविशारद थे, फिर भी वे अपने जीवनके महान् सन्धिक्षणमें किंकर्तव्यविमूढ हो गये थे; किस बातमें उनका श्रेय है, वास्तविक कल्याण है—इस बातका ठीक-ठीक निश्चय न कर सकनेपर वे शिष्यरूपसे अपने प्रियतम सखा भगवान् श्रीकृष्णके शरणापन्न हुए थे। श्रीकृष्णने अर्जुनकी समस्याका जिस प्रकार समाधान किया था, वह संक्षेपमें इस प्रकार है—'साधारण धर्मज्ञान, नीतिज्ञान, शास्त्रज्ञानके प्रकाशमें कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना आसान नहीं है—'कवयोऽप्यत्र मोहिताः' और इस प्रकार इस समस्याका चरम समाधान भी नहीं होता। जबतक मनुष्य इस त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिके अंदर निवास करता है, तबतक इस समस्याका वास्तविक समाधान नहीं हो सकता; मनुष्यको किसी प्रकार आधे प्रकाश और आधे अन्धकारके भीतरसे होकर ठोकर खाते-खाते ही अग्रसर होना होगा! इस प्रकृतिसे ऊपर उठकर दिव्य प्रकृतिमें प्रतिष्ठित होना होगा, साधारण चेतनाका रूपान्तर करना होगा—'निस्त्रैगुण्यो भव'। उस समय फिर हमारा अपना कोई कर्म नहीं रह जायगा, उस समय भगवान् हमारी रूपान्तरित प्रकृतिको अपने यन्त्रके रूपमें, 'निमित्त-मात्रम्' व्यवहार करके जगत्में अपनी इच्छा पूर्ण करेंगे, अपनी लीला पूरी करेंगे। मनुष्यका अपना रह जायगा केवल ज्ञानपूर्वक भगवान्का यन्त्र होनेका परम आनन्द—और वह कर्म ऊर्ध्वसे भगवान्की इच्छासे आवेगा; अतएव वह सब पाप-पुण्योंसे अतीत होगा, अजेय और अव्यर्थ होगा।

साधारण मनुष्यके लिये प्रचलित शास्त्र, प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध ही यथेष्ट है। काम-क्रोधके वशमें न होकर जिस शास्त्र या नीतिमें अपना विश्वास हो, श्रद्धा हो, उसके अनुसार कर्म करनेसे क्रमशः मनुष्यके अंदर काम-क्रोधका वेग प्रशमित होता है। इसीलिये गीताने शास्त्र-विधिके अनुसार कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेका उपदेश किया है। परन्तु यही सर्वोच्च अवस्था नहीं है, जिस किसी मुहूर्त्तमें जब मनुष्य सतर्क न हो, इस अवस्थासे पतन हो सकता है (२-६०)। काम-क्रोधपर पूर्णरूपसे विजय प्राप्त करनेके लिये एक ऊपरकी भागवत चेतनाके अंदर प्रतिष्ठित होना ही होगा और उसके लिये आवश्यकता है सब शास्त्रों, [illegible] 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पूर्णरूपसे



प्रेम-वन्धन



मुखमें विश्वदर्शन



कुबेरपुत्रोंका उद्धार



बकासुर-उद्धार

भगवान्‌के शरणापन्न होनेकी; और यही गीताकी सर्वश्रेष्ठ शिक्षा है। धर्माचरण तथा आत्मसंयमका अभ्यास करके जो लोग अर्जुनकी तरह उच्चावस्था प्राप्त कर चुके हैं, केवल वे ही इस चरम आत्मसमर्पण और श्रेष्ठ रूपान्तरके योग्य हैं; इसीलिये अर्जुन गीताके उत्तम रहस्यको सुननेके उपयुक्त पात्र थे, 'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।'

गीताने मनुष्यके सामने प्रकृतिके दिव्य रूपान्तरका जो यह आदर्श रक्खा है, इसको समझनेके लिये गीताके दार्शनिक तत्त्वको थोड़ा समझनेकी आवश्यकता है। गीताने जिस साधनाका निर्देश किया है, उसका थोड़ा-सा भी सच्चे हृदयके साथ अनुसरण करनेसे ये सब बातें अपने-आप साफ-साफ मालूम होने लगती हैं—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' आचार्य शंकर आदि गीताके प्राचीन भाष्यकारोंके मतमें इस जगत्‌का मूल है अपरा प्रकृति। वह अज्ञान, अविद्या, त्रिगुणात्मिका है; उसके द्वारा सृष्ट यह जगत् मूलतः अशुभ और दुःखमय है और वह प्रकृति जीवोंको तीन गुणोंके द्वारा इस दुःखमय संसारमें बाँध रखती है। पुरुषार्थ या निःश्रेयस या मानव-जीवनका श्रेष्ठ लक्ष्य है इस प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होना, सांसारिक जीवनका अवसान करना, आत्मा या ब्रह्मके अंदर जीवकी व्यक्तिगत सत्ताको लय कर देना; यही चरम मुक्ति—परा गति है। किन्तु गीताके मतमें वास्तवमें यह जगत् अपरा प्रकृतिके द्वारा सृष्ट नहीं हुआ है; अपरा प्रकृति इसका बाहरका यन्त्रमय जडरूप है, इसके मूलमें है परा प्रकृति (गीता ७। ५-६)। वह भगवान्‌की चित्-शक्ति है, सच्चिदानन्दमयी है; अतएव यह जगत् मूलतः जड या दुःखमय नहीं है—यह आनन्दमय है। उपनिषद्‌की भाषामें यह आनन्दसे सृष्ट हुआ है, आनन्दसे निकलकर आनन्दकी ओर जा रहा है। त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिने हमारे अंदर भगवान्‌को आवृत कर रक्खा है—इस अपरा प्रकृतिके अज्ञानसे मुक्त होकर परा प्रकृतिके अंदर दिव्य आनन्दमय जीवन प्राप्त करना ही मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है।

श्रीशंकराचार्यने गीताकी 'परा प्रकृति'का वास्तविक स्वरूप नहीं देखा, उनके मतानुसार 'परा प्रकृति' और जीव एक हैं। परन्तु गीताने परा प्रकृतिको 'जीवात्मकम्' नहीं कहा है, बल्कि 'जीवभूता' कहा है; तथा परा प्रकृति ही प्रत्येक जीवका स्वभाव हुई है। किन्तु परा प्रकृति इसी कारण सीमाबद्ध नहीं है; वह आद्या शक्ति है, समस्त जगत्‌का मूल है, जगन्माता है। परा प्रकृति भगवान्‌के साथ एक है (७। ५-६) और जीव भगवान्‌का अंश है, 'ममैवांशः'; सब जीव, समस्त जगत् एकत्र होनेपर भी भगवान्‌के बराबर नहीं हो सकते; जगत् भगवान्‌की शक्तिका एक कणमात्र है, उनके एकांशमें अवस्थित है। प्रत्येक जीव अपनी मूल आत्मसत्तामें भगवान्‌के साथ एक है और प्रकृतिमें भगवान्‌की परा प्रकृतिका अंश है, बहु जीव एक भगवान्‌के ही बहु व्यष्टिगत रूप हैं। किन्तु मनुष्य अभी नीचेकी प्रकृतिके अंदर निवास करता है; प्रत्येक मनुष्यको अपने स्वभावका विकास करके भगवान्‌का साधर्म्य, भागवत-प्रकृति प्राप्त करनी होगी। यही गीताकी यथार्थ शिक्षा है। ईसामसीहने भी इसी बातको इस प्रकार कहा है—'Be perfect as your Father in Heaven is perfect.' अर्थात् 'जैसे स्वर्गमें तुम्हारे पिता पूर्ण हैं वैसे ही तुम भी पूर्ण बनो।' मनुष्य अपनी अन्तर्निहित दिव्य प्रकृतिका विकास करके इस संसारमें ही दिव्य जन्म प्राप्त करे, दिव्य कर्म करे, भगवान्‌की तरह ही त्रुटि, शोक, दुःख, अपूर्णतासे अतीत होकर इस विश्वलीलाका अनन्त आनन्द उपभोग करे; इसीलिये 'परा प्रकृति'ने उसको भगवान्‌की सत्तासे बाहर निकाला है। वह स्वयं उसका मूल स्वभाव हुई है और इस प्रकार जगत्‌को धारण किये हुए है।

परन्तु वर्तमान समयमें मनुष्य जैसा प्राकृत जीवन बिता रहा है, वह त्रिगुणमयी 'अपरा प्रकृति'का खेल है; वह दुःख, द्वन्द्व, जरा, व्याधि, मृत्यु आदिसे पूर्ण है। इसकी भी सार्थकता और आवश्यकता है; इस अपरा प्रकृतिके द्वारा देह, प्राण और मनका विकास करके ही मनुष्य 'परा प्रकृति'के अंदर दिव्य जीवन प्राप्त कर सकता है; यही उत्तम रहस्य है, 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (ईशोपनिषद्)।

अपरा प्रकृतिसे ऊपर उठकर दिव्य परा प्रकृतिके अंदर नयी चेतना, नया जन्म प्राप्त करनेके लिये, अमृतत्वका उपभोग करनेके लिये सबसे पहले हमें यह समझना होगा कि यह अपरा प्रकृति ही हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है, हम अभी जिस सांसारिक जीवनके सुख-दुःखमें मग्न हो रहे हैं यह हमारी चरम सम्भावना नहीं है। यहींपर सांख्य या ज्ञानयोगकी सार्थकता है। सांख्यके मतानुसार पुरुष और प्रकृतिका भेद करके यह उपलब्धि करनी होगी कि हमारे देह, प्राण और मनमें जो सुख-दुःख, काम-क्रोध, जरा-व्याधि, विचार-कल्पना इत्यादिकी क्रियाएँ चल रही हैं—ये सब वास्तवमें हमारी नहीं हैं, ये सब प्रकृतिकी हैं; हम वास्तवमें इन सबसे

अतीत पुरुष, आत्मा हैं। पुरुष प्रकृतिकी क्रियाका केवल द्रष्टा या साक्षी है। जिस तरह हम नाटक देखते समय सुख-दुःख, आनन्द-वेदनाका अनुभव करते हैं, उसी तरह पुरुष प्रकृतिकी लीलामें सुख-दुःख भोग रहा है, किन्तु वास्तवमें ये सब चीजें पुरुषको स्पर्श नहीं करतीं; पुरुष अचल, अक्षर, सनातन है। जिस प्रकार स्फटिक पत्थरपर लाल फूलका रंग प्रतिफलित होनेपर स्फटिक लाल रंगका दिखलायी देता है, किन्तु वास्तवमें वह लाल नहीं हो जाता, उसी प्रकार प्रकृतिके तीन गुणोंकी क्रियासे पुरुषमें कोई परिवर्त्तन या विकार नहीं होता। अहंभावके वशीभूत होकर पुरुष प्रकृतिके खेलको अपना खेल समझ लेता है; जिस समय यह अहंभाव दूर हो जाता है, पुरुष प्रकृतिके साथ अपने भेदको समझ जाता है, प्रकृतिके खेलके लिये सम्मति नहीं देता, उसी समय प्रकृतिकी प्रेरणा बन्द हो जाती है, क्रिया बन्द हो जाती है; पुरुष मुक्त हो जाता है, अपनी सत्तामें प्रतिष्ठित हो जाता है। गीताने साधनाके अङ्गके रूपमें इस प्रकारके भेद-विचारकी उपयोगिताको स्वीकार किया है और यह अपरिहार्य है। परन्तु यही यदि सब कुछ होता तब तो हमारी मुक्तिका अर्थ होता प्रकृतिके खेलसे, जीवनसे बुद्धिको हटाकर आत्माकी निश्चल शान्ति और निष्क्रियताके अंदर निमग्न हो जाना। वास्तवमें सांख्यने यही शिक्षा दी है, वैदान्तिक ज्ञानयोगकी भी यही शिक्षा है तथा बौद्ध धर्मकी भी कार्यतः यही शिक्षा है—संसार-त्याग, संन्यास; परन्तु गीता यहींपर नहीं रुक गयी है। अचल, अक्षर, निष्क्रिय पुरुष ही यदि सर्वोच्च सत्य होता तो जब हम उस पुरुषके भावको प्राप्त कर लेते तब प्रकृतिकी—कर्मकी प्रेरणा बन्द हो जाती, संसार-लीला और जीवन असम्भव हो जाता। परन्तु गीताने उस अक्षर पुरुष या आत्मासे भी उच्चतर सत्यका पता दिया है और वह है 'पुरुषोत्तम'। अक्षर पुरुष इस पुरुषोत्तमकी सत्ताका केवल एक अंग है, पुरुषोत्तमके अंदर आधाररूपमें अक्षर पुरुषकी अविचल शान्ति और निष्क्रियता विद्यमान है; किन्तु फिर वही 'पुरुषोत्तम' क्षर पुरुषके रूपमें जगत्‌की अनन्त कर्मधाराके अंदर प्रकट हुए हैं; वही अपनी प्रकृतिके साथ एक होकर जगत्-लीला कर रहे हैं, 'क्षरः सर्वाणि भूतानि'; वही आलस्य-विहीन होकर कर्म कर रहे हैं, 'वर्त्त एव च कर्मणि'; कुरुक्षेत्रमें उन्हींने भीष्म-द्रोणादिको पहलेसे ही मार रक्खा था; उन्हींकी इच्छासे, उन्हींकी प्रकृति या शक्तिके द्वारा इस जगत्‌का प्रत्येक कार्य निर्धारित, नियन्त्रित और सम्पादित हो रहा है। जिस प्रकार वायु आकाशमें विधृत रहते हुए सर्वत्र विचरण करता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् उनकी कूटस्थ अक्षर सत्तामें विधृत है; किन्तु वह स्वयं क्षरसे भी अतीत हैं, अक्षरसे भी उत्तम हैं—पुरुषोत्तम हैं। हमें इन पुरुषोत्तमका ही भाव प्राप्त करना होगा। वही श्रेष्ठ गति है। नीचेकी प्रकृतिके अहंभावसे मुक्त होनेके लिये हम सर्वप्रथम अक्षर पुरुषके शान्त साक्षी-भावमें प्रतिष्ठित होते हैं; यह अक्षर आत्मा सब भूतोंका एक आत्मा है, इसमें प्रतिष्ठित होनेपर हम सब भूतोंके साथ एकत्वको प्राप्त करते हैं; परन्तु प्रकृतिसे हम संसारके समस्त प्रयोजनीय कर्म पुरुषोत्तमके उद्देश्यसे यज्ञरूपमें सम्पन्न करते हैं। हम अपना समस्त जीवन और कर्म अपने अधीश्वर और श्रेष्ठतम सत्ता पुरुषोत्तमको समर्पित करके, सर्वदा उन्हींका भजन करके, सब भूतोंके अंदर उन्हींकी सेवा करके, उन्हींसे प्रेम करके उनका भाव प्राप्त करते हैं, 'मद्‌भावमागताः।' उस समय हमारे भीतर प्रतिष्ठारूपमें अक्षर पुरुषकी अविचल शान्ति, ऐक्य, समता, अनासक्ति रहती है और हमारी बाहरकी रूपान्तरित प्रकृति हो जाती है—जगत्‌में पुरुषोत्तमकी इच्छा और कर्म पूरा करनेवाला यन्त्र, 'निमित्तमात्रम्।' यही गीताका पूर्णयोग है; इसके अंदर कर्म, ज्ञान और भक्तिका अपूर्व समन्वय हुआ है।

बहुत-से लोग गीताके योगको पतञ्जलिका योग समझते हैं; किन्तु ये दोनों एक चीज नहीं हैं। पातञ्जलयोगके आठ निर्दिष्ट अङ्ग हैं; परन्तु गीताकी पद्धति इस प्रकार कटी-छटी और गनी-गुथी हुई नहीं है; गीताका योग है अपनी समग्र सत्ताको सर्वतोभावेन भगवन्मुखी करना *; निष्कामभावके साथ सब मनुष्यों, सब वस्तुओं, सब घटनाओंके प्रति सम-भाव रखकर, भगवान्‌के लिये यज्ञरूपसे कर्म करते हुए भगवान्‌के साथ युक्त होना गीताका कर्मयोग है; इस निष्कामभाव, समता और यज्ञभावकी भित्ति है—आत्मज्ञान, भगवद्‌ज्ञान; और इस ज्ञान और कर्मकी पूर्णतम परिणति और सार्थकता उदारतम, गम्भीरतम भगवद्भक्ति और प्रेममें है। श्रीशंकरके मतानुसार ज्ञानके साथ कर्मका सामञ्जस्य नहीं हो सकता; प्रथम अवस्थामें ही कर्मकी सार्थकता है, अन्तमें सब कर्मोंका त्याग करके ही परम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। परन्तु गीताकी शिक्षा है उच्चतर चैतन्यके अंदर दिव्य

*अवश्य ही गीताने मनको स्थिर और एकाग्र करनेके एक उपायके रूपमें राजयोगकी पद्धतिकी उपयोगिताको स्वीकार किया है, इसके लिये छठा अध्याय देखना चाहिये।

जन्म प्राप्त करना, उसके पूर्व उसके उपायस्वरूप दिव्य कर्म करना और वह जन्म प्राप्त करनेके बाद उसकी अभिव्यक्तिके रूपमें दिव्य कर्म करना। आचार्य शंकरने कर्मत्यागको ही श्रेष्ठ अवस्था कहा है। क्योंकि उनके मतमें निर्गुण, निष्क्रिय, निश्चल ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; और सब मिथ्या, माया है। परन्तु वास्तवमें श्रीशंकरने जिसे निर्गुण ब्रह्मके रूपमें देखा था वह गीताका 'अक्षर पुरुष' है और उन्होंने जिस मायाशक्तिको इस जगत्के मूलके रूपमें देखा था वह गीताकी 'अपरा प्रकृति' है। श्रीशंकरके मतमें मायाके साथ युक्त जो ब्रह्म है, जो सगुण ब्रह्म है, वही गीताका पुरुषोत्तम, ईश्वर, सृष्टिकर्ता है, वह निर्गुण ब्रह्मके नीचे है। किन्तु गीताने अत्यन्त स्पष्ट भाषामें कहा है कि पुरुषोत्तम ही श्रेष्ठ सत्ता है, पुरुषोत्तमसे ऊपर और कुछ नहीं है। अर्जुनके रथपर सारथी-रूपसे बैठकर मानवदेहमें अवतीर्ण पुरुषोत्तम कहते हैं, 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।' वास्तवमें श्रीशंकरका जो सगुण ब्रह्म, ईश्वर है, वह गीताका 'क्षर' पुरुष है। उपनिषद् कहती है कि ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों है—'निर्गुणो गुणी'। सगुण और निर्गुण—इन दोनों भावोंको लेकर परब्रह्म है और वही गीताका 'पुरुषोत्तम' है। गीता कहती है कि अक्षर और क्षर, नित्य और लीला, निष्क्रियता और सक्रियता—ये दोनों एक पुरुषोत्तमके ही दो रूप हैं। भगवान् पुरुषोत्तम चैतन्यस्वरूप हैं और उनके इस चैतन्यकी सक्रियताका जो रूप है, वही उनकी प्रकृति है। पुरुष और प्रकृति मूलतः अभिन्न हैं तथा अपरा प्रकृति या माया या अविद्या परा प्रकृति या विद्याका ही नीचेका रूप है। इन तत्त्वोंको ठीक-ठीक न समझनेके कारण ऐसा मालूम होता है कि गीताके विभिन्न अंशोंमें परस्पर विरोध विद्यमान है और इसीसे गीताके दिव्य जीवनका यथार्थ मर्म ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। वर्तमान युगमें परमहंस श्रीरामकृष्णदेवने गीताकी इस शिक्षाको ठीक-ठीक समझा था। श्रीशंकरने ब्रह्मकी निष्क्रियताको ही देखा था, ब्रह्मकी शक्ति या सक्रियताको वे नहीं देख पाये थे, उसीको उन्होंने मिथ्या या माया कहा है। जहाँपर श्रीशंकर-का शेष है, वहींपर श्रीरामकृष्णका आरम्भ है; जहाँपर श्रीशंकरने ब्रह्मजिज्ञासाको समाप्त कर दिया है, वहींपर श्रीरामकृष्णने ब्रह्मशक्तिके विषयमें जिज्ञासा करना आरम्भ किया है।

श्रीरामकृष्णका उपदेश है—"वे एक रूपमें नित्य हैं, एक रूपमें लीला हैं। वेद उन्हें सगुण भी कहते हैं और निर्गुण भी। वही जीव और जगत् हुए हैं, चौबीस तत्त्व हुए हैं। जिस समय वे निष्क्रिय रहते हैं, उस समय उन्हें ब्रह्म कहते हैं; जिस समय वे सृष्टि करते हैं, पालन करते हैं, संहार करते हैं, उस समय उन्हें शक्ति कहते हैं। ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं—जल स्थिर रहनेपर भी जल है, हिलते-डोलते रहनेपर भी जल है।" "पूर्ण ज्ञान और पूर्ण भक्ति एक ही चीज है। 'नेति', 'नेति' करते-करते विचारका अन्त होनेपर ब्रह्मज्ञान हुआ। उसके बाद जिसे त्याग करके गया था, फिर उसीको ग्रहण किया। छतपर जानेके समय सावधान होकर जाना पड़ता है। उसके बाद मनुष्य देखता है कि छत भी जिन चीजोंसे—ईंट, चूना, सुर्खीसे—बनी है, सीढ़ी भी उन्हीं चीजोंसे बनी है। जो ब्रह्म हैं उन्हींकी सत्तासे जीव, जगत् भी हैं।" "जो ब्रह्म हैं वही काली, शक्ति हैं। जो पुरुष हैं वही प्रकृति हैं। हम उन्हींको 'मा जगदम्बा' कहते हैं।"

श्रीरामकृष्णकी यह काली, शक्ति, प्रकृति गीताकी 'परा प्रकृति' है; वह श्रीशंकरकी 'अज्ञान, जडस्वभावा, मिथ्याभूता, सनातनी' नहीं है। श्रीरामकृष्णके मतानुसार यह चिन्मयी, ब्रह्मकी चिद्रूपा शक्ति है। विश्वप्रपञ्च इस चिद्रूपा शक्ति-का विपरिणाम है, निखिल संसार विलासरूपमें इस चित्का ऐश्वर्य है, चित्-शक्तिकी लीला है। इसी कारण जगत् सत्य है, परन्तु ब्रह्म सत्यका सत्य है, 'सत्यस्य सत्यम्'। श्रीरामकृष्ण कहा करते, 'मैं दोनोंको स्वीकार करता हूँ, ऐसा न करनेसे ज्ञान कम रह जाता है।' यही गीताकी 'प्रकृत शिक्षा' है।

गीता निवृत्तिप्रधान ग्रन्थ है

गीता स्मृत्युपनिषद् है और उपनिषद् होनेके कारण ही वह मोक्षके साधन केवल ज्ञानका ही वर्णन करती है। निष्काम कर्म, भक्ति, संन्यास, ध्यानयोग—ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सभी ज्ञानके साधन हैं और निष्काम कर्मादि साधनोंका यथाधिकार विभाग हो सकता है। उपनिषद् होनेके कारण ही गीता आरण्यकाण्डमें पठित उपनिषदोंके सदृश निवृत्तिप्रधान है। गीतामें जो प्रवृत्ति विहित है, वह भी निवृत्तिका ही अङ्ग है। गीतामें जो निष्काम कर्मयोग बतलाया है, सो प्रवृत्ति-कर्म नहीं, अपितु निवृत्ति-कर्म ही है।

—आचार्य भक्त पण्डित श्रीविष्णु शास्त्रीजी बापट

अर्जुन अथवा आदर्श शिष्य

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

सच्चे शिष्यका स्वरूप क्या है ? क्योंकि हरेक मनुष्यको शिष्य कहलानेका न तो अधिकार है, न योग्यता है और न हरेक व्यक्तिमें शिष्यके लक्षण ही घटते हैं। सभी महान् गुणोंकी भाँति–जिनसे यहाँ गुणोंका मूल स्वरूप अभिप्रेत है—शिष्यत्व भी आत्माका ही एक व्यापार है, वास्तवमें आत्मा ही शिष्यके रूपमें उपस्थित होकर अपने जन्मसिद्ध अधिकार-की, अपने वास्तविक दिव्य स्वरूपकी माँग पेश करता है। यह तो नश्वरके भीतर अविनश्वरकी पुकार है, जगत्के कोलाहलों एवं प्रलोभनोंसे–अपनी ही प्रकृतिकी वासनाओं एवं बन्धनोंसे ऊपर उठी हुई अन्तरात्माकी वाणी है। जब वह वाणी स्पष्ट एवं असन्दिग्धरूपमें बोल उठती है, तब स्वयं भगवान् गुरुके रूपमें प्रकट हो जाते हैं, पथप्रदर्शन करते हैं और दीक्षा देते हैं। अर्जुनकी पुकार भी इसी कोटिकी थी, जब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।'

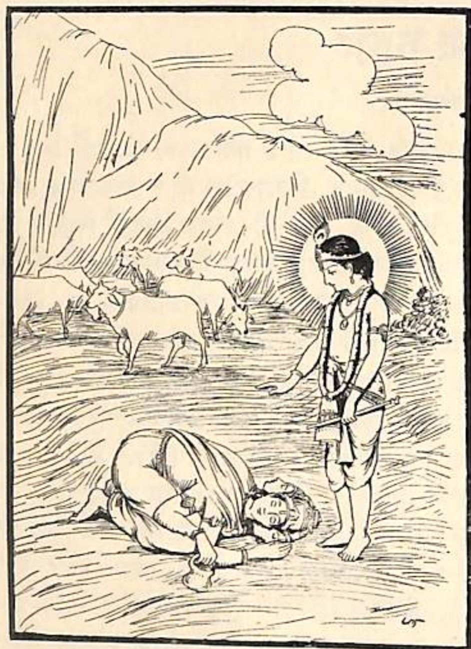
'मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरणागतको कृपा करके सच्चा मार्ग बतलाइये ।'

यह एक अत्यन्त मार्मिक उक्ति है, जिसमें मानो अर्जुनका समग्र आत्मा—सारा अस्तित्व बोल उठता है और जो कुछ उसे चाहिये और जो कुछ वह देनेको तैयार है—दोनों ही बातें कह डालता है। आवश्यकता है उसे ज्ञानकी—प्रकाशकी; जिस अज्ञानमें वह फँसा हुआ है उसका अन्धकार एवं उससे होनेवाली अस्त-व्यस्तता उसे सह्य नहीं है। और वह दे डालता है विना किसी शर्तके एवं निःशेषरूपमें अपने-आपको, अपने समग्र अस्तित्वको। छोड़ देता है अपनेको केवल भगवान्की मर्जीपर ! इस प्रकार अर्जुनमें शिष्यके सारे लक्षण पूर्णरूपसे घटते हैं—इतने साङ्गोपाङ्ग, जितने वे बहुत कम लोगोंमें घटते होंगे।

परन्तु कुछ आधुनिक समालोचक इस बातको नहीं मानते। वे शङ्का करते हैं कि 'अर्जुनको युधिष्ठिरकी अपेक्षा श्रेष्ठ क्यों माना गया और श्रीकृष्ण अथवा गीताके रचयिता महर्षि वेदव्यासके निर्णयको विवेकपूर्ण एवं न्यायसङ्गत नहीं मानते, जिन्होंने गीताके उपदेशका पात्र युधिष्ठिरको न चुनकर अर्जुनको चुना। वे पूछते हैं कि 'क्या युधिष्ठिर जो पाण्डवोंमें सबसे जेठे थे, गुणोंमें भी सर्वश्रेष्ठ नहीं थे ? उनके पास अन्तःकरणरूपी जो आधार था, वह सब तरहसे उच्च कोटिका था। वे विद्वान् एवं ज्ञानी थे; राग-द्वेषशून्य, शान्त एवं जितेन्द्रिय थे; और सदा-सर्वदा न्यायोचित एवं सत्य व्यवहार करते थे। वे कभी क्षणिक आवेशमें आकर अथवा स्वार्थकी भावनासे प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं करते थे। अक्षुब्ध एवं प्रशान्त रहकर वे अपने आचरणको सर्वोच्च आदर्शके अनुकूल बनानेकी चेष्टामें तत्पर रहते थे। इसीलिये लोग उन्हें 'धर्मराज' कहते थे। यदि ऐसे उत्तम अधिकारीको भी आदर्श शिष्य नहीं माना जायगा तो किसको माना जायगा ?'

इस प्रकारकी शङ्का उठाना शिष्यके स्वरूपको ही—कम-से-कम उस स्वरूपको जो गीताने माना है—भूल जाना है। शिष्य गुणों और सल्लक्षणोंका पुञ्ज नहीं होता, चाहे वे गुण कितने ही ऊँचे और महान् क्यों न हों। शिष्यका प्रधान लक्षण है मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा। उसमें उच्च गुण भले ही न हों—बल्कि चाहे उसमें दुर्गुण ही क्यों न हों; परन्तु यदि उसके अंदर एक बात है—जो शिष्यके लिये परमावश्यक है–तो वे दुर्गुण भी उसके लिये बाधक नहीं होते। वह है आत्माकी उत्कट आतुरता–हृदयके अन्तस्तलमें रहनेवाली तीव्र ज्वाला। युधिष्ठिर सात्त्विक प्रकृतिके उच्च शिखरपर भले ही आरूढ़ रहे हों; परन्तु गीताके अनुसार सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति तीनों गुणोंके परेकी अवस्था है। इस प्रकारके आध्यात्मिक जीवनके लिये सबसे योग्य अधिकारी वह है, जिसने सब धर्मोंका—आचार-तत्त्वोंका, जीवनके आदर्शोंका परित्याग कर एक भगवान्की ही शरण ले ली है, भगवान्की इच्छाको ही जीवनका एकमात्र स्वतन्त्र नियम बना लिया है। चाहे दूसरोंकी दृष्टिमें इस प्रकारका मनुष्य पातकोंका पुञ्ज ही क्यों न हो, भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं उसे समस्त पापसमूहोंसे मुक्त कर दूँगा। जीव जो भगवान्से विना किसी हेतुके सर्वभावसे प्रेम करता है, वह प्रेम ही उसकी निम्न प्रकृतिके विकारोंको धोकर उसे भगवत्कृपाका पात्र बनानेमें सर्वाधिक समर्थ होता है।

अर्जुनमें यही पात्रता थी, यही गुण था, यही उनका आध्यात्मिक महत्त्व था। यही कारण था कि उनकी भगवान्-के साथ इतनी घनिष्ठता हो गयी थी कि वे उन्हें सखा, संगी और क्रीडासहचर कहकर सम्बोधित करते थे और उनके



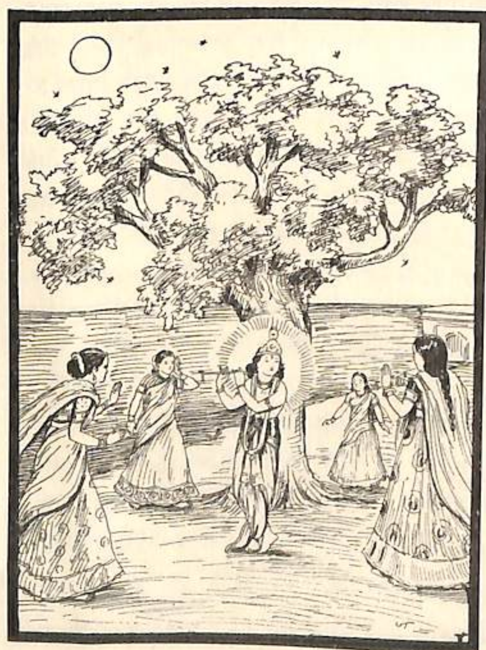
ब्रह्मादर्प-हरण



कालिय-नृत्य



दावानल-पान



मोहनी मुरली

साथ बहुत घुल-घुलकर घरेलू ढंगसे बातें करते थे—यद्यपि उनके मनमें इस बातके लिये एक बार पश्चात्ताप भी हुआ कि मैंने भगवान्‌के साथ इस प्रकारका व्यवहार करके कदाचित् उनका अपमान कर दिया, उन्हें यथेष्ट आदर नहीं दिया। किन्तु उनकी आत्मा तथा प्रकृतिके इस प्रकारके झुकावसे उनकी ऋजुता (सीधापन) एवं निष्कपटभाव ही द्योतित होता है और इन्हीं गुणोंके कारण वे भगवान्‌को अपनी ओर आकर्षित कर सके और भगवान्‌ने उनको अपने उपदेशका पात्र चुना।

महाराज युधिष्ठिर महान् रहे होंगे और हैं—कदाचित् वे अर्जुनसे भी कई बातोंमें महान् थे। परन्तु भगवान्‌के यहाँ महत्ताका आदर नहीं है, वे तो हृदयमें छिपे हुए उस अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको ही देखते हैं और केवल इतना ही जानना चाहते हैं कि वह किस जातिका है, खरा है या खोटा—असली सिक्का है या नकली ? डार्विनके विकास-सिद्धान्तके अनुसार पहला मनुष्याकृति बन्दर जो उन्नत होकर मनुष्य बना होगा अथवा जिसमें मनुष्यके रूपमें परिणत होनेकी स्पष्ट प्रवृत्ति दिखायी दी होगी, बन्दरोंमें कोई शक्तिशाली बन्दर न रहा होगा। बल्कि सम्भावना तो यह है कि जिसमें मानवी बुद्धिकी सर्वप्रथम झलक दिखायी दी होगी वह एक बहुत ही सामान्य कोटिका छोटा-सा नगण्य बन्दर रहा होगा और अपने दुर्बल एवं नाज़ुक शरीरको लेकर उसे अपने दीर्घकाय, बलवान् एवं शक्तिशाली साथियों (बन्दरों) के साथ जीवनसंग्राममें उतरकर बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा होगा। तथापि वानर-जातिको अतिक्रमण कर मनुष्यजातिमें प्रवेश करना किसी ऐसे वानरका ही काम रहा होगा। इसी प्रकार कोई महान् पुरुष जो मानवी गुणोंमें महान् हो, वह आध्यात्मिक अनुभूतिके लिये भी सबसे अधिक उपयुक्त हो—यह आवश्यक नहीं है। श्रुति भी कहती है—'न मेधया न बहुना श्रुतेन।' मनुष्य बुद्धि अथवा ज्ञानके बलसे भगवान्‌को नहीं प्राप्त कर सकता!

परन्तु हमने ऊपर जो कुछ कहा है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि बाह्य मानवी प्रकृतिमें अर्जुन कुछ निम्नश्रेणीके थे। मानवी एवं भौतिक दृष्टिसे भी अर्जुन एक वीर-प्रकृतिके पुरुष थे—ऐसी वीर-प्रकृतिके जो किसीमें हो सकती है—फिर भी उनके अंदर जो विशेष उल्लेखनीय बात है, वह है उनकी मानव-प्रकृति अर्थात् उनके सामान्य मनुष्योचित गुण! यही दो बातें कदाचित् उनके अंदर अधिक स्पष्ट एवं ठोस रूपमें थीं। वे वीर तो थे ही, इसमें कोई सन्देह नहीं है; और हमें इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि जिज्ञासु अथवा साधकके अंदर दूसरा आवश्यक गुण है वीरता अथवा बल—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', बलहीन मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु एक साधारण मनुष्यके चित्तपर घटनाओंका जो प्रभाव पड़ता है, उससे वे भी बरी नहीं थे। बल्कि उनपर घटनाओंका विशेष तीव्र एवं उग्र प्रभाव पड़ता था और आध्यात्मिक कठिनाईका पूरा-पूरा भाव व्यक्त करनेके लिये इसकी आवश्यकता थी। अर्जुनकी शङ्काएँ और उनके चित्तकी उथल-पुथल, उनका विषादयोग उसी ढंगका है जिसका न्यूनाधिक रूपमें प्रत्येक साधकको अनुभव करना पड़ता है जब कि वह अपनी आध्यात्मिक यात्राके कठिन स्तरपर पहुँचता है, जहाँसे उसे या तो ऊपरकी मोड़को ग्रहण करना पड़ता है या नीचेकी भूलभुलैयामें ही चक्कर काटने पड़ते हैं। और आध्यात्मिक यात्राके इस विकट स्तरपर पहुँच जानेपर सच्चे साधक—आदर्श शिष्यके लिये आवश्यकता इस बातकी होती है कि वह परिस्थितिका मुकाबिला करनेका—प्रभुके अनुशासनमें तथा उनके वात्सल्यपूर्ण तत्त्वावधानमें रहकर गन्तव्य स्थानतक पहुँचनेका दृढ निश्चय कर ले। अर्जुन हमारे लिये इसी रेखापर खड़े होकर अपने उदाहरणसे हमें यह दिखलाते हैं कि हम सब लोग साहस करके निम्न प्रकृतिसे बाहर निकलकर उच्च भागवती प्रकृतिके शान्ति, प्रकाश एवं शक्तिमय केन्द्रमें प्रवेश कर सकते हैं।



रहस्यपूर्ण ग्रन्थ

……हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह रहस्यपूर्ण (गीता) ग्रन्थ एक महान् आत्माकी कृति है और अन्य सम्पूर्ण योगियोंके उपदेशोंके साथ इसकी समानता करनेमें हमें कोई हिचक नहीं है।……

—रॉबर्ट फ्रेडरिक हाल

कल्याण

अभिमानवश यह मत कहो कि भगवान् ऐसे ही हैं और गीताका तत्त्व यही है। याद रक्खो—भगवान्का यथार्थ ज्ञान पुस्तकें पढ़नेसे, तर्क-युक्तियोंकी प्रबलतासे या केवल दर्शनोंकी मीमांसासे नहीं हो सकता। इनसे बुद्धिकी प्रखरता तो बढ़ती है परन्तु आगे चलकर वही बुद्धि ऐसे तर्कजालमें फँसा देती है कि फिर बाध्य होकर अभिमान और राग-द्वेषादिका प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है और जीवन ही जंजाल बन जाता है।

भगवान् सारी गीता कह जानेके बाद अठारहवें अध्यायके अन्तिम भागमें अपने यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके उपाय बतलाते हैं। गीता तो सुना ही दी थी, फिर जरूरत क्या थी उपाय बतलानेकी? उपाय बतलानेका यही तात्पर्य है कि केवल पढ़नेसे काम नहीं होता, पढ़-सुनकर वैसा करना पड़ेगा, तब भगवान्की 'परा भक्ति' मिलेगी और परा भक्ति मिलनेपर भगवत्कृपासे भगवान्का यथार्थ ज्ञान होगा।

वे उपाय ये हैं—

सारी पाप-तापकी, छल-छिद्रकी, दम्भ-दर्पकी और ऐसे ही अन्यान्य दोषोंकी भावनाको मिटाकर बुद्धिको परम शुद्ध करो; एकान्तमें रहकर वृत्तियोंको संयत करो; परिमित और शुद्ध आहार करके शरीरका शोधन करो; मन, वाणी और शरीरपर अपना अधिकार स्थापन करो; दृढ वैराग्य धारण करो; नित्य भगवान्का ध्यान करो; विशुद्ध धारणासे अन्तःकरणका नियमन करो; शब्दादि सब विषयोंका त्याग करो; राग-द्वेषकी जड़ काटो; अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करो। सब जगहसे ममताको हटा लो और ऐसा करके चित्तको सर्वथा शान्त कर लो, तब ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य होओगे। इसके बाद ब्रह्मभूत अवस्था, [illegible] प्रसन्नता, शोक और आकाङ्क्षासे रहित सम स्थिति और सब भूतोंमें सम एकात्मभावके प्राप्त होनेपर, तब भगवान्की 'परा भक्ति' प्राप्त होगी। उस परा भक्तिसे भगवान्के तत्त्वका—अर्थात् भगवान् कैसे हैं, क्या हैं—यह ज्ञान होगा और तदनन्तर, ऐसा यथार्थ ज्ञान होते ही तुम भगवान्में प्रवेश कर जाओगे।

सोचो, जिनको भगवान्का ऐसा ज्ञान हो गया वे तो भगवान्में प्रवेश कर गये। जिनको ज्ञान नहीं हुआ, वे भगवान्को जानते नहीं। ऐसी अवस्थामें यह कहना कि 'मैं भगवान्का तत्त्व जानता हूँ'—अहम्मन्यता ही तो है।

लड़ना छोड़ो—यह मत कहो कि 'भगवान् निर्गुण ही हैं, निराकार ही हैं, सगुण ही हैं, साकार ही हैं।' वे सब कुछ हैं; उनकी वे ही जानें।

तुम पहले यह सोचो कि ऊपर बतलाये हुए उपायोंमेंसे तुमने कौन-कौन-सा उपाय पूरा साध लिया है। जब रास्ते ही नहीं चले, तब मंजिले-मकसूदका रूप-रंग बतलाना कैसा? राह चलो, साधन करो। चलकर वहाँ पहुँच जाओ, फिर आप ही जान जाओगे, वहाँका रूप-रंग कैसा है।

चलना तो शुरू ही नहीं किया और लड़ने लगे नक्शा देखकर! इससे बताओ तो क्या लाभ होगा? नक्शेमें ही रह जाओगे, असली स्वरूप तो सामने आवेगा नहीं। इसलिये विचार करो और अकड़ छोड़कर साधन करो; याद रक्खो, साधनकी पूर्णता होनेपर ही साध्यका स्वरूप सामने आता है।

भगवान्को जाननेके जो उपाय ऊपर बतलाये गये हैं, वे न हो सकें तो श्रद्धाके साथ भगवान्के शरणागत हो जाओ। कहोगे 'हम तो भगवान्को

जानते ही नहीं फिर किस भगवान्‌की शरण हो जायँ।' इसीलिये तो भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ।' बस, भगवान्‌की इस बातको मानकर अर्जुनको उपदेश देनेवाले सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त अर्णव परम प्रिय परम गुरु परम ईश्वर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी शरण हो जाओ। उनके इन शब्दोंको स्मरण रक्खो—'मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। मैं शपथ करके कहता हूँ तुम मुझको ही प्राप्त होओगे—याद रक्खो तुम मुझे बड़े प्यारे हो।'

और क्या चाहिये? बस, यदुकुलभूषण नन्द-नन्दन आनन्दकन्द भगवान् मुकुन्दकी शरण हो जाओ, उनके कृपा-कटाक्षमात्रसे अपने-आप ही तुम सारे साधनोंसे सम्पन्न हो जाओगे, तुम्हें 'परा भक्ति' प्राप्त हो जायगी और तब तुम उन्हें यथार्थरूपमें जान सकोगे।

गीतामें उन्होंने जो दिव्य वचन कहे हैं, उनके अनुसार अपनेको योग्य बनानेकी चेष्टा करते रहो, दैवीसम्पत्ति और भक्तोंके गुणोंका अर्जन करो। करो उन्हींकी कृपाके भरोसे। और मन, वाणी, शरीरसे बारंबार अपनेको एकमात्र उन्हींके चरणोंमें समर्पण करते रहो। जिस क्षण तुम्हारे समर्पणका भाव यथार्थ समर्पणके स्वरूपमें परिणत हो जायगा, उसी क्षण वे तुम्हें अपने शरणमें ले लेंगे—बस, उसी क्षण तुम निहाल हो जाओगे।

इसलिये तर्कजालमें मत पड़ो, सिद्धान्तको लेकर मत लड़ो, साध्यतत्त्वकी मीमांसा करनेमें जीवन न लगाओ। जिनको पाण्डित्यका अभिमान है, उन्हें लड़ने दो; तुम बीचमें मत पड़ो। तुम तो बस, श्रीकृष्णको ही साध्यतत्त्व मानकर उनका आश्रय ले लो। गीतामें भगवान्‌ने इसीको सर्वोत्तम उपाय बतलाया है। गीता पढ़कर तुमने यदि ऐसा कर लिया तो निश्चय समझो—गीताका परम और चरम तत्त्व तुम अवश्य ही जान जाओगे। नहीं तो, झगड़ते रहो और नाक रगड़ते रहो, न तत्त्व ही प्रकाशित होगा और न दुःखोंसे ही छूटोगे।

'शिव'



गीताके अठारह नाम

गीता गङ्गा च गायत्री सीता सत्या सरस्वती।
ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी॥
अर्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भयनाशिनी।
वेदत्रयी पराऽनन्ता तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी॥
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः।
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथान्ते परमं पदम्॥

गीता, गङ्गा, गायत्री, सीता, सत्या, सरस्वती, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मवल्ली, त्रिसन्ध्या, मुक्तिगेहिनी, अर्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भयनाशिनी, वेदत्रयी, परा, अनन्ता और तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी, इन अठारह नामोंका निश्चल मनसे नित्य जप करनेवाला अर्थात् इनका अर्थ समझकर तदनुकूल अनुभव करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही ज्ञानसिद्धिको प्राप्त करता है और अन्तमें परमपदको प्राप्त होता है।

गीताकी समन्वय-दृष्टि

(लेखक—श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ दत्त एम्० ए०, बी० एल्०, वेदान्तरत्न)

कुरुक्षेत्रके सुविशाल मैदानमें आजसे कुछ हजार वर्ष पूर्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने शिष्य अर्जुनको गीताका अमृत पिलाया था। और इसी कारण गीता विश्वका सर्वमान्य धर्मग्रन्थ है। साम्प्रदायिकता या सङ्कीर्ण मत-पंथोंके आग्रहका इसमें लेश भी नहीं। इसे 'सत्यका सारतत्त्व' कह सकते हैं। स्थूल जगत्में जिस प्रकार सूर्य सातों रंगोंका सार-समन्वय है उसी प्रकार परम सत्यके सम्बन्धमें विश्वमें जो विविध दृष्टिकोण और विचार हैं उन सबका सार-समन्वय गीता है।

दुःखके साथ कहना पड़ता है कि विविध सम्प्रदायोंके धर्म-ग्रन्थ साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता एवं कट्टरताके आग्रहोंसे भरे पड़े हैं। संक्षेपमें, उनकी यह मान्यता है कि मेरा मत, मेरा 'वाद' सर्वश्रेष्ठ मत, सर्वश्रेष्ठ वाद है। वे ऐसा नहीं कहते कि मेरा मत, मेरा वाद भी एक विशिष्ट मत अथवा वाद है, प्रत्युत उनका कहना तो यह है मेरा 'वाद' ही एकमात्र 'वाद' है। इतना ही क्यों, वे आगे बढ़कर यह कहते हैं कि यदि तुम मेरे मतमें शामिल नहीं होते तो तुम्हें मोक्षसे सदाके लिये वञ्चित रह जाना पड़ेगा। तुम कहींके नहीं रहोगे। धर्मके नामपर जब हठ और दुराग्रहोंका इस प्रकार बोलबाला हो जाता है तो स्वभावतः ही कलह अपना अड्डा जमा बैठता है और फिर क्या-क्या नहीं हो जाता ? इतिहासके पन्ने ऐसे कलहों एवं दुराचारोंकी कथाओंसे कलङ्कित हैं। छोटे-मोटे झगड़ों और झंझटोंकी तो यहाँ चर्चा ही नहीं करनी है जो अबतक भी धर्मके नामपर आश्रय पा रहे हैं और जिनके कारण सुधीजनोंका चित्त खिन्न और क्षुब्ध है। धर्मके ऐसे सङ्कटपूर्ण स्थलोंपर गीता डंकेकी चोट कहती है और कहती है एक ऐसी मर्मभरी बात जिसे संसारके सब लोग समानरूपसे जीवनमें चरितार्थ कर सकते हैं—

> ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

श्रीभगवान्की वाणी है—कोई किसी भी मार्गसे मेरी ओर आवे, मैं उसे उसी मार्गसे मिल जाता हूँ। मार्ग चाहे जितने विभिन्न हों, हैं सभी मेरे ही; इसलिये सभी मेरे ही मार्गपर चल रहे हैं।

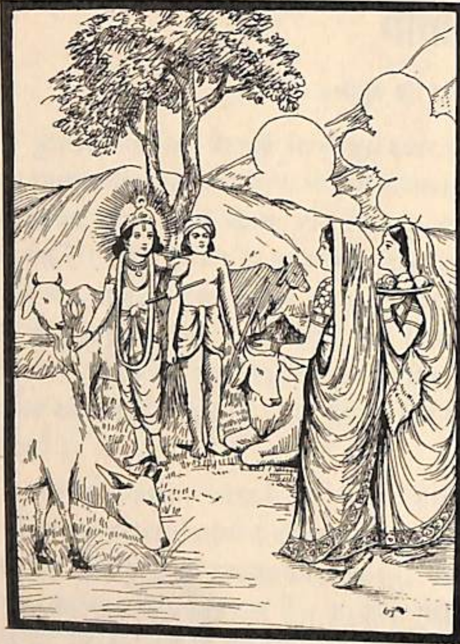
इस श्लोककी व्याख्या लिखते हुए ऋषि बङ्किमचन्द्रने बतलाया है कि लोग नाहक ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदिको लेकर परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं, कहा-सुनी करते हैं। हिमालयको कोई दीमकोंका घर बतलावे या छोटा-सा टीला—दोनोंहीमें हिमालयका वर्णन कहाँ हुआ ? अन्तमें बङ्किम बाबूका कथन है कि जो इस श्लोकके मार्मिक रहस्यको समझ जायगा वह धर्मके छोटे-छोटे घरौंदोंसे बाहर निकल जायगा और उसके लिये हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, यहूदी और पारसी सब एक समान हो जायँगे। इसलिये बङ्किमचन्द्रने गीतोक्त धर्मको एकमात्र 'विश्व-धर्म' एकमात्र 'कैथोलिक धर्म' कहा है।

उपर्युक्त कथनपर शिवमहिम्नःस्तोत्रकी वे पंक्तियाँ सहज ही स्मरण हो आती हैं—

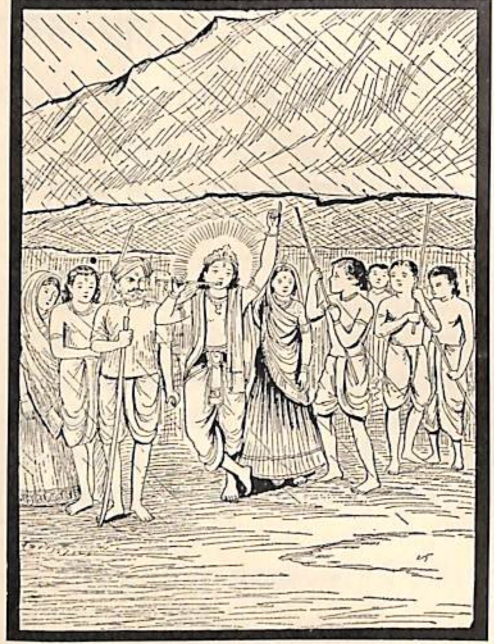
> रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

अर्थात् भिन्न-भिन्न रुचियोंके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग हैं परन्तु जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं उसी प्रकार सभी मार्ग तुम्हींमें मिलते हैं। महाकवि कालिदासने भी भिन्न-भिन्न धर्मशास्त्रोंको भिन्न-भिन्न धाराएँ बतलाया है और यह कहा है कि ये धाराएँ भिन्न-भिन्न मार्गसे चलकर अन्तमें समुद्रमें ही लीन हो जाती हैं। इन पंक्तियोंमें गीता-धर्मकी कितनी स्पष्ट ध्वनि है और इसके साथ ईसाई संतकी वह पंक्ति स्मरणीय है—मनुष्य जितना श्वास-प्रश्वास लेता है उतने ही मार्ग हैं भगवान्के पानेके। इसी प्रकार सूफी संतने कहा है—विधनाके उतने मार्ग हैं जितने स्वर्गमें नक्षत्र हैं या तनमें रोएँ। श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव कहते हैं—'यत मत तत पथ'—जितने मत, उतने पथ। स्वयं ईसामसीहने कहा था—'मेरे पिताके महलके असंख्य दरवाजे हैं।' इसलिये जो लोग गीताको 'मानवमात्रकी बाइबिल' मानते हैं वे वस्तुतः गीताका सही अर्थ समझते हैं। कारण कि गीता किसी धर्म या मत-सम्प्रदायविशेषकी धर्मपोथी हो ऐसी बात नहीं है। और इसी अर्थमें गीता विश्वसाहित्यमें अद्वितीय ग्रन्थ है।

गीताकी समन्वय-दृष्टिका प्रतिपादन अनेकों प्रकारसे हो सकता है, परन्तु स्थानके सङ्कोचसे इस लेखमें मैं एक ही



यज्ञपत्नियोंका सौभाग्य



गोवर्द्धन-धारण



भगवान्‌का अभिषेक



वरुणलोकमें

बात अपने पाठकोंके सम्मुख रखना चाहता हूँ। इसे मैं 'गीताकी त्रिवेणी' कहता हूँ। जिस प्रकार तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुना-सरस्वती मिली हैं ठीक उसी प्रकार गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञानकी धाराएँ आ मिली हैं।

भारतीय धर्म-साहित्यका जिन्होंने अनुशीलन किया है वे यह जानते हैं कि गीताके पूर्वकालमें भारतवर्षमें तीन विभिन्न धाराएँ धर्मके क्षेत्रमें स्वतन्त्र रूपसे प्रवाहित हो रही थीं, सर्वथा एक-दूसरेसे पृथक्। वे धाराएँ थीं कर्मकी, भक्तिकी, ज्ञानकी। कर्मवादी कर्मको ही मोक्षका एकमात्र साधन मान बैठे थे—उनका कथन 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् (मीमांसासूत्र १। २। १)' अर्थात् कर्मके विना मुक्ति असम्भव है। ज्ञानवादी कहते—मार्ग है तो बस ज्ञानका ही—'ज्ञानान्मुक्तिः' अर्थात् मुक्ति सम्भव है तो केवल ज्ञान-मार्गसे ही। कर्म आदिसे चित्त-शुद्धि, अन्तःशुद्धि भले ही हो ले परन्तु मुक्तिके लिये तो ज्ञानका आश्रय लेना ही पड़ेगा, लेना ही पड़ेगा। और फिर, इसके विपरीत भक्तिवादियोंका यह आग्रह था कि कर्म और ज्ञान तो प्रपञ्च और आडम्बर हैं—भगवत्प्राप्तिका यदि कोई सही और एकमात्र साधन है तो वह है भक्ति।

इन परस्परविरोधी वादोंपर जगद्गुरु श्रीकृष्णने गीतामें पाञ्चजन्यकी एक समन्वयभरी वाणी फूँकी और उस वाणीके स्फुट स्वरमें हमने सुना कि धर्मके सभी मार्ग—वह कर्मका हो, भक्तिका हो या ज्ञानका हो—सर्वथा समान हैं। इनमेंसे किसी एकपर भी चलकर साधक भगवान्के मन्दिरतक पहुँच सकता है। परन्तु परम कल्याणकी प्राप्तिके लिये अकेले कर्मसे, भक्तिसे या ज्ञानसे काम नहीं सरेगा। यदि गीतोक्त 'मम साधर्म्य' किसीको प्राप्त करना है तो उसके लिये अनिवार्य है कि उसकी साधना-प्रणालीमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका समुचित समन्वय हो।

इस परम समन्वयके लिये कोई दार्शनिक प्रमाण? प्रमाण यही है कि ईश्वर सत्-चित्-आनन्द हैं; प्रताप, प्रज्ञा और प्रेम; शील, शक्ति और सौन्दर्यके घनीभूत दिव्य विग्रह हैं। और मनुष्य? मनुष्य उन्हींका एक अंश (ममैवांशः) है अतएव उसमें ये तीनों प्रत्यय विद्यमान हैं। पञ्चदशी कहती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं च ह्यस्तीह ब्रह्म' अर्थात् सत्य, ज्ञान, अनन्त पुञ्जीभूतरूपमें ब्रह्म है।

इसलिये यदि मनुष्यको भगवान्में मिलना है, यदि उसे 'देवत्व' की संसिद्धि प्राप्त करनी है तो उसके लिये यह अनिवार्य है कि वह साधनाके द्वारा अपने अंदर दिव्य शक्ति, दिव्य ज्ञान और दिव्य प्रेमका विकास करे और वह कर सकता है, क्योंकि ये तीनों ही उसके भीतर प्रच्छन्न (latent) रूपसे विद्यमान हैं। और इस प्रकार, जब वह अपने लक्ष्यके समीप पहुँचेगा तो मुक्तकी भाँति कह उठेगा—'सोऽहम्,' 'अहं ब्रह्मास्मि'! इसे ही ईसाई-धर्मवाले दूसरे शब्दोंमें कहते हैं—मैं और मेरे पिता 'एक' हैं—'I and my Father are One.'

यदि तनिक-सी गहराईमें जाकर हम देखें तो यह पता चलेगा कि अच्छे मनुष्य तीन ही प्रकारके होते हैं—बस, तीन प्रकारके—न कम न ज्यादा। कुछ तो वीर-प्रकृतिके होते हैं—जैसे जूलियस सीजर, शिवाजी, नैपोलियन इत्यादि, जिनकी प्रकृतिमें वीरता-ही-वीरता मुख्य होती है। दूसरे होते हैं ऋषि-प्रकृतिके—जैसे याज्ञवल्क्य, प्लैटो, हेगेल इत्यादि, जिनकी प्रकृति ज्ञानप्रधान होती है। तीसरे होते हैं संत-प्रकृतिके—जैसे बिल्वमङ्गल, मीराबाई, संत टेरेसा इत्यादि, जिनकी प्रकृतिमें प्रेमकी ही प्रधानता होती है, जिनके लिये भगवान् परम प्रियतम प्राणेश्वर हैं—'रसो वै सः' 'रसराज' रूपमें।

ऊपर हम विकासकी जो बात लिख आये हैं उसका तात्पर्य संक्षेपमें यह है कि मनुष्यके अंदर प्रताप, प्रज्ञा और प्रेमकी दिव्य विभूतियाँ छिपी सोयी रहती हैं इन्हें जाग्रत, उद्बुद्ध करना होता है ठीक जैसे पंखेसे हौंककर आग जगायी जाती है। ये शक्तियाँ जितना ही उद्बुद्ध होती जायँगी उतना ही मनुष्य भगवान्के अधिकाधिक निकट आता जायगा—स्वयं भगवत्-स्वरूप हो जायगा। इसी परम लक्ष्यकी शीघ्र प्राप्तिके लिये यह आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है कि ऊपर बताये हुए कर्म, ज्ञान और भक्तिकी साधना की जाय। एक साथ ही तीनोंको नहीं, अपितु एक-एक कर तीनोंको। प्रथम है कर्मकी साधना वीर प्रकृतिकी परितुष्टिके लिये, दूसरी है ज्ञानकी साधना ऋषिप्रकृतिकी परितुष्टिके लिये और तीसरी है भक्तिकी साधना—संतप्रकृतिकी परितुष्टिके लिये। गीता इसीलिये तीनोंका समन्वय करती है और परिणाम है त्रिवेणी—ज्ञानकी गंगा, प्रेमकी यमुना और कर्मकी सरस्वतीका सम्मेलन, एक परम पावन त्रिवेणी जिसमें डुबकी लगानेमात्रसे ही मनुष्य सदाके लिये निहाल हो जाता है।

गीताके श्रीकृष्ण

(लेखक—सर सी० वाई० चिन्तामणि महोदय)

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं वहाँ श्री, विजय, वैभव, निश्चय नीति अवश्यमेव निवास करती है—यह मेरा मत है ।

'कल्याण'-सम्पादकका आग्रह है कि मैं इस विषयपर कुछ लिखूँ। यह कार्य मेरे लिये जरा कठिन है । मैं सर्वथा कुछ भी जानता ही नहीं, ऐसी बात तो नहीं है; परन्तु अभी मैं इस दिशामें चला ही हूँ। अधिकाधिक जानने और सीखनेकी प्रबल इच्छा भीतर अवश्य है । अपने प्रयत्नमें मैं यत्किञ्चित् सफल भी हुआ हूँ परन्तु अभी यत्किञ्चित् ही । इतना ही-सा ज्ञान लेकर मैं लिखने चला हूँ, इसके लिये मैं अपने विज्ञ पाठकोंसे क्षमा चाहता हूँ ।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें लिखनेका अर्थ है स्वयं भगवान्के सम्बन्धमें लिखना । मेरे आलोचक पाठक समझेंगे कि आरम्भमें ही मैं एक विवादास्पद विषयमें अपनी स्पष्ट और दृढ़ सम्मति प्रकट कर रहा हूँ । उनसे मुझे बस एक ही बात कहनी है, केवल एक । मैं इस विवादमें उतरना ही नहीं चाहता कि श्रीकृष्ण मानव थे या साक्षात् भगवान् । मेरी यह मान्यता है और इसको मानकर ही मैं आगे बढ़ सकता हूँ कि संसारकी सारी बातोंके सम्बन्धमें तर्क तथा युक्तियोंका आधार लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है; वहाँ तर्क तथा युक्तियोंके बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता, परन्तु आध्यात्मिक विषयोंमें, धर्मकी बातोंमें 'आप्तवचन' ही हमारा मार्गदर्शक है और वहाँ हमारी तर्कशक्ति काम नहीं दे सकती । स्वयं श्रीकृष्णने इस सम्बन्धमें सन्देह करनेवालोंको कहा है—'संशयात्मा विनश्यति ।' कम-से-कम श्रीकृष्णके वचनोंमें तो हमें अविश्वास अथवा संशय नहीं करना चाहिये । श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें—जो मानवमात्रके लिये भगवान्की सबसे बड़ी देन है—भगवान्के सम्बन्धमें जहाँ कहीं भी उल्लेख किया है वहाँ भगवान्के स्थानपर 'अहं' (मैं) शब्दका प्रयोग किया है । उन्होंने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखलाया । यदि वे हम-आप-जैसे एक मानवमात्र होते तो यह विश्वरूप कैसे दिखलाते ? और वे केवल अवतार ही हों ऐसी बात नहीं है—श्रीकृष्ण हैं पूर्णावतार । इसका संक्षेपमें, मेरी समझमें, यही अर्थ है कि वे, पहलेके अवतारोंकी तरह, केवल विष्णु ही नहीं हैं वरं ब्रह्मा और शिवके भी हैं । श्रीकृष्णने इस धराधामपर जितनी लीलाएँ कीं वे इतनी दिव्य एवं अमानव हैं कि भगवान्के सिवा वैसी और कोई कर ही नहीं सकता । केवल गीतामें ही भगवान्के रूपमें श्रीकृष्णका दर्शन हो ऐसी बात नहीं है—महाभारतमें जगह-जगह वेदव्यासजी उन्हें श्रीभगवान् लिखते हैं । जब श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं, तब वे मानवोचित कर्म क्यों करते हैं ? इसके लिये गीता, तीसरे अध्यायके २२वें और २३वें श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

इसका भाव यह है कि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है, न कोई वस्तु ही ऐसी है जिसे प्राप्त करना है फिर भी मैं कर्म करता रहता हूँ, पूरी सावधानीके साथ, केवल इसलिये कि यदि मैं कर्म न करूँ तो सारा संसार अकर्मण्य हो जाय ।

इस बातको अधिक खुलासा करनेकी कोई जरूरत नहीं है । परन्तु मैं गीताके उन दो सुख्यात श्लोकोंपर पाठकोंका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट करना चाहता हूँ । वे श्लोक हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

सारांश यह कि जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब मैं (श्रीकृष्ण) प्रकट होता हूँ । किसलिये होते हैं ? साधुजनोंकी रक्षा और दुष्टोंके नाशके लिये ।

इस प्रकार जो गीताको सत्य मानते हैं, श्रीकृष्णको सत्य मानते हैं वे यह मानेंगे और अवश्य मानेंगे कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं । इसीलिये मैं आरम्भमें कह आया हूँ कि श्रीकृष्णपर लिखनेका अर्थ है भगवान्के सम्बन्धमें लिखना । मेरा यह निजी अनुभव भले ही न हो परन्तु मेरा विश्वास तो शत-प्रतिशत ऐसा ही है । भगवान्को जान लेनेका अर्थ है दिव्य पूर्णताकी प्राप्ति । मुझ-जैसा तुच्छ मनुष्य ऐसा कहनेका साहस कैसे कर सकता है ? प्रायशः हमलोग देवों, ऋषियों

और पितरोंको हविष्यादि अन्न तथा उदकादि तर्पणसे सन्तुष्ट करते हैं। इसी प्रकार हमें भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंके अनुसार चलते हुए भगवान्‌को अधिकाधिक जानने-समझने और हृदयङ्गम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और जबतक हम पूर्णतः पार्थिव आधारसे ऊपर उठ नहीं जाते तबतक श्रीकृष्णको समझ ही कैसे सकते हैं ?

अच्छा, अब गीताके उपदेशोंपर आता हूँ। क्या आज हमारे देश और जातिकी जैसी गयी-बीती हालत है उसमें यह आशा और उन्नतिकी बात न होगी कि हम कम-से-कम दो-एक श्लोक अपने कामके लिये चुन लें और तदनुसार जीवन बितानेकी चेष्टा करें ? उदाहरणके लिये दूसरा, तीसरा और चौथा अध्याय लीजिये। क्या इन अध्यायोंमें श्रीकृष्णकी यह स्पष्ट वाणी नहीं है कि हमारा जो नियत कर्म है उसे हम पूरी सावधानी और मनोयोगके साथ करते जायँ ? क्या ज्ञानकी खोजमें कर्मको छोड़ बैठना उचित और न्यायसङ्गत है ? श्रीकृष्णने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें इसका उत्तर दिया है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

तुम अपना नियत कर्म करते जाओ; अकर्मकी अपेक्षा कर्म करना श्रेयस्कर है। अकर्मके द्वारा तो तुम अपनी शरीर-यात्रा भी पूरी नहीं कर पाओगे अर्थात् अकर्मण्यताके द्वारा तुम मार्गभ्रष्ट हो जाओगे।

गीतारहस्यकार लोकमान्य श्रीतिलक महाराजने गीताको 'कर्मयोगशास्त्र' कहा है। कुछ लोगोंका यह कथन है कि 'कर्मयोगशास्त्र' सम्पूर्ण गीताका वाचक नहीं है अतएव यह भ्रामक है। ऐसे लोग गीताका ठीक नाम 'मोक्षसाधनशास्त्र' मानते हैं और कहते हैं कि मोक्षके तीन साधन हैं—कर्म, भक्ति और ज्ञान। पूर्वजन्मके संस्कार, झुकाव और रुचिके अनुसार मोक्षके लिये इन तीनोंमें जो साधन जँचे उसे चुन ले। इसलिये, गीताका सर्वश्रेष्ठ और प्रमुख उपदेश यही है कि हर अवस्थामें, हर समय हमें अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये और एक क्षणके लिये भी कर्तव्यसे विमुख नहीं होना चाहिये।

इसके पश्चात् गीता एक ऐसा उपदेश देती है जिसको भुला देनेके कारण ही हमारे देश और जातिकी यह दुर्दशा हुई है और यदि अधिक दिन हम भुलाये रहे तो हमारा विनाश सर्वथा निश्चित है। मेरा अभिप्राय चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकसे है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि····················॥

'चारों वर्णोंको मैंने गुण और कर्मके अनुसार रचा है, मैं उनका कर्ता हूँ।' इसे ठीक-ठीक समझ लेनेपर आज जाति-जातिमें जो कलह और झगड़े फैल रहे हैं उनका तुरन्त अन्त हो जायगा। इसको लेकर इतना तूमार बाँधना कहाँतक ठीक है और इसे मिटा देनेका स्वप्न भी कितना झूठा है ?

बस, अब एक बात और लिखकर यह लेख समाप्त कर रहा हूँ। धर्मके आवेशमें आकर सङ्कीर्ण हृदयके लोग भगवद्भक्तोंसे अपनी ही बात मनवानेका दुराग्रह करने लगते हैं, उन्हें यह स्मरण नहीं होता कि गीता ऐसे लोगोंकी भर्त्सना करती है ? नीचेके तीन श्लोक इसके प्रमाण हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अर्थात् मैं हूँ तो सब भूतोंमें समान व्यापक, न कोई मेरा प्रिय है न अप्रिय, परन्तु जो मुझे प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं मैं उनमें हूँ। अत्यन्त दुराचारी भी यदि मेरा भजन करनेवाला है तो उसे साधु ही मानो क्योंकि मेरे पथमें चलनेका उसने निश्चय कर लिया है। ऐसा पुरुष शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे चिरस्थायी शान्ति मिल जाती है। श्रीकृष्णकी यह प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

और सबके शिरोमणि तो गीताके ये दो श्लोक हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

श्रीकृष्णका आदेश है—मुझमें ही अपना मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरा पूजन करो, मुझे ही नमस्कार करो, तुम मुझे ही प्राप्त होओगे—इसलिये सब धर्मोंको त्यागकर मेरी शरणमें आ जाओ। तुम शोक मत करो, मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

आश्वासनके इन वचनोंके बाद फिर क्या सुनना बाकी रहा ?

गीता

(लेखक—प्रिंसिपल पी० शेषाद्रि, एम्० ए०)

हिन्दूधर्मका दार्शनिक तथा आध्यात्मिक साहित्य इतना समृद्ध और व्यापक है कि धर्मशास्त्रका विद्यार्थी ग्रन्थोंकी विपुलता और विषयकी व्यापकता देखकर थहरा-सा जाता है। वह सोच नहीं सकता कि क्या पढ़ें, क्या न पढ़ें। ऐसी अवस्थामें सहज ही उसके चित्तमें यह लालसा उठती है कि यदि कोई एक ही ऐसा ग्रन्थ होता जिसके अनुशीलनसे हिन्दूधर्मकी तमाम बातें मालूम हो जातीं तो कितना सुन्दर होता! यह बेधड़क और निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि गीता ही एक ऐसा दिव्य ग्रन्थ है जिसमें हिन्दूधर्मके सम्पूर्ण धर्मशास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र, ज्ञान-विज्ञानका अपूर्व सम्मिश्रण है और वस्तुतः बात यही है कि हिन्दूधर्मके हृदयका दर्शन करना हो तो गीताकी गहराईमें जाना होगा, गीतामाताके चरणोंमें प्रणत होना होगा। कारण कि हिन्दूधर्मका सार-रहस्य बतलानेके लिये गीतासे बढ़कर कोई ग्रन्थ है ही नहीं। और कौन कहता है कि गीता केवल हिन्दुओंकी धर्म-पुस्तक है? भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जो कुछ कहा वह तो मानवमात्रके लिये है, सभी प्राणियोंके लिये है और है समानरूपसे आवश्यक।

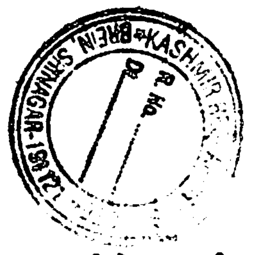
हमारे जातीय जीवनमें जो एक प्रकारका कार्पण्य आ गया है उसके मूलमें, यदि ध्यान देकर देखा जाय तो, है गीताके प्रति हमारी उपेक्षा। गीताके उत्साहवर्धक वचनोंका यदि हम आश्रय लिये होते तो आज हमारी जातिकी, हमारे देशकी यह गति नहीं होती। कर्तव्य-निष्ठाका इतना सुन्दर विवेचन विश्वके किसी भी धर्मग्रन्थमें हुआ ही नहीं। गीताके सन्देश तथा आध्यात्मिक प्रवचनमें एक वह जादू है जो किसी भी व्यक्ति और राष्ट्रकी आत्माको जगा सकता है, उसके शरीरमें नवीन प्राण और नूतन चेतनाका उद्बोधन कर सकता है। कर्तव्यबुद्धिसे, शुद्ध मन-चित्तसे अपने नियत कर्तव्यको करते जानेसे बढ़कर कोई आनन्द है ही नहीं। निराशा, दुःख और अवसादकी चपेटमें तो वे आते हैं जो फलकी आशा लगाये रखते हैं। जो बात व्यक्तिके लिये सही है वही राष्ट्रके लिये भी सही है। इतने सुन्दर आदर्शको आचरणमें उतारनेसे बढ़कर भी किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्रके लिये कोई कार्य हो सकता है?

सम्भव है, बहुत सम्भव है, गीताके दार्शनिक पक्षको जनसाधारण न समझ सके। परन्तु यह तो न भूल जाना चाहिये कि गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय शिष्य अर्जुनको—मोह-विषाद-ग्रस्त अर्जुनको उपदेश किया है और इसलिये वह हम सबके कामकी है। कुरुक्षेत्रकी भूमिमें अर्जुनके सामने जो-जो प्रश्न आये, प्रायः वे ही प्रश्न, वैसी ही कठिनाइयाँ हमारे नित्यके जीवनमें आया करती हैं और प्रेय तथा श्रेयके द्वन्द्वमें, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयमें हमें गीताके अतिरिक्त प्रकाश मिल भी कहाँसे सकता है? ऐसी अवस्थामें तो हमें और भी उसकी शरण लेनी चाहिये।

गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण

हम देखते हैं कि इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण, जो भगवान् विष्णुके पूर्णावतार थे, साक्षात् सामने आकर अपने मोक्षके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। वे भगवान् सर्वत्र एवं सर्वशक्तिसम्पन्न हैं तथा विश्वके शाश्वत नियन्ता भी हैं; जो लोग उनमें श्रद्धा रखकर उनकी उपासना करते हैं, उन्हें वे कृपापूर्वक मुक्तिरूपी फल प्रदान कर देते हैं। वे अर्जुनके सम्मुख मस्तकपर मुकुट धारण किये, हाथोंमें गदा और चक्र लिये, दिव्य-मालाम्बर-विभूषित, मनोमोहक सुगन्धिसे सुवासित, तेजोमय दिव्य शरीरको धारण किये हुए प्रकट होते हैं।

—हेल्मूट फॉन ग्लाज़ेनप्प



गीताके विभिन्न अर्थोंकी सार्थकता

एक बार देवता, मनुष्य और असुर पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्यभावसे शिक्षा प्राप्त करनेको गये और नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। ब्रह्मचर्यव्रत पूरा होनेपर सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे कहा—'हे भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तरमें एक ही अक्षर कह दिया 'द'। फिर उनसे पूछा कि 'क्यों, तुमने मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ समझा कि नहीं?' उन्होंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हम देवताओंके लोकोंमें भोगोंकी भरमार है। भोग ही देवलोकका प्रधान सुख माना गया है। कभी वृद्ध न होकर हम देवगण सदा इन्द्रियोंके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। हमारे विलासमय जीवनपर ध्यान देकर हमें सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये) आपने कहा है—'तुम लोग इन्द्रियोंका दमन करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। तुमसे मैंने यही कहा था।'

फिर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया। तदनन्तर पूछा कि 'तुम लोग मेरे उपदेशको समझ गये न?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हमलोग कर्मयोनि होनेके कारण लोभवश नित्य-निरन्तर कर्म करने और अर्थसंग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। हमारी स्थितिपर सम्यक् विचार करके हमलोगोंके कल्याणके लिये) आपने हम लोभियोंको यही उपदेश दिया है कि तुम दान करो।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ मेरे कहनेका यही भाव था, तुम लोग ठीक समझे।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनसे भी कह दिया 'द'। फिर पूछा कि 'मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं?' असुरोंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हम-लोग स्वभावसे ही अत्यन्त क्रूर और हिंसापरायण हैं। क्रोध और मार-काट हमारा नित्यका काम है। हमें इस पापसे छुड़ाकर सन्मार्गपर लानेके लिये) आपने कहा है—तुम प्राणिमात्रपर दया करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। मैंने तुम लोगोंको यही उपदेश दिया है।'

'द' अक्षर एक ही है, परन्तु अधिकारि-भेदसे ब्रह्माजीने इसका उपदेश विभिन्न तीन अर्थोंको मनमें रखकर किया और ऐसा करना ही सर्वथा उपयुक्त था। यही तो भगवद्वाणी-की महिमा है। वह एक ही प्रकारकी होनेपर भी सर्वतोमुखी और विश्वके समस्त विभिन्न अधिकारियोंको उनके अपने-अपने अधिकारके अनुसार विभिन्न मार्ग दिखलाती है। सबका लक्ष्य एक ही है—परम धाममें पहुँचा देना अथवा भगवत्-प्राप्ति करवा देना।

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्के श्रीमुखकी वाणी है। इसीलिये वह सर्वशास्त्रमयी है और किसी भी दिशा और दशामें पड़े हुए प्राणीको ठीक उपयुक्त मार्गपर लाकर अच्छी स्थितिमें परिवर्तित कर कल्याणकी ओर लगा देती है। भिन्न-भिन्न रुचि और अधिकार रखनेवाले मनुष्योंको उनकी रुचि और अधिकारके अनुसार ही कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त कर भगवान्-की ओर गति करा देती है। यही कारण है कि शुद्ध अन्तः-करणवाले महापुरुषोंने भी गीताको भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखा है और उसके अर्थको भी विभिन्न रूपोंमें समझा है। यह भगवान्की वाणीका महत्त्व और विशेषत्व है कि वह 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभुमूरति तिन देखी तैसी' के अनुसार विभिन्न अर्थोंमें आत्मप्रकाश कर सबको कल्याणके दर्शन करा देती है। अतएव गीताके अर्थोंमें विभिन्नता देखकर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

गीताके अनुभवी प्रातःस्मरणीय आचार्यों और महात्माओं-ने भी इसी दृष्टिसे लोकोपकारार्थ गीतापर भाष्य और टीकाओंकी रचना की है। उनमें परस्पर विरोध देखकर एक-दूसरेको नीचा समझनेकी या किसीकी निन्दा करनेकी जरा भी रुचि और प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उन महापुरुषोंने जो कुछ भी कहा है, अपने-अपने अनुभवके अनुसार हमलोगोंके कल्याणार्थ सर्वथा सत्य और समीचीन ही कहा है। जिसकी जिसमें रुचि और श्रद्धा हो उसको आदर और विश्वासके साथ उसीका अनुसरण करना चाहिये। प्राप्तव्य सत्य वस्तु या भगवान् एक ही हैं, मार्ग भिन्न-भिन्न हैं और उनका भिन्न-भिन्न होना सर्वथा सार्थक और आवश्यक है। पुष्पदन्ताचार्यने ठीक ही कहा है—

> रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

'जिस प्रकार सभी नदियोंका जल अन्ततः समुद्रमें ही

जाता है, उसी प्रकार रुचिकी विभिन्नताके कारण सीधे और टेढ़े—नाना मार्गोंपर चलनेवाले सभी मनुष्योंके ध्येय-गन्तव्य-स्थान आप ही हैं।'

गीतापर विभिन्न भाषाओंमें सैकड़ों भाष्य, टीका, अनुवाद, निबन्ध और प्रवचन लिखे जा चुके और लिखे जा रहे हैं। इनमें जो दैवीसम्पत्तियुक्त भगवत्परायण शुद्धान्तःकरण तथा विवेक-वैराग्यसम्पन्न साधकों और भगवत्प्राप्त महापुरुषोंद्वारा लिखे गये हैं वे चाहे किसी भी भाषामें हों, सभी परस्पर मतभेद रखते हुए भी भगवद्वाणीकी दृष्टिसे सर्वथा यथार्थ और सम्मान्य तथा मनन करनेयोग्य हैं। इन महानुभाव भाष्य और टीका-लेखकोंका ही अनुग्रह है जिससे आज लोग गीताको किसी-न-किसी अंशमें समझनेमें समर्थ हो रहे हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकाएँ संस्कृत भाषामें हैं। भगवान् शङ्कराचार्यसे पूर्ववर्ती आचार्यों और विद्वानोंके भाष्य इस समय उपलब्ध नहीं हैं परन्तु मालूम होता है कि गीतापर आचार्य शङ्करसे पूर्व भी बहुत कुछ लिखा गया था। इस समय प्राप्त भाष्यों और टीकाओंमें कुछ तो खास आचार्योंके स्वयं लिखे हुए हैं और कुछ उनके अनुयायी विद्वानोंके। यों तो अनेकों सम्मान्य मतवाद हैं, परन्तु उनमें जिनके अनुसार गीतापर भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं वे प्रधानतया निम्नलिखित छः ही हैं।

१ श्रीशङ्कराचार्यका अद्वैतवाद।

२ श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद।

३ श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद।

४ श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद।

५ श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद। और

६ श्रीचैतन्यमहाप्रभुका अचिन्त्यभेदाभेदवाद।

उपर्युक्त वादोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—अद्वैतवाद—

सिद्धान्त—इसमें सम्पूर्ण प्रपञ्चको दो प्रधान भागोंमें विभक्त किया गया है—द्रष्टा और दृश्य। एक वह नित्य और चेतन तत्त्व जो सम्पूर्ण प्रतीतियोंका अनुभव करता है और दूसरा वह जो अनुभवका विषय है। इनमें समस्त प्रतीतियोंके द्रष्टाका नाम 'आत्मा' है और उसका जो कुछ विषय है वह सब 'अनात्मा' है। यह आत्मतत्त्व सत्, नित्य, निरञ्जन, निश्चल, निर्गुण, निर्विकार, निराकार, असङ्ग, [illegible] एक और सनातन है। बुद्धिसे लेकर स्थूल भूतपर्यन्त जितना भी प्रपञ्च है उसका वस्तुतः आत्मासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें वह असत् है, अविद्याके कारण ही जीव असत् देह और इन्द्रियादिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करके अपनेको देव-मनुष्य, ब्राह्मण-शूद्र, मूर्ख-विद्वान्, सुखी-दुःखी और कर्ता-भोक्ता आदि मानता है। बुद्धिके साथ जो आत्माका यह तादात्म्य है, इसीका नाम 'अध्यास' है। अविद्याजनित इस अध्यासके कारण ही सम्पूर्ण प्रपञ्चमें सत्यत्वकी प्रतीति हो रही है। मायाके कारण ही इस दृश्यवर्गकी सत्ता और विभिन्नता है, वस्तुतः तो एक अखण्ड, शुद्ध-बुद्ध, नित्यनिरञ्जन, विज्ञानानन्दघन, चिन्मात्र आत्मतत्त्व ही है। इसीको 'अध्यासवाद', 'विवर्तवाद' या 'मायावाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—सम्पूर्ण पृथक्-पृथक् प्रतीतियोंमें एक अखण्ड, नित्य शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन आत्मतत्त्वका अनुभव करना ही ज्ञान है और सबके अधिष्ठान तथा सबको सत्ता देनेवाले इस एक अखण्ड आत्मतत्त्वपर दृष्टि न रखकर भेदमें सत्यत्व-बुद्धि करना ही अज्ञान है। जैसे भाँति-भाँतिके मिट्टीके बर्तन वस्तुतः केवल मिट्टी ही हैं, सोनेके विविध प्रकारके गहने सब सोना ही हैं, स्वप्नका विचित्र संसार सब स्वप्नद्रष्टा ही है और जलमें दिखायी पड़नेवाले भँवर और तरङ्गें सब जल ही हैं; वैसे ही विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाला यह जगत् केवल शुद्ध-बुद्ध एकमात्र ब्रह्म ही है और वही अपना आत्मा है। इस प्रकारका यथार्थ बोध ही ज्ञान है। इस बोधके होते ही जगत्का अत्यन्ताभाव हो जाता है और सम्यक् बोधके कारण अविद्याके अध्यासका सर्वथा अभाव होनेसे जीव जीवभावसे मुक्त होकर दूसरोंकी दृष्टिमें शरीरके बने रहनेपर भी जीवन्मुक्त हो जाता है। यही ज्ञान है। जबतक जीव इस ज्ञानको प्राप्त नहीं होता तबतक उसकी अविद्याकी गाँठें नहीं खुलतीं और वह आवागमनमय मिथ्या प्रपञ्चजालसे मुक्त नहीं होता।

साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन इस ज्ञानके साक्षात् साधन हैं। आत्मतत्त्वको जाननेकी दृढ़ जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही ये साधन किये जा सकते हैं। और ऐसी जिज्ञासा अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि हुए विना उदय नहीं होती। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमानुकूल कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करना और भगवान्की भक्ति करना आवश्यक है। ऐसा करनेपर मनुष्य विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व प्राप्त करता है। तब उसमें जिज्ञासाकी उत्पत्ति होती है। सच्चे जिज्ञासु और [illegible] दोनोंके लिये ही स्वरूपतः 'सर्वकर्म-

संन्यासकी आवश्यकता है। चित्तशुद्धिके अनन्तर कर्मसंन्यास-पूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे ही आत्म-तत्त्वका सम्यक् बोध और जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

२—विशिष्टाद्वैत

सिद्धान्त—ब्रह्म एक है और उसमें तीन वस्तुएँ हैं। अचित् अर्थात् जड प्रकृति, चित् अर्थात् चेतन आत्मा और ईश्वर। स्थूल, सूक्ष्म, चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। ये सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, चिदचिच्छरीरत्व और समस्त द्रव्यशरीरत्व आदि उनके लक्षण हैं। ईश्वर सृष्टिकर्ता, नियन्ता और सर्वान्तर्यामी हैं और अशेष कल्याणमय गुणोंके धाम हैं। अपार कारुण्य, सौन्दर्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य और ऐश्वर्यके महान् समुद्र हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारके भेदसे वे पाँच प्रकारके हैं। शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री, भू और लीलासमन्वित हैं।

जगत् और जीव ब्रह्मके शरीर हैं। जगत् जड है। ब्रह्म ही जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण हैं और वे ही जगत्‌रूपमें परिणत हुए हैं। फिर भी वे विकाररहित हैं। जीव चेतन है और अणु है। ब्रह्म और जीवमें सजातीय-विजातीय भेद नहीं है, स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण है, जीव अपूर्ण है। ब्रह्म ईश्वर हैं, जीव दास है। ईश्वर कारण हैं, जीव कार्य है। ईश्वर और जीव दोनों स्वयंप्रकाश हैं, ज्ञानाश्रय और आत्म-स्वरूप हैं। जीव नित्य है और उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न जीव है। जीव स्वभावतः दुःख-रहित है। उपाधिवश संसारके भोगोंको प्राप्त होता है। जीवके कई भेद हैं। इसीको 'परिणामवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—भगवान्‌के दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। परम धाम वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला महादेवियोंके साथ नारायणकी सेवाको प्राप्त कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। पाञ्चभौतिक देहसे छूटकर अप्राकृत शरीरसे नारायणका सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। भगवान्‌के साथ जीवका अभिन्नत्व कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य है; और नित्य दास तथा नित्य अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। मुक्त जीव वैकुण्ठ धाममें अशेष कल्याण-गुणनिधि भगवान्‌के नित्य दासत्वको प्राप्त होकर दिव्य आनन्दका अनुभव करते हैं।

साधन—मुक्तिका साधन ज्ञान नहीं किन्तु भक्ति है। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। भक्तिके द्वारा प्रसन्न होकर जब भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं तभी मुक्ति होती है। भक्तिका सर्वोत्तम स्वरूप प्रपत्ति या आत्मसमर्पण है। वैकुण्ठनाथ, विभु, श्रीमन्नारायणके चरणोंमें आत्म-समर्पण कर देनेपर ही जीवको परम शान्तिकी प्राप्ति होती है।

३—द्वैतवाद

सिद्धान्त—भगवान् श्रीविष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। वे सगुण और सविशेष हैं। वे ही स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही सच्चिदानन्दात्मक हैं। ईश्वर सर्वज्ञ हैं और अनन्त दिव्य कल्याणगुणोंके आश्रय हैं। वे देश और कालसे परिच्छिन्न नहीं हैं। असीम अनन्त हैं और स्वतन्त्र हैं। जीव अणु है, भगवान्‌का दास है और अनादिकालसे मायामोहित, बद्ध तथा सर्वथा अस्वतन्त्र है। वह अज्ञत्वादि नाना धर्मोंका आश्रय है। जगत् सत्य है और भेद वास्तविक है। इस भेदके भी पाँच अवान्तर भेद हैं। १—जीव-ईश्वरका भेद, २—जीव-जडका भेद, ३—ईश्वर-जडका भेद, ४—जीवोंका परस्पर भेद और ५—जडोंका परस्पर भेद। ये सभी भेद वास्तविक हैं, इनमें कोई औपचारिक नहीं है। सब जीव ईश्वरके अधीन हैं। जीवोंमें भी तारतम्य है। जगत् सत्, जड और अस्वतन्त्र है, भगवान् जगत्‌के नियामक हैं। इसको 'स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—जीवन्मुक्ति या निर्वाणमुक्ति मुक्ति नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म सब वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेपर अर्थात् ईश्वरसे जीव पूर्णरूपसे पृथक् है, इसे यथार्थरूपसे जानकर ईश्वरके गुणोंकी उपलब्धि उनके अनन्त असीम सामर्थ्य शक्ति और गुणोंका बोध होनेपर ही भगवान्‌के दिव्य लोक और स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यही मुक्ति है। मुक्त जीव भी ईश्वरका नित्य सेवक ही रहता है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिका प्रधान साधन है। वेदाध्ययन, इन्द्रियसंयम, विलासिताका त्याग, आशा और भयका अभाव, भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण, सत्य-हित-प्रियवचन बोलना और स्वाध्याय करना, दान देना, विपत्तिमें पड़े हुए जीवको

रक्षा करना, शरणागतको बचाना, दया, भगवान्‌का दासत्व प्राप्त करनेकी इच्छा और हरि, गुरु तथा शास्त्रमें श्रद्धा, इन सबको भगवान्‌के समर्पण करके करते रहना ही भक्ति है।

४—द्वैताद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान् हैं। निर्विकार और निर्गुण हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन और संहार ब्रह्मसे ही होता है। ब्रह्म ही इस ब्रह्माण्डके निमित्त और उपादान कारण हैं। ब्रह्मसत्ताकी चार अवस्थाएँ हैं—१–मूल अवस्था अव्यक्त, निर्विकार, देश-कालादिसे अनवच्छिन्न और अचिन्त्यानन्त-स्वगत-सौख्यसिन्धुमय है। २–दूसरी अवस्था जगदीश्वरकी है। इसमें ईश्वरत्वके साथ सम्पूर्ण विश्वका भान है। ३–तीसरी अवस्था रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शकी यथाक्रम व्यष्टिगत अनुभूतिकी है। इसीका नाम जीव है। जीव दो प्रकारके होते हैं—एक जो इन व्यष्टिगत रूपादिको ब्रह्मसे अपृथक् अनुभव करते हैं और जो अविद्यासे मुक्त हैं। दूसरे जो इन व्यष्टिगत रूपादिका अनुभव करते हैं, परन्तु इनके आश्रय-स्वरूप विभु आत्माको नहीं जानते इस कारण जो बद्ध हैं। ४–चौथी अवस्था वह है जिसमें ब्रह्म विश्वके रूपमें व्यक्त होता है। ब्रह्मको छोड़कर इस विश्वकी कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म दृश्य-अदृश्य, अणु-विभु, सगुण-निर्गुण सभी कुछ हैं, परन्तु उनकी पूर्ण आनन्दसुधासिन्धुमयी, सनातनस्वरूप सत्ता सदा-सर्वदा और सर्वत्र एकरस है।

जीव ब्रह्मका अंश है, ब्रह्म अंशी हैं। ब्रह्म ही जगत्‌रूपमें परिणत हुए हैं। जगत्‌रूपमें परिणत होने तथा जगत्‌के ब्रह्ममें लीन होनेपर भी उनमें कोई विकार नहीं होता। जीव अणु और अल्पज्ञ है। मुक्त जीव भी अणु ही है। मुक्त और बद्धमें यही भेद है कि मुक्त जीव ब्रह्मके साथ अपने और जगत्‌के अभिन्नत्वका अनुभव करता है और बद्ध जीव ऐसा नहीं करता।

मुक्ति—भगवान् वासुदेव ही वे ब्रह्म हैं और उनकी प्रसन्नता तथा उनके दर्शन प्राप्त करके परमानन्दको प्राप्त हो जाना ही मुक्ति है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। भगवान्‌के नाम-गुणोंका चिन्तन, उनके स्वरूपका ध्यान और भगवान्‌की युगलमूर्तिकी उपासना करना भक्ति है।

५—शुद्धाद्वैतवाद

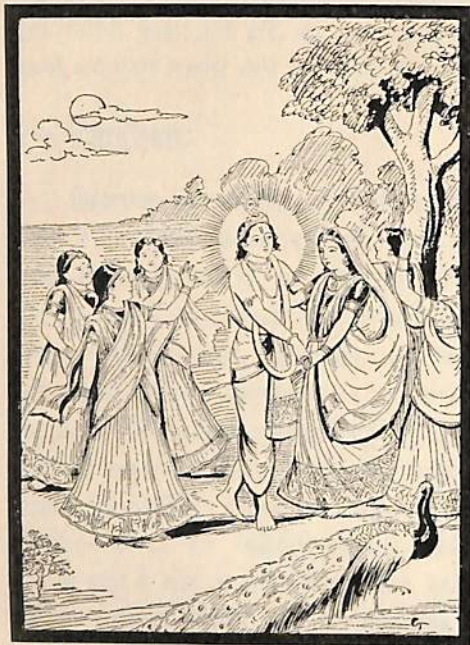
सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। वे परम शुद्ध हैं। उनमें माया आदि नहीं है। वे निर्गुण और प्राकृतिक गुणोंसे अतीत हैं। उनकी शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है। वे सब कुछ बन सकते हैं। अतएव उनमें विरुद्ध धर्मों और विरुद्ध वाक्योंका युगपत् समावेश है और गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही वे ब्रह्म हैं। वे ही जीवके सेव्य हैं। जीव ब्रह्मका अंश और अणु है। वह भी शुद्ध है। चैतन्य जीवका गुण है। जगत्‌का आविर्भाव भगवान्‌की इच्छासे हुआ है और उनकी इच्छासे इसका तिरोधान होता है। वे लीलासे ही जगत्‌के रूपमें परिणत हुए हैं। वे ही जगत्‌के निमित्त और उपादान कारण हैं। जगत् मायिक नहीं है, परन्तु भगवान्‌का अविकृत परिणाम है, भगवान्‌से अभिन्न है। आविर्भाव और तिरोभाव होनेपर भी जगत् सत्य है। तिरोभावकालमें वह कारणरूपसे और आविर्भावकालमें कार्यरूपसे स्थित रहता है।

मुक्ति—भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही मुक्ति है। शुद्ध जीव समस्त जगत्‌को कृष्णमय देखकर श्रीकृष्णके प्रेममें, जैसे पत्नी पतिकी सेवा करके आनन्दको प्राप्त होती है, वैसे ही स्वामीरूपमें श्रीकृष्णकी सेवा करके वह परमानन्दरसमें तन्मय रहता है।

साधन—भगवत्कृपासे प्राप्त भक्ति ही मुक्तिका साधन है। भगवान्‌का अनुग्रह ही पुष्टि है और पुष्टिसे जिस भक्तिका उदय होता है वही पुष्टिभक्ति है। यह पुष्टिभक्ति मर्यादा-भक्तिसे अत्यन्त विलक्षण है। इस भक्तिके साथ भगवान्‌की सर्वात्मभावसे सेवा करना ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन है।

६—अचिन्त्यभेदाभेदवाद

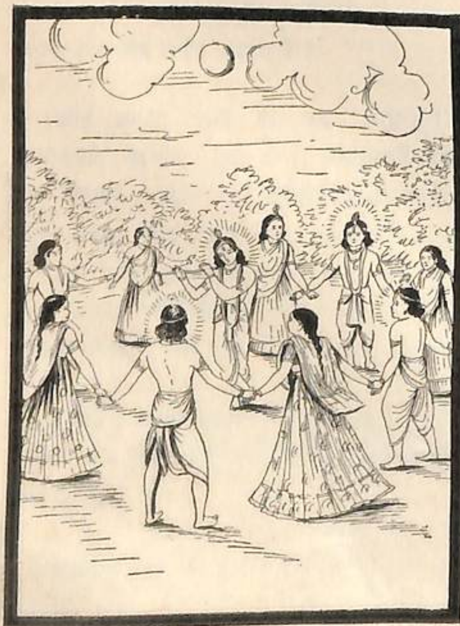
सिद्धान्त—ब्रह्म निर्गुण हैं अर्थात् अप्राकृत गुण-सम्पन्न हैं। उनकी शक्ति संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता और विज्ञानस्वरूप हैं। जीव अणु और चेतन है। ईश्वरकी विमुखता ही उसके बन्धनका कारण है। ईश्वरके सम्मुख होनेपर उसके बन्धन कट जाते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल–ये चार पदार्थ नित्य हैं तथा जीव, प्रकृति और काल ईश्वरके अधीन हैं। जीव ईश्वरकी शक्ति है। जीव और ब्रह्म, गुण और गुणीभावसे अभिन्न और भिन्न दोनों ही हैं। जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न है, वे इसके निमित्त और उपादान कारण हैं। वे ही



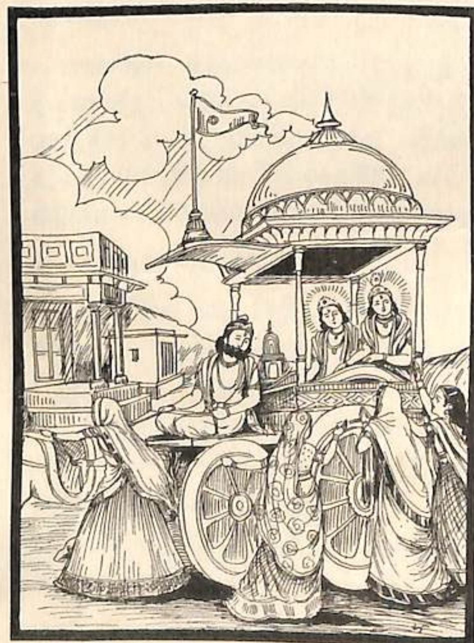
रासमण्डलमें



रासमण्डलमें आविर्भाव



रासलीला



मथुराको प्रस्थान

अपनी अविचिन्त्य शक्तिसे जगत्‌के रूपमें परिणत होते हैं। जगत् सत् है, परन्तु अनित्य है।

मुक्ति—भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है, भगवद्धामको प्राप्त हुए जीवका पुनरागमन नहीं होता। न तो भगवान् ही मुक्त जीवको अपने लोकसे गिराना चाहते हैं और न मुक्त पुरुष ही कभी भगवान्‌को छोड़ना चाहते हैं। वे नित्य उनकी सेवाका परमानन्द प्राप्त करते रहते हैं।

साधन—भक्ति ही प्रधान साधन है। ज्ञान-वैराग्य उसके सहकारी साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके विना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ह्लादिनी और संवित् शक्तिकी सारभूता है। भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। सामान्य भक्तिका नाम साधन-भक्ति है, यह जीवके हृदयस्थ प्रेमको उद्‌बुद्ध करती है, इसीसे उसका नाम साधन-भक्ति है। शुद्ध सत्त्वरूपा चित्तमें प्रेम-सूर्यका उदय करानेवाली विशेष भक्तिका नाम 'भाव' है। भाव प्रेमकी प्रथमावस्था है। जब भाव घनीभूत होता है, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। 'मधुर भक्ति' की पराकाष्ठा ही इस प्रेमका सार है। यह प्रेम ही परम पुरुषार्थ है।

गीताके संस्कृत भाष्य और टीकाओंमें अधिकांश इन्हीं छः मतोंमेंसे किसी मतका आश्रय लेकर उसीके समर्थनमें रचे गये हैं। ये छहो मत ऐसे महान् पुरुषोंके द्वारा प्रवर्तित हैं कि उनमेंसे किसीको भी भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। सभी भगवत्तत्त्वके ज्ञाता महापुरुष माने जाते हैं। अतएव इनमें दीखनेवाले मतभेदको भगवद्वाणीका चमत्कार मानकर सभीको शुद्ध हृदयसे इन्हें नमस्कार करना चाहिये और अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथारुचि अपने लाभकी बात सभीमेंसे ले लेनी चाहिये।

पुरुषोत्तम-तत्त्व

(लेखक—एक भावुक)

विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीमद्भगवद्‌गीताका प्रधान प्रतिपाद्य साध्यतत्त्व 'पुरुषोत्तम' है। और उसके प्राप्त करनेका प्रधान साधन भगवान्‌की 'अनन्य-शरणागति' या 'पूर्ण समर्पण' है। इसी परमतत्त्वके विवेचनमें प्रसङ्गानुसार गीतामें विविध अवान्तर तत्त्वोंकी और साधनोंकी आलोचना हुई है। जिस प्रकृति और पुरुषके संयोगसे भगवान् अपनेको अनन्त ब्रह्माण्डरूपमें प्रकाशित किये हुए हैं वे 'प्रकृति-पुरुष' तत्त्व गीताके अनुसार भगवान्‌की अपनी ही 'अपरा' और 'परा' नामक दो प्रकृतियाँ हैं (गीता ७।४, ५)। 'अपरा' जड है और 'परा' चेतन है। इस चेतन परा प्रकृतिके द्वारा ही समस्त जगत् विधृत है। भगवान्‌की यह चेतन प्रकृति उनकी स्वरूपभूता महाशक्तिका ही अंश है।

तेरहवें अध्यायमें जिन प्रकृति-पुरुषका विवेचन है, वे प्रकृति-पुरुष यह अपरा और परा प्रकृति ही हैं। परन्तु यह गीतोक्त पुरुष सांख्यका 'नाना पुरुष' नहीं है। यह भगवान्‌की जीवभूता चेतन प्रकृति है जो लीलासे अनन्त जीवोंके रूपमें प्रतिभात होती है।

सांख्य इन दोनों तत्त्वोंको मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् और उनके अविवेककृत संयोगके परिणामस्वरूप अनन्त विचित्र गुण-क्रियादियुक्त व्यक्त जगत्‌का उदय मानता है। सांख्यका सिद्धान्त है—पुरुष निर्विकार, निष्क्रिय, गुणातीत और चित्-स्वरूप है; प्रकृति विकारशील, परिणामिनी, क्रियावती और त्रिगुणमयी है। पुरुष और प्रकृति दोनों सर्वथा विपरीत धर्म-वाले दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। इनमें गुणमयी प्रकृति मूल-उपादान कारण है। उसीके परिणामसे जगत्‌के समस्त पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु पुरुषके संयोग विना प्रकृतिमें परिणाम नहीं होता और परिणाम हुए विना जगत्‌की उत्पत्ति नहीं होती। व्यक्त जगत्‌में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर और पुरुषका धर्म प्रकृतिपर आरोपित होता है। मूलतः दोनों पूर्णरूपसे पृथक् हैं। उनका संयोग अविवेकमूलक है और अनादिकालसे है। तत्त्व-विमर्शके द्वारा इनके पार्थक्यका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर यह संयोग टूट जाता है, परन्तु इससे जगत् मिट नहीं जाता। जिस पुरुषविशेषकी बुद्धिमें इस पार्थक्यकी यथार्थ अनुभूति होती है उसके लिये जगत् नहीं रहता। वह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धरहित होकर अपने नित्य शुद्ध-स्वरूपमें स्थित हो जाता है। यही मुक्ति है। अवशेष समस्त पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त ही बने रहते हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन पुरुषोंकी अनन्तताका प्रतिपादन करता है।

[illegible] प्रचलित सिद्धान्त सांख्यकी इस तत्त्वविवेचना-

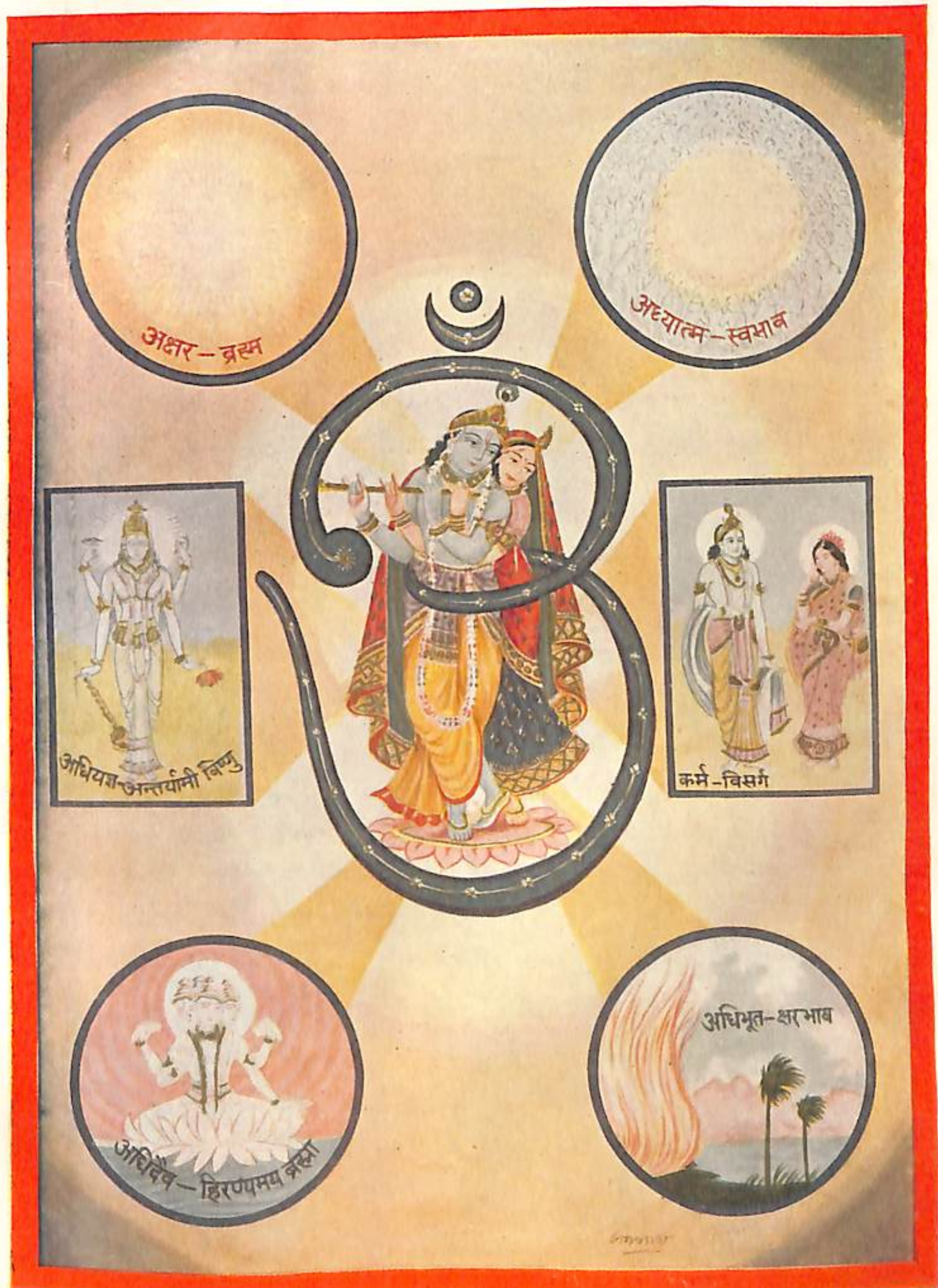
को स्वीकार करता है, परन्तु परमार्थतः नहीं। परमार्थकी स्थितिमें वह ब्रह्मके अतिरिक्त किसीका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। रज्जुमें सर्पकी भाँति समस्त विश्वको और विश्वकी सारी कर्मधाराको वह मिथ्या, अविद्यासम्भूत और विना हुए ही प्रतिभास होनेवाली बतलाता है। वेदान्त तीन सत्ता मानता है—१ पारमार्थिक, २ व्यावहारिक और ३ प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्तामें अर्थात् वास्तवमें एक ब्रह्म ही है। अन्य सबका अत्यन्ताभाव है। ब्रह्म मन-वाणीसे अतीत है। मायासे ब्रह्ममें स्पन्दन माना जाता है, इस स्पन्दनके उत्पन्न होनेपर व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताका आविर्भाव होता है। जाग्रत्में व्यावहारिक सत्ता और स्वप्नमें प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है। व्यावहारिक सत्तामें छः पदार्थ हैं—ब्रह्म, ईश्वर, जीव, तीनोंका परस्पर भेद, अविद्या और अविद्याके साथ जीवका सम्बन्ध। व्यावहारिक सत्तामें ये सभी अनादि हैं। इनमें पाँच अनादि-सान्त हैं। एक ब्रह्म ही अनादि अनन्त है। जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। सारा भेद उपाधिकृत है। अविद्याकी उपाधिवाला जीव, मायाकी उपाधिवाला ईश्वर और इन दोनोंसे सर्वथा रहित ब्रह्म है। उपाधि अज्ञानमें है। व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता भी अज्ञानमें ही हैं।

परन्तु गीता इन दोनोंसे विलक्षण कुछ नयी बात कहती है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार जगत्‌की उत्पत्ति पुरुष-प्रकृतिके संयोगसे हुई है, यह सत्य है, परन्तु गीताका वह पुरुष भगवान्‌की ही एक प्रकृति है और वह एक ही है। साथ ही ये ही (दोनों प्रकृति और पुरुष ही) परम तत्त्व भी नहीं हैं। इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और है और ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध प्रकाशमात्र हैं। इसीके साथ-साथ गीता स्पष्टरूपसे कहीं यह भी नहीं कहती कि 'यह जगत् रज्जुमें सर्पकी भाँति सर्वथा अविद्याकृत है और विना हुए ही भास रहा है। और अविद्या तथा मायाकी उपाधिसे जीव, ईश्वर तथा ब्रह्ममें व्यावहारिक भेद है।' भगवान् विश्वको अपने सकाशसे अपनी अध्यक्षतामें अपनी ही प्रकृतिके द्वारा प्रादुर्भूत बतलाते हैं और अपने उसमें नित्य व्याप्त रहनेकी घोषणा करते हैं। यह नित्य परिवर्तनशील, अनन्त विचित्र शक्तियों और पदार्थोंसे और उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त समस्त जगत् लीलामय भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्‌का अक्षर और चिद्भाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार, असङ्ग और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है तथा भगवान्‌की स्वरूपभूता शक्तिके अंशरूप इसी चेतन परा प्रकृतिकी सत्ता और शक्तिद्वारा यह समस्त जगत् विधृत है। अर्थात् जगत् नहीं है ऐसा नहीं, जगत् है और वह भगवान्‌से भरा हुआ है। भगवान्‌का नित्य लीलाक्षेत्र है। अवश्य ही जो भगवान्‌को भूलकर, भगवान्‌को न मानकर केवल जगत्‌को देखते हैं, उनके लिये यह जगत् अत्यन्त भयङ्कर और दुःखमय है।

परन्तु गीतोक्त 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' केवल इस विश्वमें व्याप्त है, इतनी ही बात नहीं है, वह विश्वसे परे भी है। विश्व तो उसके ऐश्वर्ययोगके एक अंशमात्रमें है। वह अनन्त है, असीम है, अनिर्वचनीय है, अचिन्त्य है और नित्य अपनी महिमामें स्थित है। इस समस्त जगत्‌के अंदर और जगत्‌से परे जो सब तत्त्व हैं, वे समस्त तत्त्व इस पुरुषोत्तमकी ही अभिव्यक्ति हैं। सम्पूर्ण तत्त्वोंमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ, निर्लेप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चरम तत्त्व है—अक्षर ब्रह्म। गीतामें भगवान् पुरुषोत्तम स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उस 'ब्रह्म'-की प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ (१४।२७)। आठवें अध्यायमें जिन छः तत्त्वोंका भगवान्‌ने विवेचन किया है और सातवें अध्यायके अन्तमें अपने समग्ररूपका प्रतिपादन करते हुए जिन तत्त्वोंके सहित अपनेको जाननेकी बात कही है, उन तत्त्वोंमें भी स्पष्टतः 'अक्षर ब्रह्म'का नाम आया है। भगवान्‌ने बतलाया है कि १–परम अक्षर 'ब्रह्म' है, २–मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न निर्विकार परा प्रकृतिरूप जो मेरा भाव है वह 'अध्यात्म' है, ३–अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप मेरा क्षरभाव ही 'अधिभूत' है, ४–भूतोंका उद्भव और अभ्युदय—पुरुषद्वारा प्रकृतिके ईक्षणरूप अथवा संकल्परूप जिस विसर्गसे होता है वही 'कर्म' है, ५–विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही 'अधिदैव' है, इसीको ब्रह्मा कहते हैं और ६–शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ। तथा अन्तकालमें भी जो पुरुष मेरे इस समग्रस्वरूपका स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है वह मेरे ही भावको प्राप्त होता है (गीता ८। ३, ४, ५)।

गीताके 'अहं', 'मम', 'माम्', 'मे', 'मयि' आदि अस्मत् पदोंसे और पूर्वापरका सारा विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही गीताके पुरुषोत्तम-

पुरुषोत्तम-तत्त्व



ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (१४। २७)

तत्त्वके दिव्य मूर्तस्वरूप हैं। गीताकी सारी आलोचना इन्हींको लेकर हुई है और स्थान-स्थानपर नाना प्रकारसे इन्होंने अपनेको जगद्व्यापी, जगत्स्रष्टा, जगन्मय और जगत्से अत्यन्त अतीत परमतत्त्व घोषित किया है।

ये श्रीकृष्ण निर्गुण हैं या सगुण, निराकार हैं या साकार, ज्ञेयतत्त्व हैं या ज्ञाता, मायामय हैं या मायासे अतीत, आदि प्रश्नोंका उत्तर युक्तियोंसे और प्रमाणोंसे देना तथा समझना सम्भव नहीं है। भगवान्‌की कृपासे ही भगवान्‌का कोई तत्त्व समझमें आ सकता है। गीताके अठारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'ब्रह्मकी प्राप्तिके अनन्तर मेरी 'परा भक्ति' मिलती है और उस पराभक्तिके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है' (१८ । ५४, ५५)।

इतना होते हुए भी शास्त्रोंके और भगवान्‌के श्रीमुखसे निकले हुए वचनोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि वे प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेपर भी अपने अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंसे नित्य विभूषित हैं, प्राकृत क्रियाओंसे सर्वथा अतीत होनेपर भी नित्यलीलामय हैं और जड पाञ्चभौतिक आकारसे सर्वथा रहित होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप, हानोपादानरहित, देह-देहिभेदहीन, दिव्य देहसे नित्य युक्त हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भगवान् शङ्करजीसे स्वयं कहा है—

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम्।
घनीभूतामलप्रेम सच्चिदानन्दविग्रहम्॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वरम्।
असिद्धत्वान्मद्‌गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात्प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकमहं शिव॥

(पद्म० पा० ५१। ६६—७१)

'हे शङ्कर! मेरे जिस अलौकिक रूपको आज आपने देखा है, वह विशुद्ध प्रेमकी घनमूर्ति है और सच्चिदानन्दस्वरूप है। उपनिषदोंके समुदाय मेरे इसी रूपको निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय, 'परात्पर ब्रह्म' कहते हैं। मुझमें प्रकृतिजन्य गुणोंका अभाव होनेसे और मेरे अन्दर गुणोंकी सत्ताको असिद्ध मानकर वे मुझे 'निर्गुण' कहते हैं और अनन्त होनेसे मुझे 'ईश्वर' कहते हैं। और मेरा यह रूप प्राकृतिक नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता, इसलिये हे महेश्वर! ये समस्त वेद मुझे रूपरहित अर्थात् 'निराकार' कहते हैं। अपने चैतन्यांशसे सर्वव्यापक होनेके कारण पण्डितगण मुझे 'ब्रह्म' कहते हैं और इस विश्वप्रपञ्चका कर्ता न होनेसे वे मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं। क्योंकि हे शिव! स्वयं मैं सृष्टि आदि कुछ भी कार्य नहीं करता; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मेरे अंश ही मायाके गुणोंसे सृष्टि आदि कार्य करते हैं।'

यह भगवान्‌का निर्गुण, निराकार और सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसी स्वरूपमें जो भगवान्‌की अभिन्नस्वरूपभूता महाशक्ति हैं, जिनका एक अंश परा प्रकृति है और जिनके न्यूनाधिक शक्तिसम्पन्न अनेकों छोटे-बड़े रूप हैं, जो सृष्टिके सृजन, पालन और संहारमें भगवान्‌के अंशावतार वस्तुतः अभिन्नस्वरूप त्रिदेवोंको सहायता करती रहती हैं, वे मूलशक्ति श्रीराधाजी हैं। ये भगवान् श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्न हैं, केवल लीलाके लिये ही एक ही भगवान्‌के इन दो रूपोंका प्रकाश है। देवर्षि नारदने श्रीराधाजीका स्तवन करते हुए कहा है—

तत्त्वं विशुद्धसत्त्वासु शक्तिर्विद्यात्मिका परा।
परमानन्दसन्दोहं दधती वैष्णवं परम्॥
कलयाश्चर्यविभवे ब्रह्मरुद्रादिदुर्गमे।
योगीन्द्राणां ध्यानपथं न त्वं स्पृशसि कर्हिचित्॥
इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिस्तवेशितुः।
तवांशमात्रमित्येवं मनीषा मे प्रवर्तते॥
माया विभूतयोऽचिन्त्यास्तन्मायार्भकमायिनः।
परेशस्य महाविष्णोस्ताः सर्वास्ते कलाः कलाः॥
आनन्दरूपिणी शक्तिस्त्वमीश्वरी न संशयः।

(पद्म० पा० ४०। ५३—५७)

'आप ही तत्त्वात्मिका, विशुद्धसत्त्वमयी, भगवान्‌की स्वरूपाशक्ति एवं परा विद्या हैं। आप ही विष्णुके परमानन्द-पुञ्जको धारण करती हैं (अर्थात् उनका आनन्दांश हैं)। आपकी एक-एक कलामें अत्याश्चर्यमय ऐश्वर्य भरा हुआ है;

ब्रह्मा, रुद्र आदि महान् देवगण भी आपके स्वरूपको कठिनतासे जान सकते हैं। हे देवि! बड़े-बड़े योगीश्वरोंके ध्यानमें भी आप नहीं आतीं। मेरी बुद्धिमें तो यह आता है कि आप ही अखिल जगत्की अधीश्वरी हैं और इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति आपके ही अंश हैं। मायासे बालक बने हुए मायेश्वर भगवान् महाविष्णुकी जितनी भी अचिन्त्य मायाविभूतियाँ हैं, वे सब आपहीकी अंशांशरूपिणी हैं। आप ही आनन्दरूपिणी शक्ति हैं और आप ही परमेश्वरी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

इस वर्णनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि भगवान्की यह स्वरूपभूताशक्ति जगत्को अज्ञानसे ढक रखनेवाली जड 'माया' कदापि नहीं है। यह भगवान्की आनन्दस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति है, इसीको लेकर भगवान् अवतरित हुआ करते हैं। यह अभिन्नशक्ति-शक्तिमान् स्वरूप ही 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' है। इसी पुरुषोत्तमतत्त्वके सम्बन्धमें देवी पार्वतीके प्रति भगवान् शङ्करके ये वचन हैं—

यदङ्घ्रिनखचन्द्रांशुमहिमान्तो न विद्यते।
तन्माहात्म्यं कियद्देवि प्रोच्यते त्वं मुदा शृणु॥
अनन्तकोटिब्रह्माण्डे अनन्तत्रिगुणोच्छ्रये।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
सृष्टिस्थित्यादिनायुक्तास्तिष्ठन्ति तस्य वैभवाः।
तद्रूपकोटिकोट्यंशाः कलाः कन्दर्पविग्रहाः॥
जगन्मोहं प्रकुर्वन्ति तदण्डान्तरसंस्थिताः।
तद्देहविलसत्कान्तिकोटिकोट्यंशको विभुः॥
तत्प्रकाशस्य कोट्यंशरश्मयो रविविग्रहाः।
तस्य स्वदेहकिरणैः परानन्दरसामृतैः॥
परमामोदचिद्रूपैर्निर्गुणस्यैककारणैः।
तदंशकोटिकोट्यंशा जीवन्ति किरणात्मकाः॥
तदङ्घ्रिपङ्कजद्वन्द्वनखचन्द्रमणिप्रभाः।
आहुः पूर्णब्रह्मणोऽपि कारणं वेददुर्गमम्॥
तदंशसौरभानन्तकोट्यंशो विश्वमोहनः।
तत्स्पर्शपुष्पगन्धादिनानासौरभसम्भवः॥
तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः॥
(पद्म० पा० ३८। ११२—१२०)

'हे देवि! जिनके चरण-नखरूपी चन्द्रमाकी किरणोंकी भी अनन्त महिमा है, उन श्रीकृष्णकी अपार महिमाका कुछ अंश मैं वर्णन करता हूँ, उसे तुम प्रसन्न होकर सुनो। जिनमें त्रिगुणोंका ही अनन्त विस्तार है ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्त कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हैं; वे सब उन्हीं परम महेश्वरकी कलाके करोड़वें अंश हैं। वे उन्हींके ऐश्वर्यांश हैं और सृष्टि, स्थिति आदि अधिकारोंसे युक्त होकर उन-उन ब्रह्माण्डोंमें स्थित हैं। उनके सौन्दर्यके करोड़ों अंश कामदेवके रूपमें उन-उन ब्रह्माण्डोंमें स्थित होकर जगत्को मोहित कर रहे हैं। सर्वव्यापी विभु उनके दिव्य मङ्गलविग्रहकी दिव्य कान्तिका करोड़वाँ अंश है और उस ब्रह्मके प्रकाशके करोड़ों अंश उन-उन ब्रह्माण्डोंमें सूर्यमण्डलोंके रूपमें स्थित हैं, भगवान्के उस दिव्य प्रकाशके अंशांशरूप ये किरणमय रविमण्डल उन परम प्रकाशमय भगवान्के दिव्य विग्रहकी परमानन्दरूप, रसमय एवं अमृतमय, अलौकिक गन्धयुक्त, चिद्रूप एवं निर्गुण ब्रह्मके कारणभूत किरणोंसे ही जीवन धारण करते हैं और भगवान्के युगलचरणारविन्दके नखरूपी चन्द्रकान्तमणिकी प्रभाके समान प्रकाशवाले हैं। इन भगवान् श्रीकृष्णको पण्डितगण शुद्ध पूर्णब्रह्मका भी कारण और वेदोंके द्वारा भी दुष्प्राप्य कहते हैं। विश्वको मोहित करनेवाला नाना प्रकारके पुष्पोंका गन्ध तथा अन्य प्रकारके उत्तम गन्ध इन्हींके दिव्य अङ्गगन्धका करोड़वाँ अंश है। उनकी वल्लभा कृष्ण-कान्ता श्रीराधिका आद्या प्रकृति हैं। त्रिगुणमयी दुर्गादि देवियाँ उन्हीं श्रीराधाकी कलाके करोड़वें अंश हैं।'

यही गीताका परम 'पुरुषोत्तम तत्त्व' है और सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र इसीकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

ईश्वरीय-संगीत

भगवद्गीताके अतिरिक्त ऐसा कोई दूसरा भारतीय ग्रन्थ नहीं है, जिसकी भारतवर्षमें एवं अन्यान्य देशोंमें दूर-दूरतक इतनी प्रसिद्धि हुई हो और जिसको ईश्वरीय संगीत मानकर हिन्दुस्तानमें सभी लोग इतना प्रेम करते हों।

—प्रो० ऑटो श्रैस



योद्धावेशमें भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन

गीतामें प्रधान पात्र दो हैं—भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुन; अतएव यहाँ इन दोनोंके जीवनकी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाएँ तो जीवोंको भवसागरसे तारनेवाली हैं ही; उनके भक्त अर्जुनकी जीवन-कथा भी भगवान्के सम्बन्धसे बहुत ही उपकारिणी हो गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् थे। गीतामें उन्होंने अपने श्रीमुखसे तो बार-बार अपनेको साक्षात् भगवान् कहा ही है। अर्जुन और सञ्जयने भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है जो भगवान्के सिवा किसी भी बड़े-से-बड़े मनुष्यके लिये प्रयोग नहीं किये जा सकते।

द्वापरके अन्तमें देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें वसुदेवजीके यहाँ कंसके कारागारमें भाद्रपद कृष्णा अष्टमी, बुधवारको आधी रातके समय रोहिणी नक्षत्र और वृष लग्नमें चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए। तदनन्तर वसुदेव-देवकीके प्रार्थनानुसार शिशुरूप धारण करनेपर इन्हें श्रीवसुदेवजी इन्हींके सङ्केतानुसार गोकुल पहुँचा आये और वहीं नन्द-यशोदाके यहाँ ये पुत्ररूपमें पालित हुए। वहाँ रहकर इन्होंने बालकपनमें ही अनेक अलौकिक चरित्र किये। मारनेके लिये स्तनोंमें विष लगाकर आयी हुई पूतनाके दूधके साथ प्राणोंको भी खींच लिया, पालनेमें झूलते हुए दूध और दहीके बर्तनोंसे भरे एक बहुत बड़े छकड़ेको पैरोंकी ठोकरसे उलट दिया और बवंडरके रूपमें आकर इन्हें आकाशमें उड़ाकर ले जाते हुए तृणावर्तनामक दैत्यको गला घोंटकर मार डाला और उसका उद्धार कर दिया।

जब बालक श्रीकृष्ण चलने-फिरने लगे तो वे गोपियोंके घरोंमें घुस जाते और उनकी प्रसन्नताके लिये उनका दूध, दही और माखन ले-लेकर खा जाते, सखाओं तथा बंदरोंको लुटा देते तथा अन्य कई प्रकारका बालचापल्य करके उन्हें रिझाते तथा खिझाते। जब वे शिकायत लेकर यशोदा मैयाके पास आतीं तो अनेक प्रकारकी चातुर्यपूर्ण बातें कहकर उन्हें निरुत्तर कर देते।

एक दिन गोपबालकोंने आकर यशोदा मैयासे कहा कि 'कन्हैयाने मिट्टी खायी है।' मैयाने डाँटकर कहा, 'क्यों रे! तूने मिट्टी क्यों खायी?' भगवान् बोले—'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी है, विश्वास न हो तो मेरा मुख देख ले।' फिर इन्होंने माताको अपने मुखके अंदर त्रिलोकीका दर्शन कराया, किन्तु मातापर इनके इस अलौकिक प्रभावका संस्कार अधिक देरतक न ठहरा। एक दिन माताने इनकी चपलताके कारण इन्हें ऊखलसे बाँध दिया और इन्होंने ऊखलसे बँधे-बँधे ही यमलार्जुन वृक्षोंको उखाड़ डाला और कुबेरपुत्र नलकूबर तथा मणिग्रीवका उद्धार किया। जब श्रीकृष्ण-बलराम कुछ बड़े हुए तब वे बछड़ोंको चराने वनमें जाने लगे और वहाँ गोपबालकोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीडा करते। वहाँ इन्होंने क्रमशः बछड़े और बगुलेका रूप बनाकर आये हुए वत्सासुर और बकासुरनामक दैत्योंका और अजगरका वेष बनाकर आये हुए अघासुरका उद्धार किया।

एक बार भगवान् जब वनमें बछड़े चरा रहे थे तो ब्रह्माजीने भगवान्की महिमा देखनेके लिये बछड़ों और गोपबालकोंको ले जाकर कहीं छिपा दिया। श्रीकृष्णने यह देखकर स्वयं उन सारे बछड़ों और गोपबालकोंका रूप धारण कर लिया और सालभर इस प्रकार अनेकरूप होकर रहे। ब्रह्माजी इस लीलाको देखकर बहुत ही चकित हुए और उन्होंने क्षमा-याचना करके सब बछड़ों तथा गोपबालकोंको लौटा दिया।

जब श्रीकृष्ण छः-सात वर्षके हुए तो ये नन्दजीके आज्ञानुसार गौओंको चराने वनमें जाने लगे। इन्हीं दिनों धेनुकासुरनामक दैत्य गदहेका रूप बनाकर श्रीकृष्णको मारने आया। उसकी भी वही दशा हुई जो इसके पूर्व अन्य दैत्योंकी हुई थी। उन दिनों कालिय नामका महान् विषधर सर्प यमुनाजीमें रहता था, जिसके कारण यमुनाजीका जल विषैला हो गया था। भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजीमें प्रवेश कर उस सर्पके साथ युद्ध किया और उसका शासन करके उसको वहाँसे निकाल दिया। रातको जब समस्त गोकुलवासी यमुनाके तटपर सोये हुए थे, वनमें सहसा भयानक आग लगी, जिसने उन सोये हुए व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया। भगवान्ने उनका यह कष्ट देखकर उस अग्निको पी लिया और इस प्रकार अपने आश्रितजनोंकी रक्षा की।

एक बार सब गोपगण गायोंको चरानेके लिये एक मूँजके वनमें घुस गये। वहाँ दैवयोगसे आग लग गयी, जिसके कारण समस्त गोपगण तथा गायें व्याकुल हो गयीं। भगवान्ने पुनः उस अग्निको पीकर गौओं तथा गोपोंकी रक्षा की।

एक बार कुछ गोपकन्याओंने भगवान् श्रीकृष्णको पति-रूपमें प्राप्त करनेके उद्देश्यसे अगहनके महीनेमें कात्यायनी-देवीका व्रत किया। एक दिन जब वे वस्त्रोंको तटपर रखकर यमुनाजीमें नग्न होकर स्नान कर रही थीं, तो भगवान् उन्हें शिक्षा देनेके लिये उनके वस्त्रोंको लेकर कदम्बपर जा बैठे।

बड़े अनुनय-विनयके बाद उनके वस्त्रोंको लौटाया और उनके मनोरथ पूर्ण करनेका उन्हें वरदान दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी मधुर मुरली बजाते कि गोप-बालाएँ तथा व्रजके सभी प्राणी उसे सुनकर मुग्ध हो जाते । एक बार जब गोपगण भगवान् श्रीकृष्णके साथ वनमें गौएँ चरा रहे थे, उन्हें बड़ी भूख लगी । पास ही कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे । भगवान्ने गोपोंसे कहा कि तुम उन ब्राह्मणोंके पास चले जाओ और उनसे हमारा नाम लेकर अन्न माँगो । गोपोंने वैसा ही किया, किन्तु ब्राह्मणोंने उनकी प्रार्थनापर ध्यान नहीं दिया । तब भगवान्ने गोपोंको उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास भेजा और वे भगवान्का नाम सुनते ही अधीर होकर वहाँ दौड़ी आयीं और साथमें बहुत-सा भोजनका सामान लेती आयीं । पीछेसे जब उनके पतियोंको यह बात मालूम हुई तो वे मन-ही-मन अपनी पत्नियोंकी भक्तिकी सराहना करने और अपनेको धिक्कारने लगे ।

इधर गोपगण प्रतिवर्ष इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये एक बड़ा भारी यज्ञ किया करते थे । भगवान्ने इसके बदलेमें गोपोंसे गौओं, ब्राह्मणों और गोवर्द्धन पर्वतकी पूजा करनेके लिये प्रेरणा की और स्वयं एक दूसरा रूप धारण कर गोवर्द्धन पर्वतके अभिमानी देवताके रूपमें पूजाको स्वीकार किया । जब इन्द्रने यह देखा तो वे अत्यन्त कुपित हुए और गोपोंको दण्ड देनेके लिये उन्होंने प्रलयकालकी-सी वर्षा बरसानेका आयोजन किया । भगवान्ने उस प्रलयकारी वर्षासे गोपोंकी रक्षा करनेके लिये लीलासे ही गोवर्द्धन पर्वतको उठा लिया और सात दिनतक उसे उसी प्रकार उठाये रक्खा तथा इस प्रकार इन्द्रके दर्पको चूर्ण किया ।

गोवर्द्धन धारण करनेके बाद स्वर्गसे इन्द्र और गोलोकसे कामधेनु—श्रीकृष्णजीके पास आये । इन्द्रने क्षमा-प्रार्थना की । कामधेनुने अपने दूधसे और इन्द्रने ऐरावत हाथीकी सूँड़से निकले हुए आकाशगङ्गाके जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया और उनका नाम 'गोविन्द' रक्खा ।

एक बार नन्दजी रात्रिके समय यमुनाजीमें स्नान कर रहे थे, उस समय एक वरुणका अनुचर उन्हें चुराकर वरुणलोकमें ले गया । जब भगवान्को यह मालूम हुआ तो वे स्वयं वरुणलोकमें जाकर नन्दजीको वहाँसे ले आये । नन्दजीने जब वहाँके वैभव और श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन अपने साथियोंसे किया तो उन लोगोंकी भगवान्के वैकुण्ठधामका दर्शन करनेकी बड़ी उत्कट अभिलाषा हुई । उनकी अभिलाषाको जानकर भगवान्ने उन्हें अपने प्रकृतिसे पर ब्रह्मस्वरूपका और वैकुण्ठलोकका दर्शन कराया ।

इसके बाद भगवान्ने कान्तभावसे भजनेवाली गोपियोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये तथा कामदेवका मद चूर्ण करनेके लिये अलौकिक रासक्रीडा की । भगवान्की मुरली सुनकर गोपियाँ शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिको रासमण्डलमें भगवान्के पास पहुँचीं, बीचमें भगवान् अन्तर्धान हो गये । फिर प्रकट हुए । तदनन्तर एक-एक गोपीके बीचमें एक-एक स्वरूप धारण करके भगवान्ने दिव्य रासलीला की ।

एक बार नन्दादि गोपगण देवाधिदेव महादेवकी पूजाके लिये अम्बिकावनको गये हुए थे । वहाँ रात्रिको एक अजगर सोये हुए नन्दबाबाको निगलने लगा । उनके रोनेकी आवाज़ सुनकर भगवान् जागे और उन्होंने उस अजगरको पैरोंसे ठुकराया । भगवान्के चरणोंका स्पर्श पाते ही वह विद्याधरके रूपमें परिवर्तित हो गया और भगवान्की स्तुति करता हुआ अपने लोकको चला गया । ऋषियोंका अपराध करनेसे उसे सर्पकी योनि प्राप्त हुई थी और भगवान्की कृपासे वह उस योनिसे छूटकर अपने असली स्वरूपको प्राप्त हो गया ।

एक बार भगवान् वनमें गोपियोंके साथ विहार कर रहे थे, उस समय शङ्खचूडनामक कुबेरका अनुचर गोपियोंके एक टोलेको उठाकर ले गया । भगवान्ने उसका पीछा किया और उसे मारकर उसके मस्तकपरसे उसकी मणिको निकाल लिया ।

इस बीचमें अरिष्टासुर नामका दैत्य बैलका रूप धारणकर व्रजमें आया । भगवान्ने उसे बात-की-बातमें मारकर अपने धामको पहुँचा दिया । तब कंसने केशीनामक दैत्यको भेजा, जो घोड़ेका रूप धरकर आया; किन्तु उसकी भी वही गति हुई ।

एक बार भगवान् ग्वालबालोंके साथ चोरोंका खेल खेल रहे थे । कुछ ग्वाल चोर बन गये, कुछ मेढ़े बन गये और कुछ रखवाले बनकर उनकी चोरोंसे रक्षा करने लगे । इतनेमें व्योमासुर नामका दैत्य आया और वह भी गोपवेशमें चोर बनकर मेढ़े बने हुए गोपालोंको चुरा-चुराकर एक पर्वतकी गुफामें ले जाकर रखने लगा । भगवान्को जब यह पता लगा तो उन्होंने मायासे गोप बने हुए उस दैत्यको खूब मारा और उसके प्राणोंको हर लिया तथा छिपाकर रक्खे हुए गोपबालकोंको गुफामेंसे बाहर निकाला ।

इधर कंसने मथुरामें श्रीकृष्ण-बलरामको मारनेके उद्देश्यसे धनुर्यज्ञका आयोजन किया और उन्हें बुलानेके

लिये अक्रूरजीको भेजा। अक्रूरजी जब श्रीकृष्ण-बलरामको लेकर मथुरा जाने लगे तो गोपियाँ विरह-दुःखसे अत्यन्त कातर होकर रोने लगीं और उनके रथके पीछे-पीछे चलने लगीं। भगवान्ने किसी प्रकार समाश्वासन देकर उन्हें लौटाया। वे भी भगवान्के लौटनेकी आशासे प्राण-धारण करती हुई व्रजमें रहने लगीं। मथुरा पहुँचनेके पूर्व भगवान्ने यमुना-तटपर विश्राम किया। अक्रूरजीने रथसे उतरकर स्नानके लिये यमुनाजीके अंदर डुबकी लगायी तो उन्होंने जलके भीतर श्रीकृष्णको देखा; उन्होंने जलसे बाहर निकलकर रथकी ओर देखा तो वहाँ भी श्रीकृष्ण-बलरामको पूर्ववत् बैठे पाया। यह लीला देखकर उन्हें महान् आश्चर्य हुआ और वे गद्गद होकर भगवान्की स्तुति करने लगे।

मथुरा पहुँचनेपर भगवान्ने अक्रूरजीको पहले भेज दिया और स्वयं पीछेसे गोपोंके साथ नगरीमें प्रवेश किया। नगरीमें उनका बड़ा स्वागत हुआ। रास्तेमें भगवान्ने सुदामा मालीकी पूजा स्वीकार की, त्रिवक्रा (कुब्जा) नामक कंसकी दासीका कूबड़ दूर किया और उसके घर आनेका वचन दिया। यज्ञमण्डपमें पहुँचकर भगवान्ने उस धनुषको देखा जिसके निमित्तसे उस यज्ञका आयोजन किया गया था और सब लोगोंके देखते-देखते उसे लीलासे ही तोड़ डाला। रक्षकोंने जब भगवान्को ललकारा तो उनको भी मार डाला। दूसरे दिन भगवान् फिर रङ्गमण्डपमें मल्लयुद्ध देखनेके लिये गये। द्वारके सामने कुवलयापीड नामका मतवाला हाथी खड़ा था, उसने महावतके इशारेसे श्रीकृष्णपर आक्रमण किया। श्रीकृष्णने लीलासे ही उसके दोनों दाँतोंको उखाड़ लिया और उन्हींके प्रहारसे हाथी तथा महावत दोनोंको मार डाला। फिर मण्डपमें प्रवेश करके चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लोंको पछाड़ा और अन्तमें सबके देखते-देखते छलाँग मारकर कंसके मञ्चपर जा कूदे और उसे केश पकड़कर सिंहासनके नीचे ढकेल दिया और बात-की-बातमें उस महाबलीका काम तमाम कर डाला। इसके बाद विधिपूर्वक उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करवायी और उसके पिता उग्रसेनको कारागारसे मुक्त करके उनका राज्याभिषेक किया और स्वयं कारागारमें अपने माता-पिता वसुदेव-देवकीसे मिलकर उनका बन्धन छुड़ाया और उन्हींके पास सुखपूर्वक रहने लगे।

वसुदेवजीने भगवान्का विधिवत् यज्ञोपवीत संस्कार करवाया और फिर उन्हें उज्जयिनीमें गुरु सान्दीपनिके यहाँ वेद-वेदाङ्गकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेज दिया। वहीं उनकी सुदामा ब्राह्मणसे मित्रता हुई। बहुत थोड़े समयमें गुरुकुलकी शिक्षा समाप्त कर, चौदह विद्या और चौंसठ कलाओंमें निपुण होकर भगवान् जब वापस आने लगे तो उन्होंने गुरुसे इच्छानुसार गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये प्रार्थना की। गुरुने अपनी पत्नीसे सलाह करके यह कहा कि हमारा एक पुत्र प्रभासक्षेत्रमें समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसीको वापस ला दो। भगवान्ने यमपुरीमें जाकर वहाँसे गुरुपुत्रको ला दिया और फिर गुरुकी आज्ञा और आशीर्वाद पाकर वे घर लौट आये।

इसके बाद भगवान्ने गोपियोंकी सुधि लेने तथा अपने प्रिय सखा उद्धवका ज्ञानाभिमान दूर करके उन्हें प्रेममार्गमें दीक्षित करने और गोपी-प्रेमका माहात्म्य बतलानेके लिये व्रजमें भेजा। वहाँ उन्होंने प्रेममूर्ति विरहिणी व्रजाङ्गनाओंकी जो दशा देखी, उससे उनके ज्ञानका गर्व गल गया और वे गोपियोंको प्रबोध करनेका हौसला भूलकर उलटे गोपियोंके दास बन गये और उनकी चरणधूलिमें लोटकर अपनेको कृतार्थ मानने लगे। इसके अनन्तर भगवान् अपने वचनको पूरा करनेके लिये कुब्जाके घर गये और उसके प्रेमका सम्मान किया। फिर वे अक्रूरजीके घर गये और उन्हें पाण्डवोंका संवाद लाने हस्तिनापुर भेजा।

इधर कंसकी मृत्युका बदला लेनेके लिये उसके श्वशुर मगधराज जरासन्धने सतरह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा नगरीपर चढ़ाई की, किन्तु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर लौट जाना पड़ा। अठारहवीं बार वह फिर सेना बटोरकर चढ़ाई करनेहीवाला था कि इस बीचमें कालयवननामक यवनदेशके राजाने तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा नगरीपर धावा बोल दिया। इस प्रकार दोहरी आपत्ति देखकर व्यर्थके नरसंहारको रोकनेके लिये भगवान्ने समुद्रतट-पर जाकर एक नयी नगरी बसाने और मथुरावासियोंको वहाँ पहुँचाकर फिर यवनोंके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया। भगवान्की आज्ञासे विश्वकर्माने समुद्रके अंदर द्वारका नामकी एक विशाल नगरीका निर्माण किया। समस्त नगरवासियोंको युक्तिसे वहाँ पहुँचाकर भगवान् स्वयं विना कोई आयुध लिये ही नगरसे बाहर निकल पड़े। उन्हें इस प्रकार पैदल ही नगरसे बाहर जाते देखकर कालयवनने भी पैदल ही उनका पीछा किया। भगवान् दौड़ते-दौड़ते एक गुफामें घुस गये और वहाँ सोये हुए मान्धाताके पुत्र मुचुकुन्दके द्वारा विना ही परिश्रम उसे मरवा डाला फिर मुचुकुन्दको अपने दिव्य दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया। श्रीकृष्णने वहाँसे लौटकर अकेले ही यवनोंकी उस विपुल सेनाका संहार किया और वहाँसे

द्वारकाको जानेकी तैयारीमें ही थे कि इतनेमें ही जरासन्धने पुनः तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापर चढ़ाई की। अब तो भगवान्‌ने वहाँसे भागना ही उचित समझा और भयभीत होकर भागनेका-सा नाट्य करके द्वारका चले आये। तभीसे भक्तलोग उन्हें रणछोड़ नामसे पुकारने लगे। जरासन्ध अपनी सेनाको लेकर वापस अपनी राजधानीको चला गया।

इसके बाद भगवान्‌ने साक्षात् भगवती लक्ष्मीजीकी कलारूपा देवी रुक्मिणीके साथ विवाह किया और विरोधी सेनाका संहार किया। रुक्मिणीका भाई रुक्मी भी रुक्मिणीके अपहरणको न सहकर एक अक्षौहिणी सेना लेकर भगवान्‌के पीछे दौड़ा; किन्तु भगवान्‌ने उसकी सेनाका बात-की-बातमें विध्वंस कर डाला और रुक्मीको भी पकड़कर केशहीन एवं कुरूप करके छोड़ दिया। देवी रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्न नामक पुत्र हुआ, जो साक्षात् कामदेवका अवतार था और रूप-गुणोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही प्रतिमूर्ति था।

एक बार स्यमन्तक मणिको ढूँढ़ते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ऋक्षराज जाम्बवान्‌के पास पहुँचे और उस मणिके लिये उनसे युद्ध किया। जाम्बवान् उनके बलको देखकर यह समझ गये कि मेरे इष्टदेव राम ही इस रूपमें मेरे सामने उपस्थित हुए हैं और अत्यन्त भक्तिभावसे अपनी कन्या जाम्बवतीके साथ उस मणिको भगवान्‌के भेंट कर दिया। भगवान्‌ने उस मणिको ले जाकर उसके मालिक सत्राजित् यादवको दे दिया और सत्राजित् यादवने इस उपकारके बदलेमें अपनी कन्या सत्यभामाके साथ भगवान्‌का विवाह कर दिया और उस मणिको भी दहेजमें दे दिया। भगवान्‌ने सत्यभामाको तो स्वीकार कर लिया, किन्तु मणि लौटा दी। ये सत्यभामा भगवान्‌की अत्यन्त कृपापात्र महिषी थीं।

रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवतीके अतिरिक्त भगवान्‌की पाँच पटरानियाँ और थीं जिनके नाम थे—कालिन्दी, मित्रविन्दा, नाग्नजिती, लक्ष्मणा और भद्रा। इनमेंसे कालिन्दीने तपस्या करके भगवान्‌को प्राप्त किया, मित्रविन्दा-को भगवान् रुक्मिणीकी भाँति हरण करके लाये, नग्नजित्‌की कन्या सत्याको शुल्करूपमें सात उद्दण्ड बैलोंको एक साथ नाथकर लाये, भद्राको उसके बान्धवोंके आग्रह करनेपर विवाह किया और मद्रदेशकी राजकन्या लक्ष्मणाको भगवान् अकेले ही स्वयंवरमें सब राजाओंका तिरस्कार करके हर ले आये।

इसके बाद भगवान्‌ने इन्द्रकी प्रार्थनापर भौमासुर अथवा नरकासुरनामक दैत्यकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर-पर चढ़ाई की और उसका वध करके उसके स्थानपर उसके पुत्र भगदत्तको अभिषिक्त किया। उस भौमासुरके यहाँ नाना देशके राजाओंसे हरण करके लायी हुई सोलह हजार एक सौ कन्याएँ थीं। उन्होंने भगवान्‌के दर्शन कर मन-ही-मन उन्हें पतिरूपमें वरण कर लिया और भगवान्‌ने भी उनका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उन्हें द्वारका भेज दिया। भौमासुर इन्द्रकी माता अदितिके कुण्डल हरण कर लाया था, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रलोकमें जाकर इन्द्रकी माताको वापिस दे आये और वहाँसे लौटते समय इन्द्रादि देवताओंको जीतकर सत्यभामाकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये पारिजातका वृक्ष अपने साथ लेते आये और उसे सत्यभामाके महलोंके पास लगा दिया।

द्वारकामें लौटकर भगवान्‌ने उन सोलह हजार एक सौ कन्याओंके साथ एक ही समय उतने ही रूप धारण कर अलग-अलग विवाह किया और उसी प्रकार लक्ष्मीकी अंशरूपा उन स्त्रियोंके साथ अलग-अलग रहने लगे और वे सब भी सेवाके द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करने लगीं।

शोणितपुरके राजा, महाभागवत बलिके पुत्र बाणासुरकी कन्या ऊषाने एक बार स्वप्नमें प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धको देखा और उसी समयसे वह उन्हें पतिरूपमें मानने लगी। उसने युक्तिसे एक बार उन्हें अपने महलोंमें बुलाया और उन्हें बड़े ही सुखपूर्वक वहीं अपने पास महलोंमें ही रख लिया। जब उसके पिताको इस बातकी खबर लगी तो वह बहुत रुष्ट हुआ और उसने अनिरुद्धको कैद कर लिया। जब यह संवाद श्रीकृष्णके पास पहुँचा तो वे बड़ी भारी सेना लेकर शोणितपुर पहुँचे। वहाँ उनका बाणासुरके साथ घमासान युद्ध हुआ। बाणासुर भगवान् शङ्करका बड़ा भक्त था, अतः साक्षात् शङ्कर भी उसकी सहायता-के लिये आये और उनका भगवान् श्रीकृष्णके साथ कई दिनतक संग्राम चला। अन्तमें भगवान् शङ्करके अनुरोधसे श्रीकृष्णने उसकी भुजाओंको छेदन कर उसे अभय दे दिया और ऊषा तथा अनिरुद्धको साथ लेकर भगवान् अपनी राजधानीको लौट आये।

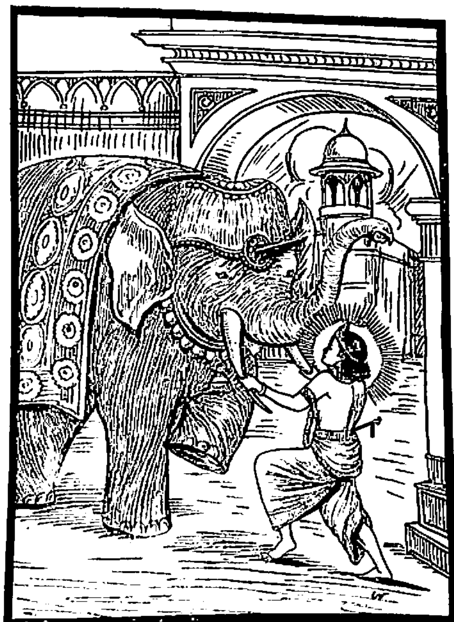
एक समय एक बगीचेमें खेलते हुए कुछ यादव-बालकों-को एक अन्धे कुएँमें एक पर्वताकार गिरगिट दिखायी दिया। उसे कुएँमेंसे निकालनेकी उन बालकोंने बहुत चेष्टा की, परन्तु वे उस कार्यमें असफल रहे। तब वे श्रीकृष्णको वहाँ बुला लाये और उनके स्पर्शमात्रसे ही वह गिरगिटके रूपको त्यागकर देवरूप हो गया। वह राजा नृग था, जो भूलसे एक ब्राह्मणकी गौ दान देनेके कारण उस नीच योनिको प्राप्त हुआ था।



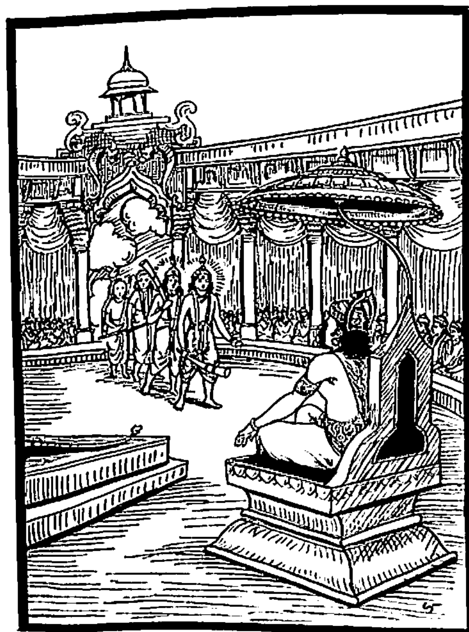
अक्रूरके भाग्य



धनुर्भङ्ग



कुबलयापीड-उद्धार



कंसके दरबारमें

एक बार करूषदेशके राजा पौण्ड्रकने 'असली वासुदेव मैं हूँ' ऐसा मानकर भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा और उनको युद्धके लिये ललकारा। उसने यह चुनौती अपने मित्र काशिराजके यहाँसे भेजी थी, अतः भगवान् श्रीकृष्णने उसकी चुनौतीको स्वीकार कर काशीनगरीपर चढ़ाई कर दी और मित्रसहित उस मिथ्या वासुदेवको मारकर वे द्वारकाको लौट आये। इधर काशिराजका पुत्र सुदक्षिण अपने पिताके वधका बदला लेनेके लिये अभिचारविधिका प्रयोग करता हुआ अग्निकी आराधना करने लगा। विधिके पूर्ण होनेपर हवन-कुण्डमेंसे एक अति भयानक अग्नि उत्पन्न हुई, जो दसों दिशाओंको जलाती हुई द्वारकापर चढ़ दौड़ी। भगवान्ने उसे माहेश्वरी कृत्या जानकर उसका शमन करनेके लिये सुदर्शन चक्रको आज्ञा दी। चक्रसे पीडित होकर वह कृत्या काशीको लौट गयी और उसने ऋत्विजोंसहित स्वयं सुदक्षिण-को ही जला दिया। सुदर्शन चक्र भी उसके पीछे-पीछे काशी गया और सारी नगरीको जलाकर वापिस लौटा।

एक बार देवर्षि नारदजी 'भगवान् गृहस्थाश्रममें रहकर किस प्रकार रहते हैं?' यह देखनेकी इच्छासे द्वारकामें गये। वे अलग-अलग सब रानियोंके महलोंमें गये और सब जगह उन्होंने श्रीकृष्णको गृहस्थका यथायोग्य बर्ताव करते हुए पाया। वे प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतकका समस्त दैनिक कृत्य भिन्न-भिन्न रूपोंमें विधिवत् करते थे। सभामें जानेके समय वे घरोंसे निकलते हुए अलग-अलग रूपमें दिखायी देते थे और फिर एकरूप होकर सभामें प्रवेश करते थे। यह सब देखकर नारदजी दंग रह गये और भगवान्की स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

भगवान् श्रीकृष्णकी दैनिकचर्या आदर्श थी। आप ब्राह्म मुहूर्तमें उठते, तदनन्तर ध्यान करते, फिर स्नान-सन्ध्यादि-से निवृत्त होकर हवन करते और गायत्रीका जाप करते। फिर तर्पण करके गुरुजनोंकी और ब्राह्मणोंकी पूजा करते। तत्पश्चात् सोनेसे मँढे हुए सींग तथा चाँदीसे मँढे हुए खुरोंवाली तथा मोतीकी मालाएँ पहनी हुईं, एक बारकी ब्यायी, दूधवाली बछड़ेसहित ८४०१३ गौएँ प्रतिदिन दान करते।

महाराज युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञका उपक्रम किया। इसके लिये देशभरके राजाओंको जीतना आवश्यक था। उनमें सबसे बलवान् जरासन्ध था। उसे द्वन्द्वयुद्धके द्वारा जीतनेके अभिप्रायसे भीमसेन, अर्जुन और श्रीकृष्ण तीनों ब्राह्मणका वेश बनाकर उसकी राजधानी गिरिव्रजमें गये। वहाँ भीमसेनके द्वारा जरासन्धको मरवाकर भगवान्ने पाण्डवोंकी विजयमें एक बड़ा भारी कण्टक दूर कर दिया और साथ ही उसके यहाँ जो बीस हजार आठ सौ राजा कैद थे उन्हें मुक्ति दिलवाकर अपने-अपने राज्यमें भेज दिया।

इसके बाद राजसूय यज्ञकी तैयारी हुई। भगवान्ने यज्ञमें आये हुए ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम स्वीकार किया। वहाँ सबसे पहले सभापतिका पूजन आवश्यक था। सभापतिके आसनके लिये सर्वसम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्ण चुने गये। और तदनुसार धर्मराजने सर्वप्रथम उन्हींकी पूजा की और उनके त्रिलोकपावन चरणामृतको मस्तकपर चढ़ाया। उपस्थित सभी सदस्योंने जय-जयकार किया और देवताओंने पुष्पवृष्टि की। भगवान्के इस उत्कर्षको शिशुपाल नहीं सह सका और वह आवेशमें आकर उन्हें अनेक प्रकारके दुर्वचन कहने लगा। भगवान्ने चक्रसे उसके सिरको धड़से अलग कर दिया और सबके देखते-देखते उसकी देहमेंसे निकला हुआ जीवरूपी तेज भगवान्के अंदर प्रविष्ट हो गया।

शिशुपालका एक मित्र शाल्व नामका राजा था। वह अपने मित्रके वधका बदला लेनेके लिये अपना सौभ नामक विमान तथा बड़ी भारी सेना लेकर द्वारका नगरीपर चढ़ दौड़ा। भगवान् उन दिनों हस्तिनापुर थे। वे अनिष्टकी शङ्कासे तुरंत द्वारका चले आये। वहाँ आते ही उन्होंने शाल्वको युद्धके लिये ललकारा और गदासे उसके विमानको चूर-चूरकर चक्रसे उसके मस्तकका छेदन कर दिया।

शाल्वके मारे जानेपर शिशुपालका बड़ा भाई दन्तवक्त्र अकेला गदा हाथमें लेकर पैदल ही श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ा। श्रीकृष्णने उसका भी गदाके प्रहारसे बात-की-बातमें काम तमाम कर दिया। शिशुपालकी भाँति उसके शरीरसे भी एक सूक्ष्म तेज निकलकर भगवान्के अंदर प्रवेश कर गया। उसके बाद उसका भाई विदूरथ युद्ध करने आया और भगवान्ने उसका भी मस्तक चक्रके द्वारा धड़से अलग कर दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि सुदामा भगवान्के गुरुभाई थे। ये अत्यन्त दरिद्र थे। आये दिन उपवास होता था। परन्तु ये इतने निःस्पृह थे कि किसीसे कुछ कहते-सुनते न थे। एक दिन लगातार कई उपवास होनेके कारण तंग आकर इनकी स्त्रीने इन्हें अपने बालसखा श्रीकृष्णके पास जानेकी प्रेरणा की। किसीसे कुछ माँगनेकी इच्छा न होनेपर भी भगवान्के दर्शनके लोभसे ये द्वारका पहुँचे। वहाँ भगवान्ने बड़े प्रेमसे इनका आदर-सत्कार किया और आते समय इनके बिना ही जाने इन्हें मालामाल कर दिया।

एक बार सूर्यग्रहणके अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यादव-परिवारके साथ पर्वस्नानके लिये कुरुक्षेत्र गये। वहाँ नन्दादि गोपगण भी आये थे। सब लोग चिरकालके बाद एक-दूसरेसे मिलकर बड़े ही प्रसन्न हुए। नन्द-यशोदा तथा गोपीजन तो श्रीकृष्ण-बलरामको देखकर इतने प्रसन्न हुए मानो सूखे धानपर जल गिर गया हो।

वहीं सब ऋषि-महर्षि भी पधारे थे। भगवान्ने उनकी महिमा गायी। ऋषियोंने भगवान्का महत्त्व कहा। फिर वसुदेवजीने यज्ञ किया। तदनन्तर भगवान्ने अपने पिता वसुदेवजीको ज्ञान प्रदान किया।

एक बार गुरु सान्दीपनिकी गुरुदक्षिणाका वृत्तान्त स्मरणकर माता देवकीने अपने दोनों पुत्रोंके सामने यह इच्छा प्रकट की कि जिस प्रकार तुमने मरे हुए गुरुपुत्रको लाकर अपने गुरुको दिया था, उसी प्रकार मैं भी कंसके द्वारा मारे हुए तुम्हारे छः भाइयोंको देखना चाहती हूँ। इसपर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों सुतल लोकमें जाकर वहाँसे अपने छहों भाइयोंको ले आये और माताको सौंप दिया। माताने बड़े प्रेमसे उनका आलिङ्गन किया और उन्हें स्तनपान कराया और फिर उनको विदा कर दिया।

मिथिलापुरीमें श्रुतदेव नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह श्रीकृष्णका परम भक्त था। उस देशका राजा बहुलाश्व भी भगवान्की बड़ी भक्ति करता था। उन दोनोंपर ही कृपा करनेके लिये भगवान् एक बार मिथिलापुरी गये। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों ही भगवान्के चरणोंपर गिरे और दोनोंने ही एक साथ अपने-अपने घर पधारनेके लिये भगवान्से प्रार्थना की। भगवान्ने दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार की और उनको न जनाते हुए ही दो स्वरूप धारण करके एक ही साथ दोनोंके घर जाकर उनको कृतार्थ किया।

पाण्डवोंके साथ भगवान्का बड़ा ही स्नेहका सम्बन्ध था। वे सदा उनके हितचिन्तनमें ही लगे रहते थे।

द्रौपदीके स्वयंवरमें ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए पाण्डवोंको भगवान्ने पहचान लिया और फिर वहीं पाण्डवोंको मणि, रत्न, गहने, स्वर्ण, वस्त्र, गृहसामग्री, दास-दासी, असंख्य रथ और हाथी-घोड़े देकर अतुलित ऐश्वर्यशाली बना दिया।

पाण्डव जब वनमें थे तो भगवान् उनसे मिलने गये। द्रौपदीने रो-रोकर अपनी दुःखकथा सुनायी। भगवान्ने वहीं कौरवकुलके नाशकी घोषणा कर दी और द्रौपदीको आश्वासन देकर वे वहाँसे विदा हो गये।

एक बार दुर्योधनने छलपूर्वक दुर्वासाजीको पाण्डवोंके पास भेजा। भगवान्ने वहाँ जाकर द्रौपदीकी बटलोईमेंसे एक पत्ता ढूँढ़ निकाला और उसे खाकर सारे विश्वको तृप्त कर दिया और इस तरह दुर्वासाके शापसे पाण्डवोंकी रक्षा की।

कौरवोंको समझानेके लिये भगवान् जब दूत बनकर हस्तिनापुर जाने लगे, तब एकान्तमें द्रौपदीने आकर उन्हें अपने खुले केश दिखलाये और दुःशासनके अत्याचारकी बात याद दिलायी। भगवान्ने आश्वासन देकर उसे सन्तुष्ट किया। हस्तिनापुरकी राहमें ऋषियोंका एक समूह मिला और सब ऋषियोंने हस्तिनापुर जाकर भगवान्के भाषण सुननेकी इच्छा प्रकट की और भगवान्की अनुमतिसे सबने वहाँ जाकर भगवान्का भाषण सुना।

कौरव-सभामें भगवान्ने नाना प्रकारकी युक्ति-प्रयुक्तियोंसे दुर्योधनको समझानेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु उसने भगवान्की एक न सुनी और छलसे भगवान्को कैद करना चाहा। तब भगवान्ने उसे डाँटकर अपना दिव्य तेजोमय विराट् रूप दिखलाया। भगवान्के प्रत्येक रोम-कूपसे सूर्यकी किरणें निकल रही थीं और उनके नेत्रों, नासिकाओं और कर्णोंसे आगकी लपटें! भगवान्के इस रूपको देखकर सब चौंधिया गये। द्रोण, भीष्म, विदुर, सञ्जय और तपोधन ऋषियोंने भगवान्का यह स्वरूप देखा। फिर भगवान्ने विदुरके घर जाकर भोजन किया और वहाँसे लौट गये।

महाभारत-युद्धके लिये अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही भगवान्के पास पहुँचे। उनके इच्छानुसार भगवान्ने दुर्योधनको अपनी सेना और अर्जुनको अपनेको सौंपकर समदर्शिता और भक्तवत्सलताका प्रत्यक्ष परिचय दिया। महाभारत-युद्धमें भगवान्ने अर्जुनके सारथिका काम किया और पाण्डवोंकी ओरसे प्रायः सारे ही काम भगवान्ने अपनी सलाहसे करवाये। नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे, ऐन मौकोंपर मौतके मुँहसे अर्जुनको बचाया और अन्तमें कौरवोंका संहार करवाकर पाण्डवोंको विजयी बनाया। इसी महाभारत-युद्धके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको दिव्य गीताका उपदेश दिया और विराट्रूप दिखलाया तथा अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमतत्त्वका निरूपण किया।

उत्तराके गर्भमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे परीक्षित्को बचाया। भीष्मके द्वारा सबको ज्ञानका उपदेश करवाया। अश्वमेध-यज्ञमें पाण्डवोंकी सहायता की और अर्जुनको अनुगीताका उपदेश दिया।



देवताओंद्वारा अर्जुनको अस्त्रदान

तदनन्तर द्वारकाको लौटते हुए रास्तेमें महर्षि उत्तङ्कपर कृपा की और उन्हें अपना विराट् रूप दिखलाकर कृतार्थ किया। द्वारकामें अनेकों लीलाएँ कीं। गान्धारीके और ऋषियोंके शापसे यदुकुलका संहार हुआ। तदनन्तर व्याधके बाणको निमित्त बनाकर भगवान्ने अपनी इच्छासे परम धामको प्रयाण किया। उस समय वहाँ ब्रह्माजी, भवानीसहित श्रीशङ्करजी, इन्द्रादि तमाम देवता, प्रजापति, समस्त मुनि, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि आये और गान करते हुए भगवान्की लीलाका वर्णन करने लगे। पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और आकाश विमानोंकी कतारोंसे भर गया। भगवान् अपने दिव्य देहसे ऊपर उठते हुए सबके देखते-ही-देखते अपने परम धाममें प्रविष्ट हो गये। उन्हींके साथ-साथ सत्य, धर्म, धृति और कीर्ति भी चली गयी। ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता भगवान्की कीर्तिका बखान करते हुए अपने-अपने लोकोंको चले गये।

भक्तवर अर्जुन

गीताके पात्रोंमें दूसरा नंबर अर्जुनका है। अर्जुन 'नर' ऋषिके अवतार और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी थे। ये कुन्तीदेवीके सबसे छोटे पुत्र थे। अर्जुनमें स्वाभाविक ही इतने गुण थे कि जिनके कारण वे भगवान्के इतने प्रिय पात्र हो सके। उनका बल, रूप और लावण्य अपार था। शूरता, वीरता, सत्यवादिता, क्षमा, सरलता, प्रेम, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, बड़े भाईकी भक्ति, बुद्धि, विद्या, इन्द्रियसंयम, ब्रह्मचर्य, मनोनिग्रह, आलस्यहीनता, कर्मप्रवणता, शस्त्रज्ञान, शास्त्रज्ञान, दया, प्रेम, निश्चय, व्रतपरायणता, निर्मत्सरता और बहुमुखी अभिज्ञता आदि गुण इनके जीवनमें ओतप्रोत थे। इन्होंने द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी। अपनी गुरुभक्तिसे द्रोणाचार्यको इन्होंने इतना प्रसन्न कर लिया था कि वे अपने पुत्र अश्वत्थामाको भी न सिखाकर गुप्त-से-गुप्त अस्त्रोंका प्रयोग इन्हें सिखाते थे।

शिक्षा समाप्त होनेपर एक दिन गुरुने सबकी परीक्षा लेनी चाही। पेड़पर एक नकली पक्षीको बैठाकर उसीके सिरको निशाना बनाया गया। युधिष्ठिर आदि सबसे द्रोणाचार्यने पूछा कि तुमको क्या दीख रहा है। सबने कई चीजें बतलायीं। आखिर अर्जुनने कहा कि 'मुझको तो केवल पक्षीका सिर दीख रहा है।' द्रोणने आनन्दमें भरकर कहा—'बस, तुम बाण चलाओ। लक्ष्यका ध्यान इसी प्रकार करना चाहिये।'

एक बार द्रोणाचार्य अपने शिष्योंके साथ गङ्गाजी नहाने गये। जलमें उतरते ही एक मगरने उनकी जाँघ पकड़ ली। आचार्यने समर्थ होते हुए भी शिष्योंकी परीक्षाके लिये पुकारकर कहा—'इस मगरको मारकर कोई मेरी रक्षा करो।' द्रोणाचार्यकी बात पूरी होनेके पहले ही अर्जुनने पाँच बाण मारकर जलमें डूबे हुए मगरका काम तमाम कर दिया।

आचार्यकी प्रसन्नताके लिये ही उनके आज्ञानुसार अर्जुनने द्रुपदको जीतकर बंदीके रूपमें उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया था।

स्वयंवरमें द्रौपदीको अर्जुनने जीता था, परन्तु माता कुन्तीके कथनानुसार पाँचों भाइयोंसे उनका विवाह हुआ। द्रौपदीको पूर्वजन्मका वरदान था, इसीसे ऐसा हुआ। द्रौपदीके सम्बन्धमें पाँचों भाइयोंने यह नियम बना रक्खा था कि जिस समय एक भाई उनके पास रहे उस समय चारों भाइयोंमेंसे कोई भी उस कमरेमें न जाय और यदि कोई जाय तो उसे बारह वर्षका वनवास हो। एक बार द्रौपदीके महलमें महाराज युधिष्ठिर थे। उस समय एक ब्राह्मणकी गायोंको चोरोंसे छुड़ानेके लिये अर्जुनको अस्त्र लेनेको अंदर जाना पड़ा और युधिष्ठिरके समझानेपर भी अर्जुनने नियमानुसार बारह वर्षका वनवास स्वीकार किया।

अर्जुन तीर्थोंमें घूमते रहे। इसी बीच नागकन्या उलूपी उन्हें मिली और मणिपुरमें राजकुमारी चित्राङ्गदासे उनका विवाह हुआ। एक बार अर्जुन ऐसे स्थानमें गये जहाँ पाँच तीर्थ थे, पर उनमें पाँच बड़े भारी ग्राह रहनेके कारण कोई वहाँ नहाता नहीं था। अर्जुन उन सरोवरोंमें नहाये और शापसे ग्राह बनी हुई पाँच अप्सराओंको शाप-मुक्त किया।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ इनका बड़ा प्रेम था। वे इनके साथ घूमते और जल-विहार किया करते थे। अग्निको तृप्त करनेके लिये इन्होंने खाण्डव-वनका दाह किया। वहीं अग्निके द्वारा इन्हें दिव्य रथ और गाण्डीव धनुषकी प्राप्ति हुई। वहीं इन्द्रने आकर इनसे वरदान माँगनेको कहा। अर्जुनने दिव्य अस्त्र माँगे और परम प्रेमी भगवान्ने इन्द्रसे यह वर माँगा कि 'अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे।'

वनमें महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे अर्जुनने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया। फिर इन्द्रके द्वारा बुलाये जानेपर ये स्वर्गमें गये। वहाँ इन्द्रने अपने आधे आसनपर बैठाकर इनका बड़ा सम्मान किया। वहीं इन्होंने गन्धर्वोंके द्वारा गान और नृत्यकी शिक्षा प्राप्त की।

स्वर्गमें उर्वशीने एकान्तमें अर्जुनके पास जाकर उनसे काममिक्षाकी प्रार्थना की। अर्जुनने साफ कह दिया कि मैं दिक्पालोंको साक्षी करके कहता हूँ कि 'जैसे कुन्ती, माद्री और देवी इन्द्राणी मेरी पूजनीया माताएँ हैं, वैसे ही आप भी हैं। मैं तो आपका पुत्र हूँ।' इसपर उर्वशीने कुपित होकर इन्हें एक सालतक नपुंसक होनेका शाप दे दिया। वही शाप अर्जुनके लिये वर हो गया और उसीके प्रभावसे वे सालभरतक कौरवोंसे छिपकर विराट-नगरमें बृहन्नलाके नामसे राजकुमारी उत्तराके नृत्य-गीत-शिक्षक बनकर विराटके महलोंमें रह सके।

निवात-कवचोंको मारकर अर्जुन स्वर्गसे लौटे और अपनी चिन्तामें व्याकुल धर्मराज, भीम आदि भाइयोंसे मिले। इन्द्रके सारथि मातलिके लौट जानेपर स्वर्गसे लाये हुए दिव्य रत्नाभूषणोंको अर्जुनने द्रौपदीको दिया।

अर्जुनने समस्त लोकपालोंको प्रसन्न करके उन सबसे नाना प्रकारके शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे।

वनमें पाण्डवोंको अपना वैभव दिखलाकर उन्हें ईर्ष्यासे जलानेके लिये दुर्योधन रानियोंको साथ लेकर वनमें गये। वहाँ गन्धर्वोंने दुर्योधनको परास्त करके कैद कर लिया। कर्ण इत्यादि सब भाग गये। बचे हुए मन्त्रियोंने युधिष्ठिरके पास जाकर सबको छुड़ानेकी प्रार्थना की। दुर्योधनादिके कैद होनेकी बात सुनकर भीम बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु धर्मराजने कहा कि 'भाई! आपसमें हम सौ और पाँच हैं, पर दूसरोंके लिये हम एक सौ पाँच हैं। फिर कौरवकुलकी स्त्रियोंका अपमान तो हम किसी तरह नहीं सह सकते। तुम चारों भाई जाओ और सबको छुड़ा लाओ।' आज्ञा पाकर अर्जुन गये। गन्धर्वोंसे घोर युद्ध किया। अन्तमें चित्रसेनने अर्जुनको अपनी मित्रताका स्मरण दिलाकर उनसे प्रेम कर लिया और दुर्योधन आदि सबको छोड़ दिया।

अज्ञातवासके समय विराट-नगरमें अर्जुन हिंजड़ेके रूपमें रहे और राजकुमारी उत्तराको नृत्य-गीतकी शिक्षा देने लगे। अन्तमें कौरवोंके आक्रमण करनेपर अर्जुनने बृहन्नलाके रूपमें ही उनको जीता और वीरोंके वस्त्राभूषण लाकर उत्तराको दिये। तदनन्तर महाभारत-युद्धकी तैयारी हुई और सब लोग युद्ध करनेके लिये कुरुक्षेत्रके मैदानमें इकट्ठे हुए। वहाँ भगवान्की आज्ञासे भगवती परमशक्तिरूपिणी दुर्गाजीको प्रसन्न करके अर्जुनने उनसे विजयका वरदान प्राप्त किया। ठीक युद्धकी तैयारीके समय गुरुजनों, स्वजनों और सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुनको सात्त्विक मोह हो गया और भगवान्ने उन्हें महान् अधिकारी समझकर गीताका उपदेश दिया और उसमें अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमयोगका रहस्य बतलाया तथा सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर अपनी शरणमें आनेके लिये आज्ञा दी। अर्जुनका मोह नष्ट हो गया। उन्होंने आज्ञा स्वीकार की और युद्ध आरम्भ हुआ। युद्धमें भगवान्ने अर्जुनके रथके घोड़े ही नहीं हाँके बल्कि एक प्रकारसे समस्त युद्धका सञ्चालन किया और हर तरहसे पाण्डवोंकी, खास करके अर्जुनकी रक्षा की।

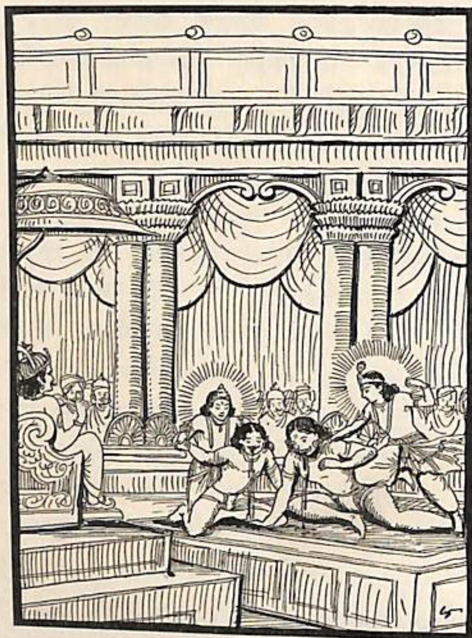
जिस दिन अर्जुनने सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथका वध करनेकी प्रतिज्ञा की, उस रातको भगवान् सोये नहीं और चिन्ता करते-करते उन्होंने अपने सारथि दारुकसे यहाँतक कह डाला कि 'मैं अर्जुनके विना एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता। कल लोग देखेंगे कि मैं सब कौरवोंका विनाश कर दूँगा।' इसीसे पता चलता है कि अर्जुनका भगवान्में कितना प्रेम था और उस प्रेम-लीलामें भगवान् कहाँतक क्या-क्या करनेको तुल जाते थे।

दूसरे दिनके भयङ्कर युद्धमें भगवान्ने बड़े ही कौशलसे काम किया। थके हुए घोड़ोंको युद्धक्षेत्रमें ही भगवान्ने धोया और उनके घावोंको साफ किया और अन्तमें अपनी मायासे सूर्यास्तका अभिनय दिखलाकर अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूरी करवायी और अर्जुनसे कहकर जयद्रथके सिरको बाणोंके द्वारा ऊपर-ही-ऊपर चलाकर जयद्रथके पिताकी गोदमें गिरवाया और इस तरह एक ही साथ उसका भी संहार करवा दिया।

एक बार कर्णने एक बड़ा तीक्ष्ण बाण चलाया, उसकी नोकपर भयानक सर्प बैठा हुआ था। बाण छूटनेकी देर थी कि भगवान्ने घोड़ेके घुटने टिकाकर रथके पहियोंको धरतीमें धँसा दिया। रथ नीचा हो गया और बाण निशानेपर न लगकर अर्जुनके मुकुटको गिराकर पार हो गया। इस तरह भगवान्ने अर्जुनकी रक्षा की।

महाभारत-युद्धके समाप्त होनेपर पाण्डवोंके अश्वमेध-यज्ञमें भगवान्ने अर्जुनकी बड़ी सहायता की और उसके बाद उन्हें अनुगीताका उपदेश दिया।

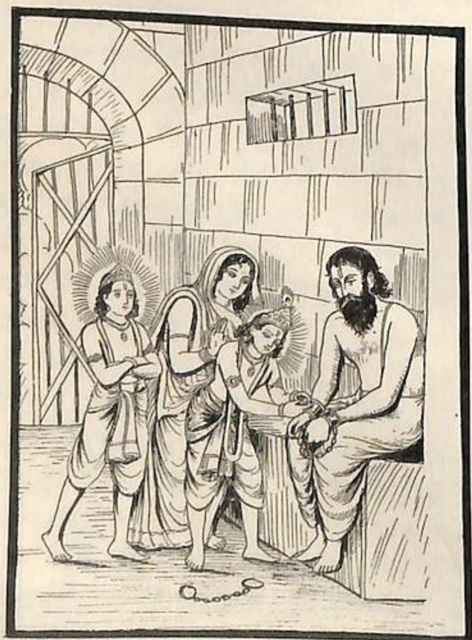
महाभारत-युद्धके पश्चात् छत्तीस वर्षतक पाण्डवोंके राज्य करनेपर भगवान्ने परमधामको प्रयाण किया। अर्जुन विलाप करते हुए धर्मराजके पास आये। तदनन्तर पाण्डवोंने भी हिमालयमें जाकर महाप्रस्थान किया।



चाणूर-मुष्टिक-उद्धार



कंस-उद्धार

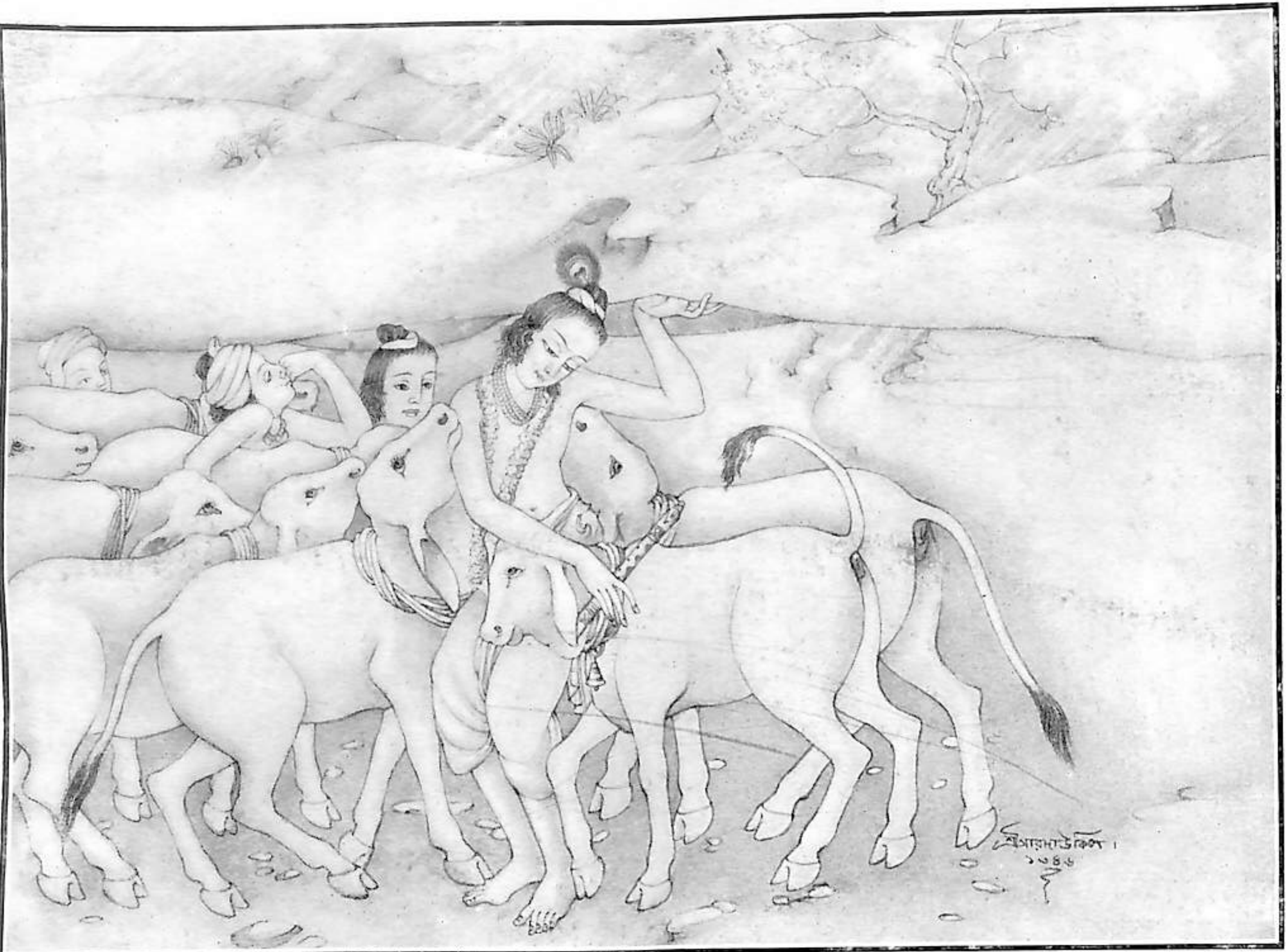


माता-पिताकी बन्धन-मुक्ति



उग्रसेनका राज्याभिषेक

गोवर्धन-धारण



सात दिवस जल बरस निसादिन ब्रज घर-घर आनंद ।
सूरदास ब्रज राखि लियो हरि गिरिवर कर नँदनंद ॥

गीता-माहात्म्य

(१)

शौनक उवाच

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद।
पुरा नारायणक्षेत्रे व्यासेन मुनिनोदितम्॥ १॥

श्रीशौनकजी बोले—हे सूतजी! पहले किसी समय नारायणक्षेत्रमें श्रीव्यासमुनिने जो गीताका माहात्म्य बताया था, उसे आप मुझसे ज्यों-का-त्यों कहिये॥ १॥

सूत उवाच

भद्रं भगवता पृष्टं यद्धि गुप्ततमं परम्।
शक्यते केन तद्वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम्॥ २॥
कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित्कुन्तीसुतः फलम्।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः॥ ३॥
अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं सङ्कीर्तयन्ति च।
तस्मात्किञ्चिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम्॥ ४॥

सूतजीने कहा—आपने यह बहुत उत्तम मङ्गलमय प्रश्न किया है; किन्तु जो बहुत ही गुप्त है, उस परम उत्तम गीता-माहात्म्यका ठीक-ठीक वर्णन कौन कर सकता है?॥ २॥ इसके माहात्म्यको ठीक-ठीक तो भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं; उनके बाद कुन्तीपुत्र अर्जुनको कुछ-कुछ इसका ज्ञान है; इनके अतिरिक्त व्यासजी, शुकदेवजी, याज्ञवल्क्य मुनि और मिथिलानरेश जनक भी थोड़ा-थोड़ा जानते हैं॥ ३॥ इनके सिवा दूसरे लोग तो केवल कानोंसे सुनकर लेशमात्र ही वर्णन करते हैं। अतः मैं भी गुरुदेव श्रीव्यासजीके मुखसे सुने हुए इस गीतामाहात्म्यका यहाँ किञ्चिन्मात्र वर्णन कर रहा हूँ॥ ४॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ ५॥
सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः॥ ६॥
संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः।
गीतानावं समासाद्य पारं यातु सुखेन सः॥ ७॥
गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम्॥ ८॥
ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम्।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः॥ ९॥

सम्पूर्ण उपनिषद् गौएँ हैं और गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहनेवाले (ग्वाले) हैं, अर्जुन उन गौओंके बछड़े हैं, तथा यह महत्त्वपूर्ण गीतारूप अमृत ही उसका दूध है और सुन्दर बुद्धिवाले विचारवान् पुरुष ही उस दूधका पान करनेवाले हैं॥ ५॥ जिन्होंने पूर्वकालमें अर्जुनके सारथिका काम करते हुए ही उन्हें गीतारूपी अमृत प्रदान किया और इस प्रकार तीनों लोकोंका उपकार किया, उन परमात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार है॥ ६॥ जो मनुष्य इस घोर संसार-समुद्रके पार होना चाहे, वह गीतारूपी नावका सहारा लेकर सुखपूर्वक इसके पार चला जाय॥ ७॥ जो मूर्ख सदा ही अभ्यासमें लगे रहकर गीता-ज्ञानका श्रवण [और अनुभव] तो नहीं कर सका, किन्तु केवल उस अभ्यास-योगके द्वारा ही मोक्षकी अभिलाषा रखता है, वह बच्चोंका उपहासपात्र होता है॥ ८॥ जो लोग दिन-रात नियमपूर्वक गीताका पाठ और श्रवण करते ही रहते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये, वे देवतारूप हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है॥ ९॥

गीताज्ञानेन सम्बोधं कृष्णः प्राहार्जुनाय वै।
भक्तितत्त्वं परं तत्र सगुणं चाथ निर्गुणम्॥ १०॥
सोपानाष्टादशैरेव भुक्तिमुक्तिसमुच्छ्रितैः।
क्रमशः चित्तशुद्धिः स्यात्प्रेमभक्त्यादिकर्मसु॥ ११॥
साधु गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्।
श्रद्धाहीनस्य तत्कार्यं हस्तिस्नानं वृथैव तत्॥ १२॥
गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम्।
स एव मानुषे लोके मोघकर्मकरो भवेत्॥ १३॥
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः।
धिक् तस्य मानुषं देहं विज्ञानं कुलशीलताम्॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीता-ज्ञानके द्वारा सम्यक् बोध और भक्तिके उत्तम रहस्यका उपदेश किया तथा उसमें अपने सगुण-निर्गुण स्वरूपका विवेचन किया॥ १०॥ भोग और मोक्षकी प्राप्तिके उपदेशोंसे जो अत्यन्त ऊँची हैं, उन गीताके अठारह अध्यायरूपी अठारह सीढ़ियोंसे ही क्रमशः आगे बढ़कर प्रेमपूर्वक भगवद्भजन आदि कर्मोंमें लगनेसे चित्त-शुद्धि होती है॥ ११॥ [श्रद्धापूर्वक] गीतारूपी सरोवरके जलमें स्नान करना बहुत ही अच्छा है; क्योंकि वह संसार-मलको नष्ट करनेवाला है। परन्तु श्रद्धाहीन

पुरुषके लिये यह कार्य हाथीके स्नानकी भाँति व्यर्थ ही है। (जैसे हाथी नहानेके बाद अपने शरीरपर धूल डाल लेता है, जिससे उसे स्नानका लाभ नहीं मिलता, उसी प्रकार श्रद्धाहीन-के चित्तमें गीताके उपदेशका असर नहीं होता) ॥ १२ ॥ जो गीताका पाठ करना या कराना नहीं जानता, वही इस मनुष्य-लोकमें व्यर्थ (जिनसे आत्माका कल्याण नहीं होता ऐसे) कर्म करनेवाला है ॥ १३ ॥ क्योंकि वह गीता नहीं जानता, अतः उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं है; उसके मानव-देह, विज्ञान, कुल और शीलको धिक्कार है! ॥ १४ ॥

गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक्छरीरं शुभं शीलं विभवं तद्गृहाश्रमम् ॥ १५ ॥
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् प्रारब्धं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महत्तमम् ॥ १६ ॥
गीताशास्त्रे मतिर्नास्ति सर्वं तन्निष्फलं जगुः ।
धिक् तस्य ज्ञानदातारं व्रतं निष्ठां तपो यशः ॥ १७ ॥
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ।
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसम्भवम् ॥ १८ ॥
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।
तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ।
सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते ॥ १९ ॥

जो गीताका अर्थ नहीं जानता, उससे बढ़कर नीच मनुष्य दूसरा कोई नहीं है; उसके सुन्दर शरीर, अच्छे स्वभाव, वैभव और गृहस्थ-आश्रमको भी धिक्कार है! ॥ १५ ॥ जिसे गीता-शास्त्रका ज्ञान नहीं है, उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं है;उसके प्रारब्ध, प्रतिष्ठा, पूजा और बहुत बड़े सम्मानको भी धिक्कार है! ॥ १६ ॥ गीता-शास्त्रमें जिसकी बुद्धि नहीं लगती, उसका उपर्युक्त सब कुछ निष्फल बताया गया है; गीताके विरुद्ध ज्ञान देनेवाले गुरुको तथा उसके व्रत, निष्ठा, तप और यशको भी धिक्कार है! ॥ १७ ॥ जिसके यहाँ गीताके अर्थका पठन-पाठन नहीं होता, उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं है। जिस ज्ञानका गीता अनुमोदन नहीं करती, वह आसुरी प्रकृतिके लोगोंके मस्तिष्ककी उपज है—ऐसा समझना चाहिये ॥ १८ ॥ वह (गीताविरुद्ध) ज्ञान वेदवेदान्तों-द्वारा निन्दित, धर्मसे रहित और व्यर्थ है; इसलिये सम्पूर्ण ज्ञानका उपदेश करनेवाली, समस्त शास्त्रोंकी सारभूत, धर्ममयी एवं परम विशुद्ध होनेके कारण यह गीता ही सबसे बढ़कर है ॥ १९ ॥

योऽधीते विष्णुपर्वाहे गीतां श्रीहरिवासरे ।
स्वपञ्जाग्रच्चलंस्तिष्ठञ्छत्रुभिर्न स हीयते ॥ २० ॥
शालग्रामशिलायां वा देवागारे शिवालये ।
तीर्थे नद्यां पठन् गीतां सौभाग्यं लभते ध्रुवम् ॥ २१ ॥
देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ।
यथा न वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥ २२ ॥
गीताधीता च येनापि भक्तिभावेन चोत्तमा ।
वेदशास्त्रपुराणानि तेनाधीतानि सर्वशः ॥ २३ ॥

जो वैष्णव-पर्वोंके दिन अथवा एकादशी आदिमें गीताका पाठ करता है तथा जो सोते-जागते, चलते, खड़े होते, सब समयमें गीताका स्वाध्याय करता रहता है, वह लौकिक शत्रुओं तथा काम-क्रोध आदि मानसिक वैरियोंसे भी पराभवको नहीं प्राप्त होता ॥ २० ॥ शालग्राम-शिलाके निकट, देवालय, शिवमन्दिर और तीर्थमें अथवा नदीके तटपर गीताका पाठ करनेवाला मनुष्य अवश्य ही सौभाग्य प्राप्त करता है ॥ २१ ॥ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण गीताका पाठ करनेसे जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे वेदोंके स्वाध्याय, दान, यज्ञ और व्रत आदिसे भी नहीं होते ॥ २२ ॥ जिसने उत्तम गीताशास्त्रका भक्तिभावसे अध्ययन किया है उसने मानो सभी वेद, शास्त्र और पुराणोंका अध्ययन कर लिया ॥ २३ ॥

योगिस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च ।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन् सिद्धिं परां लभेत् ॥ २४ ॥
गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने ।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥ २५ ॥
यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयत्येव यः परम् ।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥ २६ ॥
गीतायाः पुस्तकं शुद्धं योऽर्पयत्येव सादरात् ।
विधिना भक्तिभावेन तस्य भार्या प्रिया भवेत् ॥ २७ ॥
यशः सौभाग्यमारोग्यं लभते नात्र संशयः ।
दयितानां प्रियो भूत्वा परमं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
अभिचारोद्भवं दुःखं वरशापागतं च यत् ।
नोपसर्पन्ति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥ २९ ॥
तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिर्भवेत्क्वचित् ।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिर्नरकं न च ॥ ३० ॥

योगियोंके स्थानमें, सिद्धपीठमें, शालग्राम-शिलाके सम्मुख, संतोंकी गोष्ठीमें, यज्ञमें तथा किसी विष्णुभक्त पुरुषके

आगे गीताका पाठ करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ २४ ॥ जो प्रतिदिन गीताका पाठ और श्रवण करता है, उसने मानो अश्वमेध आदि सभी यज्ञ दक्षिणासहित सम्पन्न कर लिये ॥ २५ ॥ जो गीताके अर्थका श्रवण करता है और जो दूसरोंके सामने उसका वर्णन करता है तथा जो दूसरोंके लिये गीता सुनाया करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ जो विधिपूर्वक बड़े आदर-सत्कार और भक्तिभावसे गीताकी शुद्ध पुस्तक किसी विद्वान्‌को केवल अर्पणमात्र करता है, उसकी पत्नी सदा उसके अनुकूल रहती है ॥ २७ ॥ और वह यश, सौभाग्य एवं आरोग्य लाभ करता है तथा प्यारी पत्नी आदिका प्रेमभाजन होकर उत्तम सुख भोगता है—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २८ ॥ जिस घरमें प्रतिदिन गीताकी पूजा होती है, [शत्रुद्वारा किये हुए मारण-उच्चाटन आदि] अभिचार-यज्ञोंसे प्राप्त हुए दुःख तथा किसी श्रेष्ठ पुरुषके शापसे होनेवाले कष्ट, उस घरके समीप ही नहीं जाते ॥२९॥ इतना ही नहीं, वहाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन त्रिविध तापोंसे होनेवाली पीडा तथा रोग किसीको नहीं होते। शाप, पाप, दुर्गति और नरकका कष्ट भी किसीको नहीं भोगना पड़ता ॥ ३० ॥

विस्फोटकादयो देहे न बाधन्ते कदाचन।
लभेत् कृष्णपदे दास्यं भक्तिं चाव्यभिचारिणीम् ॥ ३१ ॥
जायते सततं सख्यं सर्वजीवगणैः सह।
प्रारब्धं भुञ्जतो वापि गीताभ्यासरतस्य च ॥ ३२ ॥
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते।
महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत्।
न किञ्चित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥ ३३ ॥
अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादिकृतं च यत्।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पृश्यस्पर्शजं तथा ॥ ३४ ॥
ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत्।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥ ३५ ॥
सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिगृह्य च सर्वशः।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥ ३६ ॥
रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्याविधानतः।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धस्फटिकवत्सदा ॥ ३७ ॥

जो गीताके अभ्यासमें लगा रहता है, उसके शरीरमें चेचकके फोड़े आदि कभी बाधा नहीं पहुँचाते; वह भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें दासभाव तथा अनन्यभक्ति प्राप्त कर लेता है। प्रारब्ध-भोग करते हुए भी उसका सभी जीवोंके साथ सदा सख्यभाव बना रहता है ॥ ३१-३२ ॥ गीताका स्वाध्याय करनेवाला मनुष्य यदि [कभी] महापातक आदि पाप भी कर बैठता है तो उन पापोंसे उसका कुछ भी स्पर्श नहीं होता, जैसे कमलका पत्ता जलसे कभी लिप्त नहीं होता ॥ ३३ ॥ अनाचार, दुर्वचन (गाली आदि), अभक्ष्य-भक्षण तथा नहीं छूनेयोग्य वस्तुके स्पर्शसे होनेवाले, जानकर अथवा अनजानमें किये हुए और प्रतिदिन इन्द्रियोंद्वारा घटित होनेवाले जितने भी पाप हैं—वे सब-के-सब गीताका पाठ करनेसे तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४-३५ ॥ जो सब जगह भोजन कर लेता है और सबसे दान लेता है, वह भी यदि गीताका पाठ करता है तो उन पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ३६ ॥ रत्नोंसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वीका अविधिपूर्वक दान स्वीकार करके भी गीताका एक ही बार पाठ करनेसे मनुष्य सदा शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल बना रहता है ॥ ३७ ॥

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा।
स साग्निकः सदा जापी क्रियावान् स च पण्डितः ॥ ३८ ॥
दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि।
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥ ३९ ॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥ ४० ॥
निवसन्ति सदा देहे देहशेषेऽपि सर्वदा।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनो देहरक्षकाः ॥ ४१ ॥
गोपालो बालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ ४२ ॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा।
मोदते तत्र भगवान् कृष्णो राधिकया सह ॥ ४३ ॥

जिसका चित्त सदा ही गीतामें रमा रहता है, वही अग्निहोत्री है, वही सदा मन्त्र-जप करनेवाला है और वही कर्मनिष्ठ एवं पण्डित है ॥ ३८ ॥ वही दर्शनीय है, वही धनी है, वही योगी और ज्ञानवान् है तथा वही यज्ञ करानेवाला, यजमान और सम्पूर्ण वेदोंके अर्थका ज्ञाता है ॥ ३९ ॥ जहाँ गीताकी पुस्तक रहती है तथा जहाँ गीताका नित्य पाठ होता रहता है, उस स्थानपर और पाठ करनेवालेके शरीरमें प्रयाग आदि सभी तीर्थ सदा निवास करते हैं। उसका देहान्त हो जानेपर भी उसके शवमें उक्त तीर्थ वास करते हैं। तथा जीवनकालमें सभी देवता, ऋषि और योगीजन उसके शरीरकी रक्षा करते रहते हैं ॥ ४०-४१ ॥ जहाँ गीता-पाठ होता रहता है, वहाँ गोपालक भगवान्

बालकृष्ण भी नारद, ध्रुव आदि अपने पार्षदोंके साथ शीघ्र ही सहायताके लिये उपस्थित हो जाते हैं ॥ ४२ ॥ जहाँ गीतासम्बन्धी विचार और उसका पठन-पाठन होता रहता है, वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधिकाजीके साथ विराजमान हो अत्यन्त प्रसन्न होते हैं ॥ ४३ ॥

श्रीभगवानुवाच

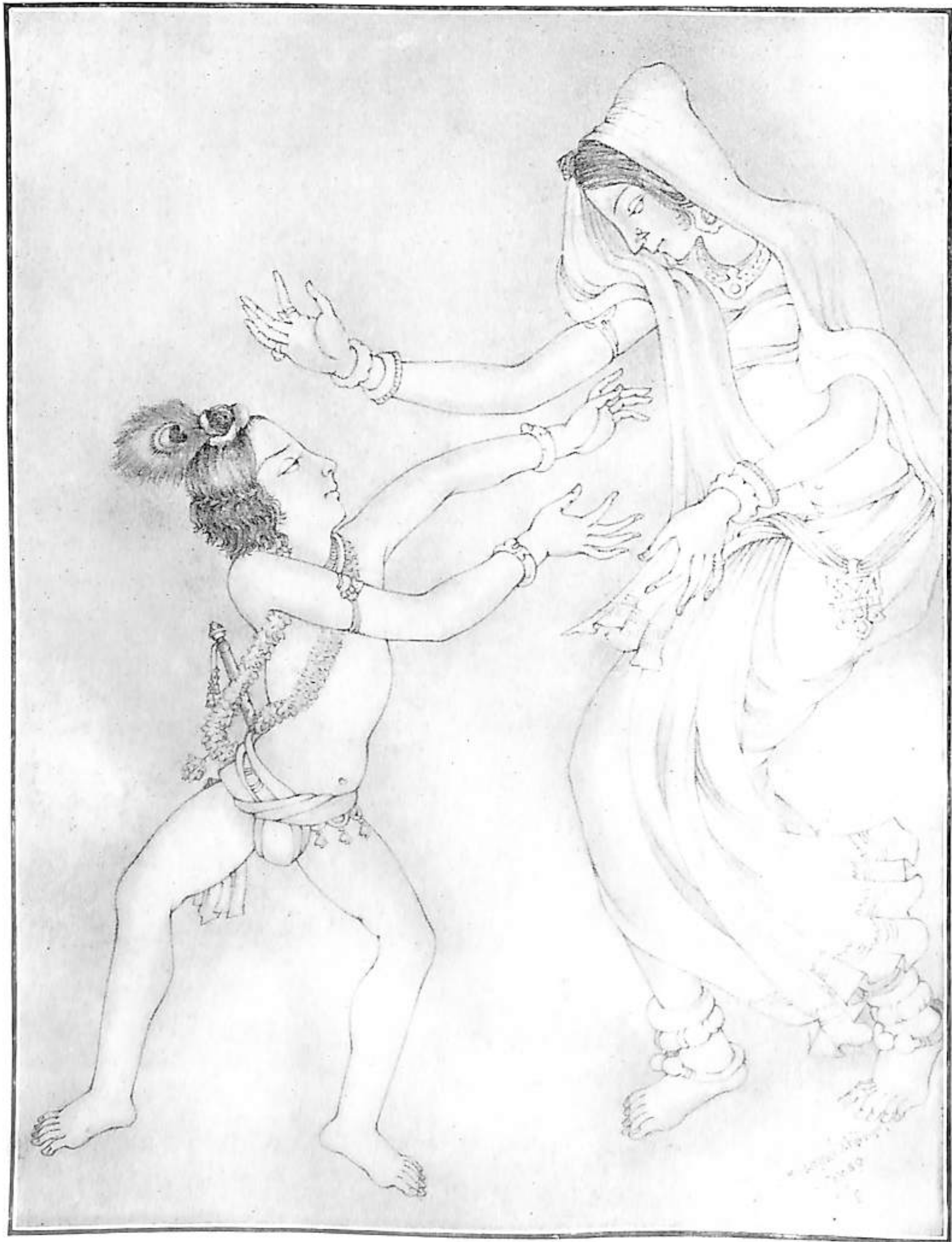
गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥ ४४ ॥
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥ ४५ ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥ ४६ ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्द्धमात्रा परा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ४७ ॥
गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव ।
कीर्तनात्सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥ ४८ ॥
गङ्गा गीता च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ।
ब्रह्मवल्ली ब्रह्मविद्या त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी ॥ ४९ ॥
अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥ ५० ॥
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेन्नित्यं तथान्ते परमं पदम् ॥ ५१ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम तत्त्व है, गीता मेरा अत्यन्त तेजस्वी और अविनाशी ज्ञान है, गीता मेरा उत्तम स्थान है, गीता मेरा परमपद है, गीता मेरा परम गोपनीय रहस्य है और मेरी यह गीता [श्रद्धालु जिज्ञासुओंके लिये] अत्युत्तम गुरु है ॥ ४४-४५ ॥ मैं गीताके ही आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम गृह है, गीता-ज्ञानका ही आश्रय लेकर मैं तीनों लोकों-का पालन करता हूँ ॥ ४६ ॥ इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि मेरी यह गीता परा विद्या एवं ब्रह्मस्वरूपिणी है; यह अर्धमात्रा, सर्वोत्कृष्ट तथा नित्य अनिर्वचनीयस्वरूपा है ॥ ४७ ॥ हे पाण्डुनन्दन अर्जुन ! अब मैं तुमसे गीताके गोपनीय नाम बताऊँगा, तुम ध्यान देकर सुनो। इन नामोंका कीर्तन करनेसे सारे पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८ ॥ [वे नाम ये हैं—] गङ्गा, गीता, गायत्री, सीता, सत्या, सरस्वती, ब्रह्मवल्ली, ब्रह्मविद्या, त्रिसन्ध्या, मुक्तिगेहिनी, अर्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भ्रान्तिनाशिनी, वेदत्रयी, परानन्दा और तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥ ४९-५० ॥ जो मनुष्य स्थिरचित्त होकर इन नामोंका नित्य जप करता है, वह ज्ञानरूपा सिद्धिको प्राप्त कर लेता है और शरीरका अन्त होनेपर परमपदको पाता है ॥ ५१ ॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५२ ॥
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ॥ ५३ ॥
तथाध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम् ।
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद् ध्रुवम् ॥ ५४ ॥
एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ ५५ ॥
अध्यायार्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः ।
प्राप्नोति रविलोकं स मन्वन्तरसमाः शतम् ॥ ५६ ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्तपञ्चचतुष्टयम् ।
त्रिद्वयेकमेकमर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं तथा ॥ ५७ ॥
गीतार्थमेकपादं च श्लोकमध्यायमेव च ।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥ ५८ ॥
गीतार्थमपि पाठं वा शृणुयादन्तकालतः ।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥ ५९ ॥

यदि कोई गीताका प्रतिदिन पूरा पाठ करनेमें असमर्थ हो तो उसे आधी गीताका पाठ कर लेना चाहिये; ऐसा करनेसे उसे नित्य गोदान करनेका पुण्य प्राप्त होता है— इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ५२ ॥ प्रतिदिन एक तिहाई गीताका पाठ करनेवाला मनुष्य सोमयागका फल प्राप्त करता है । छठे अंशका नित्य पाठ करनेवाला मनुष्य गङ्गा-स्नानका फल पाता है ॥ ५३ ॥ दो अध्यायोंका नित्य-निरन्तर पाठ करनेवाला मनुष्य इन्द्रलोकको प्राप्त करता है और वहाँ निश्चितरूपसे एक कल्पतक निवास करता रहता है ॥ ५४ ॥ जो प्रतिदिन भक्तियुक्त होकर एक अध्यायका भी पाठ करता है, उसे रुद्रलोक प्राप्त होता है और वहाँ वह रुद्रका गण होकर चिरकालतक निवास करता है ॥ ५५ ॥ जो मनुष्य आधे या चौथाई अध्यायका भी नित्य पाठ करता है, वह सौ मन्वन्तरके वर्षोंतक सूर्यलोकमें निवास प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥ जो मनुष्य गीताके दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक अथवा आधे श्लोकका भी नित्य पाठ करता है, वह दस हजार वर्षोंतक चन्द्रलोकमें निवास पाता है ॥ ५७ ॥ गीताके एक

श्यामका मचलना



कन्हैया कनिया लेन कहै ।
मातु मने करि सुतहि खिजावति अतिहि प्रमोद लहै ॥

अध्याय, एक श्लोक अथवा एक पादके अर्थका स्मरण करते हुए देह-त्याग करनेवाला मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ५८ ॥ जो मनुष्य अन्तकालमें गीताके अर्थ या मूलपाठका भी श्रवण कर लेता है, वह महापातकसे युक्त होनेपर भी मोक्षका भागी हो जाता है ॥ ५९ ॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः ।
स वैकुण्ठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ६० ॥
गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥ ६१ ॥
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ।
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठप्रकीर्तिमत् ।
तत्तत्कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

जो गीताकी पुस्तक लिये हुए प्राणोंको त्यागकर महाप्रस्थान करता है, वह वैकुण्ठ-धामको प्राप्त होता और श्रीभगवान् विष्णुके साथ आनन्द भोगता है ॥ ६० ॥ गीताका पाठ होते समय मरा हुआ जीव मरकर पुनः मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है और उसमें गीताका पुनः अभ्यास करके उत्तम मोक्ष-गतिको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥ 'गीता' इस शब्दका उच्चारणमात्र करके मरनेवाला मनुष्य भी सद्गतिको प्राप्त हो जाता है । सभी जगह जो-जो कर्म गीताका पाठ और उच्चस्वरसे कीर्तन करते हुए सम्पन्न किया जाता है, वह सारा कर्म दोषरहित होकर पूर्णताको प्राप्त हो जाता है ॥ ६२ ॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति हि ।
सन्तुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यान्ति स्वर्गतिम् ॥ ६३ ॥
गीतापाठेन सन्तुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥ ६४ ॥
गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम् ।
कृत्वा च तद्दिने सम्यक् कृतार्थो जायते जनः ॥ ६५ ॥
पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः प्रकरोति यः ।
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवम् ॥ ६६ ॥
शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः ।
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ ६७ ॥
गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पमिताः समाः ।
विष्णुलोकमवाप्यान्ते विष्णुना सह मोदते ॥ ६८ ॥
सम्यक्छ्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ।
तस्मै प्रीतः श्रीभगवान् ददाति मानसेप्सितम् ॥ ६९ ॥

जो श्राद्धमें पितरोंके उद्देश्यसे गीताका पाठ करता है, उसके पितर सन्तुष्ट होकर नरकसे स्वर्गको चले जाते हैं ॥ ६३ ॥ श्राद्धमें तृप्त किये हुए पितृगण गीतापाठसे सन्तुष्ट होकर अपने पुत्रोंको आशीर्वाद देते हुए ही पितृलोकको जाते हैं ॥ ६४ ॥ गायकी पूँछसहित गीताकी पुस्तक हाथमें ले सङ्कल्पपूर्वक उसका सम्यक् प्रकारसे दान करके मनुष्य उसी दिन कृतार्थ हो जाता है ॥ ६५ ॥ जो गीताकी पुस्तकको सुवर्णसे मँढ़कर उसे विद्वान् ब्राह्मणको दान देता है, उसका संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ६६ ॥ जो गीताकी सौ पुस्तकें दान कर देता है, वह पुनरावृत्तिसे रहित ब्रह्मधामको प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥ गीतादानके प्रभावसे अन्तमें मनुष्य विष्णुलोकको पाकर वहाँ सातकल्पके बराबर वर्षोंतक भगवान् विष्णुके साथ आनन्दपूर्वक रहता है ॥ ६८ ॥ जो गीताके अर्थको भली प्रकार सुनकर पुस्तकदान करता है, उसपर प्रसन्न होकर श्रीभगवान् उसे मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करते हैं ॥ ६९ ॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत ।
न शृणोति न पठति गीताममृतरूपिणीम् ।
हस्तात्त्यक्त्वामृतं प्राप्तं स नरो विषमश्नुते ॥ ७० ॥
जनः संसारदुःखार्तो गीताज्ञानं समालभेत् ।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा भक्तिं सुखी भवेत् ॥ ७१ ॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥ ७२ ॥
गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७३ ॥

हे अर्जुन ! जो ब्राह्मणादि चार वर्णोंके अंदर मानव-शरीर धारणकर इस अमृतरूपिणी गीताका श्रवण और पाठ नहीं करता, वह मनुष्य मानो मिले हुए अमृतको अपने हाथसे फेंककर विष-भक्षण करता है ॥ ७० ॥ संसारके दुःखसे सन्तप्त हुए मनुष्यको चाहिये कि वह गीताका ज्ञान प्राप्त करे और इस जगत्में गीतामयी सुधाका पान करके भगवान्की भक्ति पाकर सुखी हो जाय ॥ ७१ ॥ जनक आदि बहुत-से राजालोग इस जगत्में गीताका आश्रय लेकर पापरहित हो परमपदको प्राप्त हो गये हैं ॥ ७२ ॥ गीताका अध्ययन करनेके विषयमें ऊँच-नीच मनुष्योंका कोई भेद नहीं है (इसके सभी समानरूपसे अधिकारी हैं)। गीता सम्पूर्ण ज्ञानोंमें समान तथा ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७३ ॥

योऽभिमानेन गर्वेण गीतानिन्दां करोति च ।
स याति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ७४ ॥
अहङ्कारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ।
कुम्भीपाकेषु पच्येत यावत्कल्पक्षयो भवेत् ॥ ७५ ॥

गीतार्थं वाच्यमानं यो न श्रृणोति समीपतः ।
स शूकरभवां योनिमनेकामधिगच्छति ॥ ७६ ॥
चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ।
न तस्य सफलं किञ्चित् पठनं च वृथा भवेत् ॥ ७७ ॥
यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ।
नैव तस्य फलं लोके प्रमत्तस्य यथा श्रमः ॥ ७८ ॥

जो अहङ्कार और गर्वसे गीताकी निन्दा करता है, वह जबतक समस्त भूतोंका प्रलय नहीं हो जाता तबतक घोर नरकमें पड़ा रहता है ॥ ७४ ॥ जो मूर्ख अहङ्कार-वश गीताके अर्थका आदर नहीं करता, वह जबतक कल्पका अन्त न हो जाय तबतक कुम्भीपाकमें पकाया जाता है ॥ ७५ ॥ निकट ही कहे जानेवाले गीताके अर्थको जो नहीं सुनता, वह अनेकों बार सूअरकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७६ ॥ जो गीताकी पुस्तक कहींसे चोरी करके लाता है, उसका कुछ भी सफल नहीं होता, उसका गीता-पाठ व्यर्थ होता है ॥ ७७ ॥ जो गीताका अर्थ सुनकर वस्तुतः प्रसन्न नहीं होता, उसके अध्ययनका इस जगत्में कोई फल नहीं है, पागलकी भाँति उसे खाली परिश्रम ही होता है ॥ ७८ ॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च भोज्यं पट्टाम्बरं तथा ।
निवेदयेत् प्रदानार्थं प्रीतये परमात्मनः ॥ ७९ ॥
वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ।
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान् हरिः ॥ ८० ॥

गीता सुनकर परमात्माकी प्रसन्नताके लिये दान करनेके उद्देश्यसे वाचकको सोना, उत्तम भोजन और रेशमी वस्त्र अर्पण करने चाहिये ॥ ७९ ॥ 'भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हों' इस उद्देश्यसे द्रव्य और वस्त्र आदि भाँति-भाँतिके अनेकों उपकरणोंद्वारा प्रसन्नतापूर्वक भक्ति-भावसे वाचककी पूजा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

सूत उवाच

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ।
गीतान्ते पठते यस्तु यथोक्तफलभाग्भवेत् ॥ ८१ ॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ ८२ ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः श्रृणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥ ८३ ॥
श्रुत्वा गीतामर्थयुक्तां माहात्म्यं यः श्रृणोति च ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेत् सर्वसुखावहम् ॥ ८४ ॥

सूतजी बोले—भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कहे हुए इस प्राचीन गीता-माहात्म्यको जो गीताके अन्तमें पढ़ता है, वह उपर्युक्त समस्त फलोंका भागी होता है ॥ ८१ ॥ जो गीता पढ़कर माहात्म्यका पाठ नहीं करता, उसके गीतापाठका फल व्यर्थ एवं परिश्रममात्र बताया गया है ॥ ८२ ॥ जो इस माहात्म्यके सहित गीताका पाठ करता है अथवा जो श्रद्धापूर्वक श्रवण ही करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥ जो अर्थसहित गीताका श्रवण करके फिर इस माहात्म्यको सुनता है, उसके पुण्यका फल इस जगत्में सबको सुख देनेवाला होता है ॥ ८४ ॥

इति श्रीवैष्णवीयतन्त्रसारे श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

(२)

श्रीभगवानुवाच

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति ब्रह्मैवास्ति निरामयम् ।
नैकमस्ति न च द्वित्वं सच्चित्कारं विजृम्भते ॥ १ ॥
गीतासारमिदं शास्त्रं सर्वशास्त्रसुनिश्चितम् ।
यत्र स्थितं ब्रह्मज्ञानं वेदशास्त्रसुनिश्चितम् ॥ २ ॥
इदं शास्त्रं मया प्रोक्तं गुह्यवेदार्थदर्पणम् ।
यः पठेत्प्रयतो भूत्वा स गच्छेद्विष्णुशाश्वतम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—न बन्धन है, न मोक्ष; केवल निरामय ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान है। न अद्वैत है, न द्वैत; केवल सच्चिदानन्द ही सब ओर परिपूर्ण हो रहा है ॥१॥ गीताका सारभूत यह शास्त्र सम्पूर्ण शास्त्रोंद्वारा भलीभाँति निश्चित सिद्धान्त है, जिसमें वेद-शास्त्रोंसे अच्छी तरह निश्चित किया हुआ ब्रह्मज्ञान विद्यमान है ॥२॥ मेरेद्वारा कहा हुआ यह गीताशास्त्र वेदके गूढ अर्थको दर्पणकी भाँति प्रकाशित करनेवाला है; जो पवित्र हो मन-इन्द्रियोंको वशमें रखकर इसका पाठ करता है, वह मुझ सनातनदेव भगवान् विष्णुको प्राप्त होता है ॥३॥

एतत्पुण्यं पापहरं धन्यं दुःखप्रणाशनम् ।
पठतां श्रृण्वतां वापि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ४ ॥
अष्टादशपुराणानि नवव्याकरणानि च ।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम् ॥ ५ ॥
भारतोदधिनिर्मथ्य गीतानिर्मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥ ६ ॥

मलनिर्मोचनं पुंसां गङ्गास्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ७ ॥
गीतानामसहस्रेण स्तवराजो विनिर्मितः ।
यस्य कुक्षौ च वर्तेत सोऽपि नारायणः स्मृतः ॥ ८ ॥

भगवान् विष्णुका यह उत्तम माहात्म्य (गीताशास्त्र) पढ़ने और सुननेवालोंके पुण्यको बढ़ानेवाला, पापनाशक, धन्यवादके योग्य और समस्त दुःखोंको दूर करनेवाला है ॥४॥ मुनिवर व्यासने अठारह पुराण, नौ व्याकरण और चार वेदों-का मन्थन करके महाभारतकी रचना की ॥५॥ फिर महाभारतरूपी समुद्रका मन्थन करनेसे प्रकट हुई गीताका भी मन्थन करके [उपर्युक्त गीतासारके रूपमें] उसके अर्थका सार निकालकर उसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें डाल दिया ॥६॥ गङ्गामें प्रतिदिन स्नान करनेसे मनुष्यों-का मैल दूर होता है, परन्तु गीतारूपिणी गङ्गाके जलमें एक ही बारका स्नान सम्पूर्ण संसारमलको नष्ट करनेवाला है ॥७॥ गीताके सहस्र नामोंद्वारा जो स्तवराज निर्मित हुआ है, वह जिसकी कुक्षि (हृदय) में वर्तमान हो अर्थात् जो उसका मन-ही-मन स्मरण करता हो, वह भी साक्षात् नारायणका स्वरूप कहा गया है ॥८॥

सर्ववेदमयी गीता सर्वधर्ममयो मनुः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्वदेवमयो हरिः ॥ ९ ॥
पादस्याप्यर्धपादं वा श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
नित्यं धारयते यस्तु स मोक्षमधिगच्छति ॥ १० ॥
कृष्णवृक्षसमुद्भूता गीतामृतहरीतकी ।
मानुषैः किं न खाद्येत कलौ मलविरेचिनी ॥ ११ ॥
गङ्गा गीता तथा भिक्षुः कपिलाश्वत्थसेवनम् ।
वासरं पद्मनाभस्य पावनं किं कलौ युगे ॥ १२ ॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ १३ ॥
आपदं नरकं घोरं गीताध्यायी न पश्यति ॥ १४ ॥

गीता सम्पूर्ण वेदमयी है, मनुस्मृति सर्वधर्ममयी है, गङ्गा सर्वतीर्थमयी है तथा भगवान् विष्णु सर्वदेवमय हैं ॥९॥ जो गीताका पूरा एक श्लोक, आधा श्लोक, एक चरण अथवा आधा चरण भी प्रतिदिन धारण करता है, वह अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥१०॥ मनुष्य श्रीकृष्णरूपी वृक्षसे प्रकट हुई गीतारूप अमृतमयी हरीतकीका भक्षण क्यों नहीं करते, जो समस्त कलिमलको शरीरसे बाहर निकालनेवाली है ॥११॥ कलियुगमें श्रीगङ्गाजी, गीता, सच्चे संन्यासी, कपिला गौ, अश्वत्थवृक्षका सेवन और भगवान् विष्णुके पर्व-दिन (एकादशी आदि) इनसे बढ़कर पवित्र करनेवाली और क्या वस्तु हो सकती है ? ॥१२॥ अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन ? केवल गीताका ही सम्यक् प्रकारसे गान (पठन और मनन) करना चाहिये; जो कि साक्षात् भगवान् विष्णुके मुख-कमलसे प्रकट हुई है ॥१३॥ गीताका स्वाध्याय करनेवाले मनुष्यको आपत्ति और घोर नरकको नहीं देखना पड़ता ॥१४॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे श्रीगीतासारे भगवद्गीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

(३)

धरोवाच

भगवन् परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी ।
प्रारब्धं भुञ्जमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥ १ ॥

पृथ्वी बोली—हे भगवन् ! हे परमेश्वर ! हे प्रभो ! प्रारब्ध-भोग करते हुए मनुष्यको आपकी अनन्य भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ १ ॥

श्रीविष्णुरुवाच

प्रारब्धं भुञ्जमानो हि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ २ ॥
महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत् ।
क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ॥ ३ ॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥ ४ ॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः ।
समायान्ति तत्र शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ ५ ॥

श्रीविष्णुभगवान् बोले—प्रारब्धभोग करते हुए भी जो मनुष्य सदा गीताके अभ्यासमें तत्पर रहता है, संसारमें वही मुक्त और वही सुखी है । वह कभी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ २ ॥ गीताका स्वाध्याय करनेवाला मनुष्य यदि कभी दैवात् महापातक आदि पाप भी कर बैठता है, तो वे पाप उसका कहीं भी स्पर्श नहीं करते; जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं ठहर सकता ॥ ३ ॥ जहाँ गीताकी पुस्तक रहती है, जहाँ उसका नित्य पाठ होता है, वहाँ-वहाँ अवश्य ही प्रयाग आदि सभी तीर्थ वास करते हैं ॥ ४ ॥ जहाँ गीताका पाठ होता है वहाँ सभी देवता, सम्पूर्ण ऋषि,

सर्पगण तथा गोप और गोपियाँ भी नारद और उद्धव आदि पार्षदोंके साथ शीघ्र ही एकत्रित हो जाते हैं ॥ ५ ॥

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् ।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ॥ ६ ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम् ॥ ७ ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्धमात्राक्षरा नित्या सानिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ८ ॥
चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥ ९ ॥
योऽष्टादशजपो नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥ १० ॥

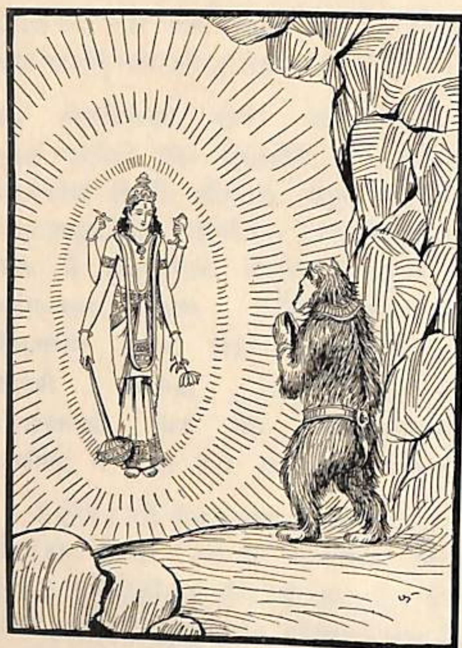
हे पृथ्वि ! जहाँ गीताका विचार, पठन, पाठन अथवा श्रवण होता है, वहाँ मैं सदा ही निश्चितरूपसे वास करता हूँ ॥ ६ ॥ मैं गीताके आश्रयमें ही रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम गृह है । गीता-ज्ञानका ही सहारा लेकर मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ ॥ ७ ॥ मेरी गीता परा विद्या एवं परब्रह्मरूपिणी है; यह अर्धमात्रा, अविनाशिनी, नित्या एवं अनिर्वचनीयस्वरूपा है ॥ ८ ॥ चिदानन्दमय भगवान् श्रीकृष्णने साक्षात् अपने मुखसे ही अर्जुनके प्रति इसका उपदेश दिया है । यह वेदत्रयीरूपा, परमानन्द-स्वरूपिणी और तत्त्वार्थज्ञानसे युक्त है ॥ ९ ॥ जो मनुष्य स्थिरचित्त होकर नित्य ही अठारह अध्यायका जप करता है, वह ज्ञानरूपा सिद्धिको प्राप्त कर लेता है और उससे परमपद-को प्राप्त हो जाता है ॥ १० ॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ११ ॥
त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ १२ ॥
एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ १३ ॥
अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ॥ १४ ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ॥ १५ ॥

यदि कोई सम्पूर्ण गीताका प्रतिदिन पाठ करनेमें असमर्थ हो तो आधेका ही पाठ करे, ऐसा करनेपर वह गोदानजन्य फलको प्राप्त करता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥ तिहाई भागका पाठ करनेवालेको गङ्गा-स्नानका फल मिलता है । छठे अंशका जप करनेवाला सोमयागका फल पाता है ॥ १२ ॥ जो नित्यप्रति भक्तियुक्त होकर एक अध्यायका पाठ करता है, वह रुद्रलोकको प्राप्त होता है और वहाँ रुद्रका गण होकर चिरकालतक निवास करता है ॥ १३ ॥ जो मनुष्य एक अध्याय अथवा श्लोकके एक पादका ही नित्य पाठ करता है, हे वसुन्धरे ! वह जबतक मन्वन्तर रहता है तबतक मनुष्य-जन्मको ही प्राप्त होता है [अधम-योनिमें नहीं जाता] ॥ १४ ॥ गीताके दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक अथवा आधे श्लोकका ही जो मनुष्य पाठ करता है, वह अवश्य ही चन्द्रलोकको प्राप्त होता है और वहाँ दस हजार वर्षोंतक वास करता है ॥ १५ ॥

गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥ १६ ॥
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥ १७ ॥
गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ १८ ॥
गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥ २० ॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ २१ ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः ।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥ २२ ॥

जो गीताका पाठ सुनते-सुनते मरता है वह दूसरे जन्ममें भी मनुष्य ही होता है और पुनः गीताका अभ्यास करके उत्तम गति—मोक्षको पा लेता है ॥ १६ ॥ 'गीता' इस शब्दमात्रका उच्चारण करके मरनेवाला मनुष्य सद्गतिको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ गीताके अर्थके श्रवणमें लगा हुआ मनुष्य महान् पापसे युक्त होनेपर भी वैकुण्ठलोकको प्राप्त होता है और वहाँ वह



जाम्बवान्पर कृपा



पारिजात-हरण



नृग-उद्धार



पौण्ड्रक-उद्धार

भगवान् विष्णुके साथ आनन्दित होता है ॥ १८ ॥ जो बहुत-से कर्म करते हुए भी नित्य गीताके अर्थका चिन्तन करता रहता है, उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिये, वह देहान्त होनेपर तो परमपदको प्राप्त हो ही जाता है ॥ १९ ॥ गीताका आश्रय लेकर जनक आदि बहुत-से राजालोग पाप-रहित हो संसारमें अपना यशोगान सुनते हुए अन्तमें परम-पदको प्राप्त हो गये ॥ २० ॥ गीताका पाठ करके जो इसके माहात्म्यको नहीं पढ़ता, उसका वह पाठ व्यर्थ एवं परिश्रममात्र कहा गया है ॥ २१ ॥ जो इस माहात्म्यसे युक्त गीताका अभ्यास करता है, उसे इसका पूरा फल मिलता है और वह परम दुर्लभ गति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥ २२ ॥

सूत उवाच

माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ २३ ॥

सूतजी बोले—मेरे कहे हुए इस सनातन गीता-माहात्म्यका जो गीताके अन्तमें पाठ करता है, उसे जैसा बताया गया है, वह सभी फल प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीवाराहपुराणे श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं समाप्तम् ।
ॐ तत्सत् ।

(४)

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥ २ ॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ३ ॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णुवक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ४ ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ५ ॥

जो पुरुष पवित्रचित्त होकर इस पावन गीताशास्त्रका पाठ करता है, वह भय और शोक आदिसे रहित होकर भगवान् विष्णुके पदको प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥ जो बराबर गीताका अध्ययन किया करता है तथा जो प्राणायामके अभ्यासमें तत्पर रहता है, उसके पूर्वजन्मके किये हुए पाप भी नहीं रह जाते ॥ २ ॥ जलमें प्रतिदिन स्नान करनेसे मनुष्योंका मैल दूर होता है, परन्तु इस गीताज्ञान-रूपी जलमें एक ही बारका किया हुआ स्नान सम्पूर्ण संसार-मलको नष्ट करनेवाला है ॥ ३ ॥ जो महाभारतका अमृतमय सर्वस्व है, भगवान् विष्णुके मुखसे प्रकट हुआ है, उस गीता-मयी गङ्गाके जलको पी लेनेपर मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ४ ॥ सम्पूर्ण उपनिषदें गौके समान हैं, गोपाल-नन्दन श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाले (ग्वाले) हैं, पार्थ (अर्जुन) बछड़ा हैं, महत्त्वपूर्ण गीतामय अमृत ही दूध है और सुन्दर बुद्धिवाले जिज्ञासु एवं ज्ञानी पुरुष ही उसके पीनेवाले हैं ॥ ५ ॥

(५)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ १ ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥ २ ॥
गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ३ ॥
भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥ ४ ॥

अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? केवल गीताका ही भली प्रकारसे गान (पठन और मनन) करना चाहिये; क्योंकि यह भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) के साक्षात् मुखसे प्रकट हुई है ॥१॥ गीता समस्त शास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, गङ्गाजी सर्वतीर्थमयी हैं और मनु सर्ववेदमय हैं ॥ २ ॥ गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द ये चार गकारसे युक्त नाम जिसके हृदयमें बसते हैं, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ३ ॥ महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उनमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है ॥ ४ ॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

श्रीमद्भगवद्गीताके ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र गौड, वेदशास्त्री)

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दू-समाजमें एक परम आदरणीय पुस्तक है। यह मन्त्रस्वरूप है, क्योंकि पूर्वाचार्योंने मन्त्रका लक्षण यह किया है—'मन्त्रा मननात्' (निरुक्त ७ । १२ । १) मननसे अर्थात् सब सत्य विद्याओंके जनानेसे मन्त्र है। 'मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वा विद्या यैस्ते मन्त्राः'। 'मन्त्र' शब्द 'मनु अवबोधने' धातुसे 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करनेपर अथवा 'मत्रि गुप्तपरिभाषणे' धातुसे नुमागमद्वारा सिद्ध होता है। गीताके श्लोकोंमें गुप्त रहस्य तथा विद्याओंका वर्णन है, अतः गीता-भगवतीके श्लोक मन्त्र हैं।

गीता मन्त्रमय है, अतः इसके पाठके आदिमें 'ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग'के भी होनेकी परम आवश्यकता है। ऋषि आदिके विना जाने, विना प्रयोग किये पाठ सफल नहीं होता तथा दोष होता है। कात्यायनने कहा है—

एतान्यविदित्वा मन्त्रं योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति । अथान्तरा श्वगर्तं वापद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति । (सर्वानुक्रमसूत्र १)

जो ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको न जानकर मन्त्र पढ़ता, पढ़ाता, जपता, हवन करता, याग करता या कराता है, उसका मन्त्ररूपी ब्रह्म फलशक्तिसे हीन होकर अनिष्टका उत्पादक होता है। ऋषि आदिके विना मन्त्रोंका उपयोग करनेवाला नरकमें जाता है, या शुष्क वृक्ष (स्थावर-योनिमें) होता है अथवा अल्पायु होता है, इत्यादि। 'बृहद्देवता' में भी कहा है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥
(८ । १३२)

अतः गीताके ऋषि, छन्द, देवता तथा विनियोग जानना परम आवश्यक है।

ऋषि

'ऋषि' शब्द गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे 'इगुपधात् कित्' (उणा० ४ । ११९) इस सूत्रसे 'इन्' प्रत्यय करनेपर सिद्ध होता है। मन्त्रके देखनेवाले वा स्मरण करनेवाले उस मन्त्रके ऋषि कहलाते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्यने कहा है—'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त २ । ११)। कात्यायनने भी कहा है—'द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः' (सर्वा० १)। याज्ञवल्क्यजीने भी कहा है—

येन यदृषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता च येन वै ।
मन्त्रेण तस्य तत्प्रोक्तमृषेर्भावस्तदार्षकम् ॥

इस गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं तथा स्मर्ता श्रीवेदव्यास हैं, अतः इस मन्त्ररूपी गीताके श्रीवेदव्यास ऋषि हैं।

छन्द

पाणिनिके मतमें 'चदि आह्लादे' धातुसे 'चन्देरादेश्च छः' इस औणादिक (४ । २१८) सूत्रसे 'छन्दस्' शब्दकी सिद्धि होती है। निरुक्तकारके 'छन्दांसि छादनात्' इस कथनसे उनके मतमें 'छदि' धातुसे असुन् प्रत्यय करके नुमागम करनेपर 'छन्दः' पदकी सिद्धि होती है। पाप-दुःखादिकोंको जो आच्छादन (नष्ट) करे उसे छन्द कहते हैं। याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससी इव चाकृतेः ।

छन्द गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि सात प्रकारके हैं। इन सात छन्दोंके अवान्तर भेद बहुत हैं। इस गीतामें अन्य छन्दोंके होनेपर भी अनुष्टुप् छन्दकी प्रधानता होनेके कारण छत्रिन्यायसे इसका अनुष्टुप् छन्द है।

छत्रिन्याय—जैसे बहुत-से मनुष्य जा रहे हैं, उनमें अधिक मनुष्य छाता लिये हुए हैं और कुछ नहीं भी लिये हैं, पर वहाँ 'छातावाले जा रहे हैं' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही यहाँ अन्य छन्दोंके होते हुए भी अनुष्टुप् छन्दके विशेषतया रहनेसे अनुष्टुप् छन्द ही है।

देवता

'दिव्' धातुसे 'हलश्च' (पा० ३ । ३ । १२१) सूत्रसे 'घञ्' प्रत्यय करके गुण करनेसे देव शब्द सिद्ध होता है उससे 'देवात्तल्' (पा० सू० ५ । ४ । २७) इस सूत्रके अनुसार स्वार्थमें 'तल्' प्रत्यय करके स्त्रीत्वमें

'टाप्' करनेपर 'देवता' शब्दकी निष्पत्ति होती है। नैरुक्त यास्कने 'दा' धातु, 'दीप्' धातु और 'द्युत' धातुसे 'देव' शब्दका निर्वचन किया है। जो 'देव' शब्दका अर्थ है, वही स्वार्थमें 'तल्' प्रत्यय करनेपर 'देवता' शब्दका भी अर्थ होता है।

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। (निरुक्त ७।१५)

जो वृष्ट्यादिद्वारा भक्ष्य, भोज्य आदि पदार्थ देवे या जो प्रकाशित हो या जो द्युलोकमें रहे, उसे देवता कहते हैं। इस विषयपर याज्ञवल्क्यजीने कहा है—

यस्य यस्य तु मन्त्रस्य उद्दिष्टा देवता तु या।
तदाकारं भवेत्तस्य देवत्वं देवतोच्यते॥

जिस मन्त्रमें जिस देवताका उद्देश हो, उसका वह देवता होता है। इस गीताका अन्तिम उपदेश तथा उद्देश 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' है, अर्थात् परम पुरुष परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं; अतः इस श्रीगीताके 'श्रीकृष्ण परमात्मा' देवता हैं।

विनियोग

जिसके लिये जिस मन्त्रका प्रयोग किया जाय, उसका सङ्कल्प ही विनियोग कहलाता है। याज्ञवल्क्यने कहा है—

पुरा कल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च।
अनेन चेदं कर्तव्यं विनियोगः स उच्यते॥

जिस कामनासे श्रीगीताजप (पाठ) करना हो, उस कामनाका नाम विनियोगमें लेना चाहिये।

उच्चारण-क्रम

ऋषि आदिका उच्चारण किस क्रमसे करना चाहिये, यह 'बृहद्देवता' में कहा है—

ऋषिं तु प्रथमं ब्रूयाच्छन्दस्तु तदनन्तरम्।
देवतामथ मन्त्राणां कर्मस्वेवमिति श्रुतिः॥ (८।१३४)

गृह्यगङ्गाधरपद्धतिमें भी कहा है—

ऋषिमादौ प्रयुञ्जीत छन्दो मध्ये निवेशयेत्।
देवतामवसाने च मन्त्रज्ञो मन्त्रसिद्धये॥

मन्त्र-सिद्धिकी अभिलाषा रखनेवाला ऋषिको आदिमें कहे और छन्दको मध्यमें उच्चारण करे तथा देवताका अन्तमें उच्चारण करे। बृहद्देवतामें इस क्रमके अन्यथा करनेपर फलका नहीं होना कहा है—

'अन्यथा चेत्प्रयुञ्जानस्तत्फलाच्चात्र हीयते।'

यह ऋष्यादिका कथन कर्मके आरम्भमें ही करना चाहिये।

फल

इन ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको जानकर पाठ आदि करनेका फल कात्यायनने अपने सर्वानुक्रममें कहा है—

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्। अथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति। जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते।

जो मन्त्रोंके ऋष्यादिके साथ विनियोग करता है, उसके लिये पाठका पूर्ण फल और जो उसका अर्थ जानकर पाठ आदि करता है, उसे अतिशय फलकी प्राप्ति होती है।

'बृहद्देवता' में भी कहा है—

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौकिकानां वैदिकानां कर्मणां फलमश्नुते॥ (१।४)

जो इसको नहीं जानता, वह लौकिक वा वैदिक कर्मके फलको नहीं प्राप्त करता।

अतः इनका जानना तथा प्रयोग करना परम आवश्यक है।

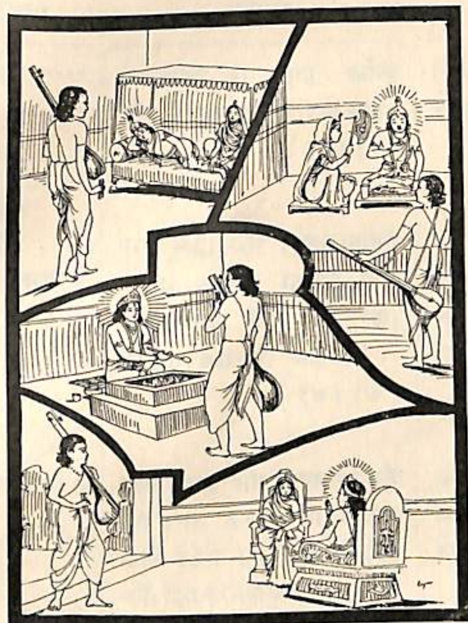
इसलिये गीताप्रेमियोंको पाठ करते समय 'ॐ श्रीमद्भगवद्गीतामहामन्त्रस्य श्रीवेदव्यास ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः श्रीकृष्णः परमात्मा देवता श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे (……कामनासिद्धये) जपे विनियोगः' कह देना चाहिये।

ब्राकिटमें……यह चिह्न है। यदि पाठ किसी कामनासे किया जाय तो कामनाका नाम……इस जगह उच्चारण कर देना चाहिये।

निष्कामपाठमें कामनाका उच्चारण नहीं करना चाहिये।

गुणोंके स्वरूप और उनका फल; गुणोंके अनुसार आहार-यज्ञादिके लक्षण

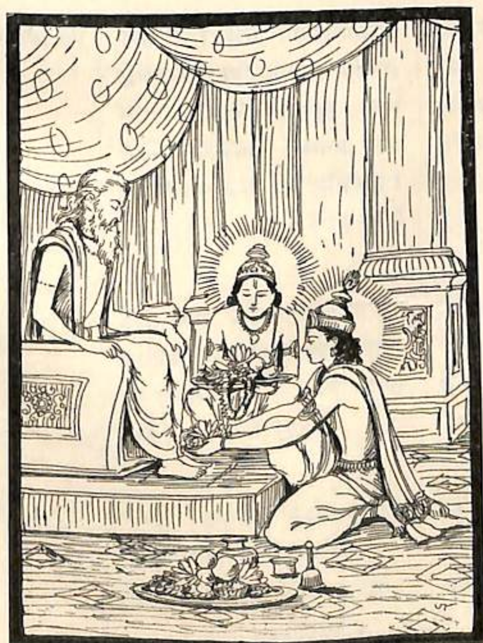
विषय	सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
गुणोंका स्वरूप तथा उनकी वृद्धिका प्रभाव।	शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता, बोधशक्तिका प्रकाश। (१४ । ११)	लोभ, सांसारिक कर्मोंमें प्रवृत्ति, कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ, मनकी चञ्चलता और भोगोंकी कामना। (१४ । १२)	शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्त्तव्यकर्ममें प्रवृत्त न होना, प्रमाद (न करनेयोग्य कार्यमें प्रवृत्ति), मोह। (१४ । १३)
गुणोंके द्वारा प्रवृत्ति।	सुखमें लगाया जाना (१४ । ९)	कर्ममें लगाया जाना। (१४।९)	प्रमादमें लगाया जाना। (१४ । ९)
गुणोंके द्वारा जीवका बन्धन।	सत्त्वगुण निर्विकार, प्रकाशमय, निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानके अभिमान-से बाँधता है। (१४ । ६)	रागरूप रजोगुण कामना और आसक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण कर्म और उनके फलकी आसक्तिसे बाँधता है। (१४ । ७)	सब देहाभिमानियोंको मोहने-वाला, अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधता है। (१४ । ८)
गुणोंसे उत्पन्न भाव।	ज्ञान (१४ । १७) ...	लोभ। (१४ । १७) ...	प्रमाद, मोह, अज्ञान। (१४।१७)
गुणोंके फल।	निर्मल सुख-ज्ञान-वैराग्यादि (१४ । १६)	दुःख (१४ । १६) ...	अज्ञान। (१४ । १६)
किस गुणकी वृद्धिमें मरनेवाला किस लोक या योनिमें जाता है।	दिव्य देवलोकमें देवयोनिको प्राप्त होता है। (१४ । १४)	मनुष्यलोकमें मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। (१४ । १५)	पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि मूढ योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है। (१४ । १५)
किस गुणसे सम्पन्न पुरुषोंकी क्या गति होती है ?	ऊर्ध्वगति; भगवदभिमुखी श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेते हैं अथवा देवता बनते हैं। (१४ । १८)	बीचकी गति; कर्मासक्त मनुष्य बनते हैं। (१४ । १८)	नीचेकी गति; पशु आदि योनियोंमें, नारकी योनिमें या भूत-प्रेतादि पापयोनियोंमें जन्म लेते हैं। (१४ । १९)
उपासना।	देवताओंका पूजन। (१७ । ४)	यक्ष-राक्षसोंका पूजन। (१७।४)	भूत-प्रेतादिका पूजन। (१७।४)
आहार।	आयु, बुद्धि, बल, नीरोगता, सुख और प्रीति बढ़ाने-वाले, रस-युक्त, स्निग्ध, स्थिर रहनेवाले और हृदयके अनुकूल पदार्थ। (१७ । ८)	बहुत कड़वे, बहुत खट्टे, बहुत नमकीन, बहुत गरम, बहुत तीखे, रूखे, दाहकारी, दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले पदार्थ। (१७ । ९)	अधपके, रसरहित, दुर्गन्ध-युक्त, बासी, जूँठे और अपवित्र पदार्थ। (१७ । १०)



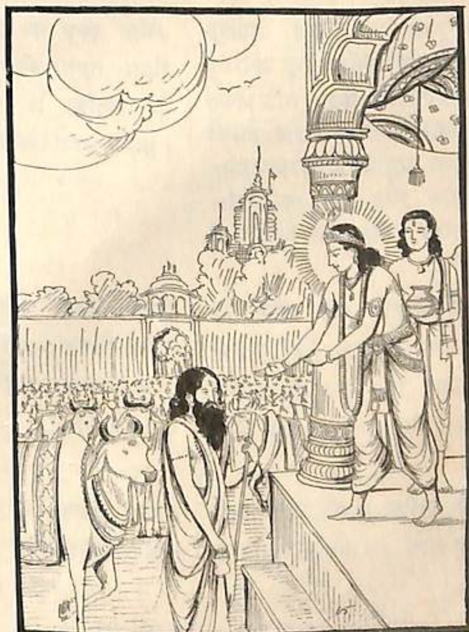
नारदका आश्चर्य



दैनिक ध्यान



दैनिक ब्राह्मणपूजन



दैनिक गोदान

विषय	सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
यज्ञ । ...	विधिसंगत हो तथा कर्तव्य और निष्काम बुद्धिसे किया जाय। (१७।११)	विधिसंगत हो, पर फलकी इच्छासे या दम्भसे किया जाय। (१७।१२)	विधिहीन, अन्नदानरहित, मन्त्रहीन, दक्षिणारहित और श्रद्धारहित यज्ञ। (१७।१३)
तप। ... (क) शारीरिक	परम श्रद्धा और निष्कामभावसे देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और ज्ञानीजनोंकी सेवा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा। (१७।१७)	सत्कार, मान या पूजा पानेके लिये दम्भसे किये जानेवाले अनिश्चित और क्षणिक फलवाले शारीरिक तपका प्रदर्शन। (१७।१८)	मूर्खतासे, दुराग्रहसे, शरीरको सताकर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये घोर शारीरिक कष्टसहनकी क्रिया। (१७।१९)
(ख) वाणीका तप	परम श्रद्धा और निष्कामभावसे ऐसे वचन बोलना, जो किसीके मनमें उद्वेग न करें, सुननेमें प्रिय लगें, हित करनेवाले हों और सच्चे हों। तथा वेदशास्त्रोंका स्वाध्याय और भगवन्नाम-गुणका जप-कीर्तन करना। (१७।१५)	सत्कार, मान या पूजा पानेके लिये अनिश्चित और क्षणिक फलवाले वाणीके तपका प्रदर्शन।	मूर्खतासे और हठसे स्वयं कष्ट पाकर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये वाणीके तपका मिथ्या प्रदर्शन या शास्त्र-विपरीत, दम्भ और अहङ्कार बढ़ानेवाला, काम और क्रोधसे प्रेरित, अज्ञानमय, नाना प्रकारसे क्लेश पहुँचानेवाला मिथ्या भाषण।
(ग) मनका तप	परम श्रद्धा और निष्कामभावसे होनेवाली मनकी प्रसन्नता, शान्ति, भगवच्चिन्तनको छोड़कर व्यर्थ सङ्कल्प-विकल्पका अभाव, मनका निग्रह और भावोंकी पवित्रता। (१७।१६)	सत्कार, मान या पूजा पानेके लिये या दम्भके भावसे मनमें सात्त्विक गुण न रहनेपर भी उनके दिखलानेका प्रयत्न करना।	मूर्खता, हठ और कष्टपूर्वक दूसरोंका बुरा करनेके लिये मनके तपका ढोंग करना और वास्तवमें विषाद, अशान्ति, विषय-चिन्तन, नाना प्रकारकी उधेड़-बुन, मनकी अनियन्त्रित गति और अशुभ चिन्तन-स्मरणमें लगे रहना।
दान ...	देश, काल और पात्रका विचार करके कर्त्तव्य-बुद्धिसे, बदला पानेकी इच्छा न रखकर दिया हुआ दान। (१७।२०)	बदला पानेके लिये, किसी लौकिक-पारलौकिक फलकी आशासे और मनमें कष्ट पाकर देना। (१७।२१)	देश, काल और पात्रका विना विचार किये हुए ही, मनमाने तौरपर, अपमान और अनादर करके देना। (१७।२२)
त्याग ...	नियत कर्मको कर्तव्य-बुद्धिसे करना और उसमें आसक्ति तथा फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर देना। (१८।९)	कर्मको दुःखरूप अर्थात् झंझट समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उसे स्वरूपसे त्याग देना। (१८।८)	शास्त्रविहित नियत कर्मका मोहसे त्याग कर देना। (१८।७)
कर्म-फल	उत्तम (१८।१२)	मिश्रित	निकृष्ट

विषय	सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
ज्ञान ...	समस्त भूत-प्राणियोंमें पृथक्-पृथक् दीखनेवाले एक ही अविनाशी परमात्मभावको सब-में विभागरहित समभावसे स्थित देखना। (१८। २०)	समस्त भूत-प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न अनेक भावोंको अलग-अलग देखना। (१८। २१)	शरीरको ही आत्मा समझनेवाला विना ही युक्तिका, तत्त्वार्थरहित, तुच्छ सीमाबद्ध ज्ञान। (१८।२२)
कर्म ...	जो नियत कर्म कर्तापनके अभिमानसे रहित, फल न चाहने-वाले पुरुषद्वारा राग-द्वेष छोड़कर किया जाता है। (१८। २३)	जो विशेष परिश्रमसाध्य कर्म फल चाहनेवाले, कर्तापनके अहङ्कारसे युक्त पुरुषके द्वारा किया जाता है। (१८। २४)	जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी शक्तिका कुछ भी विचार किये विना मूर्खतासे जोशमें आकर किया जाता है। (१८। २५)
कर्ता ...	जो सिद्धि-असिद्धिमें हर्ष-शोक-को न प्राप्त होकर, आसक्ति और अहङ्काररहित होकर, धीरज और उत्साहसे कर्तव्य-कर्म करता है। (१८। २६)	जो लोभी, आसक्तियुक्त, हिंसात्मक एवं अपवित्र है तथा कर्म-फलकी इच्छासे कर्म करता है और सिद्धि पाकर हर्षमें और असिद्धि पाकर शोकमें डूब जाता है। (१८। २७)	जो अव्यवस्थितचित्त, मूर्ख, घमंडी, धूर्त्त, शोकग्रस्त, आलसी, दीर्घसूत्री और दूसरेकी आजीविका-को नष्ट करनेवाला है। (१८। २८)
बुद्धि ...	जो प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्ग-को, कर्तव्य-अकर्तव्यको, भय-अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थरूपसे पहचानती है। (१८। ३०)	जो धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य-का निर्णय नहीं कर सकती। (१८। ३१)	जो अधर्मको धर्म मानती है और सभी बातोंमें विपरीत निर्णय करती है। (१८। ३२)
धृति ...	जो सब विषयोंको छोड़कर केवल भगवान्में ही लगकर मन, प्राण और इन्द्रियोंकी सारी क्रियाओंको भगवत्-सन्निधिके योगद्वारा भगवदर्थ ही करवाती है। (१८। ३३)	जो फल चाहनेवाले मनुष्यको अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामरूप विषयोंमें लगाती है। (१८। ३४)	जिससे दुष्टबुद्धि मनुष्य केवल सोये रहने, डरने, शोक करने, उदास रहने और मतवाला बने रहनेमें ही अपनेको लगाये रखता है। (१८। ३५)
सुख ...	जिसका अनुभव अभ्याससे होता है, जो अन्तमें दुःखको नष्ट कर डालता है, जो आरम्भमें जहर-सा लगता है परन्तु भगवद्विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेके कारण परिणाममें अमर कर देता है, मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है। (१८। ३६-३७)	जो विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर आरम्भमें अमृत-सा सुहावना लगता है, परन्तु परिणाममें लोक-परलोकका नाश करनेवाला होनेके कारण विषके सदृश है। (१८। ३८)	जो आरम्भ और अन्त दोनोंमें ही आत्माको मोहमें डालता है और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे प्राप्त होनेवाला है। (१८। ३९)

विषमता

सेवा और सहानुभूतिमें भगवान्

(लेखक—श्री 'माधव')

श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशमें भगवान्ने एक जगह कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

'हे अर्जुन ! जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी ही भाँति अपने आत्माको और सुख-दुःखको समान देखता है वही योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

इस समताके साथ ही भगवान् अद्वैतज्ञानके पथपर चलनेवालेके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' कहकर और भक्तोंके लिये 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' कहकर ज्ञानी और भक्त सभीके लिये 'भूतप्राणियोंके हितमें रत रहना और सबके साथ द्वेषरहित, मित्रतापूर्ण तथा दुःखकी अवस्थामें दयायुक्त बर्ताव करना' आवश्यक बतलाते हैं । और यह सिद्ध करते हैं कि ऐसा करना भगवान्का ही पूजन है । आज गीताके उस उपदेशको भूलकर हम इसके विपरीत ही आचरण कर रहे हैं । यह सत्य है कि यह दुनिया सुख-दुःखकी एक विचित्र रंगस्थली है । पर्देपर सुखकी तस्वीरें देखकर हम लुभा जाते हैं, उसके प्रति एक आसक्ति-सी हो जाती है । परन्तु जब दुःखकी दर्दभरी तस्वीरें आती हैं, तो हम काँप जाते हैं । इस अशिव, असुन्दरके लिये हम कभी अपनेको तैयार नहीं पाते । सुखके प्रति मनुष्यकी सहज ही आसक्ति है और दुःखके प्रति द्वेष । इसके मूलमें जानेपर कारण यही प्रतीत होता है कि मनुष्य जानता नहीं कि सुख और दुःखका आवरण डाले स्वयं लीलामय हरि ही यह सारा अभिनय कर रहे हैं । मनुष्यको पता नहीं कि सुख और दुःख प्रभुकी दो भुजाएँ हैं जिनके आलिङ्गनमें उन्होंने जीवमात्रको चर-अचर सबको बाँध रक्खा है । अस्तु

सुख और दुःखमें समानरूपसे हरिके स्पर्शका, हरिकी करुणा और प्रीतिका रस पाना एक बहुत बड़ी साधनाका चरम फल है । मानव-जीवनकी यह एक अत्यन्त मधुर रसानुभूति है । यह सर्वथा सत्य और साध्य होनेपर गीताके उपदेशानुसार संसारकी व्यवस्थाके लिये सब लोगोंके हितके लिये और सबके साथ ही अपने भी हितके लिये भी हमारा समाजके प्रति, जगत्के प्रति भी तो कुछ कर्त्तव्य है जिसकी अवहेलना करके हम धर्मकी समस्त साधनाओंसे स्खलित हो जाते हैं । अपने सुखमें सुखी और अपने दुःखमें दुःखी तो पशु भी हो लेते हैं, राक्षस भी हो लेते हैं । मनुष्यका मनुष्यत्व तो इसमें है कि वह अपने सुख-दुःखको बिसार कर दूसरेके सुख-दुःखमें अपना सुख-दुःख माने, समझे । और जिस प्रकार अपने ऊपर दुःख पड़नेपर उससे छुटकारेके लिये मनुष्य उत्कंठित हो जाता है, एक क्षणका विलम्ब भी उसके लिये असह्य हो उठता है, ठीक उसी प्रकार दूसरेपर दुःख पड़नेपर भी उसे हल्का करनेके लिये जी-जानसे तत्पर हो जाय और होना तो यह चाहिये कि दूसरोंके दुःखका दंशन हमारे हृदयमें अपने दुःखकी अपेक्षा अधिक तीव्र हो । मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है । नहीं तो, वह पशु है, राक्षस है ।

आज समाजमें जो उत्पीडन, अनाचार, अनय, अत्याचारका नंगा नाच हो रहा है, दीन-दुखियों, अनाथ-अनाश्रितों, बेवा-बेकसोंपर जितना कुछ जुल्म ढाया जा रहा है उसका एकमात्र कारण यह है कि मनुष्य भगवान्को और भगवान्की आज्ञाको भूलकर, दैवीसम्पत्तिको ठुकराकर और अपने मानव-कर्त्तव्यसे च्युत होकर—एक शब्दमें मनुष्यतासे गिरकर दानवताकी ओर बढ़ रहा है, वह राक्षस हो रहा है । मनुष्य मनुष्यका रक्त पीकर अपनी प्यास बुझाना चाहता है और उसे इस जघन्य कृत्यमें एक दानवी सुखका बोध होता है । क्षुधा और तृषासे आर्त अस्थि-चर्मावशिष्ट नर-कङ्कालोंकी आहोंसे संसारका समस्त वातावरण उत्तप्त और क्षुब्ध हो उठा है । और यह घोर विषमता ! यह लोमहर्षक दारुण विरोध ! एक ओर तो विलासिताके तुच्छ सामानोंके संग्रहमें धन बहाया जा रहा है और दूसरी ओर निरीह मासूम बच्चा माँड़की एक बूँदके विना तड़प-तड़पकर प्राण गँवा रहा है । ऊँचे-ऊँचे महल और अट्टालिकाएँ, उनमें होनेवाले हास्य-विलास; मोटर, सिनेमा, नाचघर आदिका मनोरञ्जन और बगलमें ही टूटी, ध्वस्त फूसकी झोपड़ियाँ जिनमें बरसातकी एक बूँद भी बाहर नहीं जाती, भूख और प्याससे बिलबिलाते हुए बच्चे, माँके सूखे स्तनको चूसते हुए, दूधकी एक बूँदके लिये तरसते-तड़पते शिशुका करुणाक्रन्दन और अभागिनी माँका आर्त चीत्कार, भीषण हाहाकार ! एक ओर सुख-विलासमें

इतराया हुआ गर्वोन्मत्त मानव, दूसरी ओर दुःख-दारिद्र्यमें डूबा हुआ गरीब नरकङ्काल नर !!

काश मनुष्य 'मनुष्य' होता ! संसार आज कितना सुखी होता ! मनुष्यने अपने आसुरभावसे इस संसारको नरक बना दिया है, नरकसे भी भयानक ! पर-पीड़ा ही धर्म हो रही है! दूसरोंको सताना और लूटना ही सुखका एकमात्र साधन रह गया है। कहना नहीं होगा कि इस सारे अनर्थोंके मूलमें है भगवद्-विस्मृति, भगवान्के उपदेशकी अवहेलना। भगवान्को भुलाकर उनकी दिव्य वाणीका अनादर कर आज मनुष्य अपने अहङ्कारमें कह रहा है—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥

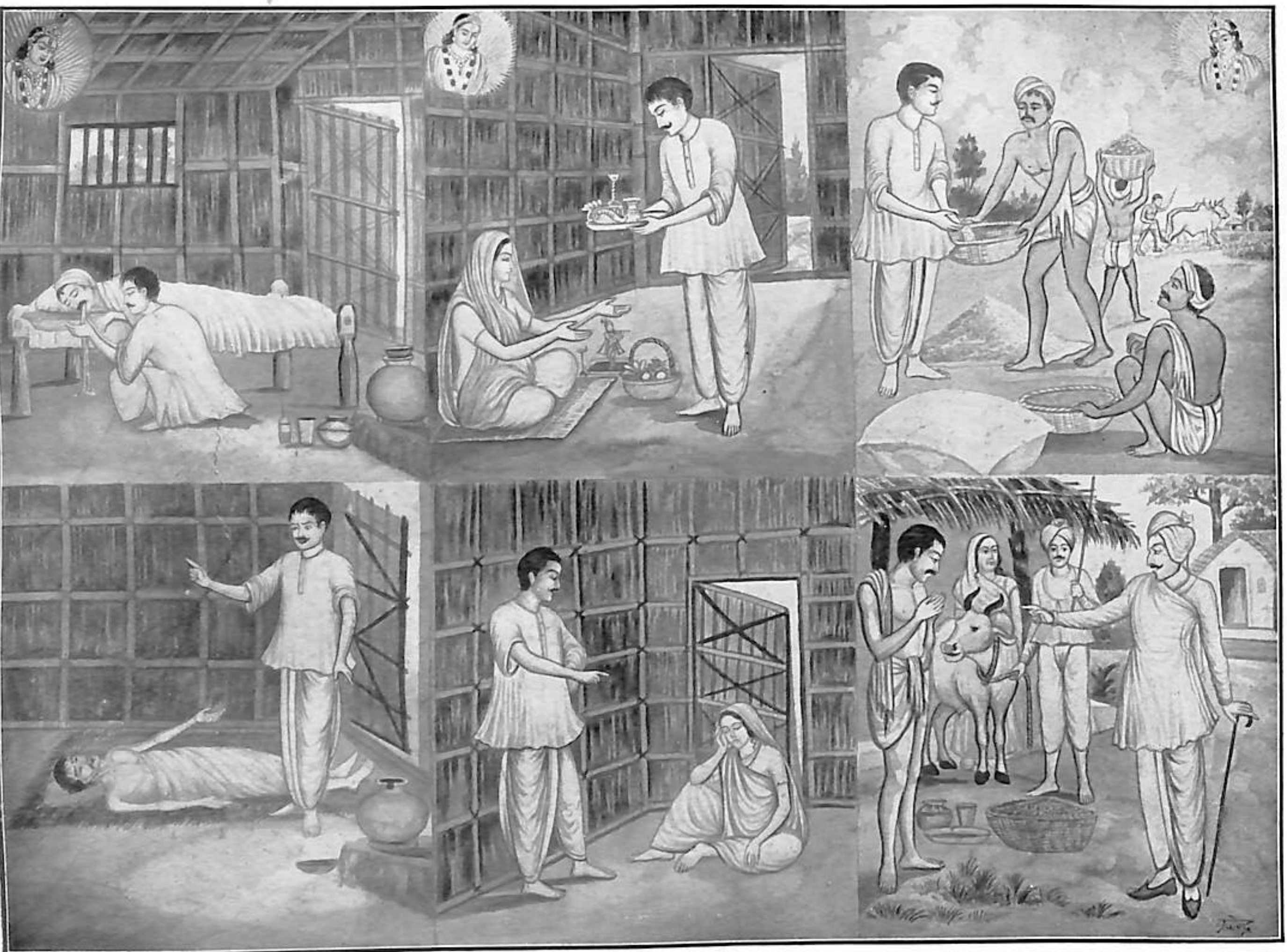
'मैं ही ईश्वर हूँ, मैं नाना प्रकारके भोग और विलासोंका आनन्द लेनेवाला हूँ, समस्त सिद्धियाँ मेरा पैर चूमती हैं, बल-पराक्रममें मेरा मुकाबला कौन कर सकता है और सुख! सुखको तो मैं जब चाहूँ, जैसे चाहूँ मनमाना नाच नचाता हूँ। मैं सम्पन्न हूँ, मेरा धनबल और जनबल अपार है। मेरे समान दूसरा है ही कौन ?' इसे विनाशकालकी विपरीत बुद्धिका प्रमाण न समझा जाय तो और क्या समझा जाय ?

दुःखोंसे जलती हुई इस दुनियामें सेवाकी तनिक-सी चेष्टा, आश्वासनका एक शब्द, सहानुभूतिकी एक बात ही हृदयको शान्त और शीतल कर देती है। परन्तु हम ऐसे अधम हैं जो इतना-सा भी नहीं करना चाहते ! जगत्के लिये यह परम सन्तोषका हेतु है कि अभी हमारे बीच ऐसे भगवत्-जन हैं जो दुःखकी चादर ओढ़कर आये हुए भगवान् वासुदेवको ठीक-ठीक पहचान लेते हैं और मन-ही-मन उनका स्वागत करते हुए कहते हैं, 'अच्छा प्रभो ! यदि आप इस रूपमें ही कृपा कर आये तो आपका इसी रूपमें मैं स्वागत कर रहा हूँ। आपके सभी रूप भले लगते हैं। दीन, हीन, कङ्काल, निरीह और पददलितोंके रूपमें आये हुए मेरे दीनबन्धु हरि ! तुमने सेवाका सुअवसर प्रदान कर मुझे कृतार्थ कर दिया ! भूखमरोंमें छिपे हुए तुम्हीं तो अन्न माँग रहे हो, रोगीके भीतर बैठे तुम्हीं तो सेवा और परिचर्याकी प्रतीक्षा कर रहे हो, बेवा-बेकसोंमें छिपे हुए तुम ही तो समाश्वासनकी बाट जोह रहे हो ! तुमने यह अवसर प्रदान किया यह तुम्हारी अपार कृपा ! परन्तु नाथ ! मुझे बल दो, अपनी दिव्य वाणीका अनुसरण करनेकी शक्ति प्रदान करो। ऐसे नेत्र दो कि मैं तुम्हें इन रूपोंमें देखकर कभी भूल न जाऊँ ! ऐसा हृदय दो कि मैं तुम्हारा ही दिया हुआ और वास्तवमें तुम्हारा ही तन, मन, धन सब तुम्हारी ही सेवामें लगाकर अपनेको तुम्हारा तुच्छातितुच्छ 'जन' प्रमाणित कर सकूँ। मुझमें शक्ति नहीं है। तुम्हीं मुझसे करवा लो नाथ ! अपनी यह सेवा।

प्रार्थना

निर्विकार निर्लेप नियन्ता निखिल ब्रह्मपर हे स्वामी !
अच्युत अलख अनादि अगोचर हे अनन्त अन्तर्यामी !
सुन्दर मधुर सकल सुखकर मुरली धर अधर बजाते हो।
द्वेष दम्भ दारुण दुख दरते दीनबन्धु कहलाते हो॥
लकुट ललाम, ललित लट धारे, लीला लय करनेवाले।
पावन परम पीतपट पहिने, पापोंके हरनेवाले॥
केशव कृष्ण किशोर कन्हैया, केवल तुम्हरी है आशा।
शरण गहेकी लाज रहे, अब हूँ तव दर्शनका प्यासा॥

—'अरुण'



सेवा और सहानुभूतिमें भगवान्

श्रीगीता-तत्त्व

(लेखक—महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक)

श्रीमद्भगवद्गीता भागवत-धर्मका ग्रन्थ है, भक्ति-शास्त्र है। धर्मके पुत्र नर, नारायण—ये ही आदिमें भागवत-धर्मके प्रवर्तक हुए हैं। अर्थात् स्वयं भगवान् ही इसके सर्वे-सर्वा हैं। वर्णाश्रमधर्मकी कठोर नीतिके कारण परमार्थसे वञ्चित हुए लोगोंके कल्याणार्थ भगवान्हीने इस धर्मको प्रवृत्त किया *। भगवान्हीने इस गुह्य तत्त्वका सूर्यनारायणको इसलिये उपदेश किया कि सब प्रकारके, सब योनियोंके जीवोंमें अध्यात्मज्ञानका सरलतासे प्रचार हो जाय। सूर्यने वैवस्वत मनु (वर्त्तमान समयके मन्वन्तरके अधिपति) को इसका उपदेश किया—जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव-सृष्टिमें, इस हृदयके धर्मकी (भागवत-धर्मकी) सबके अन्तःकरणोंमें प्रतिष्ठा हो गयी; सबके हृदयमें प्रेमके उज्ज्वलरूपमें भगवान् ही प्रतिष्ठित हो गये। उसी प्रेमके सोतेसे पातिव्रत्यरूपमें ऐसी गङ्गा बही जिसमें नारी-जाति (वेदसे वञ्चित जाति) का कल्याण हुआ। उनकी प्रेम-निष्ठा, पति-प्रेमकी ऐकान्तिक छटाके सामने बड़े-बड़े वेदज्ञ मुनियोंके जप-तप हलके जँचने लगे। भ्रातृप्रेम, पिताके प्रति प्रेम, गुरुनिष्ठा आदि उसी पवित्र गङ्गाकी भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं। क्योंकि वैवस्वत मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको भागवत-धर्मका उपदेश किया। वे ही प्रथमतः नरनायक हुए थे। उनके द्वारा रघुवंशियोंमें एवं निमिवंशियोंमें इस प्रेम-तत्त्वका (गीता-तत्त्वका) अच्छा प्रचार हुआ, जिससे आगे चलकर मिथिलाके रङ्गमञ्चपर परम ज्ञानी जनकराजद्वारा भागवत-धर्मकी अधिष्ठात्री-देवी परमा आह्लादिनी शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर राम-राज्यके कारण सुप्रतिष्ठित वर्णाश्रमधर्म–'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग' के प्रबल प्रवाहमें, इस पृथ्वीलोकमें उस भक्ति-योगका लोप हो गया। भगवान् कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

(गीता ४ । १-२)

इसका सच्चा अर्थ नारायणीय-धर्मकी समस्त परम्परा देखनेसे स्पष्ट मालूम हो जाता है। ब्रह्माके कुल सात जन्म हैं। इनमेंसे पहले छः जन्मोंकी, नारायणीय-धर्ममें कथित, परम्पराका वर्णन हो चुकनेपर, जब ब्रह्माके सातवें, अर्थात् वर्तमान जन्मका कृतयुग समाप्त हुआ, तब—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप॥
यतीनाञ्चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥

(म० भा० शा० ३४८ । ५१–५३)

'त्रेतायुगके आरम्भमें विवस्वान्ने मनुको (यह धर्म) दिया, मनुने लोकधारणार्थ यह अपने पुत्र इक्ष्वाकुको दिया और इक्ष्वाकुसे आगे सब लोगोंमें फैल गया। हे राजन्! सृष्टिका क्षय होनेपर (यह धर्म) फिर नारायणके पास चला जायगा। यह धर्म और 'यतीनाञ्चापि' अर्थात् इसके साथ ही संन्यासधर्म भी तुझे पहले भगवद्गीतामें कह दिया गया है।'

श्रद्धेय लोकमान्य तिलकजीने 'गीता-रहस्य' में उपर्युक्त दोनों परम्पराओंको देकर अपनी अकाट्य युक्तियोंसे सिद्ध कर दिया है कि गीता भागवतधर्मीय ग्रन्थ है–अर्थात् ऐसा भक्तिशास्त्र है जिसका विरोध किसीसे नहीं, मेल सबसे है और जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान और भगवदनुरागपरक अपूर्व वैराग्य ओत-प्रोत—भरा है। आपने यह भी कहा है—'यदि इस विषयमें कुछ शङ्का हो, तो महाभारतमें दिये गये वैशम्पायनके इस वाक्य—'गीतामें भागवतधर्म ही बतलाया गया है' (म० भा० शा० ३४६ । १०) से वह दूर हो

* यह सिद्धान्त नहीं किया जा सकता कि केवल पहले तीन वर्णोंके पुरुषोंको ही मुक्ति मिलती है, प्रत्युत यह देखा गया है कि स्त्री, शूद्र आदि सभी लोगोंको मुक्ति मिल सकती है; तो अब बतलाना चाहिये कि उन्हें किस साधनसे ज्ञानकी प्राप्ति होगी। बादरायणाचार्य कहते हैं—'विशेषानुग्रहश्च' (वे० सू० ३ । ४ । ३८)। यह भागवतधर्मपरक है।

जाती है।' परन्तु 'गीता-रहस्यकार' ने नारदपाञ्चरात्रमें बताये हुए चतुर्व्यूह-प्रकरणको गीताशास्त्रके विरुद्ध बतलाया है। इसपर इतना ही कहना है कि उस प्रसङ्गको सृष्टि-विकासकी ओर न खींचकर अद्वैतवादियोंकी प्रिय उपनिषद् 'माण्डूक्योपनिषद्' की चार अवस्थाओंके विभु-प्रकरणके साथ विचार करने और श्रीरामावतारके श्रीराम (वासुदेव), श्रीलक्ष्मण (सङ्कर्षण), श्रीभरत (प्रद्युम्न) और श्रीशत्रुघ्न (अनिरुद्ध) के चरित-विशेषपर मनन करनेसे अच्छा समाधान हो जाता है और गीतामें प्रतिपादित भागवतधर्मके अनुकूल हो जाता है। बढ़ते हुए साम्प्रदायिक द्वेषको रोकनेके लिये यह आवश्यक हो गया है कि निष्पक्षविचारक संतजन इसपर ध्यान दें और अपनी स्वाभाविक शान्तिके साथ विचार करके इसकी सङ्गति उपर्युक्त रीतिसे लगा दें। गीताजीमें चार महापुरुषोंकी चर्चा है, यथा—(१) स्थितप्रज्ञ पुरुष, (२) त्रिगुणातीत पुरुष, (३) भक्तिमान् पुरुष और (४) निष्कामकर्मयोगी पुरुष। इन्हींको प्रकारान्तरसे चतुर्व्यूह समझ लीजिये तो अच्छी सङ्गति लग जाती है।

कुछ ज्ञानी यह कहा करते हैं कि वेदमें भक्तिवाद नहीं है, परन्तु उनका कहना ठीक नहीं है। शाण्डिल्य-सूत्रके टीकाकार स्वप्नेश्वराचार्यने छान्दोग्य उपनिषद्से एक मन्त्र उद्धृत किया है। उसमें 'भक्ति' शब्दका व्यवहार न होनेपर भी भक्तिवादका सार-मर्म निहित है। वह मन्त्र है—'आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवतीति।' अर्थात् (पहले जो कुछ कहा गया है) आत्मा यह सभी है। जो इसे देखकर, इसे सोचकर, इसे जानकर, आत्मामें रत होता है, आत्मामें खेलता है, आत्मा ही जिसका मिथुन (सहचर) है, आत्मा ही जिसका आनन्द है, वह स्वराट् है, अपना राजा या अपनेद्वारा रञ्जित होता है। यह यथार्थ भक्तिवाद है। इस मन्त्रके ऋषि सूत्रकार शाण्डिल्य ही हैं। महर्षि घोरआङ्गिरस और देवकीपुत्र श्रीकृष्णका वैदिक प्रसङ्ग भी भक्तिपरक ही है और उसी उपदेशका विकास गीतामें हुआ है।

गीता-तत्त्वके व्याख्याता स्वयं भगवान् ही हैं और भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं। इसलिये गीता-ज्ञान भी सर्वत्र व्यापक हो गया। क्या सनातनी, क्या जैनी, क्या बौद्ध, क्या मूसाई, क्या ईसाई, क्या मुहम्मदी—सभी नररूपधारी भगवान्‌को माननेवालोंमें जो भक्ति-तत्त्व है, वह गीताहीका है। आगे 'विचित्र घटना'के पठनसे यह बात प्रकट हो जायगी।

विचित्र घटना

भगवान् बुद्धके अवतारसे बहुत पहलेसे ही भागवत-धर्मका प्रचार चला आ रहा था। सनातनी विचारसे तो अनादिकालसे किन्तु लोकमान्य तिलकमहाराजकी विवेचनाके अनुसार १४०० वर्ष पहलेसे तो उसका प्रचार हो ही चुका था। अस्तु, बुद्ध भगवान्‌के निर्वाणके पश्चात् जो निर्मल भक्तिकी धारा जनताके हृदयमें उदय हुई, उससे प्रेरित होकर घर-घर भगवान् बुद्धकी मूर्तिकी अनेकरूपसे प्रतिष्ठा हो गयी और ठीक भागवत-धर्मीय रीतिसे विना सोचे-समझे पूजा भी जारी हो गयी। यह ऐसी लहर थी जिसका प्रतिबन्ध करना काल-कर्मके लिये भी असम्भव था। विचारशील बौद्धाचार्य—जैसे सुप्रसिद्ध नागार्जुनजी इस प्राकृतिक परिवर्तनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे। उन्होंने यह निश्चय किया कि वास्तवमें यह प्राकृतिक परिवर्तन भगवान् बुद्धकी ही अद्भुत लीला है। क्योंकि भगवान् बुद्धने दया करके अपनी 'उपायचातुरी' से इस भक्तिमार्गको निर्मित किया है (सद्धर्म-पुण्डरीक ३। ४)। यह गुप्त-तत्त्व है और महायान है।

वहींपर भागवत-धर्मीय श्रीवासुदेवोपासक श्यामभद्रजी रहते थे। सिद्ध नागार्जुनजीमें और उनमें सौहार्दसम्बन्ध बहुत दिनोंसे स्थापित था। श्यामभद्रजी संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके पण्डित, सदाचारी, मिताहारी, मितभाषी और राग-द्वेषरहित ब्राह्मण थे। वे श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ मन-ही-मन सदा करते रहते थे और उन्हें नर-नारायणके दर्शन उभयरूपसे प्रत्यक्ष होते थे। ऐसे सुहृद्, निर्दम्भ, सात्त्विक महात्माके समक्ष एक दिन नागार्जुनजीने उपरिलिखित प्रश्नको उपस्थित किया। श्यामभद्रजीने उस प्रश्नके समाधानमें कहा—'भगवान् बुद्धकी शिक्षाएँ जो संग्रह की गयी हैं, उनके तात्पर्यको समझना बहुत कठिन है। पहले तो इसीपर विचार कीजिये—'बुद्धं शरणं गच्छ', 'सङ्घं शरणं गच्छ' इन साङ्केतिक मन्त्रोंका क्या तात्पर्य है! यह नररूपधारी भगवान्‌की पूजा-आराधना नहीं है तो और क्या है? मानवरूप भगवान् ही भागवत-धर्मके इष्ट हैं, क्योंकि भागवत-धर्म प्रत्यक्षवादी धर्म है, जैसे ज्योतिष्शास्त्र ही सब शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष शास्त्र है। अब इस घटनासे आप लोग भी अपनेको भागवत-धर्मावलम्बी उसी तरह स्वीकार कीजिये

जिस तरह सैकड़ों वर्ष पहलेसे ही जैनाचार्योंने स्वीकार किया है । श्रीमद्भागवतमें पहलेसे ही भगवान् बुद्धको नवम अवतार माना है । महर्षि व्यासदेवकी वाणी प्रमाण है, इसका अनुभव आज आप लोगोंको प्रत्यक्ष हो रहा है । अस्तु, जब उपनिषदोंमें प्रतिपादित वैराग्य, कामना और वासनाका त्याग, जन्म-मरणका चक्र एवं ब्रह्मा, इन्द्र, महेश्वर, ईश्वर, यम आदि अनेक देवता और उनके भिन्न-भिन्न स्वर्ग, पाताल आदि लोकोंका अस्तित्व भगवान् बुद्धको मान्य है, तब अपने जीवन-कालमें अपने भगवदीय तत्त्वको छिपानेके लिये यदि विज्ञानवादका समर्थन भगवान्ने किया है तो यह भी उपासकोंकी दृष्टिमें भगवान्की अद्भुत लीला ही है । असली बुद्धका कभी नाश नहीं होता, वह तो सदैव ही अचल रहता है; तब सब उपनिषदोंके सार गीता-तत्त्वके अनुसार क्यों न कहा जाय कि असली बुद्ध सारे जगत्का पिता है और जन-समूह उसकी सन्तान हैं, अतएव वह सभीके लिये समान है। न वह किसीपर प्रेम ही करता है और न किसीसे द्वेष ही करता है; धर्मकी व्यवस्था बिगड़नेपर वह 'धर्मकृत्य' के लिये समय-समयपर बुद्धके रूपमें प्रकट हुआ करता है । तब इन देवादिदेव बुद्धकी भक्ति करनेसे, उनके ग्रन्थोंकी पूजा करनेसे और उनके डागोवाके सम्मुख कीर्तन करनेसे अथवा उनके चरणोंमें भक्तिपूर्वक दो-चार कमल या एक फूल समर्पण कर देनेहीसे मनुष्यको सद्गति प्राप्त होती है, इसमें तो कुछ सन्देह नहीं । किसी मनुष्यकी सम्पूर्ण आयु दुराचरणोंमें क्यों न बीत गयी हो, परन्तु मृत्युके समय यदि वह बुद्धकी शरणमें चला जाय तो उसे स्वर्गकी प्राप्ति अवश्य ही होगी । क्योंकि 'तेविज्जसुत्त'में स्वयं भगवान् बुद्धने 'ब्रह्मसहव्यताय' स्थितिका वर्णन किया है और 'सेलसुत्त' तथा 'थेरगाथा' में उन्होंने स्वयं कहा है कि 'मैं ब्रह्मभूत हूँ' (सेलसु० १४; थेरगा० ८३१) ।

यह समाधान करते-करते परम भागवत श्यामभद्रको आवेश आ गया । आँखें तन गयीं, सामने ज्योति जगमगा उठी । उस प्रकाशपुञ्जसे विचित्र ध्वनि भी निकलने लगी । सिद्ध नागार्जुन सावधान थे । ध्वनिके स्पष्टार्थको समझनेकी उत्सुकता बढ़ती जाती थी । परन्तु उस ज्योतिने सीधे श्यामभद्रके मुखमण्डलको आवृत किया—उसी तरह ढक लिया जिस तरह सुषुप्तिमें अज्ञान चित्स्वरूपको ढक लेता है । और वह दिव्य ध्वनि उनके कर्णरन्ध्रोंसे होकर अन्तः-करणमें प्रवेश कर गयी । वहाँ उसने प्राणमें प्रवेश किया। फिर अपरा, मध्यमा और पश्यन्तीको मँझाती हुई वैखरीमें पहुँची । कण्ठ खुल गया । वर्णात्मकध्वनि निकली—'मैं राहुल हूँ, भगवान् बुद्धका उत्तराधिकारी ।'

नक़शा पलट गया । नाम बदल गया । अब श्यामभद्रसे 'राहुलभद्र' हो गये, तबसे इसी नामसे प्रसिद्ध हुए । महायान (अर्थात् भागवत-धर्म) सम्प्रदायके ये ही प्रवर्त्तक और आचार्य हुए । उसी समय सिद्ध नागार्जुन उनके शिष्य हो गये । अनन्तर भागवत-धर्मके तीनों प्रस्थानोंसे सम्पन्न होकर उन्होंने गीता-तत्त्वका—नर-रूपधारी भगवान्की आराधनाका भक्ति-मार्ग सम्पूर्ण भूमण्डलमें प्रसिद्ध और प्रचारित कर दिया । राहुलभद्रकी अध्यात्मशक्तिका प्रभाव देखिये कि ऐसे-ऐसे धुरन्धर प्रचारक इस सम्प्रदायमें उत्पन्न हुए, जिन्होंने जल-थलकी सब बाधाओंपर विजय प्राप्त करते हुए पृथ्वी-गोलकको छान डाला, सर्वत्र धर्मका प्रचार किया । इस धर्मने एक ऐसा अद्वितीय सम्प्रदाय विकसित किया, जिससे शासित होकर 'आर्य-सत्य' और 'शील' खूब फूले-फले ।* अनन्तर राहुलभद्रको एक दिन स्वप्नमें माता यशोधराने दर्शन देकर कहा—'वत्स, चलो, अब धर्म-प्रचारके लिये विदेशोंमें जन्म धारण करें ।' इस स्वप्नके बाद राहुलभद्रने सिद्ध नागार्जुनको धर्ममें निष्ठित करके शरीरत्याग कर दिया ।

यवन डियनका पुत्र हीलियोडोरस, यवनराज एन्टिआल्किड्सका दूत—जो विदिशाके राजा काशीपुत्र भागभद्रके यहाँ रहता था—भागवत-धर्मानुयायी था । वह भगवान् वासुदेवका बड़ा भक्त था । उसने वासुदेव-मन्दिरमें अपनी श्रद्धासे

* Dr. Kern says in the 'Manual of Indian Buddhism':—Not the Arhat, who has shaken off all human feeling, but the generous, self-sacrificing, active Bodhisattva is the ideal of the Mahayanists and this attractive side of the creed has, more than anything else, contributed to their wide conquests. Mahayanism lays a great stress on Devotion, in this respect as in many others harmonizing with the current of feeling in India which led the growing importance of *Bhakti*.

गरुड़-ध्वज स्थापित किया था ।* भारतीय उसे हलधरदास कहते थे । वह कुछ-कुछ संस्कृत भी जानता था; उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और भगवद्गीताको उसने परिश्रमपूर्वक पढ़ा था । वह एक ब्राह्मणसे महाभारतकी कथा सुना करता था । प्राकृत भाषाका तो वह पण्डित ही था । उसने अपने शिला-लेखको स्वकल्पित स्वतन्त्र भाषामें लिखकर यूनानी प्राकृतको जन्म दिया था । एक दिन वह राजा भागभद्रकी सभामें बैठा हुआ ही समाधिस्थ हो गया । उसके मुखमण्डलपर अपूर्व तेज छा गया । राजा टकटकी लगाये देखते रहे । समाधिभङ्ग होनेपर उसने कहा कि—'राजन्! अब मैं अपने देशको जाऊँगा और वहाँसे यहूदियोंके देशमें जाकर उस यज्ञकर्मप्रधान जातिमें भक्तितत्त्वका प्रचार करूँगा। मुझे भगवान्‌की ऐसी ही आज्ञा हुई है ।' इस समाचारको सुनकर सभासद्‌समेत राजा विस्मित हुए । कुछ कहना चाहते थे, किन्तु न कह सके ।

हीलियोडोरस अपने देशको गया । वहाँ उसने 'ऐशकम्मिन' लोगोंका एक दल बनाया। भारतीय भागवत 'ऐश-धम्मा' को उसका मुखिया बनाया। यह भागवत-धर्मीय संन्यासी बड़ा पराक्रमी था । वह बीसों वर्षसे प्रति वर्ष यहूदियोंके देशमें जाता था† और कुछ दिन रहकर अपने धर्मका प्रचार करता था । वह यहूदी-भाषाका पण्डित हो गया था । ऐसे निष्काम कर्मयोगीके नेतृत्वमें और हीलियोडोरस-जैसे भागवतकी प्रेरणासे यह दल लाल-सागरके निकट पहुँचा । मार्गमें महायान-सम्प्रदायी बौद्ध भिक्षु भी मिल गये थे । इन लोगोंने वहाँसे प्रस्थान कर मृतसमुद्र (Dead Sea) के पश्चिमी किनारेपर एंगुंदीमें अपना प्रधान मठ स्थापित किया । धीरे-धीरे यहूदीलोग श्रद्धापूर्वक इस मठमें दीक्षा और शिक्षाके लिये आने लगे ।

भागवत ऐश-धम्माने 'ऐशी, एसी अथवा एसीन' नामक संन्यासप्रधान भक्तिमार्गका प्रचार किया । मीमांसा-शास्त्रानुसार कर्मके 'सहज', 'ऐश' और 'जैव'—तीन भेद हैं । सहज कर्मद्वारा ब्रह्माण्ड-गोलककी जडमयी सृष्टि उत्पन्न होती है । उस जडतामें चैतन्यका योग लानेके लिये 'ऐश-कर्मप्रवाह' आरम्भ हो जाता है और उसके द्वारा विशाल दैवी राज्य (Kingdom of God) उत्पन्न हो जाता है । जिस तरह ब्रह्माण्डमें, उसी तरह पिण्डमें भी 'ऐशकर्म-प्रवाह'—भागवत-कर्म, ईश्वरीय-कर्मप्रवाहसे, भगवद्भजनसे, बैजी (मैथुनी) सृष्टिवाले जीवोंका अतिशय कल्याण होता है । 'ऐश-कर्म' के विषयमें भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**
> **मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥**
> **मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥**

ऐशीमतमें यहूदियोंको तुरंत दीक्षा नहीं दी जाती थी । तीन वर्षतक लगातार संयमित जीवन बितानेपर और कठिन प्रतिज्ञा करनेके अनन्तर उन्हें दीक्षा दी जाती थी । इसलिये चुने हुए लोग, सच्चे जिज्ञासु ही इस मतमें प्रविष्ट हो सकते थे । दीक्षाके प्रार्थीसे कहा जाता था— (१) शान्त स्थानमें बैठकर परमेश्वरके चिन्तनमें समय बिताना, (२) हिंसात्मक यज्ञ-याग कभी न करना, (३) नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहना, विवाह कभी न करना, (४) जीवन-निर्वाहके लिये यदि कुछ उद्योग करना पड़े तो खेती करना उत्तम है, (५) मद्य-मांसको छूना नहीं, (६) हिंसा मनसा-वाचा-कर्मणा कभी न करना, (७) शपथ मत खाना, (८) सङ्घके साथ मठमें रहना और (९) यदि किसीसे कुछ द्रव्य प्राप्त हो तो उसे सङ्घकी सम्पत्ति समझना, अपनी नहीं । इन नौ नियमोंका पालन तीन वर्षतक करनेके अनन्तर जिज्ञासुको दीक्षा दी जाती थी । दीक्षाके पहले स्नान कराया जाता था और (१) दैन्यभाव, (२) सहनशीलता

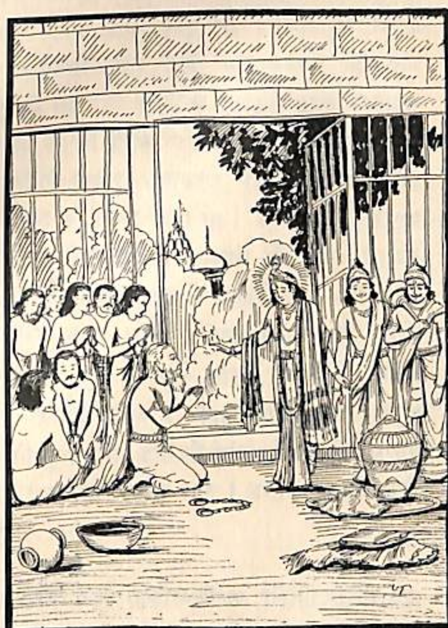
---

* वेसनगर (विदिशा) के गरुड़ध्वजका सिन्दूर उतर जानेसे उसपर एक बड़े महत्त्वका लेख सर जान मार्शलके हाथ लगा । डाक्टर फोजलने १९०८–९ के 'ऐनुअल आफ दी डायरेक्टर जनरल आफ आर्कियालाजी इन इंडिया'में छपवाया है । शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

(१) देवदेवास वा [सुदे] वस गरुडध्वजे अयं (२) कारितो हिलिओदोरेणा भाग (३) वतेन दिवसपुत्रेण ताक्ष-शिलाकेन (४) योनदूतेन आगतेन महाराजस्स (५) अ [ं] तलि [ि] कतस उपंता सकासं रञो (६) कासीपुतस भागभद्रस त्रातास (७) वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस ॥

अर्थ यह है कि तक्षशिलाके निवासी दियाके पुत्र, भागवत हिलियोदोर, योनदूतने, जो राज्यके चौदहवें वर्षमें विराजमान राजा काशीपुत्र भागभद्र त्रातारके यहाँ महाराज अंतलिकितके पाससे आया हुआ था, देवदेव वासुदेवका यह गरुड़ध्वज बनवाया ।

† See Plutarch's Morals—Theosophical Essays, translated by C. N. King, pp. 96–97.



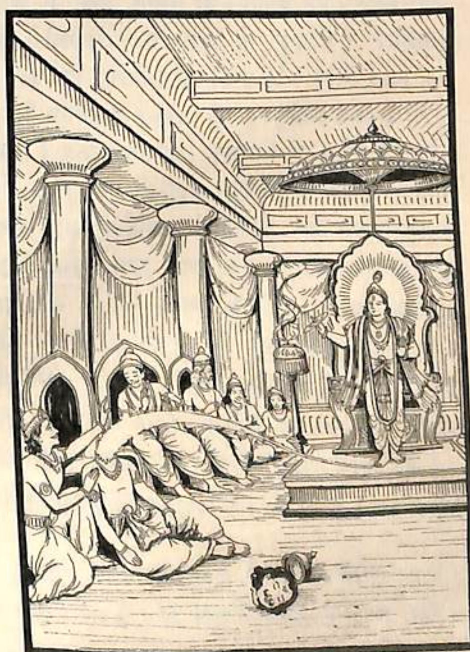
राजाओंकी बन्धन-मुक्ति



चरण-प्रक्षालन



अग्रपूजा



शिशुपाल-उद्धार

एवं (३) दयाभावसम्बन्धी प्रतिज्ञाएँ करवायी जाती थीं। उस समयका दृश्य अपूर्व होता था । भगवान्में अटल प्रीति और प्रतीतिकी लहर सच्चे अन्तःकरणसे निकलकर दिशा-विदिशामें व्याप्त हो जाती थी । सबका हृदय भगवत्-चरणारविन्दोंमें अर्पित होनेके लिये उतावला हो उठता था। दीक्षा प्राप्त होनेके पश्चात् नामकरण होता था और वह सङ्घमें सम्मिलित कर लिया जाता था। इस प्रकार सङ्घका प्रचार यहूदियोंमें, देशभरमें, पर्याप्तरूपसे हो गया। एंगुंदी-मठका भी सम्पूर्ण अधिकार यहूदी भक्तोंको मिल गया और भारतीय प्रचारक परम भागवत ऐश-धम्मा अपने दलके साथ ईरानको चले गये। वहाँ जाकर शीराज़में उन्होंने अपना मठ स्थापित किया। वेदान्त-परिभाषाका उल्था पहलवी भाषामें हुआ और हीलियोडोरस भागवतकी प्रेरणासे उसका नाम 'तसउफ़' रक्खा गया। उसीपर सूफ़ीमतकी स्थापना हुई।

विक्रम संवत् ४०में गालील-झीलके पश्चिमी तटपर एक शिशु-कन्या लहरियोंसे खेलती हुई पायी गयी। एक दयालु व्यक्तिने उसे निकालकर पाला-पोसा। उसका नाम मरियम रक्खा। वह बचपनसे ही एकान्त पसंद करती थी। वह न किसीसे बात करना चाहती थी, न मिलना-जुलना। उसके मनमें किसी वस्तुकी इच्छा ही न थी। सयानी हुई, तब भी वही ऐकान्तिक रंग-ढंग। उसने विवाह नहीं किया, ऐशी-पंथकी शिक्षाके अनुसार। परन्तु विक्रम संवत् ५३में वह पुत्रवती हुई और उसके ही जठरसे खुदावंद ईसू-मसीहका जन्म हुआ। मरियमके चरित्रके सम्बन्धमें किसीको भी सन्देह न हुआ। सबने इसको अलौकिक घटना माना। क्योंकि ऐशी-पंथके लोगोंको इसका रहस्य पहलेहीसे मालूम था ओर वे यर्दन नदीके आस-पास तप करनेवाले तपस्वी योहनके द्वारा लोगोंको आनेवाले मसीहको स्वीकार करनेके लिये तैयार करा रहे थे। इतनेमें ईरानसे ऐश-धम्माके अनुयायियोंका एक दल पहुँचा। भागवत हीलियोडोरसके नाती निगारियसके नेतृत्वमें यह दल आया था। शिशुके आगे भेंट चढ़ानेके पश्चात् इस दलने पहला काम यही किया कि ४०वें दिन, मरियमके सूतिकागृह-त्याग और बच्चेको सुलेमानके मन्दिरमें ले जाने और आशीष प्राप्त करनेके अनन्तर, शिशु-परिवारको गुप्त-रीतिसे मिश्रमें पहुँचा दिया। जबतक यहूदियोंका बादशाह हिरोद मरा नहीं, तबतक माता मरियम अपने प्यारे शिशुके साथ मिश्र देशमें ही रहीं। जब मसीह बारह वर्षके हुए, तब निगारियसके साथ अनेक देशोंका भ्रमण करते हुए वे भारतके तक्षशिला प्रदेशमें पहुँचे। भागवत निगारियसकी संरक्षामें उन्होंने भागवत-धर्मका अच्छा अध्ययन किया। पूर्व संस्कारकी जाग्रति हुई।* श्रीमद्भगवद्गीता, धम्मपद और सद्धर्म-पुण्डरीक—यही तीनों ग्रन्थ उनके अध्ययनके विषय थे। उन्होंने मुनि योगश्रीसे योगाभ्यास भी सीखा, समाधि लगा सकनेतककी योग्यता प्राप्त कर ली। इसी तरह उन्होंने दिव्य उपासक श्रीरङ्गजीसे पञ्चरसात्मिका भक्तिका रहस्य-ज्ञान और अनुष्ठान-क्रम भी प्राप्त करके वात्सल्य-रसात्मिका भक्तिका अनुसरण किया और रससिद्ध हुए। भगवान्ने प्रकट होकर उन्हें 'वत्स' कहा। तबसे भगवान्में उनकी निर्भ्रान्त दृढ निष्ठा हो गयी। इस प्रकार आध्यात्मिक सामग्रियों और सम्पत्तियोंसे सम्पन्न होकर और भागवत निगारियसको बार-बार धन्यवाद देकर खुदावंद ईसूमसीह अकेले स्वदेशको लौट गये। भगवदीय प्रेरणासे अनुशीलित होकर उनको ऐसा करना ही पड़ा। किसीसे मिले नहीं कि लोग रोक लेंगे, जाने न देंगे। नासरतमें पहुँचनेपर अपने घरपर माता-पिताके आश्रयमें रहने लगे, परन्तु परम पिताको नहीं भूले। तीस वर्षकी अवस्थातक वे उसी ग्राममें रहे। तीसवें वर्ष उन्होंने साधु 'योहन'से (जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है) बपतिस्मा लिया। जब वह बपतिस्माके लिये यर्दन नदीमें स्नान कर रहे थे, उसी समय एक ईश्वरीय दिव्य ज्योतिने उनके शरीरमें प्रवेश किया। उसी आवेशकी अवस्थामें वे वहाँसे जङ्गलको चले गये और ४० दिनोंतक भूखे-प्यासे तपस्यामें लीन रहे। केवल उस अलौकिक तेजोबलसे यह तपस्या हुई। उस तेजसे पराभूत होकर हिंस्र जन्तु भी पलायमान हो गये थे। सोना जब अग्निमें तपाया जाता है, तभी वह निखरता है, उसमें तेजस्विता आती है; उसी तरह आध्यात्मिक निखारके लिये रामजी अपने भक्तोंको खूब तपाते हैं, देहाभिमान छुड़ानेके लिये भक्तोंकी अग्नि-परीक्षा लेते हैं, और कसौटीपर कसकर खरा स्वर्ण लोगोंको दिखा देते हैं। तब वह भक्त 'महापुरुष' कहलाता है। वह पृथ्वीपर भगवान्का

* नेपालके एक बौद्धमठके ग्रन्थमें मसीहके भारता-गमनका स्पष्ट उल्लेख है। यह ग्रन्थ निकोलस नोटोविश नामके एक रूसीके हाथ लग गया था। उसने इसका अनुवाद फ्रेंचभाषामें सन् १८९४ ई० में प्रकाशित किया था।

प्रतिनिधि समझा जाता है। इसी अग्नि-परीक्षाके लिये वे भारतसे खींचकर नासरतमें लाये गये। तपके अनन्तर जब वे धर्मोपदेश करने लगे तब स्वग्रामवासियोंने उन्हें मार भगाया। फिर वे लौटकर अपने ग्रामपर नहीं गये। घूम-फिरकर सिर-इशलीममें रहते थे। उपदेश देनेके अतिरिक्त उन्होंने भगवत्प्रेरणासे कुछ चमत्कार भी दिखलाये। मुरदेको जिलाया, रोगियोंको चंगा किया, अंधोंको आँखें दीं, कितनोंको प्रेतमुक्त किया, पानीको मदिरा बनाया, केवल पाँच रोटियोंसे पाँच हज़ार लोगोंको खिलाया। इसपर यरूशलीमके पुरोहित बिगड़ गये और उनके जानी दुश्मन बन गये। मसीह देहातोंमें भ्रमण करके उपदेश देने लगे। उपदेशका सार यह था—'हमें हिंसात्मक यज्ञ नहीं करना चाहिये; मैं ईश्वरकी कृपा चाहता हूँ। ईश्वर तथा द्रव्य दोनोंको साध लेना सम्भव नहीं। जिसे अमृतत्वकी प्राप्ति कर लेनी हो, उसे पुत्र, कलत्र सबकी ममता छोड़कर-'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—मेरा भक्त होना चहिये। उस दिन तुम जानोगे कि मैं अपने पितामें, तुम मुझमें और मैं तुममें हूँ। जो मुझपर प्रेम करता है, उसीपर मैं प्रेम करता हूँ। तू अपने पड़ोसियों और शत्रुओंपर भी प्रेम कर।' ये गीता और धम्मपदके उपदिष्ट तत्त्व स्वार्थमें सने हुए यहूदियोंकी समझमें कैसे आवें। ईसाने देखा कि कोई उन्हें माननेको तैयार नहीं है। क्या नासरत, क्या गालीलके बाशिंदे, क्या कफ़र्नाहुम और क्या बथसैदाके मछुए, किसीके यहाँ इनकी रसाई नहीं हुई। सब जगहसे उन्हें निराश होना पड़ा। रह गये बारह चेले। इनमेंसे तीन ही अर्थात् जेम्स, जान और पिटर प्रिय शिष्य थे। ये पुरातन राहुलभद्रके विश्वासपात्र अनुयायी थे। ये धर्म-प्रचारार्थ इस देशमें जन्मे थे; और राहुलभद्रका जानी दुश्मन यादव अपना बदला लेनेके लिये यहूदा नामसे जन्मा था और ईसाकी शिष्यमण्डलीमें भरती हो गया था।

ईसाने हर जगहसे निराश हो, तैंतीस वर्षकी आयुमें अपने चेलोंसमेत यरूशलीमकी आखिरी यात्रा की। यहूदियोंके जातीय त्योहार 'निस्तारपर्व' की धूम थी। यह एक अठवारेका त्योहार था। सुलेमानके मन्दिरमें यात्रियोंकी अपार भीड़ थी। ईसा भी, जो पास ही कुछ समयके लिये अपने मित्र लजेरसके यहाँ बैथनियनामक कसबेमें ठहरे हुए थे, रविवारके दिन अपने चेलोंसहित एक जलूसके साथ यरूशलीम पहुँचे। [illegible] उपदेश देकर रात जैतून-पर्वतपर भगवत्-भजनमें बितायी। सोमवार और मङ्गलवार भी यरूशलीममें उपदेश देते बीते। हाँ, रात शहरके बाहर ही कटती थी। इसी मङ्गलके दिन यहूदी पुरोहितोंसे आखिरी अनबन हुई और इसी समयसे उनका षड्यन्त्र भी शुरू हुआ। यहूदा केवल तीस रुपयोंके बदले ईसाको फँसा देनेको राज़ी हो गया। बुधका दिन ईसाने ईश्वरके ध्यानमें बिताया, यरूशलीमका जाना बंद रक्खा और बृहस्पतिवारको निस्तारपर्वकी अन्तिम तैयारी की। रातको चेलोंसमेत आखिरी भोजन किया गया। वहींसे यहूदा तो पुरोहितोंके यहाँ निकल भागा और ईसा चेलोंसमेत चाँदनीमें शहरके बाहर गेत्त-शिमनीके बाग़में निकल आये। वहाँ चेले तो सो गये, पर ईसाने तीन घंटे बड़ी यातना-यन्त्रणासे काटे। आखिर इन्हें नैसर्गिक शान्ति मिली। इधर बेवफ़ा यहूदा भी पुरोहितोंके झुंडके साथ आ धमका। ईसाको गिरफ्तार कर शहरके अंदर ले गये। चेलोंकी बुरी गति हुई। कुछ तो भाग निकले और कुछ छिप-लुककर तमाशा देखने लगे। पकड़ाने-के डरसे खुद पीटरने, जो पीछे एक बड़ा महंत कहलाया, ईसासे तीन दफे इन्कार किया। पुरोहितोंने ईसाकी बड़ी बेइज्जती की, मारा-पीटा-घसीटा और अन्तमें शुक्रवारके दिन न्यायका ढोंग रचकर एक निरपराध संतकी जान ली! दोपहर होते-होते इन लोगोंने शहरके बाहर गलगथामें ले जाकर ईसाको सलीबपर चढ़ा दिया। ईसाने इस अवसरपर प्राणायाम साधकर समाधि लगा ली। सन्ध्या होनेके पहले ही युसफ नामके एक भले आदमीने बड़ी हिम्मत करके पास ही अपने बाग़में क़ब्र दी। कड़ा पहरा रहनेपर भी, रविवारके सबेरे क़ब्रसे लाश लापता हो गयी। समाधि भङ्ग हुई, ईसा-मसीह जी उठे। योगबलसे अन्तरिक्षमें अलक्षित रहते हुए उन्होंने ४० दिनतक वास किया। इस बीचमें उनके भक्तों और चेलोंने कई बार दर्शन पाये और उपदेश सुने। अनन्तर वे भारतको चले आये। काश्मीरके पवित्र पहाड़ोंमें रहकर भजन करते रहे और चौंसठ वर्षकी अवस्थामें सबके देखते-देखते सदेह स्वर्गको चले गये।

उधर यरूशलीम तथा कुचक्रियोंपर खुदाकी मार पड़ी। निरपराध खुदाके बेटेकी हत्यामें जो-जो शामिल थे, सब बेमौत मरे। यहूदियोंका वह पवित्र शहर भी रोमनोंके [illegible] खुदाके मन्दिरके रोड़े-रोड़े ढह गये, हजारों-लाखों यहूदियोंकी जानें गयीं और उनकी

जातीयता और उनका जातीय राष्ट्र तो इस तरह तबाह हुआ कि नामोनिशान भी न बचने पाया ! अपना कहनेको उन्हें कोई जगह न रही। आज प्रायः दो हजार वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी वे मारे-मारे फिरते हैं। संतके अपमानका फल उन्हें हाथों-हाथ मिल गया। जिस तरह पुराकालमें भक्तराज विभीषणके अपमान करनेका फल रावण आदि राक्षसोंको भोगना पड़ा था और जिस तरह भगवान् श्रीकृष्णका अपमान करनेसे दुर्योधन आदि कौरवोंका नाश हुआ था, उसी तरह यहूदियोंकी दुर्दशा हुई—

जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

इस वृत्तान्तको इतने विस्तारके साथ लिखनेका हेतु यह है कि गीता और बाइबलके जो सैकड़ों अर्थ-सादृश्य और शब्द-सादृश्य दृष्टिगोचर होते हैं, उसका कारण क्या है ? इससे निश्चय हो जाता है कि गीताके तत्त्वोंके समान जो कुछ तत्त्व ईसाइयोंकी बाइबलमें पाये जाते हैं, उन तत्त्वोंको स्वयं ईसाने गीता और बौद्धधर्महीसे बाइबलमें लिया है; क्योंकि वे भारतीय भागवत-धर्मके अनुयायी थे। इस लेखसे हमारे 'कल्याण' के पाठकोंको संत ईसाका, हिन्दू दृष्टिकोणसे, असली जीवन-वृत्तान्त विदित हो जायगा, जो लद्दाखकी गुहामें सुरक्षित शाक्तागमके ४९वें परिच्छेदके तीसरे अध्यायमें अङ्कित है।

एक दोहेमें गीता

(लेखक—'श्रीविन्दु' ब्रह्मचारी)

निज स्वरूप मोहि जानि कै सुमिरत रत इकतार।
धर्म आपनो निर्वहै यहि हरिगीता-सार॥

द्वैतपरक अर्थ—

'निज स्वरूप' मोहि जानि कै। अपना स्वरूप (जीव-स्वरूप) और मेरा स्वरूप (ईश-स्वरूप) अथवा निज-स्वरूप अर्थात् अपना सर्वस्वरूप मुझे जानकर।

सुमिरत रत इकतार। अभङ्ग तदाकारवृत्तिसे अनुरागपूर्वक तल्लीन (रत) होकर मेरा स्मरण करता हुआ।

धर्म आपनो निर्वहै। सब धर्मोंको छोड़कर (उनकी उपेक्षा कर) एकमात्र श्रीभगवान्‌की शरणमें जाना।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—ऐसा जीवका जो परम धर्म है, उसका पालन करे। भाव यह कि अनन्यभावसे मुझमें निरत हो।

श्रीभगवान् कहते हैं, अपना और मेरा स्वरूप जानकर अथवा अपना सर्वस्व मुझे समझकर अनुरागपूर्वक तल्लीन वृत्तिसे अनवरत मेरा स्मरण करता हुआ अपने स्वरूप-धर्मका पालन करे। जीवकुलका यह परम धर्म है कि वह अपने अंशी भगवान्‌में अनन्यभावसे निरत हो, अपने अंशीसे कभी पृथक् न होना अंशका स्वाभाविक धर्म है। यही मुख्य भजन है और वास्तविक योग है।

किसीको अपना सर्वस्व मान लेना और उसके लिये अपना सब कुछ त्याग करना ही भक्ति[illegible] उत्सर्गहीमें है। भगवद्भक्ति एवं भगवत्प्रपत्ति ही भागवत-धर्मका सार है। तथोक्त आस्तिक-नास्तिक सभी सम्प्रदायों और धर्म-संस्थाओंमें उसकी व्याप्ति है। भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें भगवान्‌की तरह उनकी भक्तिभगवती भी रमी हुई है, जो भागवतधर्मकी शक्ति है—

बाग़में बुलबुलो गुल बज्ममें परवाना-शमा।
भेस बदले हुए फिरती है मुहब्बत तेरी॥

'बुद्धं शरणं गच्छ' इत्यादि साम्प्रदायिक दीक्षावाक्योंमें शरणागति और भक्तिके भावोंकी ही तो व्यञ्जना है। चाहे वह गुरु-भक्ति हो अथवा इष्टदेव-भक्ति। किसीपर पूर्ण विश्वास करना और उसे अपना त्राता या नेता मानना ही किसी आचार्य या इष्टमें निष्ठ होना है। यही भक्ति है और यही भागवत-धर्म है। भागवत-धर्म भी गुरु और संतको भगवद्रूप ही मानता है। जहाँ-जहाँ भगवान्, वहाँ-वहाँ उनकी भक्ति और जहाँ-जहाँ भक्ति, वहाँ-वहाँ भगवान्—नाम-रूप कोई भी हो।

'सुमिरत रत इकतार' का दूसरा अन्वय—सुमिर तरत इकतार। इकतार=एकतार तारक।

उपर्युक्त अन्वयसे यह अर्थ हुआ कि अपना स्वरूप (परम रूप) मुझे जानकर एकाक्षर अद्वितीय तारकका अभङ्ग वृत्ति-प्रवाहसे स्मरणकर तरता हुआ, भवबन्धनिवृत्तिपूर्वक जीवन्मुक्त होता हुआ अपने प्राप्त धर्मका निर्वाह करे।

अद्वैतपरक अर्थ—

निज स्वरूप मोहि जानिकै। अपना शुद्ध आत्मस्वरूप मुझे जानकर—भाव यह कि जो तेरा चिदानन्दस्वरूप है, वह मैं ही हूँ और जो मैं हूँ, वही तेरा वास्तविक स्वरूप है; तुझमें और मुझमें भेद नहीं है। ऐसा जानकर 'तत्त्वमसि' के उदारभावसे भावित होकर।

सुमिरत रत इकतार। अखण्ड ज्ञानाकार (ब्रह्माकार) वृत्तिसे अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूपमें अथवा मुझमें पूर्णतया निष्ठ होता हुआ। स्मरणका भाव ज्ञानाकार वृत्तिमें सङ्गत होता है, जो अन्तःकरणके उज्ज्वल होनेपर स्वतः जागृत होती है।

भगवान् कहते हैं, अपना स्वरूप (ब्रह्मरूप) मुझे जानकर अखण्ड सोऽहस्मीति वृत्तिसे मेरा स्मरण करता हुआ भगवद्भावभावित तथा तद्गत होता हुआ अपने अधिगत और अधिकृत धर्म (सामान्य और विशेष) का निर्वाह करे। यही भगवद्गीताका सारतारोपदेश, अतएव तत्त्व है।

विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवतीति।

यही वह रमणीय आनन्दलक्षणा आत्म-संस्थिति है, जिसमें जीव और ब्रह्मके साथ ज्ञान और प्रेम एक हो जाते हैं।

सरग नरक अपबरग समाना। जहँ-तहँ दीख धरें धनु बाना॥

इसे ही 'तद्गति' कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका विज्ञानभाष्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

हमारे 'आर्यसाहित्य' में श्रीमद्भगवद्गीताका बहुत उच्च स्थान है। यों तो पक्षपातरहित दृष्टिसे देखनेवाले विद्वान् स्पष्ट कहेंगे कि इसकी तुलनाकी पुस्तक 'विश्वसाहित्य' में भी कहीं नहीं है, किन्तु भारतीय जनता इसे साक्षात् जगदीश्वरके मुखनिःसृत वाक्यसमूहके रूपमें मानती हुई इसपर अलौकिक श्रद्धा प्रकट करती है, यही हमारी विशेषता है। विषयकी दृष्टिसे तो इसका महत्त्व भूमण्डलभरके विवेचक विद्वानोंको मानना ही पड़ता है। जहाँ स्वयं इसके प्रवक्ता भगवान् यह प्रतिज्ञा करते हैं कि—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

'अर्जुन! मैं तुझे वह ज्ञान और विज्ञान निःशेषरूपसे कह दूँगा—जिसे जानकर संसारमें और कोई जाननेकी बात बाकी नहीं रहती।'

तब इसकी तुलनामें कौन साहित्य आगे आनेका साहस करेगा? श्रीमद्भगवद्गीताका अलौकिक गाम्भीर्य इससे भी प्रकट है कि जबसे इसका प्रकाश हुआ है, तभीसे इसके भाष्य, व्याख्यान, अनुवाद, टिप्पण और विवेचन हो रहे हैं और वे आजतक भी होते ही जाते हैं; फिर भी अभीतक इसकी थाह नहीं मिली। यह एक न्याय प्रसिद्ध है—

'पतन्ति खे ह्यात्मसमं पतत्रिणः'

अर्थात् अनन्त आकाशमें हरेक पक्षी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उड़ लेता है, गरुड़ अपनी शक्तिभर उड़ता है, तो चिड़िया अपनी शक्तिभर। हंस अपनी मनोहर गति उसीमें दिखाता है, तो कौआ भी वहाँ फुदक लेता है। आकाशका पार किसीने आजतक पाया नहीं। ठीक यही बात गीताके विषयमें अक्षरशः चरितार्थ होती है। बड़े-बड़े महानुभाव आचार्योंसे लेकर साधारण कथाभट्ट विद्वान्तक अपनी-अपनी विवेचना इसपर लिखते और सुनाते हैं, किन्तु गीताका गाम्भीर्य अब भी वैसा ही अटल है। अब भी उसमें बहुत कुछ कहने-सुनने और समझनेकी गुंजाइश बनी हुई है और वह सदा बनी ही रहेगी, मनुष्यबुद्धि इसका थाह पा नहीं सकती। ईश्वरीय ज्ञान मनुष्यबुद्धिमें पूर्णरूपसे समा नहीं सकता। अस्तु—

गुरुवर विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझाका नाम विश्वविदित है, आपके वेदसम्बन्धी अन्वेषणकार्यका लोहा क्या भारतके और क्या विदेशोंके; सभी वैदिक विद्वानोंको मान लेना पड़ा है। जिस प्रकार पुराने वैदिक सम्प्रदायोंके आचार्य महानुभावोंने प्रस्थानत्रय (उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र) पर अपनी लेखनीका पुरुषार्थ प्रकट किया है, उसी प्रकार श्रीविद्यावाचस्पतिजीने भी प्रस्थानत्रयपर भी अपनी विवेचना लिखी है। श्रीभगवद्गीतापर आपकी विवेचना 'विज्ञानभाष्य' नामसे प्रकाशित हो रही है। उसीका संक्षिप्त परिचय हम यहाँ पाठकोंको देना चाहते हैं।

विज्ञानभाष्यमें गीताके मुख्य प्रतिपाद्य विषय दो माने गये हैं—ज्ञातव्य विषयोंमें [illegible] अव्यय पुरुष और कर्तव्यमें

मुख्य बुद्धियोग । इन दोनोंका विस्पष्ट विवरण अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं । गीताने ही इन्हें परिमार्जित रूपमें संसारके सामने रक्खा है; इसीसे गीता 'उपनिषद्' कही जाती है, यद्यपि ब्रह्मसूत्रमें भगवद्गीताका उल्लेख 'स्मृति' पदसे ही बहुधा हुआ है। आचार्यप्रवर श्री १०८ श्रीवल्लभाचार्यजीने यह प्रश्न भी अपने 'अणुभाष्य' में उठाया है कि ईश्वरनिःश्वासको तो 'श्रुति' कहा जाता है और इस ईश्वरके साक्षात् मुखारविन्द-विनिःसृत अमृतको 'स्मृति'–यह कैसी बात है ? किन्तु उसका उत्तर उन्होंने यही दिया है कि वक्ता और श्रोताकी उस परिस्थितिमें श्रुतिका आविर्भाव उचित नहीं था, इसलिये इसे स्मृतिरूपमें रखना ही भगवान्ने उपयुक्त समझा । एकान्त स्थानमें जब ऋषि तपस्यानिरत हुए थे, तब उनके अन्तःकरणमें श्रुतिका प्रकाश हुआ है। यहाँ समराङ्गणमें मार-काटके लिये उद्यत और स्वयं अधिपति–रथीरूपसे बैठकर वक्ताको सारथिरूपमें रखता हुआ सांसारिक झंझटोंसे व्याकुल अर्जुन श्रुतिके प्रकाशका उस परिस्थितिमें उपयुक्त पात्र नहीं था । यह भी कारण हो सकता है कि श्रुति 'शब्द-प्रधान' उपदेश है; वहाँ प्रश्नोत्तर, तर्क, वितर्क, जिज्ञासा, निरूपण आदिकी प्रक्रियाका स्थान नहीं है । किन्तु अर्जुन जैसी परिस्थितिमें था, उससे उसका उद्धार प्रश्नोत्तर आदिकी प्रक्रिया विना हो नहीं सकता था । शब्दप्रधान उपदेशका वह उस समय पात्र नहीं था । तभी तो परम हितकर भगवद्वाक्योंमें भी उसे बार-बार सन्देह हुआ—

'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।'

'आप तो अस्पष्ट वचनोंसे मेरी बुद्धिको धोखेमें डाल रहे हैं—ऐसा मालूम होता है ।'

इसलिये अर्थप्रधान सुहृत्सम्मित उपदेशका ही अवसर देखकर भगवान्ने स्मृतिरूप उपदेश ही उपयुक्त माना । अस्तु, यों भगवद्गीता स्मृति कहकर ही शिष्टसमाजमें आदृत है । किन्तु यह एक विचित्र बात है कि 'स्मृति' रूपमें मानते हुए भी शिष्टजन उसे 'उपनिषद्' भी कहते हैं । प्रत्येक अध्यायके अन्तकी पुष्पिकामें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' लिखा है । 'उपनिषद्' शब्द श्रुतिके लिये ही निरूढ है, वह स्मृतिके लिये कहीं व्यवहृत नहीं होता । फिर भगवद्गीता स्मृति भी है और उपनिषद् भी, इस जटिल समस्याका विज्ञानभाष्यमें यही समाधान किया गया है कि मौलिक ज्ञान जहाँ हो, उसे श्रुति वा 'उपनिषद्' कहा जाता है और अन्यत्र कथितका अनुवाद जहाँ हो, उसे स्मृति कहते हैं । उक्त दोनों विषयों ('अव्यय पुरुष' और 'बुद्धियोग') का भगवद्गीतामें मौलिक ज्ञान है । यद्यपि उपनिषदोंमें यत्र-तत्र अव्यय पुरुषका संक्षिप्त निरूपण है—यदि न होता तो फिर अश्रौत होनेसे अव्यय पुरुष अप्रामाणिक हो जाता—तथापि उस संक्षिप्त निरूपणपर विचारक विद्वानोंका ध्यान ही नहीं गया था । इससे पुराने आचार्य 'अक्षर पुरुष' को ही पराकाष्ठा मानते चले आये । भगवद्गीतामें ही उसका इस प्रकार विशद विवेचन और स्पष्टीकरण हुआ है कि हम उसे अव्यय पुरुषका 'मौलिक विवेचन' कह सकते हैं । उसकी प्राप्तिका मुख्य साधन 'बुद्धियोग' भी गीताका 'मौलिक विवेचन' है । इसलिये अर्थप्रधान होनेके कारण, वक्ता-श्रोताकी परिस्थितिके कारण वा प्रश्नोत्तरादि प्रक्रियाके कारण चाहे भगवद्गीताको 'स्मृति' कहा जाय; किन्तु वह हमें 'मौलिक ज्ञान' देती है, इसलिये शिष्टसमाजने उसे 'उपनिषद्' नाम देनेमें कोई सङ्कोच नहीं किया

गीताके प्रतिपाद्य ज्ञेय विषयमें बहुधा आचार्योंका मत-भेद है; अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि सभी सिद्धान्त गीतासे निकाले गये हैं और यत्र-तत्र अर्थकी खींच-तान भी हुई है, यह भी विद्वानोंसे छिपा नहीं है । किन्तु यह स्मरण रहे कि मतभेद वा मतविरोध दर्शनमें ही रहता है, विज्ञानमें नहीं । वैज्ञानिक प्रक्रियापर आते ही मतैक्य आवश्यक होगा । अतः यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अव्यय पुरुषको मुख्य प्रतिपाद्य मान लेनेपर द्वैत, अद्वैत आदिका विवाद नहीं रहता । मायावच्छिन्न रसका नाम अव्यय पुरुष है, मायाके अनेक भेद हैं । उनमें 'महामाया' प्रधान है । महामायावच्छिन्न पुरुष सब जगत्का आलम्बन है; वह एक है, उसमें द्वैत हो नहीं सकता । और योगमायावच्छिन्न रस जीवाव्यय बनता है, वे अनन्त हैं, उनमें एकता नहीं हो सकती । इस प्रकार विषयभेदसे सबकी व्यवस्था बन जाती है । इस विषयका विस्तार इस स्वल्प लेखमें नहीं किया जा सकता, विज्ञानभाष्यके पर्यालोचनसे ही यह विषय प्रस्फुट हो जाता है कि वैज्ञानिक मार्गमें मतविरोध नहीं रहता ।

इसी प्रकार कर्तव्यके सम्बन्धमें भी गीताके व्याख्याताओं-में गहरा मतभेद है । अनेक महानुभाव व्याख्याता गीताका मुख्य प्रतिपाद्य 'कर्मसंन्यास' या 'सांख्ययोग' बतलाते हैं, दूसरे कई एक महानुभाव 'कर्मयोग' को गीताका मुख्य ध्येय मानते हैं । अनेक भगवद्भक्तिपरायणोंने 'भक्तियोग'को गीताका लक्षण माना है । सबहीको गीतामें अपने समर्थनके लिये यथेष्ट

प्रमाण मिलते हैं, सभीकी युक्तियाँ प्रबल हैं, सबसे ही अधिकारियोंका मनस्तोष होता है। किन्तु चाहे 'छोटे मुँह बड़ी बात' समझी जाय, इतना कहना ही पड़ता है कि सब ही सिद्धान्तोंमें गीताके कुछ वचन अड़चन भी डालते हैं। अतः सभी व्याख्याकारोंको कई श्लोकोंकी व्याख्यामें खींच-तान करनी पड़ी है। निष्पक्ष विचारककी अन्तरात्मा स्पष्ट कह देती है कि यहाँ बलात् अपने सिद्धान्तकी अनुकूलता लायी जाती है। कुछ उदाहरण देना अप्रासङ्गिक न होगा। 'कर्मसंन्यास' वा 'ज्ञानयोग' (सांख्ययोग) को सामने रखते ही यह जटिल समस्या अन्तःकरणको चञ्चल करती है कि कर्मसंन्यास अर्थात् युद्धरूप धर्मकार्यका परित्याग कर संग्रामभूमिसे भागते हुए अर्जुनको युद्धरूप धर्मकार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये गीताका अवतार है। अब यदि इसका मुख्य लक्ष्य कर्मसंन्यास ही हो, तो वह तो अर्जुन स्वयं ही कर रहा था, फिर इतने लम्बे-चौड़े उपदेशकी आवश्यकता क्या थी ? उपसंहारमें अर्जुन कहता है—

'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।'

'मेरा सन्देह निवृत्त हो गया, मैं आपकी आज्ञा माननेको तैयार हूँ।' यह कहकर आगे वह करता क्या है—'युद्ध'। भगवान्का उपदेश 'कर्मसंन्यास' था, तो या तो उसे अर्जुनने समझा ही नहीं, या विपरीत आचरण किया। दोनों पक्षोंमें ग्रन्थकी सङ्गति नहीं लगती। इसका समाधान एकमात्र यही किया जाता है कि अर्जुन अभी कर्मसंन्यासका अधिकारी नहीं था, इसलिये भगवान्ने उसे कर्ममें ही प्रवृत्त किया और वह भी आज्ञानुसार कर्ममें लगा; किन्तु फिर प्रश्न उठता है कि यह उपदेश अर्जुनको ही तो लक्ष्य करके दिया गया है; अर्जुन यदि कर्मसंन्यासका अधिकारी नहीं था, तो भगवान् उसे कर्मसंन्यासका उपदेश क्यों देने लगे ?

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।'

—की घोषणा करनेवाले भगवान् क्या स्वयं इतनी भूल करते कि अनधिकारीको कर्मसंन्यास सिखलाते। इससे यह मानना पड़ेगा कि भगवान् कर्मसंन्यासको ऊँचा दरजा मानते भी हों, तो भी गीताका मुख्य प्रतिपाद्य तो कर्म-संन्यास नहीं हो सकता; क्योंकि उसका श्रोता उसका अधिकारी नहीं है। सम्भव है कि उस ऊँचे दरजेका क्वचित् इशारा भगवान्ने किया हो; किन्तु उपदेशमें मुख्य जोर तो उसी बातपर रहता है, जिसका श्रोता अधिकारी हो। अतः गीताका मुख्य लक्ष्य कर्मसंन्यास माननेमें अन्तःकरण जरूर हिचकता है।

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥'
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।'

—इत्यादि बहुत-से वचन भी ऐसे हैं, जिनकी व्याख्या संन्यासके पक्षमें क्लिष्टतासे होती है।

'भक्तियोग' को प्रधान प्रतिपाद्य माननेवालोंके लिये भी पूर्वोक्त अड़चन आती ही है। वहाँ अर्जुनमें नास्तिक्य-भावका उदय नहीं था कि जिसके निराकरणके लिये भगवद्भक्तिपर बल दिया जाता; वह तो कर्म छोड़ता था और कर्ममें उसे लगाना ही भगवान्का लक्ष्य था। फिर उस उपदेशमें—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।'

—के यथाश्रुत अर्थके अनुसार ही कर्मकी निःसारता और शरणागतिकी मुख्यता ही प्रधान हो, तो परिस्थिति-की शृङ्खला जुड़ नहीं सकती। इससे वही बात यहाँ भी लागू होगी कि चाहे भगवान्को भक्तिमार्गकी श्रेष्ठता कितनी भी अभिमत हो, किन्तु गीताको भक्तिप्रधान कहनेसे परिस्थितिकी सङ्गति कठिन है। इन्हीं सब अनुपपत्तियोंको सामने रखकर इस युगके व्याख्याकार गीताको 'कर्मयोग'-प्रधान ही स्थापित करते हैं; किन्तु स्मरण रहे कि गीतामें बहुत-से वचन ऐसे हैं, जो सर्वथा कर्मयोगकी प्रधानतामें सीधे नहीं लगते—

'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।'
'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥'
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।'

—इत्यादि-इत्यादि

मुख्य प्रतिपाद्य विषयको इस प्रकार नीचा दिखाना ग्रन्थकारोंकी कहीं शैली नहीं है। इन वचनोंका अर्थ कर्मयोगवादियोंको क्लिष्ट कल्पनासे ही करना पड़ता है।

अब विज्ञानभाष्यकी बात सुनिये—इसमें भगवद्गीताका ध्येय 'बुद्धियोग' माना गया है। 'बुद्धियोग'का नाम गीतामें कई जगह आता है और आदरके साथ आता है—

'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।'
'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।'
'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥'
—आदि-आदि ।

किन्तु पुराने व्याख्याकार प्रायः बुद्धियोगका अर्थ ज्ञानयोग ही करते हैं । विज्ञानभाष्यमें 'बुद्धियोग' को स्वतन्त्र माना गया है और उसे ही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य कहा है । बुद्धियोगका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

सांख्यदर्शनका परिशीलन करनेवाले जानते हैं कि निर्लेप पुरुषको बन्धनमें लानेवाली बुद्धि ही है। पुरुषके संसार और अपवर्ग दोनों बुद्धिसे ही होते हैं । इस बुद्धिके आठ रूप सांख्यदर्शनमें बतलाये हैं—चार सात्त्विक और चार तामस । तामस रूप हैं—अज्ञान, अनैश्वर्य, अवैराग्य और अधर्म । इन्हींको योगदर्शनमें 'पञ्चक्लेश' कहा है । अज्ञानको अविद्या-शब्दसे, अनैश्वर्यको अस्मिता-शब्दसे, अवैराग्यको 'राग, द्वेष' दो शब्दोंसे और अधर्मको 'अभिनिवेश' शब्दसे कहकर पाँचों क्लेशोंकी गणना पतञ्जलि भगवान्ने की है । ये ही पाँच क्लेश जीवकी विशेषताएँ हैं । ईश्वरमें ये नहीं होते । सुतरां पञ्चक्लेशोंसे विनिर्मुक्त हो जानेपर जीव और ईश्वरमें कोई वैषम्य वा भेद नहीं रहता । इन तामस बुद्धिधर्मोंका प्राबल्य रहनेपर सबका आलम्बन और सबमें अनुस्यूत 'अव्यय पुरुष' आवृत हो जाता है, उसकी कलाओंका प्रकाश नहीं रहता । यही जीवकी सबसे बुरी दुर्गति है । यही जीवका विषाद है, जिसमें अर्जुन पड़ा हुआ है । इससे उद्धार पानेके लिये इन क्लेशोंको दबाकर अव्यय पुरुषका प्रकाश अभीष्ट है । इन क्लेशोंके दबानेका उपाय इनके प्रतिद्वन्द्वी भावोंका उदय है, प्रतिद्वन्द्वी भाव बुद्धिके चारों सात्त्विक रूप हैं—जिनके नाम ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म हैं। इनके प्राबल्यद्वारा अविद्यादि क्लेशोंका निराकरण होकर बुद्धिका 'अव्यय पुरुष'में योग होता है, अर्थात् अव्ययकी कलाओंका आवरण हटकर बुद्धिमें उनका प्रकाश हो जाता है—यही बुद्धियोगका संक्षिप्त स्वरूप है । अव्यय पुरुषकी कलाएँ आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् नामसे हैं । इनमें मन, विज्ञान और आनन्द निवृत्तिका रूप है और मन, प्राण और वाक् प्रवृत्तिका । मन दोनों ओर मिला हुआ है । यह मन इन्द्रियसहचारी मन नहीं है—यह उच्च कोटिका मन है, जो अव्यय पुरुषका मध्यस्थ मुख्य रूप है । तात्पर्य यही है कि ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म—इन चारों बुद्धिके सात्त्विक रूपोंके द्वारा अव्यय पुरुषकी विज्ञान और आनन्द नामकी कलाओंका विकास होता है और यही जीवकी कृतकृत्यता है । इन्हीं बुद्धिरूपोंके उद्भवके लिये श्रीभगवद्गीतामें चार योग उपदिष्ट हुए हैं—वैराग्ययोग, ज्ञानयोग, ऐश्वर्ययोग और धर्मयोग । इनके ही दूसरे नाम हैं—राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या । इन चारोंमें बुद्धियोगका परिपूर्ण स्वरूप विकसित हो गया है ।

अर्जुनका इस समयका मोह राग-द्वेषमूलक है, इसलिये सबसे पहले वैराग्ययोग वा राजर्षिविद्याका उपदेश भगवान्ने किया है । द्वितीयाध्यायसे षष्ठाध्यायके अन्ततक वैराग्ययोग है, इसे ही अनासक्तियोग भी कहते हैं । संसारमें रहकर सब प्रकारके कर्म करते हुए भी उनके बन्धनमें न आना—यह युक्ति वैराग्ययोग है । अन्य व्याख्याकारोंने इसे कर्मयोग ही माना है । परिस्थितिके लिये इतना ही उपदेश पर्याप्त था । किन्तु विना ज्ञान आदि दूसरे रूपोंके वैराग्य दृढ़ वा स्थायी नहीं हो सकता, न इतनेमात्रसे अर्जुनका संतोष ही हुआ; इसलिये आगे ज्ञानयोग वा सिद्धविद्याका दो अध्यायोंमें (७, ८) प्रतिपादन है । इससे आगे चार अध्यायोंमें (९से १२) ऐश्वर्ययोग वा राजविद्याका प्रकरण है, जिसे प्राचीन व्याख्याकार भक्तियोग नामसे समझाते हैं और आगेके छः अध्याय (१३से १८ के अन्तके कुछ श्लोकोंको छोड़कर) धर्मयोग वा आर्षविद्याके प्रतिपादक हैं । यों पूर्ण गीतामें पूर्ण बुद्धियोगका स्वरूप प्रस्फुट हुआ है । इन चार विद्याओंमें अवान्तर २४ उपनिषद् और उनमें सब मिलाकर १६० उपदेश श्रीभगवद्गीतामें हैं—यह विभाग विज्ञानभाष्यमें किया गया है, जिसे विस्तारभयसे यहाँ स्पष्ट नहीं किया जा सकता ।

भगवद्गीतामें जो कई जगह पुनरुक्तिका आभास होता है, उसका भी ठीक समाधान विज्ञानभाष्यकी रीतिसे हो जाता है । एक मुख्यविद्यामें अवान्तररूपसे जहाँ दूसरी विद्याके किसी विषयकी आवश्यकता हुई है, वहाँ उस विद्याकी पूर्णताके लिये उस विषयको पुनः दोहराया गया है । विशेषकर अन्तके अध्यायोंकी (१३से १८) सुसङ्गति इस प्रकारसे बहुत अच्छी होती है। प्राचीन व्याख्याकार कई-एक पूर्वषट्कको कर्मकाण्ड, मध्यषट्कको भक्तिकाण्ड और उत्तरषट्कको ज्ञानकाण्ड कहते हैं; किन्तु उत्तरषट्कमें कर्मका ही गुणत्रयविभागद्वारा अधिक वर्णन है, इससे यह विभाग समञ्जस नहीं होता । कई-एकने पूर्वषट्कमें 'तत्त्वमसि' महावाक्यका

त्वं-शब्दार्थ, मध्यषट्कमें तत्-शब्दार्थ और अन्तिम षट्कमें असि-शब्दार्थ माना है। किन्तु उत्तरषट्क निदिध्यासन-प्रधान भी नहीं दीखता; उसमें धर्माधर्मके बहुत भेद हैं, जिनका सामञ्जस्य 'असि' शब्दके अर्थमें कठिनतासे हो सकता है। विज्ञानभाष्यके अनुसार आर्षविद्यामें धर्मकी उपनिषद् (प्रिंसिपल, उसूल) बतलानेके लिये क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, गुणत्रय आदिकी आवश्यकता है और गुणत्रयके अनुसार कर्मोंकी धर्मानुकूलता वा प्रतिकूलता इस विद्याका मुख्य रूप है ही। यों अठारहवें अध्यायके कुछ भागतक आर्षविद्या है और आगे सारोद्धार है। यह भी विज्ञानभाष्यमें प्रतिपादित हुआ है कि गीता कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंका सामञ्जस्य रखती है, किसी एककी प्रधानता वा अन्यका बाध उसे कभी इष्ट नहीं है। प्रत्येकमें जो दोष हैं, उन्हें हटाकर बुद्धियोगकी अनुकूलतासे तीनोंको गीताने उचित स्थानपर रक्खा है।

इस विज्ञानभाष्यके चार काण्ड हैं। प्रथममें भूमिका-रूपसे शास्त्ररहस्य वा मौलिक सिद्धान्तोंका संक्षिप्त स्वरूप है। द्वितीयमें विद्या, उपनिषद् और उपदेशोंके विभागपूर्वक शीर्षक लगाकर श्रीभगवद्गीताका मूल पाठ रक्खा गया है। स्थान-स्थानपर रहस्यपूर्ण टिप्पणियाँ इसमें हैं। तृतीयमें गीतामें आये हुए अहं-शब्दोंके अर्थपर विचार करते हुए गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्णका विशद विवेचन है और चतुर्थ काण्डमें १६० उपदेशोंका स्वतन्त्र भाषामें (अपने संस्कृतमें) व्याख्यान वा स्पष्टीकरण है। पहले दो काण्ड प्रकाशित हो चुके हैं और तृतीय यन्त्रस्थ है, इसके बाद चतुर्थकी पारी आवेगी।

यह श्रीभगवद्गीताका एक नये ढंगका व्याख्यान है, इस-लिये इसका संक्षिप्त परिचय पाठकोंको दे दिया गया है। भावुक विद्वानोंको यह कितना रुचिकर होगा, इसका उत्तर तो समय ही देगा। ॐ तत् सत्।

श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णधर्म

(लेखक—श्रीवैष्णवाचार्य श्रीस्वामीजी श्रीमहंत रामदासजी महाराज)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

आजकल धार्मिक विचारों तथा धर्मके प्रति श्रद्धाका अभाव होनेके कारण वर्ण-व्यवस्थाको लोग देशके लिये हानिकारक तथा जातीय एकताके लिये बाधक समझ रहे हैं। बहुतेरे इसको अनावश्यक बतलाकर इसको छिन्न-भिन्न करनेके लिये आन्दोलन कर रहे हैं। परन्तु विचार करने-पर ज्ञात होता है कि—

'वर्णाश्रमविभागो हि भारतस्य विशिष्टता।'

वर्णाश्रमविभाग ही भारतकी विशिष्टता है। अतएव यह उन्नतिका बाधक नहीं, बल्कि साधक ही है। भारत जो आज कई शताब्दियोंसे विजातीय अत्याचार और आक्रमणका शिकार होकर भी जीवित है, इसका मूल कारण केवल वर्णाश्रमव्यवस्था ही है। और जबतक वर्णाश्रमव्यवस्थाका कवच यह जाति धारण किये रहेगी, तबतक इसका जीवन अक्षुण्ण बना रहेगा; अन्यथा इसके सर्वनाशकी आशङ्का है। इसी आशङ्काका विचार कर वीरश्रेष्ठ अर्जुन कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें स्थित दोनों सेनाओंको देखकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—'हे मधुसूदन! मैं इन दोनों सेनाओंमें अपने ही सम्बन्धियोंको देखता हूँ, जो जीवनकी आशाका त्याग कर युद्धके लिये उपस्थित हैं। मैं युद्ध करके अपने कुलका सर्वनाश नहीं कराना चाहता; क्योंकि कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जायँगे और कुलधर्मके नष्ट होनेसे पापकी अधिकता होगी, जिससे स्त्रियाँ दूषित होकर वर्णसङ्कर सन्तान उत्पन्न करेंगी। वर्णसङ्करके द्वारा जल और पिण्डकी क्रियाके लोप हो जानेसे पितरलोग अधःपतनको प्राप्त होंगे।' कारण यह है कि मृत पितरोंके आत्माके साथ श्राद्ध-तर्पण करनेवाले पुत्रकी आत्मा और मनका गहरा सम्बन्ध होता है, इससे श्राद्धकालमें पितर श्राद्धको ग्रहण करते हैं; परन्तु वर्णसङ्कर सन्तानमें माता-पिताके एकवर्ण न होनेके कारण वह सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता। अतएव वर्णसङ्करके किये हुए श्राद्ध-तर्पण पितरोंको तृप्ति और मुक्ति नहीं प्रदान करते, इससे उनका पतन होता है। इस पतनसे देशमें दुर्भिक्ष और महामारी उत्पन्न होती है। यही नहीं,

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

'कुल वर्णसङ्कर उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे कुलका नाश करनेवालोंके सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते



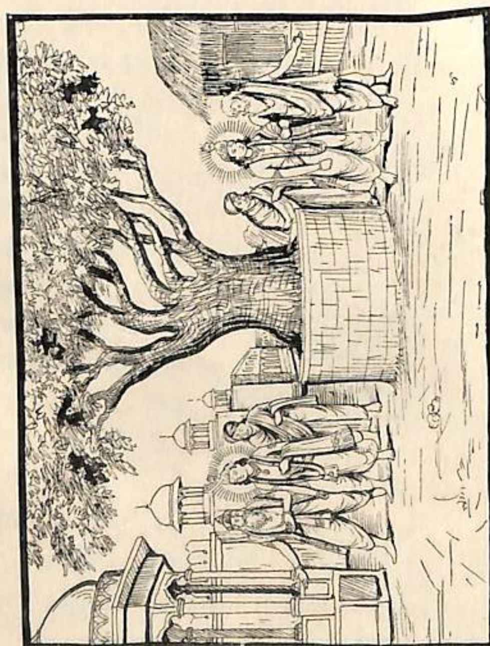
शाल्व-उद्धार



सुदामासे प्यार



वसुदेवजीको ज्ञान-प्रदान



बहुलाश्व और श्रुतदेवके घर एक साथ

हैं ।' यहाँ विचारनेकी बात है कि देश और जातिके साथ वर्णाश्रमका कैसा सम्बन्ध है, जिसके टूटनेसे जाति और देश विनाशको प्राप्त हो जाते हैं ।

स्थूलरूपसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि जिस प्रकार मानवशरीरके मुख, भुजा, उदर और पाद—चार मुख्य भाग होते हैं और शरीरकी रक्षाके लिये इन चारोंकी आवश्यकता होती है—एकके भी शिथिल होनेसे सारा शरीर रोगग्रस्त होकर कार्य-शक्तिको खो बैठता है, उसी प्रकार समाजरूपी शरीरको चातुर्वर्ण्यरूपी चार अङ्गोंकी आवश्यकता पड़ती है । इसीलिये भगवान्‌ने वर्णविभागकी मर्यादा स्थापित की है । यजुर्वेद, अध्याय ३१, मन्त्र ११में वेद भगवान्‌ने इसका समर्थन किया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

'ब्राह्मण विराट् पुरुषका मुख है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य जङ्घा और शूद्र पाद ।' इसके अनुसार समाजको सुरक्षित और उन्नत करनेके लिये प्रत्येक वर्णकी और उनके स्व-स्व-कर्मानुसार आचरणकी परम आवश्यकता है । यदि एक वर्ण अपने कर्मको छोड़कर अन्य वर्णके कर्मोंको अपनाता है, तो कर्मगत वर्णसङ्करता उत्पन्न होनेके कारण उसका जीवन निष्फल हो जाता है; वह न तो स्वकर्ममें सफलता प्राप्त करता है और न अन्य वर्णके कर्ममें । कालान्तरमें यही जातिके नाशका कारण बनता है । इसी विचारको सामने रखकर परमात्माने सृष्टिके आदिमें वर्णविभाग किया है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(गीता ४ । १३)

'हे अर्जुन ! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरेहीद्वारा रचे गये हैं; उनके कर्ता भी मुझको अविनाशी और अकर्ता ही जान ।' इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि भगवान् अनादि और अविनाशी हैं तथा उनके द्वारा स्थापित प्रत्येक मर्यादा भी अनादि और नाशरहित है; इसलिये जो मनुष्य या जाति इसके विरुद्ध आचरण करती है, वह विनाशको प्राप्त होती है ।

सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि भगवान्‌ने वर्णविभाग प्रकृतिके गुण और कर्मके आधारपर किया है । 'कर्म' शब्दका अभिप्राय यहाँ अदृष्ट, प्रारब्ध एवं प्रकृतिके स्वाभाविक कर्मसे है । प्रकृतिके तीन गुण होते हैं । जैसे गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । ये तीनों न्यून या अधिक परिमाणमें सर्वत्र और सब जीवोंमें विद्यमान हैं । श्रीभगवान् कहते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

'हे अर्जुन ! पृथ्वी या स्वर्ग अथवा देवताओंमें कोई भी ऐसा नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो ।' क्योंकि सारा जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है । इन्हीं गुणोंके द्वारा जीव विभिन्न वर्णोंको प्राप्त करता है । जिसमें जिस गुणकी प्रधानता होती है, उसका जन्म वैसे ही वर्णमें होता है । ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान होता है, क्षत्रिय सत्त्वमिश्रित रजोगुणप्रधान, वैश्य रजोमिश्रित तमोगुणप्रधान और शूद्र तमोगुणप्रधान होता है । इस प्रकार इन गुणोंके आधारपर प्रत्येक वर्णके कर्म नियत किये गये हैं । जैसे ब्राह्मणोंमें सत्त्वगुणकी प्रधानतासे सात्त्विक कर्मोंका विधान उनके लिये किया गया है, वैसे ही क्षत्रियादि वर्णोंमें उनके प्राकृतिक गुणोंके अनुसार कर्म-विधान किये गये हैं ।

गुण और कर्मका परस्पर बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है । जिस मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, वह वैसा ही कर्म करता है और जैसा वह कर्म करता है वैसा ही उसका स्वभाव बनता है । श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

'हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं ।' सारांश यह है कि पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार कर्म-विभाग होता है । श्रीभगवान् कर्म-विभागका इस प्रकार निर्देश करते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(गीता १८ । ४२-४४)

'मनःसंयम, इन्द्रियोंका दमन, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म हैं। शौर्य, तेज, धैर्य, चातुर्य, युद्धमें डटे रहना, दान और स्वामिभाव—ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं और सबकी परिचर्या (सेवा) शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।'

इनमें प्रत्येक वर्णके लिये अपने स्वाभाविक कर्मको करना ही श्रेयस्कर है। वर्णान्तरके कर्मोंमें लगनेसे कर्मगत वर्णसङ्करता आ जाती है और वह उन्नतिके मार्गमें बाधक है। श्रीभगवान्ने भी कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

'अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहनेसे ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।' अतएव यह निश्चित हुआ कि किसी देश, जाति या पुरुषकी उन्नति उसके स्वाभाविक कर्मोंके अनुसार चलनेसे ही हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं हो सकती। मानवजीवनकी कृतकार्यता अपने वर्णानुसार स्वाभाविक कर्मोंके करनेमें ही है। श्रीभगवान्ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

'दूसरेके धर्म (कर्म) का भलीभाँति अनुष्ठान करनेकी अपेक्षा अपना येन-केन-प्रकारेण अनुष्ठित धर्म (कर्म) भी श्रेष्ठ होता है। अपने स्वभावके अनुसार नियत कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता।'

श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त

(लेखक—श्रीनारायणाचार्य गोविन्दाचार्य वरखेडकर)

मनुष्यकी समस्त कामनाओंको सिद्ध करनेवाली श्रीमद्भगवद्गीताके अमृत-रसका पान आजतक विभिन्न प्रणालियोंके द्वारा कितने भक्तोंने किया, कितने संतोंको उसका पान कराया, आज कितने कर रहे हैं तथा भविष्यमें कितने पानकर तृप्त होंगे—इसकी गणना नहीं, सीमा नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता तो मानो समस्त भूमण्डलके मत-मतान्तरों तथा सिद्धान्तोंका आश्रय-सी हो रही है। इसका प्रधान कारण यही है कि विश्वव्यापक जगन्मोहन नन्दनन्दनकी जगदाकर्षक मुरलीकी मधुरतम मीठी तानसे श्रीमद्भगवद्गीताका प्रत्येक शब्द परिप्लावित हो रहा है। इसकी विश्वप्रियता ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। विभिन्न देशनिवासी, विभिन्न मत-मतान्तरके अनुयायी, विभिन्न भाषाभाषी, अपनी-अपनी देशभाषामें श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद कर इसके प्रति अपना अत्यन्त सम्मान प्रकट करते हैं तथा अपने अभीष्ट [illegible]न्तोंके अनुसार इसकी व्याख्या करते हैं। ऐसी अवस्थामें समस्त पाठकोंके लिये कोई एक निश्चित सिद्धान्त सामने रखना धृष्टता-सी जान पड़ती है। तथापि जिन प्रमाणोंके अवलम्बनसे सभी ग्रन्थकार अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हैं, उन्हींका आश्रय लेकर संक्षेपमें गीताके सिद्धान्तका विवेचन किया जाता है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥
श्रुतिलिङ्गसमाख्या च वाक्यं प्रकरणं तथा।
पूर्वं पूर्वं बलीयः स्यादेवमागमनिर्णये॥

ये तेरह प्रकारके प्रमाण सिद्धान्तकी परीक्षा करनेवालोंके लिये निकष (कसौटी) का काम देते हैं। इन सब प्रमाणोंके साथ समन्वय करते हुए गीताके श्लोकोंकी यदि विस्तृत विवेचना की जाय तो लेख बहुत बड़ा हो जायगा। अतएव इन्हीं प्रमाणोंके अनुसार संक्षेपमें गीताके तात्पर्यका निरूपण किया जाता है।

यह तो सभी जानते हैं कि भक्तवत्सल, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीताका उपदेश किसी प्रयोजनसे किया और उपदेशके अनन्तर वह प्रयोजन सिद्ध हुआ। उपक्रम-उपसंहारकी दृष्टिसे जान पड़ता है कि कुरुक्षेत्रके बीच अर्जुन उभयपक्षमें अपने आत्मीय जनोंको देखकर मोहको प्राप्त होते हैं और युद्धसे विरत होना चाहते हैं। ऐसी अवस्थामें श्रीभगवान्का प्रयोजन यही है कि अर्जुन-जैसे क्षत्रियसे अधर्ममें रत दुष्ट कौरवोंका तथा उनके सहायकोंका नाश कराया जाय, चाहे वे उसके सम्बन्धी, गुरु, बन्धु, पुत्र, पितामह आदि ही क्यों न हों। क्षत्रियके लिये उचित

भी यही था, जिसे अर्जुन मोहवश अधर्म समझते थे। परन्तु सत्यसङ्कल्प भगवान् कब माननेवाले थे, वे अपनी मनोमोहिनी वाणी श्रीगीताके द्वारा युद्ध-पराङ्मुख अर्जुनको रास्तेपर लाये और उसके मुँहसे अन्ततः यह वाक्य निकल पड़ा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

'आप सत्यसे कदापि च्युत नहीं होनेवाले हैं—और गिरते हुएको बचानेवाले हैं। इसीसे आपको अच्युत कहते हैं। आपके प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे निर्मल ज्ञान प्राप्त हुआ है; अब मुझे किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, आपके आदेशानुसार धर्म-युद्ध करनेके लिये मैं तैयार हूँ।'

यहाँ 'करिष्ये वचनं तव'—मैं तुम्हारे आदेशका पालन करूँगा, यही गीताके उपदेशका फल है। यही सिद्धान्त है। आरम्भमें ही श्रीभगवान्ने सङ्केत किया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

'प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके वशीभूत होकर मनुष्यको कर्म करना ही पड़ता है; वह कदाचित् एक क्षण भी विना काम किये नहीं रह सकता।' परन्तु जब उसे कर्म करना ही है, तो वह काम कैसा होना चाहिये—वैसा न करनेका फल क्या होगा ?—इस विषयमें श्रीभगवान् कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

मनुष्य मनमाना काम नहीं कर सकता; क्योंकि 'जो शास्त्रविधिको छोड़कर अपने इच्छानुसार काम करता है, उसे न तो सिद्धि ही मिलती है, न सुख और न श्रेष्ठ गति। अतएव यदि तुम अपने क्षात्रधर्मके अनुकूल संग्राम न करोगे, तो स्वधर्म और कीर्तिका नाश करके पापको प्राप्त होओगे।' इस प्रकार अर्थवाद और उपपत्तिके द्वारा श्रीभगवान्ने एक ही फलकी निष्पत्तिकी ओर ध्यान रक्खा है। जैसे—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

'मनुष्य अपने (वर्णाश्रमानुकूल) कर्मोंके द्वारा उसकी पूजा कर सिद्धिको प्राप्त होता है।' तथा—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।

'अपने धर्ममें (वर्णाश्रमधर्मका आचरण करते हुए) मर जाना श्रेष्ठ है, परन्तु परधर्मका आचरण करना भयावह है।' अतएव अपने वर्णाश्रमधर्मसे अतिरिक्त धर्मको नहीं स्वीकार करना चाहिये, फिर विदेशीय धर्मान्तरका स्वीकार करना तो और भी भयावह होता है। तथा—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

'मनुष्य अपने-अपने वर्णाश्रमविहित कर्मोंमें लगे रहनेपर उत्तम सिद्धिको प्राप्त करता है।' जैसे—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

'कर्मके द्वारा ही जनक आदि परम ज्ञानियोंने परम सिद्धिको प्राप्त किया।' परन्तु स्व-स्व-कर्मका निश्चय कैसे होगा, इसका उत्तर श्रीभगवान् देते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

'क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है; अतएव शास्त्रके विधानको समझकर ही तुम कर्म कर सकते हो।' परन्तु स्मरण रहे कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

कर्म करते समय फलकी अभिलाषा कदापि नहीं होनी चाहिये; क्योंकि 'तुम्हारा अधिकार कर्म करनेमें ही है, फलमें कदापि नहीं।' फल प्रदान करना तो मेरे अधिकारमें है। फलकी अभिलाषा रखकर कर्म करनेसे वे कर्म बन्धनके कारण बनेंगे तथा तुमको सुख-दुःखका अनुभव करानेवाले और जन्मान्तर प्रदान करानेवाले बन जायँगे। परन्तु विना उद्देश्य या प्रयोजनके कर्म हो नहीं सकता, ऐसी स्थितिमें फलाभिलाषाके न होते हुए भी कोई उद्देश्य होना चाहिये। इसके लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमः मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

'जो मनुष्य सर्वभूतोंमें वैरकी भावना न रख, मेरे लिये कर्म करता हुआ, मुझमें रत होकर, फलकी कामनाको छोड़, अनासक्त होकर, मेरी भक्ति करता हुआ कर्म करता है,

'मनःसंयम, इन्द्रियोंका दमन, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म हैं। शौर्य, तेज, धैर्य, चातुर्य, युद्धमें डटे रहना, दान और स्वामिभाव—ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं और सबकी परिचर्या (सेवा) शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।'

इनमें प्रत्येक वर्णके लिये अपने स्वाभाविक कर्मको करना ही श्रेयस्कर है। वर्णान्तरके कर्मोंमें लगनेसे कर्मगत वर्णसङ्करता आ जाती है और वह उन्नतिके मार्गमें बाधक है। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

'अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहनेसे ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।' अतएव यह निश्चित हुआ कि किसी देश, जाति या पुरुषकी उन्नति उसके स्वाभाविक कर्मोंके अनुसार चलनेसे ही हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं हो सकती। मानवजीवनकी कृतकार्यता अपने वर्णानुसार स्वाभाविक कर्मोंके करनेमें ही है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

'दूसरेके धर्म (कर्म) का भलीभाँति अनुष्ठान करनेकी अपेक्षा अपना येन-केन-प्रकारेण अनुष्ठित धर्म (कर्म) भी श्रेष्ठ होता है। अपने स्वभावके अनुसार नियत कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता।'



श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त

(लेखक—श्रीनारायणाचार्य गोविन्दाचार्य वरखेडकर)

मनुष्यकी समस्त कामनाओंको सिद्ध करनेवाली श्रीमद्भगवद्गीताके अमृत-रसका पान आजतक विभिन्न प्रणालियोंके द्वारा कितने भक्तोंने किया, कितने संतोंको उसका पान कराया, आज कितने कर रहे हैं तथा भविष्यमें कितने पानकर तृप्त होंगे—इसकी गणना नहीं, सीमा नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता तो मानो समस्त भूमण्डलके मत-मतान्तरों तथा सिद्धान्तोंका आश्रय-सी हो रही है। इसका प्रधान कारण यही है कि विश्वव्यापक जगन्मोहन नन्दनन्दनकी जगदाकर्षक मुरलीकी मधुरतम मीठी तानसे श्रीमद्भगवद्गीताका प्रत्येक शब्द परिप्लावित हो रहा है। इसकी विश्वप्रियता ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। विभिन्न देशनिवासी, विभिन्न मत-मतान्तरके अनुयायी, विभिन्न भाषाभाषी, अपनी-अपनी देशभाषामें श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद कर इसके प्रति अपना अत्यन्त सम्मान प्रकट करते हैं तथा अपने अभीष्ट [illegible]न्तोंके अनुसार इसकी व्याख्या करते हैं। ऐसी अवस्थामें समस्त पाठकोंके लिये कोई एक निश्चित सिद्धान्त सामने रखना धृष्टता-सी जान पड़ती है। तथापि जिन प्रमाणोंके अवलम्बनसे सभी ग्रन्थकार अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हैं, उन्हींका आश्रय लेकर संक्षेपमें गीताके सिद्धान्तका विवेचन किया जाता है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥
श्रुतिलिङ्गसमाख्या च वाक्यं प्रकरणं तथा।
पूर्वं पूर्वं बलीयः स्यादेवमागमनिर्णये॥

ये तेरह प्रकारके प्रमाण सिद्धान्तकी परीक्षा करनेवालोंके लिये निकष (कसौटी) का काम देते हैं। इन सब प्रमाणोंके साथ समन्वय करते हुए गीताके श्लोकोंकी यदि विस्तृत विवेचना की जाय तो लेख बहुत बड़ा हो जायगा। अतएव इन्हीं प्रमाणोंके अनुसार संक्षेपमें गीताके तात्पर्यका निरूपण किया जाता है।

यह तो सभी जानते हैं कि भक्तवत्सल, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीताका उपदेश किसी प्रयोजनसे किया और उपदेशके अनन्तर वह प्रयोजन सिद्ध हुआ। उपक्रम-उपसंहारकी दृष्टिसे जान पड़ता है कि कुरुक्षेत्रके बीच अर्जुन उभयपक्षमें अपने आत्मीय जनोंको देखकर मोहको प्राप्त होते हैं और युद्धसे विरत होना चाहते हैं। ऐसी अवस्थामें श्रीभगवान्‌का प्रयोजन यही है कि अर्जुन-जैसे क्षत्रियसे अधर्ममें रत दुष्ट कौरवोंका तथा उनके सहायकोंका नाश कराना, चाहे उसके सम्बन्धी, गुरु, बन्धु, पुत्र, पितामह आदि ही क्यों न हों। क्षत्रियके लिये उचित

भी यही था, जिसे अर्जुन मोहवश अधर्म समझते थे। परन्तु सत्यसङ्कल्प भगवान् कब माननेवाले थे, वे अपनी मनोमोहिनी वाणी श्रीगीताके द्वारा युद्ध-पराङ्मुख अर्जुनको रास्तेपर लाये और उसके मुँहसे अन्ततः यह वाक्य निकल पड़ा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

'आप सत्यसे कदापि च्युत नहीं होनेवाले हैं—और गिरते हुएको बचानेवाले हैं। इसीसे आपको अच्युत कहते हैं। आपके प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे निर्मल ज्ञान प्राप्त हुआ है; अब मुझे किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, आपके आदेशानुसार धर्म-युद्ध करनेके लिये मैं तैयार हूँ।'

यहाँ 'करिष्ये वचनं तव'—मैं तुम्हारे आदेशका पालन करूँगा, यही गीताके उपदेशका फल है। यही सिद्धान्त है। आरम्भमें ही श्रीभगवान्ने सङ्केत किया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

'प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज, तम–इन तीनों गुणोंके वशीभूत होकर मनुष्यको कर्म करना ही पड़ता है; वह कदाचित् एक क्षण भी विना काम किये नहीं रह सकता।' परन्तु जब उसे कर्म करना ही है, तो वह काम कैसा होना चाहिये—वैसा न करनेका फल क्या होगा?—इस विषयमें श्रीभगवान् कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

मनुष्य मनमाना काम नहीं कर सकता; क्योंकि 'जो शास्त्रविधिको छोड़कर अपने इच्छानुसार काम करता है, उसे न तो सिद्धि ही मिलती है, न सुख और न श्रेष्ठ गति। अतएव यदि तुम अपने क्षात्रधर्मके अनुकूल संग्राम न करोगे, तो स्वधर्म और कीर्तिका नाश करके पापको प्राप्त होओगे।' इस प्रकार अर्थवाद और उपपत्तिके द्वारा श्रीभगवान्ने एक ही फलकी निष्पत्तिकी ओर ध्यान रक्खा है। जैसे—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

'मनुष्य अपने (वर्णाश्रमानुकूल) कर्मोंके द्वारा उसकी पूजा कर सिद्धिको प्राप्त होता है।' तथा—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

'अपने धर्ममें (वर्णाश्रमधर्मका आचरण करते हुए) मर जाना श्रेष्ठ है, परन्तु परधर्मका आचरण करना भयावह है।' अतएव अपने वर्णाश्रमधर्मसे अतिरिक्त धर्मको नहीं स्वीकार करना चाहिये, फिर विदेशीय धर्मान्तरका स्वीकार करना तो और भी भयावह होता है। तथा—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

'मनुष्य अपने-अपने वर्णाश्रमविहित कर्मोंमें लगे रहनेपर उत्तम सिद्धिको प्राप्त करता है।' जैसे—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

'कर्मके द्वारा ही जनक आदि परम ज्ञानियोंने परम सिद्धिको प्राप्त किया।' परन्तु स्व-स्व-कर्मका निश्चय कैसे होगा, इसका उत्तर श्रीभगवान् देते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

'क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है; अतएव शास्त्रके विधानको समझकर ही तुम कर्म कर सकते हो।' परन्तु स्मरण रहे कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

कर्म करते समय फलकी अभिलाषा कदापि नहीं होनी चाहिये; क्योंकि 'तुम्हारा अधिकार कर्म करनेमें ही है, फलमें कदापि नहीं।' फल प्रदान करना तो मेरे अधिकारमें है। फलकी अभिलाषा रखकर कर्म करनेसे वे कर्म बन्धनके कारण बनेंगे तथा तुमको सुख-दुःखका अनुभव करानेवाले और जन्मान्तर प्रदान करानेवाले बन जायँगे। परन्तु विना उद्देश्य या प्रयोजनके कर्म हो नहीं सकता, ऐसी स्थितिमें फलाभिलाषाके न होते हुए भी कोई उद्देश्य होना चाहिये। इसके लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमः मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'जो मनुष्य सर्वभूतोंमें वैरकी भावना न रख, मेरे लिये कर्म करता हुआ, मुझमें रत होकर, फलकी कामनाको छोड़, अनासक्त होकर, मेरी भक्ति करता हुआ कर्म करता है,

हे अर्जुन ! वह मुझको प्राप्त होता है।' परन्तु किसी भी कर्मका आचरण करनेसे अदृष्ट उत्पन्न होता है, जो जन्मान्तरका कारण बनता है और सदा पुरुषके पास ही रहता है; ऐसी अवस्थामें मानवकर्मकी निष्पत्तिका संकेत करते हुए भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

'हे अर्जुन ! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, देते हो, जो तपस्या करते हो, वह सब मुझे अर्पण करो।' इससे अदृष्ट तुम्हारे पास न रहेगा और तुम कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे।

अर्जुन सोचता है कि 'शुभ कर्मोंको भगवदर्पण करना ठीक है; परन्तु युद्ध हिंसात्मक होनेके कारण अशुभ है, अतः अशुभ कर्मोंका अदृष्ट कहाँ जायगा ? मङ्गलमय भगवान्‌को अशुभ कर्म कैसे अर्पण किये जायँगे ?' श्रीभगवान् समाधान करते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'समस्त धर्मोंका त्याग कर मेरी शरणमें आओ, ('मत्कर्मकृत्०' के द्वारा सङ्केत किये हुए मेरे शरणागत-धर्मका आश्रय लेनेसे) मैं अपनी अघटितघटनापटीयसी शक्तिके द्वारा सब पापोंसे तुमको मुक्त कर दूँगा। तुम शोक मत करो।'

इस संक्षिप्त पर्यालोचनासे यही सारांश निकलता है कि 'श्रीभगवान्‌के चरणारविन्दमें चित्तको तन्मय करके प्रेमपूर्वक वर्णाश्रमोचित कर्मोंका शास्त्रविधिके अनुसार फलकी इच्छा न करते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ अनुष्ठान करना और उनको भगवान्‌के अर्पण करना ही सर्वश्रेष्ठ मानवधर्म है; क्योंकि श्रीभगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं, उन्हींके अधीन अखिल सचराचर जगत् है, जगत्‌के कल्याणके लिये वेद-शास्त्ररूपी विधान उन्हींकी आज्ञा है।'—यही गीताका प्रधान सिद्धान्त है, अन्य समस्त सिद्धान्त इसीके अङ्गाङ्गीभूत और पोषक हैं।

गीताका तत्त्व, साधन और फल

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

सम्पूर्ण गीता पढ़नेके पश्चात् साररूपसे एक साधारण मनुष्यके चित्तमें जो बात रह जाती है, उसीको गीता-तत्त्वाङ्कमें लिखना समुचित प्रतीत होता है।

गीताका तत्त्व क्या है ? वह कौन-सी चीज है जिसे गीता ज्ञानदृष्टिसे परम सत्य और जगत् तथा उसके अखिल कर्मका कारण बतलाती है; जिसे जाननेके लिये बुद्धिमान् मनुष्यका चित्त बेचैन रहता या छटपटाया करता है। गीताका वह परम तत्त्व है, भगवान्—वह परब्रह्म जो अनन्त, अव्यक्तमूर्त्ति है और फिर भी जगत्‌में जो किसी भी समय एकांशसे ही प्रकट होता है; जो निर्गुण-निराकार है और फिर भी सब गुणों और कर्मोंका आधार है, सब गुण-कर्म जिसके ही गुण-कर्म और सब आकार जिसके ही आकार हैं।

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'

हम कर्म क्यों करें ? इसका एक ही जवाब है और वह यह कि भगवान् कर्म करते हैं। ब्रह्म अकर्त्ता है, प्रकृति कर्त्री है और ये दोनों भाव एक ही भगवान्‌के हैं—एकको अक्षर भाव कहते हैं, दूसरेको क्षर; और ये दोनों जिन भगवान्‌के दो भाव हैं, वे क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम भगवान् पुरुषोत्तम हैं। यही पुरुषोत्तम-तत्त्व गीताका परमतत्त्व है। गीता जो युद्ध करनेको कहती है, वह इन्हीं पुरुषोत्तमका आदेश है—मामनुस्मर युध्य च। गीताद्वारा प्रतिपादित युद्ध कोई सामान्य युद्ध नहीं है; इस युद्धके प्रवर्त्तक भगवान् हैं, इसका हेतु कोई भगवत्सङ्कल्प है और इसका फल भी कोई भगवदुद्दिष्ट है। ये भगवान् कोई मायाविशिष्ट ब्रह्म नहीं हैं; ये वे भगवान् हैं-ब्रह्म जिनका धाम है और प्रकृतिके जो स्वामी हैं, ब्रह्म जिनकी अन्तःस्थिति है और प्रकृति जिनका अन्तर्बाह्य करण और कार्य है। इसलिये जगत्‌का अखिल कर्म भगवत्कर्म है, अथवा यों कहिये कि प्रकृतिद्वारा होनेवाला सारा कर्म परमपुरुष श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ होनेवाला महान् यज्ञ है। भगवान्‌का यह स्वरूप और अखिल जगत्-कर्मका यह मूलभूत तत्त्व ही गीताका परम तत्त्व प्रतीत होता है।

ऐसे भगवान् और जगत्‌के इस भगवत्कर्म या यज्ञस्वरूपको प्राप्त होनेका साधन क्या है ? साधन है, अर्जुन। प्रथमाध्यायमें अर्जुनको जो हम देखते हैं, वह एक ऐसे मनुष्यका



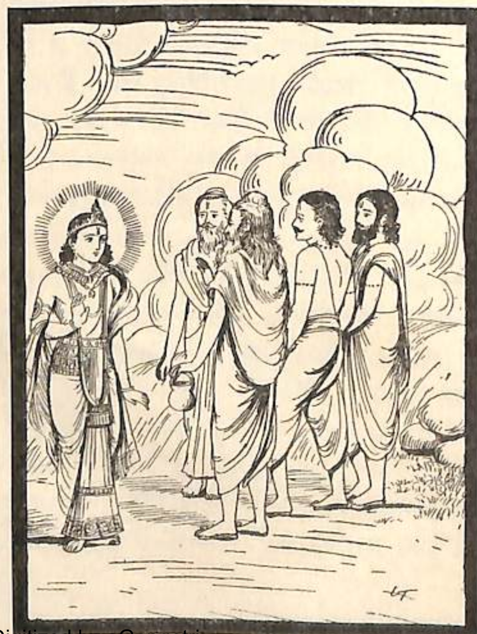
द्रौपदीको आश्वासन



पाण्डवोंकी दुर्वासासे रक्षा



द्रौपदीका सन्देश



हस्तिनापुरकी राहमें

है। एवं आनन्दांश ब्रह्मानन्द-लीलाके लिये है। 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति-वचन उपर्युक्त अभिप्रायको पुष्ट करते हैं।

अक्षरे सृष्टिकर्तृत्वान्न शृङ्गाररसोदयः।

'अक्षरमें सृष्टिका कर्तृत्व होनेसे उसमें शृङ्गार-रसका उदय नहीं होता।'

उपर्युक्त अक्षर, अक्षरातीतके गूढ़ रहस्यको गीतामें अनेक स्थानोंपर व्यक्त किया गया है। 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इत्यादि वचनोंसे भगवान्ने अपने सृष्टिकर्ता स्वरूपकी ओर सङ्केत किया है। और 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः' इन वचनोंसे उस लीला-पुरुषोत्तम विग्रहकी ओर सङ्केत है, जिसने व्रज-रासादिमें 'रसो वै सः' को अक्षरशः चरितार्थ किया है। इस प्रकार लीला-विग्रह भगवान् श्रीकृष्णमें गीताके पुरुषोत्तम और अक्षर आदि सभी पद अविरोधरूपसे घट जाते हैं!

रहस्यमयी गीता

(लेखक—परमहंस श्रीस्वामी योगानन्दजी महाराज, योगदा सत्संग, केलिफोर्निया)

दर्शन तथा आचार-शास्त्रके इतिहासमें भगवद्गीताके गूढार्थ अर्थात् इसके अंदर आये हुए रूपकका मर्म समझना बहुत ही आनन्ददायक तथा रहस्यमय कार्य है। पहले, संक्षेपमें, हम महाभारतकी कथाका उल्लेख कर लें—जिससे इसके मर्मको समझनेमें सरलता हो जाय।

धृतराष्ट्र और पाण्डु, दो भाई थे। धृतराष्ट्र बड़ा था, पाण्डु छोटा। धृतराष्ट्रके सौ लड़के थे, पाण्डुके पाँच; परन्तु ये पाँचों थे बड़े ही वीर और योद्धा। धृतराष्ट्र गद्दीपर बैठे, पर ये थे जन्मके अन्धे; इसलिये उनका ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन ही उनकी जगहपर राज्य करता था। जूएके खेलमें एक बार दुर्योधनने पाण्डवोंसे उनका राज्य जीत लिया और उन बेचारोंको बारह वर्षके लिये वनवास भोगना पड़ा। वनवासका समय समाप्त हो चुकनेपर पाण्डव जब लौटे और उन्होंने जब अपने हिस्सेका राज्य माँगा तो कौरवोंने साफ 'ना' कर दिया और यह कहा कि युद्धके विना सूईकी नोकके बराबर भी जमीन नहीं मिलेगी।

इस कारण पाँचों पाण्डवोंने अपने नीतिगुरु भगवान् श्रीकृष्णसे राय ली और श्रीकृष्णने स्नेहवश अर्जुनका सारथी होना स्वीकार कर लिया। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके मैदानमें दुष्ट दुर्योधनके अधिनायकत्वमें कौरवोंकी सेना तथा पाँचों पाण्डवोंके अधिनायकत्वमें पाण्डवोंकी सेना जुटी।

राजा धृतराष्ट्र थे अन्धे, इसलिये उन्होंने व्याससे प्रार्थना की कि वे उन्हें युद्धकी सारी बातें सुनाते चलें। अपने स्थानमें व्यासने सञ्जयको दिया। सञ्जयके हृदयमें किसी भी दलके लिये पक्षपात नहीं था और उन्हें व्यासकी कृपासे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी, इससे वे हस्तिनापुरमें बैठे-बैठे ही युद्धके सारे दृश्यको देख सकते थे।

गीताका श्रीगणेश धृतराष्ट्रके द्वारा सञ्जयसे पूछे हुए इस प्रश्नसे होता है, 'हे सञ्जय! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये जुटे हुए मेरे बच्चे कौरव और पाण्डव क्या कर रहे हैं?'

भगवान् व्यासद्वारा प्रणीत श्रीमद्भगवद्गीतामें वस्तुतः एक ऐसे युद्धका वर्णन मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे सचमुच कुरुक्षेत्रके मैदानमें लड़ा गया था। व्यासजीने कतिपय योद्धाओंके नाम भी लिखे हैं और वे सब सत्य हैं। परन्तु साथ ही वे कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक चरित्र भी हैं जिनमें मनुष्यके अंदर होनेवाले सत्-असत्, शुभ-अशुभ भावों और विचारोंमें होते रहनेवाले संघर्षकी स्पष्ट ध्वनि है। पात्रोंके नामोंमें जो संस्कृतके शब्द व्यवहृत हुए हैं, उनके अर्थ और भावपर जब हम विचार करते हैं तो उन नामोंके द्वारा ही उन पात्रोंकी सैनिक क्षमताका पता लग जाता है। उदाहरणार्थ, धृतराष्ट्रका अर्थ है 'धृतम् राष्ट्रम् येन' अर्थात् जो लगाम पकड़े हुए हो—अर्थात् बुद्धिहीन मन। शरीर है रथ, इन्द्रियाँ हैं घोड़े, मन है लगाम, बुद्धि है सारथी और आत्मा है रथी। बुद्धिकी सहायता अथवा प्रकाशके विना मन इन्द्रियोंका गुलाम हो जाता है, ठीक जैसे सारथीके अभावमें घोड़े लगामको लिये-दिये भाग जाते हैं। इसीलिये बुद्धिरहित मन अन्धा होता है; उसका कोई ठिकाना नहीं कहाँ जा गिरे, कहाँ जा धँसे।

गीताके पात्र निखिल ब्रह्माण्डके प्रतीक

व्यास—निखिल सृष्टिके स्रष्टा—दो रूपोंमें, दोनोंमें समानरूपसे व्याप्त हमारे सामने आते हैं। उनकी दो सन्तान हैं—

धृतराष्ट्र और पाण्डु; धृतराष्ट्र जड पार्थिव जगत्का प्रतीक है और पाण्डु चेतन आत्मसत्ताका प्रतीक। चेतन ही जडपर अपना शासन रखता है। इसीको यदि बाइबिलकी भाषामें व्यक्त करना चाहें तो कह सकते हैं कि व्यास हैं जगत्पिता प्रभु (God, the Father) के स्थानपर, पाण्डु हैं चेतनसत्ता 'ईसा'के स्थानपर और धृतराष्ट्र हैं 'होली गोस्ट' के स्थानपर।

गीताके पात्रोंकी सूक्ष्म मीमांसा

व्यास आत्मा हैं, जो परमात्माके ही प्रतिबिम्ब हैं। प्रतिबिम्ब बिम्बका कुछ ही आभास दे सकता है। जैसे सूर्य और उसका प्रतिबिम्ब, ठीक इसी प्रकारसे परमात्मा और आत्मा। व्यास विचित्रवीर्यके सहोदर भाई हैं। हजारों जलभरे प्यालोंमें जिस प्रकार एक ही सूर्यके हजारों प्रतिबिम्ब होते हैं, उसी प्रकार एक ही परमात्मा भिन्न-भिन्न शरीरोंमें अनेक आत्माओं-के रूपमें प्रकट होता है। व्यास उस आदिम निष्क्रिय परन्तु सचेष्ट आत्माके प्रतीक हैं, जिसकी द्विधा शक्तियोंके दो रूप प्रकट होते हैं--एक है मन अर्थात् अन्धे नरेश धृतराष्ट्र और दूसरे हैं विवेकसम्पन्न नरेश पाण्डु। 'पाण्डु' शब्दका धात्वर्थ है विवेकबलसम्पन्न चेतन सत्ता। इसी शरीरमें हमारा यह पागल मन, प्रमथन करनेवाली इन्द्रियाँ, और विशुद्ध विवेक-इन सभीका डेरा है। कुरुक्षेत्रका अर्थ है हमारा यह शरीर, हमारा यह कर्मक्षेत्र।

बचपनमें हमारा यह शरीर कितना शुद्ध, निर्मल और पवित्र रहता है--कितनी पवित्र विवेकशक्ति तथा शान्तिका साम्राज्य रहता है! पाँचों पाण्डवोंमें सर्वश्रेष्ठ युधिष्ठिर हैं-'युधि स्थिरः' अर्थात् जो मनकी लड़ाईमें स्थिर हो, दृढ़ हो, सावधान हो। इस प्रकार विवेककी सर्वश्रेष्ठ सन्तान है शान्ति। अन्य चार भाइयोंके नाम हैं—भीम (प्राणशक्ति), अर्जुन (आत्मसंयम, अनासक्त), नकुल (उत्तम आदर्शोंका पालनेवाला) और सहदेव (बुराइयोंको जीतनेवाला)। बचपन समाप्त होते ही हमें अहङ्कार आ दबाता है—यही अहङ्कार है दुर्योधन, अशान्त मनका जेठा पुत्र और वही जुएके छलभरे खेलमें इन्द्रियोंका आकर्षण और जगत्-की इच्छाएँ जगाकर, शरीरको विवेक, सुबुद्धि, सदाचारसे भ्रष्ट कर बारह वर्षके लिये निर्वासित कर देता है।

एक बार जब हमारे अंदर दुराचार तथा अशुभ विचारोंकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो सदाचार और शुभ विचार कम-से-कम बारह वर्षके लिये भाग ही जाते हैं, लुप्त ही हो जाते हैं। ऐसी दशामें [illegible] पूर्णतः शुद्धीकरण और साथ ही सुन्दर एवं पवित्र भावोंकी पुनः प्राणप्रतिष्ठामें कम-से-कम बारह वर्ष तो लग ही जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताकी कथा रूपकके बहाने हमें यह बतलाती है कि जब असद् विचार एवं अशुभ भाव बारह वर्षतक हमारे शरीरपर शासन कर चुकते हैं तो विवेकसे जाग्रत होकर सद् विचार और शुभ भाव अपने बारह वर्षके निर्वासन-कालको समाप्त कर भगवान् श्रीकृष्ण अर्थात् आत्म-शक्तिके सहारे लौटते हैं। ठीक इसी तरह, चढ़ती हुई जवानीमें जब हम दुर्विचारों और अशुभ भावोंके शिकंजेमें बारह वर्ष बिता चुकते हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, वासना और अहङ्कारके थपेड़े खाते-खाते थक जाते हैं तब विवेकका उदय होता है और उसके साथ ही शान्ति, शक्ति, संयमका हमारे जीवनमें बारह वर्षका निर्वासन समाप्त कर पुनरावर्तन होता है और पुनः ये अपना खोया हुआ साम्राज्य प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु दुष्ट कौरव— अर्थात् हमारे भीतरके दुष्ट भाव इन्हें धक्का देकर बाहर कर देना चाहते हैं और वस्तुतः सदाचार और सद्विवेकके साम्राज्यपर अपना अनुचित अधिकार जमाये रखते हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्थात् गुरु—जाग्रत, उद्बोधित आत्मा—ध्यानसे उद्भूत अन्तश्चेतना, अर्जुनको अर्थात् आत्मसंयमको सहायता पहुँचाकर शान्ति, प्राणायाम (प्राणोंको इन्द्रियोंसे पृथक् करना) को सचेष्ट करते हैं और बुरे भावोंको विवेकके राज्यसे बहिष्कृत कर, अहङ्कार तथा इसके अन्य साथी—जैसे लोभ, मोह, घृणा, ईर्ष्या, दुष्टता, विषयोन्माद, नीचता, नृशंसता, परछिद्रान्वेषण, परदोषदर्शन, आध्यात्मिक आलस्य, शरीरको सुख पहुँचाने-की अति व्यग्रता, जाति, मत, पंथ और सम्प्रदायका आग्रह तथा अहङ्कार, अनाचार-अत्याचार, शारीरिक सुस्ती, आध्यात्मिक विषयोंसे उदासीनता, ध्यानसे उपरति, आध्यात्मिक साधनाको भविष्यपर छोड़े रखनेकी प्रवृत्ति, कामासक्ति, शरीर-मन-बुद्धिकी अपवित्रता, क्रोध, दूसरेको दुखी देखकर प्रसन्न होनेका स्वभाव, दूसरेको चोट पहुँचाने-की इच्छा, भगवान्में अश्रद्धा, भगवान्के प्रति अकृतज्ञता, उद्दण्डता, निर्दयता, अज्ञान, दूरदृष्टिका अभाव, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक जडता, विषमता, वाणीकी कटुता, स्वार्थ, विचारकी रूक्षता, दुष्कर्म, पापोंमें रति, विषय-व्यामोह, भ्रान्ति, अमर्ष, मनकी कटुता, पापदर्शन, पापचिन्तन, पापमनन, पापस्मरण, कायक्लेशचिन्ता, [illegible]से अपरिचय, कर्मकुशलताका

अभाव, झगड़ालू स्वभाव, शपथ खानेकी प्रवृत्ति, निन्दा-चुगली करनेकी आदत, शरीरका रोग, धर्मविरुद्ध कामाचरण, सब बातोंमें अति और अमर्यादा, प्रमाद, आलस्य, निद्राकी बहुलता, अपरिमित भोजन, अपनेको बहुत अच्छा प्रकट करना, भगवान्का तिरस्कार, ध्यान-धारणासे तटस्थता आदि दुष्ट प्रवृत्तियोंसे संग्राम करनेकी कला सिखला देते हैं।

इससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र हमारा यह शरीर ही है और इसीके भीतर श्रीकृष्ण अर्थात् अध्यात्मशक्ति सद्विवेकके प्रतीक पाँचों पाण्डव तथा क्षात्र प्रवृत्तियोंकी सेना लेकर अपने खोये हुए साम्राज्यपर शासन स्थापित करना चाहते हैं और उसके भीतरसे दुष्ट भावोंकी विपुल सेनाको मार भगाना चाहते हैं। इन्द्रियोंने ज्ञानके अभावमें इस शरीर-साम्राज्यपर उच्छृङ्खल शासनद्वारा एकमात्र अस्वस्थता, मानसिक चिन्ताएँ, अज्ञानकी संक्रामक महामारी, आध्यात्मिक अकाल एवं दुर्भिक्षका जाल फैला रक्खा है।

उद्बोधित, जाग्रत् आत्मशक्ति तथा ध्यान-धारणासे उद्भूत आत्मसंयमका इस शरीर-साम्राज्यपर एकतन्त्र शासन होना चाहिये और तभी शान्ति, ज्ञान-विज्ञान, सुस्वस्थताकी पुनः स्थापना होगी और तभी अन्तरात्माकी विजय-पताका इसपर फहरायगी।

अपोहनमीमांसा

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गोयनका)

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभावमपाकरोति।
गतागतायासमपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम्॥

ज्ञानराशि भगवान् वेद सम्पूर्ण सत् शास्त्रोंके मूल, सम्पूर्ण सदाचारोंके स्रोत, सम्पूर्ण धर्मकृत्योंके आकर और सनातन धर्मके मूलाधार हैं—यह सबपर विदित ही है। उपनिषद् वेदोंके शीर्षभाग हैं अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञान-काण्ड—इन तीन काण्डोंमें विभक्त वेदका ज्ञानकाण्ड सर्वश्रेष्ठ है। उक्त उपनिषद् अर्थात् ज्ञानकाण्डका सार श्रीमद्भगवद्गीता है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इसलिये गीताकी महत्ताके विषयमें कभी किसीको विवाद हो ही नहीं सकता।

गीताशास्त्रके वक्ता आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। भगवान्के मुखकमलसे विनिःसृत गीताका प्रत्येक पद, प्रत्येक वर्ण सारगर्भित तथा सुशिक्षासे सराबोर है। जैसे मूल गीता सर्वयोगिध्येय,श्रीवत्स-कौस्तुभ-वनमाला-किरीट-कुण्डलादि दिव्य उपकरणोंसे अलङ्कृत, विविधदिव्यलीलाविलासी, विधाताकी सृष्टिमें असम्भव निरतिशय-सौन्दर्यसार-सर्वस्वमूर्त्ति, सूर्य-किरणोंके समान दिव्य पीताम्बरधारी, सुदामा आदि परम रङ्कोंको महावैभवशाली करनेवाले, नारद-मार्कण्डेय आदि महामुनियोंसे स्तुत, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न, षोडशकलापूर्ण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके मुख[illegible] ही उसकी व्याख्याएँ भी अनेक महापुरुषोंने की हैं। सभीने गीताकी ज्ञानगरिमाका एक स्वरसे प्रतिपादन किया है। आस्तिक या नास्तिक—जिस किसीने गीताका अध्ययन, मनन किया, उसीको शान्ति मिली, तृप्ति हुई।

गीताके प्रत्येक अध्याय, प्रत्येक श्लोक क्या-प्रत्येक पद, प्रत्येक वर्ण पर बड़े-बड़े निबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। 'गीतातत्त्वाङ्क'के लिये एक छोटा-सा नोट 'अपोहन' शब्दपर लिखनेकी मेरी भी इच्छा हुई है, आशा है उससे पाठकोंका भी कुछ मनोविनोद होगा।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
(गीता १५। १५)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित* हूँ अर्थात् सबका आत्मा हूँ; अतः मुझसे ही सम्पूर्ण पुण्यात्मा प्राणियोंकी स्मृति†, ज्ञान‡ और पापियोंकी स्मृति तथा ज्ञानका अपोहन§ होता

* इस विषयमें 'स एष इह प्रविष्टः', 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

† इस जन्ममें पहले अनुभूत पदार्थविषयिणी वृत्ति और योगियोंकी अन्य जन्ममें भी अनुभूत पदार्थविषयिणी वृत्ति स्मृति है।

‡ विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न अनुभव और योगियोंका देश और कालसे व्यवहित विषयका भी अनुभव ज्ञान है।

§ काम, क्रोध, लोभ, शोक आदिसे व्याकुल चित्तवालोंकी स्मृति और ज्ञानका नाश।

है। अर्थात् आत्मभूत मुझसे ही सम्पूर्ण पुण्यात्माओंको, पुण्य कर्मोंके अनुरोधसे, स्मृति और ज्ञान होते हैं और पापियोंको पापकर्मके अनुरोधसे विस्मरण और अज्ञान होते हैं। उक्त 'अपोहन' शब्दका प्रायः सभी टीकाकारोंने स्मृति और ज्ञानका अपाय, अपगमन, नाश या लोप अर्थ किया है।

कुछ महानुभाव इस श्लोकमें प्रतिपादित 'भगवान्से ज्ञान और स्मृतिका लोप होता है' इस अर्थको सहन नहीं कर सकते। वे अज्ञानका बाध भगवान्से होता है, ऐसा अर्थ करते हैं। इस अर्थमें अज्ञानका ऊपरसे अध्याहार करना पड़ता है और वह शास्त्रसङ्गत भी प्रतीत नहीं होता। भगवान् जब सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयके प्रेरक हैं तब बुरे-से-बुरे कर्म करनेवाले जो पुरुष हैं, उनके प्रेरक कोई दूसरे होंगे—यह बात समझमें नहीं आती। यदि दूसरे ही हों, तो भगवान्के सदृश ही एक और दूसरी शक्ति भी माननी पड़ेगी; फिर भगवान्के—

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'

अथ च—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

—इत्यादि वचनोंके अर्थमें बहुत सङ्कोच करना पड़ेगा। और ऐसे स्थलोंकी मूलभूत श्रुतियाँ भी उपलब्ध होती हैं—

'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते, य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इत्यादि।

यदि शुभ कर्मोंके ही प्रेरक भगवान् हैं, तो तमोगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण-रजोगुण-मिश्रित जो कार्य हैं, उनकी प्रेरक किसी अन्य शक्तिको मानना पड़ेगा। परन्तु भगवान् गीतामें श्रीमुखसे कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥
(गीता ७। १२)

'यों विशेषरूपसे परिगणनसे क्या लाभ, संक्षेपमें यह समझो कि जो प्राणियोंके सात्त्विक—शम, दम आदि, राजस—हर्ष, गर्व आदि, तामस—शोक, मोह आदि चित्तके विकार अविद्या, कर्म आदिके वश होते हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। वे मुझसे उत्पन्न होते हैं सही, परन्तु मैं उनके वशमें नहीं हूँ; रज्जुमें सर्पकी नाईं वे मुझमें कल्पित हैं, अर्थात् उनकी सत्ता और स्फूर्ति मेरे अधीन हैं।'

श्रीमद्भागवतमें देखिये—

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः।
भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम्॥
(११। १। ७)

'भगवान् श्रीकृष्णने बलराम और यादव वीरोंको साथ लेकर, दैत्योंको मारकर, कौरव और पाण्डवोंमें प्रबल कलह उत्पन्न कराकर भूमिका भार उतार दिया।'

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः॥

'आपके ही प्रसादसे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी ही मायासे ज्ञानका नाश होता है। भगवन्! आप ही अपनी मायाकी गतिविधि जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता अर्थात् आपकी माया हमलोगोंके लिये दुर्विज्ञेय है।'

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान्।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान्निरहरत् क्षितिभारमीशः॥
(भा० ११। १। २)

'दुर्योधन आदि शत्रुओंने कपटद्यूतमें पाण्डवोंको हराकर भरी सभामें उनकी पत्नीके केश खींचने आदिके द्वारा अपमान किया था और विष देकर तथा लाक्षागृहमें आग लगाकर पाण्डवोंका नाश करना चाहा था। इन घटनाओंसे क्रुद्ध पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्णने एकत्र हुए दोनों दलोंके राजाओंको आपसमें युद्ध कराकर, मारकर पृथिवीका भार दूर किया।'

द्रौपदीके चीर-हरण और शकुनिकी द्यूतवञ्चनाके भी प्रेरक भगवान् ही थे, और इन बातोंको निमित्त बनाकर दोनों पक्षोंके वीरोंको मारनेवाले भी भगवान् ही थे—यह भगवान् व्यासदेव स्पष्ट कहते हैं।

जो महाशय 'अज्ञानका बाध' अर्थ करते हैं, वे अपने भगवान्को इस रूपमें देखना नहीं चाहते। उनके उपास्यदेव ज्ञानके नाशक हों, तो उनकी उपासनामें अन्तर आता है। उपासकके भगवान् उनकी भावनाके अनुसार ही बन जाते हैं। उनसे भी अधिक श्रेणीके मधुर रसके उपासकगण, भगवान् श्रीकृष्णने अन्यान्य राक्षसोंका वध किया था, इसको भी सहन नहीं कर सकते। वे कहते हैं कि 'नित्य क्रीड़ा, नित्य विहार और

नित्य वृन्दावनमें रमण करनेवाले भगवान्‌को भी कभी क्रोध आदि हो सकते हैं ? वे तो वृन्दावनको छोड़कर एक क्षणके लिये भी कभी कहीं नहीं जाते । राक्षस आदिका वध करनेवाले तथा छल-कपटद्वारा युद्धमें जय-पराजय करानेवाले महाभारतके श्रीकृष्ण हमारे उपास्यदेव नहीं हैं । वे कोई अवतारी दूसरे होंगे !' इसी प्रकार उपासकगण अपने-अपने उपास्य देवोंकी नाना प्रकारसे भावना करते हैं । और उनकी भावनाके अनुसार भगवान् भी उन्हीं रूपोंमें प्रकट होकर उनकी कामनाओंको पूर्ण करते हैं । भक्तोंके ये भाव बड़े सुन्दर हैं, परन्तु यही भगवत्तत्त्व नहीं है ।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि जब सबके प्रेरक भगवान् ही हैं, तो पुण्य-पाप कर्मोंके प्रेरक होनेके कारण भगवान्‌में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष प्राप्त हुए । भगवान् तो सबके हितकर्ता हैं, अतः उन्हें दुःखद कर्मोंकी ओर अपने अनुकम्पनीय प्राणियोंको प्रवृत्त नहीं करना चाहिये । इसका उत्तर ब्रह्मसूत्रने दे रक्खा है—

'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।'
(२ । ३ । ४२)

अर्थात् जीवद्वारा किये गये धर्म और अधर्मकी अपेक्षा करके ही ईश्वर शुभ और अशुभ कर्म करवाता है, अतएव ईश्वरमें विषमता और अकरुणतारूप दोष लागू नहीं हो सकते । संसारके अनादि होनेके कारण पूर्वजन्ममें किये गये धर्म और अधर्मकी अपेक्षा उचित ही है । तभी 'ज्योतिष्टोमेन यजेत', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि विधि-निषेधशास्त्रकी सार्थकता होती है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके वास्तविक तात्पर्यको तो उसके कहनेवाले भगवान् जानें अथवा उनके कृपापात्र अर्जुन समझें; हमारा तो इतना ही कहना है कि यह श्लोक परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादक है । यदि इसके अर्थमें थोड़ा भी हेरफेर किया जाय तो सर्वान्तर्यामी, सर्वसाक्षी, सर्वप्रेरक, परात्पर, पूर्णतम परमानन्दघनका सम्यक् बोध नहीं हो सकेगा ।

'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा कर्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः ।'
'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता'

—इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुके अभावका सम्यक् प्रतिपादन करती हैं । इन श्रुतियोंका तात्पर्य भी किस प्रकार लगाया जायगा ? दूसरी बात यह है कि क्या भगवान्‌को सत्त्वगुणप्रधान देवता ही प्रिय हैं, असुर नहीं ? हिरण्यकशिपु, रावण, बाणासुर, कंस, जरासन्ध आदिका ऐश्वर्य-भोग और मोक्ष देखकर मानना ही पड़ता है कि उनकी कृपाके प्रकारमें भेद होना तो आवश्यक है ही; किन्तु वे सभीके 'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'—गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृत् हैं । ऐसा न होता तो बेचारे नास्तिकोंका प्राणधारण करना भी कठिन हो जाता—'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।'

उनके चरित्रपर दृष्टिपात करनेसे यह भलीभाँति समझमें आ जाता है कि जितना वे नित्य सेवा करनेवाले अर्जुन, उद्धव आदिसे प्रेम करते थे, छातीमें लात मारनेवाले भृगुजीका भी आदर उन्होंने उससे कम नहीं किया था; तभी तो महात्मा सूरदासजीको लिखना पड़ा—

एक लोहा पूजामें राख्यो एक घर बधिक परो ।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो ॥

आर्यजातिका जीवन-प्राण

गीता उस दिव्य सन्देशका इतिहास है, जो सदा-सर्वदासे आर्यजातिका जीवन-प्राण रहा है । इस ग्रन्थका निर्माण प्रधानतः आर्यजातिके ही लिये हुआ है और सारे संसारकी भलाईके लिये भारतीय आर्योंने शताब्दियोंसे इसकी रक्षा की है ।

—डा० सर सुब्रह्मण्य अय्यर, के० सी० आई० ई०, एल्-एल्० डी०

गीताके अनुसार सृष्टिक्रम

(लेखक—दीवानबहादुर श्री के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

इस जगत्का सृजन कैसे हुआ, यह कहाँसे आया और कहाँ जा रहा है—ये प्रश्न और इनका उत्तर उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना यह जानना कि 'मैं' क्या हूँ, कहाँसे आया हूँ और कहाँ जा रहा हूँ। किसी भी धर्म अथवा धर्म-शास्त्रकी महत्ता इन प्रश्नोंके समुचित समाधानपर ही निर्भर है। हिन्दूधर्मने इन प्रश्नोंके बहुत ही सुन्दर सुबोध उत्तर दिये हैं और उनसे हमारी आत्माको बड़ा ही सन्तोष और शान्ति मिलती है। और उनमें सबसे सुन्दर, सबसे अधिक सन्तोषजनक उत्तर श्रीमद्भगवद्गीताका है।

इस छोटे-से लेखमें भिन्न-भिन्न दर्शनोक्त सृष्टि-क्रमका विवरण सम्भव नहीं और न यही सम्भव है कि उन सबके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन कराते हुए उनकी तुलनामें गीताके सृष्टि-विन्यासकी विशेषताका वर्णन किया जाय। परन्तु सांख्य-दर्शनमें दिये हुए सृष्टिक्रमका उल्लेख यहाँ इस कारण आवश्यक है कि भगवान् श्रीकृष्णने उसीका ढाँचा लेकर गीतामें उसे एक नया रूप दिया है और इसीलिये गीतामें सृष्टि-विधानका इतना साङ्गोपाङ्ग वर्णन है कि उसके द्वारा भगवान्के परम दिव्य एवं शाश्वत सन्देशका सहज ही साक्षात्कार हो जाता है।

कपिलका सांख्यशास्त्र पुरुष और प्रकृतिका आधार लेकर चलता है और सृष्टि-तत्त्वोंका इसमें बहुत सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। हमारे छः दर्शनोंमेंसे प्रत्येकने नास्तिक धर्मके द्वारा प्रतिपादित 'निराशावाद', व्यक्तिवाद, शून्यवादका घोर विरोध किया है। सांख्यदर्शनने तो आत्माको पुरुषरूपमें पुनः प्रतिष्ठापित कर और उसे शुद्ध चैतन्यरूपमें स्वीकार कर तथा उसके साथ प्रकृतिकी प्रतिष्ठा कर बौद्धोंके शून्यवाद और व्यक्तिवादका मूल ही उच्छिन्न कर दिया।

सांख्यशास्त्रमें पुरुषके संयोगमें प्रकृति 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' की ओर विकसित हो रही है। सांख्य-मतानुसार प्रकृतिसे प्रादुर्भूत होनेवाले तत्त्वोंका क्रम इस प्रकार है—महत् अथवा बुद्धि (समष्टि चेतना), समष्टि अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)। ये तेईस तत्त्व और प्रकृति—इस प्रकार कुल मिलाकर चौबीस हुए। पचीसवाँ तत्त्व है पुरुष। सांख्यमतानुसार जीवात्मा असंख्य हैं और नित्य चेतन हैं। सांख्यने सुख-दुःखकी अनुभूतिको मन-बुद्धिके हवाले करके और साथ ही आत्माको गुणोंसे परे शुद्ध चेतन सत्ताके रूपमें स्वीकार करके न्याय और वैशेषिककी अपेक्षा एक कदम आगे पैर रक्खा है। सांख्य 'प्राण' को भिन्न तत्त्व नहीं मानता। जब सब इन्द्रियोंके व्यापार आरम्भ होने लगते हैं तब उसीको वह 'प्राण' कहता है। परन्तु वेदान्तियोंको यह मत मान्य नहीं है, उन्होंने 'प्राण' को स्वतन्त्र तत्त्व माना है।

सांख्यदर्शन एक महान् और मौलिक अध्यात्मशास्त्र है, इसे कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है? वेदान्तदर्शन अवश्य ही इसे अङ्गीभूत करके इससे आगे बढ़ जाता है, परन्तु सूक्ष्म विश्लेषण और सृष्टि-विन्यासके मूल तत्त्वोंकी अवधारणाके लिये वेदान्त सांख्यका ही ऋणी है। मैक्समूलर-का कथन है—'सांख्य और वेदान्तने सृष्टिकी महान् समस्याओंका जो समाधान किया है, उसके सम्बन्धमें हमारी जो भी धारणा हो; परन्तु कितना मौलिक, कितना साहसपूर्ण कार्य उन्होंने किया है! विशेषतः जब हम उनकी दर्शन-शैलीको दूसरे प्राचीन अथवा नवीन दार्शनिकोंकी शैलियोंसे मिलाकर देखते हैं तो उनकी मौलिक सूझ और साहसपूर्ण कार्यपर गौरवका बोध होता है।' इतना ही क्यों, गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'सिद्धानां कपिलो मुनिः।' भगवान् इसके द्वारा कहते हैं कि कपिल उनकी ही एक विशिष्ट विभूति हैं। श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें (पचीससे तैंतीस अध्यायतक) जब हम माता देवहूतिको दिये हुए कपिलके दिव्य उपदेश पढ़ते हैं तो हमें यह स्पष्ट अनुभव होता है कि कपिल मुनि साक्षात् भगवान्के ही एक अवतार थे और उनके उपदेश प्रायः वे ही हैं जो गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके हैं। कुछ प्रगल्भ विद्वानोंकी रायमें कपिल नामके दो सिद्ध मुनि हुए हैं, परन्तु उस प्रसङ्गकी अवतारणा यहाँ सर्वथा अनावश्यक है। सत्य तो यह है कि सांख्यशास्त्रमें कपिलने अपना सारा रहस्य खोलकर ठीक उसी प्रकार रख दिया है जैसे अन्य दर्शनकारोंने अपने-अपने विशिष्ट दर्शनग्रन्थोंमें किया है। दर्शनोंके अनुशीलनके सम्बन्धमें मधुसूदन सरस्वतीने 'प्रस्थानभेद' में इस प्रकार अपना मन्तव्य प्रकट किया है—

न हि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात्तेषाम् । किन्तु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः पुरुषार्थे प्रवेशो न सम्भवतीति नास्तिक्यवारणाय तैः प्रकारभेदा दर्शिताः ।

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' की व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—सिद्धानां जन्मनैव धर्म-ज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयप्राप्तानां कपिलो मुनिः । अर्थात् जन्म-से ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यको प्राप्त हुए सिद्ध मुनियोंमें कपिल मैं (भगवान्) हूँ ।

यह हम सभी जानते हैं कि सृष्टिक्रम-विन्यासमें गीताने कपिलके सांख्यदर्शनकी शैली और शब्दोंका प्रयोग किया है। गीताके तेरहवें अध्यायमें देखिये—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

इसके साथ ही कपिलने देवहूतिको उपदेश करनेमें जिस प्रकारकी भाषाका प्रयोग किया है, ठीक उसी प्रकारकी भाषा गीतामें भी आती है । तेरहवें अध्यायके बीसवें और इक्कीसवें श्लोक इसके प्रमाण हैं—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

भागवतके तीसरे स्कन्धके छब्बीसवें अध्यायमें कपिलने अपनी मातासे कहा है—

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥

भागवत और गीताके समयके पौर्वापर्यका विचार यहाँ आवश्यक नहीं । इतना ही जानना पर्याप्त है कि कपिल और श्रीकृष्णके वचन इतने समान हैं ।

ईश्वरकी सत्ताको न स्वीकार करना सांख्यकी सबसे बड़ी दुर्बलता है । सांख्य यह बतला नहीं सकता कि किस प्रकार निष्क्रिय आत्मा और जड प्रकृति एक साथ जुड़कर संसारका सृजन कर सके । सांख्यशास्त्र 'अन्धपंगुन्याय' के द्वारा अपने मतका प्रतिपादन करता है । वह कहता है कि जिस प्रकार अन्धे आदमीके कन्धेपर बैठा हुआ कोई लँगड़ा आदमी रास्ता बतलाता जाय और अन्धा आदमी चलता जाय, ठीक उसी प्रकारका जोड़ा प्रकृति और पुरुषका है । इस दृष्टान्तसे इतना स्पष्ट है कि यदि अन्धे और लँगड़ेका जोड़ा टूट जाय तो सारी गति-विधि ही रुक जाय । इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषकी भी जोड़ी है । परन्तु इस दृष्टान्तसे कोई मतलब नहीं निकलता, कारण कि वहाँ तो अन्धा और लँगड़ा दोनों ही चेतन एवं स्वेच्छासम्पन्न सत्ताएँ हैं । परन्तु सांख्यमतानुसार पुरुषको कोई सङ्कल्प नहीं, प्रकृतिको चेतना नहीं ।

सांख्यदर्शनमें और भी कई दुर्बल स्थल हैं । सांख्य यह बतलानेमें असमर्थ है कि जड प्रकृति-तत्त्वसे चेतन बुद्धिका किस प्रकार आविर्भाव हुआ । यह इतना भी नहीं समझा सकता कि जड, निश्चेष्ट प्रकृतिमें एक कल्पना एवं कार्य-सम्पादनका सङ्कल्प कहाँसे उदय हुए । उसका यह कथन है कि पुरुषका प्रतिबिम्ब जब बुद्धिमें पड़ता है तो बुद्धि जाग्रत् और उद्-बोधित हो जाती है और इसी कारण उसमें चेतना एवं क्रिया-शीलता आ जाती है । परन्तु निराकार पुरुष बुद्धिमें किस प्रकार प्रतिबिम्बित हो सकता है, यह सांख्य नहीं बतला सकती । इसके अतिरिक्त 'पुरुष' के सम्बन्धमें भी सांख्यका जो मत है, वह इतना कमजोर और लचर है कि उसे माननेमें सङ्कोच होता है । आत्माकी नित्य चेतन सत्ता तो यह स्वीकार करती है, परन्तु यह नहीं मानती कि वह नित्य आनन्दमय है । अतएव इन सारे कथनोंका निष्कर्ष यही निकलता है कि मुक्तिके सम्बन्धमें सांख्यका जो निर्णय है वह सर्वथा नीरस, शुष्क और असन्तोष-जनक है । सांख्यमतानुसार मुक्तिकी अवस्थामें पुरुष सनातन कालके लिये 'एकाकी' रह जाता है और प्रकृति पूर्णतः निश्चेष्ट, निष्क्रिय हो जाती है । भगवान्‌की सत्ता अस्वीकार करनेके कारण सांख्य एक और गहरे खंदकमें जा गिरा है और वह यह है कि कर्मसिद्धान्तका समर्थन करते हुए भी सांख्य यह नहीं बतला सकता कि नेत्रहीन प्रकृति और वैसा ही अंधा कर्मचक्र कर्म और उसके विपाकमें—जिनके बीच काल, देश और कई जन्मोंका व्यवधान पड़ जाता है—किस प्रकार सम्बन्ध बनाये रखता है । तदनन्तर आत्माकी असंख्यताको स्वीकार करते हुए वह उस मूल तत्त्वको भुला बैठता है जो इन सारी आत्माओंको अङ्गीभूत करके सबको एक सूत्रमें बाँधे हुए है ।

मैं सांख्यकी और भी दुर्बलताओंका वर्णन कर सकता था; परन्तु मेरा अभिप्राय यहाँ सांख्यदर्शनकी मीमांसा करना नहीं है; मैं तो यहाँ गीताके अनुसार सृष्टिक्रमका वर्णन करने बैठा हूँ । विज्ञानभिक्षुने कपिलके सांख्यमतकी दुर्बलताओंका यत्किञ्चित् अंशमें परिमार्जन किया है । उनका

कथन है कि कपिलने ईश्वरकी सत्ताको इसलिये अस्वीकार किया कि लोग ईश्वरके ध्यानमें अपनेको सर्वथा मिटाकर तदाकार न हो जायँ, क्योंकि उसमें यह भय है कि अपने और ईश्वरके बीच जो भेद है वह लुप्त हो जाता; इसके सिंवा विज्ञानभिक्षुकी रायमें ईश्वरको अस्वीकार करनेमें कपिलका एक यह भी अभिप्राय रहा होगा कि वे प्रौढ़िवादकी प्रतिष्ठापना करना चाहते थे और यह सिद्ध करना चाहते थे कि ईश्वरकी व्याख्या किये विना भी दर्शनशास्त्रकी स्थापना हो सकती है।

सातवें अध्यायमें यह बतलाकर कि जड सत्ता और चेतन सत्ता ईश्वरकी अपरा और परा प्रकृतियाँ हैं, गीताने सांख्यकी त्रुटियोंको सुधारा है, सँवारा है और सम्यक् रूपसे उनका परिमार्जन कर उन्हें परिपूर्ण कर दिया है।

श्रीभगवान् कहते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—ऐसे यह आठ प्रकारसे विभक्त हुई मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा है अर्थात् मेरी जड प्रकृति है; और इससे दूसरी मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति है, जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। हे अर्जुन! तुम ऐसा समझो कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुए हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूँ। इसलिये हे धनञ्जय! मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें मणियोंके सदृश मुझहीमें गुँथा हुआ है। हे अर्जुन! सम्पूर्ण भूतोंका सनातन कारण मुझको ही जानो (गीता ७। ४–७,—१०)।

स्वतन्त्र और जड प्रकृतिसे सृष्टिका विकास नहीं हुआ है। सर्वथा परतन्त्र, भगवान्से नियन्त्रित, भगवान्से अनुप्राणित चेतन प्रकृति—जो भगवान्की अङ्गभूता शक्ति है, उसीसे इस सृष्टिका विन्यास और विकास हुआ है।

श्रीभगवान्के वचन हैं—जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं—ऐसा जानो। कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें लय हो जाते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ। अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकार करके, स्वभाववश परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत-समुदायको बारंबार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ। उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते और मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचर-सहित सारे जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है (९। ६–१०)।

ईश्वरपर मायाका कोई प्रभाव अथवा शासन नहीं है। ईश्वर मायासे अतीत है और मायापर शासन करता है।

भावार्थ यह कि सत्त्वगुणसे, रजोगुणसे और तमोगुणसे होनेवाले जो भाव हैं, वे सब भगवान्से ही होते हैं। किन्तु गुणोंके कार्यरूप भावोंसे यह सारा संसार मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे अविनाशी भगवान्को वह नहीं जानता (७। १२-१३)।

सम्पूर्ण दृश्यमान भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्तमें ही लय हो जाते हैं। यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर, प्रकृतिके वश, रात्रिके प्रवेशकालमें लय हो जाता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है। परन्तु उस अव्यक्तसे भी अति परे, दूसरा सनातन अव्यक्त-भाव है; वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता (८। १८–२०)।

संक्षेपमें कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि भगवान् विश्वके पिता हैं और प्रकृति विश्वकी माता है। गीता इसका प्रतिपादन करती है—

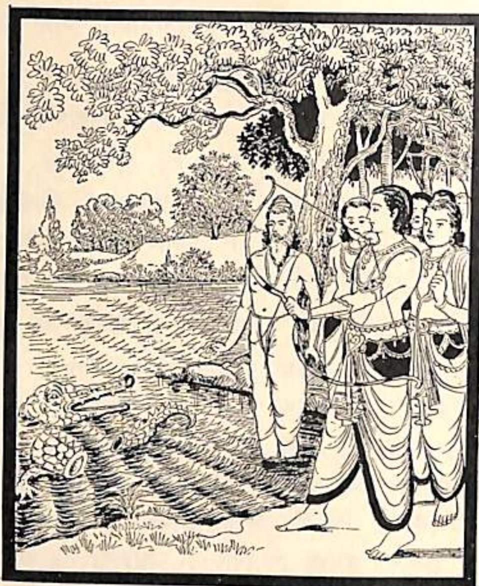
श्रीभगवान् कहते हैं—मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितने शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ (१४। ३–४)।

ऊपर लिखा हुआ यह सिद्धान्त गीताके सांख्य और कपिलके सांख्यमें मौलिक अन्तर डालता है। गीतामें 'सांख्य' शब्दका प्रयोग २।३९; ३।३; ५।४-५; १३।२४; और १८।१३में हुआ है। गीतामें 'सांख्य' का अर्थ है तत्त्वज्ञान। २।३९में आये हुए 'सांख्य' शब्दकी व्याख्या करते हुए श्रीशङ्कराचार्य उसका अर्थ 'परमार्थवस्तुविवेक' बतलाते हैं। ३।३में आये हुए 'सांख्य'का अर्थ उन्होंने 'आत्मविषयविवेकज्ञान' किया है। १३।२४में आये हुए 'सांख्य' शब्दकी व्याख्या करते हुए वे पुनः लिखते हैं—

अर्जुन



लक्ष्य-परीक्षा



गुरुको मगरसे बचाना



द्रुपदको बन्दी बनाकर लाना



बारह वर्ष वनवासके लिये धर्मराजसे आज्ञा माँगना

'इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्या अहं तेभ्योऽन्यस्तद्-व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनमेष सांख्यो योगः ।'

१८।१३में 'सांख्ये कृतान्ते' जो आया है उसे श्रीशङ्कराचार्यने 'वेदान्त' का पर्याय माना है। इस प्रकार गीताका सांख्य पूर्णतः आस्तिक है, वह वेदान्तका पर्यायवाची है।

गीता पुरुष और प्रकृति दोनोंको ही अनादि मानती है–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

प्रकृति ही शरीरका संघटन करती है और इस शरीरमें बसनेवाला आत्मा सुख-दुःख भोगता है। प्रकृतिका मूल तत्त्व सनातन है और इसी प्रकार शरीर धारणवाला आत्मा भी सनातन है। दोनोंमें ही जो चेतनता और सत्ता है–वह है ईश्वरके कारण और इसलिये ये सदा ईश्वरपर निर्भर हैं। जीवको सुख-दुःखकी अनुभूति क्यों होती है? गीता कहती है–

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

गुणोंके साथ आसक्ति ही जीवके सुख-दुःखका कारण है। यह आसक्ति अनादि है परन्तु अनन्त नहीं है, इसका अन्त हो सकता है–यह डंकेकी चोट गीता घोषित करती है। हाँ, आसक्तिको उच्छिन्न करना आसान काम नहीं है, क्योंकि गुणोंने वासनाके पाशमें हमें बाँध रक्खा है। तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने प्रकृति और पुरुषको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा है–

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥
(१३।२६)

'यावन्मात्र, जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उसको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान।'

परन्तु ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि गुणजन्य वासनाके आकर्षणपाशसे हम कभी मुक्त हो ही नहीं सकते। हम कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके सहारे धीरे-धीरे अपने समस्त बन्धनोंको काटकर भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं। गीता कहती है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
(३।३४)

मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रियोंके भोगोंमें जो राग और द्वेष हैं, उन दोनोंके वशमें नहीं होवे; क्योंकि वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं। तथा—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
(५।१४-१५)

'परमेश्वर भूतप्राणियोंके न तो कर्त्तापनको और न कर्मको तथा न कर्मोंके फलके संयोगको ही वास्तवमें रचता है। गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं।'

'सर्वव्यापी परमात्मा न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है। मायाके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं।'

ज्ञानका सूर्य जब हृदयाकाशमें उगता है तो सारा अज्ञान छिन्न-भिन्न हो जाता है, ठीक जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार मिट जाता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥
(५।१६)

यह त्रिगुणमयी जो माया है, वह भगवान्की है—ऐसा जानकर भगवान्की शरणमें जाना चाहिये; तभी हम उससे पार पा सकते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(७।१४)

जबतक हम इच्छाओंसे आवृत हैं, तबतक माया हमारे और भगवान्के बीच पर्दा डाले रहती है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
(३।३९-४०)

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
(७ । १३)

तथा--

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
(७ । २५)

मायाके दिव्य और मोहक दोनों ही रूप हैं । मोहिनी प्रकृतिसे माया विषयासक्त पुरुषोंके ज्ञान-विवेकका हरण कर उन्हें पथभ्रष्ट कर देती है। और मायासे ज्ञानका हरण हो जानेके कारण ही आसुरभावमें हम चले जाते हैं और इसी कारण हम भगवान्‌से विमुख हो जाते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
(७ । १५)

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥
(९ । १२)

परन्तु जिन लोगोंने दैवीप्रकृतिका आश्रय ले लिया है, वे भगवान्‌की दया प्राप्त कर भगवत्प्रेम और जन्म-मृत्युसे मुक्ति प्राप्त करते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

गीताके सोलहवें अध्यायसे लेकर अठारहवें अध्यायतक प्रकृतिके तीन गुणोंका विशेष वर्णन है । विश्वके अन्य किसी भी साहित्यमें गुणोंका इतना विशद और सुन्दर वर्णन देखनेको नहीं मिलता, जिसमें काव्य और दर्शनका इतना मधुर योग हो। चिन्तन और वर्णनशैलीके अद्‌भुत संयोगका यहाँ वर्णन करना सम्भव नहीं; परन्तु यह तो कहना ही है कि गुणोंकी इतनी विशद और मनोवैज्ञानिक व्याख्याका अभिप्राय एकमात्र यही है कि हम तमोगुण और रजोगुणके बन्धनोंको काटकर सत्त्वगुणमें प्रवेश करें । रजोगुण और तमोगुण अथवा आवरकशक्ति और मोहिनी प्रकृति भी भगवान्‌के उतने ही वशमें हैं जितना सत्त्वगुण, चित्‌शक्ति या दैवीप्रकृति । जो सत्त्वगुण अर्थात् चित्-शक्ति और दैवीप्रकृतिका आश्रय लेते हैं, वे ही भगवान्‌की भक्ति प्राप्त करते हैं तथा मायाको तर जाते हैं—

श्रीभगवान् कहते हैं—जो व्यक्ति मेरे परायण हुए सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण कर मुझ सगुण परमेश्वरको ही अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसागरसे उद्धार कर देता हूँ (१२ । ६-७) ।

गीताके पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तमके नामसे प्रकृति, पुरुष और परमेश्वरकी बहुत ही पूर्ण व्याख्या है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१३ । १६–१८)

भावार्थ यह कि इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं; उनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका भरण-पोषण करता है; उसीको अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा कहा गया है । भगवान् कहते हैं—चूँकि मैं नाशवान् जडवर्ग, क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी मैं ही 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

भगवान् इस जगत्‌में व्याप्त भी हैं और इससे अतीत भी हैं और वे अपने एक अंशमात्रसे सम्पूर्ण जगत्‌को धारण किये हुए हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
(९ । ४-५)

तथा—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(१० । ४२)

प्रकृति तथा इसके गुण सनातन होते हुए भी ईश्वरकी प्रेरणापर निर्भर हैं और जो कुछ इनमें प्राण-स्पन्दन है वह ईश्वरके ही कारण है—इसका उल्लेख कर अब मैं विस्तारसे गीतोक्त पुरुष तथा गीता-निर्दिष्ट ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करूँगा। सांख्य पुरुषको साक्षी मानता है और उसका कथन है कि पुरुषको प्रकृतिसे मुक्ति अर्थात् 'कैवल्य' प्राप्त करना चाहिये। परन्तु गीता आत्माको भगवान्का एक अंश मानती है।

जीवात्मा भगवान्का ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको आकृष्ट करता है। देहका स्वामी आत्मा एक शरीरको त्यागकर उससे मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त करता है उसमें जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है। यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनका आश्रय लेकर इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है। केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही इस रहस्यको जानते हैं। योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; किन्तु जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे अज्ञानी-जन तो यत्न करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते (१५।७-११)। ईश्वरका अंश यह जीव अविद्याके कारण मायामें आबद्ध है। वह प्रकृतिसे मन और इन्द्रियाँ लेकर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक जन्मसे दूसरे जन्ममें चलता जाता है। वह कर्ता और भोक्ता बनता है। वह या तो दैवीसम्पत्तिवाला होता है या आसुरीसम्पत्तिवाला। परन्तु क्या कर्त्ता-भोक्ता माननेसे वह वस्तुतः कर्त्ता-भोक्ता हो जाता है? गीता इसका उत्तर देती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥
(३।२७-२९)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति॥
(१३।२९)

भावार्थ यह कि सम्पूर्ण कर्म वास्तवमें प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं, तो भी अहङ्कारसे मोहित अन्तःकरणवाला मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है; परन्तु ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, इसलिये वह आसक्त नहीं होता। और सच्चा देखना, सच्चा जानना तो यही है ही।

सभी कर्म प्रकृतिके द्वारा हो रहे हैं, वही कर्ता और भोक्ता है; आत्माका स्वभाव तो सच्चिदानन्दमय है। प्रकृतिमें एकाकार होकर ही जीव भ्रमवश अपनेको कर्त्ता और भोक्ता माने बैठा है।

तेरहवें अध्यायमें एक श्लोक है, जो आत्माके आवृत और अनावृत रूपका बड़ी सुन्दरतासे उद्‌घाटन करता है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥
(१३।२२)

भावार्थ यह कि यह पुरुष इस देहमें स्थित होता हुआ भी है त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत। यह केवल साक्षी होनेसे 'उपद्रष्टा', यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे 'अनुमन्ता', सबको धारण करनेवाला होनेसे 'भर्ता', जीवरूपसे 'भोक्ता', ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे 'महेश्वर' और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे 'परमात्मा' कहा गया है।

इस श्लोकका भाष्य लिखते हुए नीलकण्ठने आत्माके सम्बन्धमें विविध सिद्धान्तोंका बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया है। 'भोक्ता' चार्वाकके सिद्धान्तका निर्देश करता है, जहाँ शरीर ही आत्मा माना जाता है और 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' का आदर्श ही सम्मान पाता है। 'भर्ता' पद न्यायदर्शनकी ओर निर्देश करता है, जहाँ आत्मा कर्ता होनेके नाते कर्मफलका संग्रही माना जाता है। 'अनुमन्ता' सांख्यदर्शनका संकेत करता है, जहाँ आत्मा प्रकृतिके कार्यका समर्थक है। 'उपद्रष्टा' वेदान्तदर्शनका निर्देश करता है, जहाँ आत्मा केवल साक्षीरूपमें प्रकृतिके खेलको केवल देखाभर करता है। 'महेश्वर' ईश्वर और जीवकी एकताका बोधक है—जिस सिद्धान्तमें ईश्वर प्रकृतिके गुणोंका नियामक है और 'परमात्मा' ब्रह्म और आत्माकी एकताका बोधक है, जो ब्रह्म त्रिगुणातीत है, जिसका माया और उसके गुणोंसे कोई सम्बन्ध ही नहीं। इस प्रकार जीवका स्वरूप मायाके साथ इसके सम्बन्धपर निर्भर है। जहाँ यह शरीरके साथ भोक्तारूपमें तदाकार हो जाता है, वहीं उसका भयानक पतन हो जाता है; क्योंकि जीवका प्रकृतिके साथ यह सबसे स्थूल सम्बन्ध है। जहाँ जीवात्मा अपनेको 'कर्त्ता' मानता

है, वहाँ उसका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध कुछ सूक्ष्म होता है। इससे भी सूक्ष्म सम्बन्ध 'अनुमन्ता'का है; परन्तु इन सारे ही सम्बन्धोंमें आत्मा अपने ऊपर आवरण डाल लेता है और अपने सत्यस्वरूपको भूल बैठता है। साक्षीरूपमें आत्मा अपने असली रूपमें प्रकट होता है। इस अवस्थामें वासनाओंका अथवा अज्ञानका आवरण उसपर नहीं होता; क्योंकि इस दशामें शुद्ध सत्त्वगुणसे उसका सम्बन्ध रहता है और चाहे वह पृथ्वीपर रहे, चाहे स्वर्गमें--उसका शुद्ध सच्चिदानन्दमय रूप अपने दिव्य भावमें चिर प्रकाशित रहता है। और सच तो यह है कि इस स्थितिमें आत्मा ईश्वरसे पृथक् रहते हुए उनकी महिमाका रसास्वादन कर सकता है तथा अखिल विश्वमें उनके शासन-साम्राज्यकी मधुर अनुभूति प्राप्त कर सकता है। यह वहाँ भी अनादि है, अनन्त है; परन्तु जगद्व्यापारमें उसका कोई हाथ नहीं होता। ऐसी अवस्थामें वह या तो सगुण ईश्वरमें या निर्गुण परमात्मामें मिलकर एक हो जाना चाहेगा। इस प्रकार एकीभूत होकर वह महेश्वर या परमात्मा हो जाता है।

प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धमें इतना विचार कर चुकनेपर अब यह आवश्यक नहीं कि गीतोक्त ईश्वर और आत्माका अधिक विस्तारसे विवेचन किया जाय। कुछ लोगोंका यह सिद्धान्त है कि गीता 'तत्त्वमसि' महावाक्यकी व्याख्या है; पहले छः अध्याय आत्मा (त्वं) की व्याख्या करते हैं, सातवेंसे बारहवें अध्यायतक ईश्वर (तत्) की व्याख्या है और तेरहवें अध्यायसे अठारहवें अध्यायतकमें ईश्वर और जीव, परमात्मा और आत्माकी एकता (असि) का विवेचन है। ईश्वर सब भूतोंका स्वामी है (भूतानामीश्वरोऽपि सन्, यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्)। वह सबमें सर्वत्र ओतप्रोत होता हुआ भी सबसे परे है, अतीत है। स्वयं श्रीभगवान्की वाणी है—'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'—सूतके धागेमें जिस प्रकार सूतकी मणियाँ गुथी हुई होती हैं, उसी प्रकार समग्र संसार मुझमें पिरोया हुआ है; परन्तु फिर भी 'न त्वहं तेषु ते मयि'—वे मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं और अन्ततः 'मामेभ्यः परमव्ययम्'--मैं इन सबसे परे हूँ।

इस समस्त ब्रह्माण्डको भगवान् अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं—

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'

दसवें अध्यायमें भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। वह तो मनन करनेकी चीज है। ग्यारहवें अध्यायमें उन्होंने अपना विराट्रूप अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान कर दिखलाया है। चौथे अध्यायमें विशेषरूपसे और अन्य अध्यायोंमें गौणरूपसे भगवान्ने अपने अवतारका रहस्य समझाया है और उन्होंने स्पष्टवाणीमें घोषणा की है कि जो अवतार-तत्त्वको ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर लेता है, वह भगवान्को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है। मैं अविनाशीस्वरूप एवं अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी मायासे प्रकट होता हूँ। जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं प्रकट होता हूँ और मेरे प्रकट होनेका एकमात्र हेतु है साधुओंका उद्धार और दुष्टोंका संहार। मेरे इस दिव्य जन्म और कर्मको जो पुरुष तत्त्वसे जान जाता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, अपितु मुझे ही प्राप्त होता है। (४। ६-९)

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप भगवान् श्रीकृष्णके परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग यह समझते हैं कि भगवान् भी हम-जैसा ही जन्मता और मरता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(९। ११)

लोग चाहे जो अर्थ लगावें, परन्तु यह भूल न जाना चाहिये कि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंका वर्णन कर रहे हैं। विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतमतावलम्बी यहाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रसङ्ग स्वीकार नहीं करते—यह उनका एकाङ्गदर्शन नहीं तो और क्या है? और अद्वैतमतवाले सगुण ब्रह्मके प्रसङ्गको इसमेंसे निकाल देते हैं—यह उनकी प्रगल्भता ही समझी जानी चाहिये। गीताकी विशेषता यही है कि यह ब्रह्मके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको स्वीकार करती है और इन दोनोंको 'एक'की ही दो दिशाएँ मानती है। इतना ही क्यों, स्वयं श्रीभगवान्ने अपनेको निर्गुण ब्रह्मका आधार—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' कहा है। जगत्के सम्बन्धसे वही परमात्मा सगुण ब्रह्म हैं, स्वयं अपनेआपमें वे निर्गुण ब्रह्म हैं--

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।'
'न च मत्स्थानि भूतानि'

तथा

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

गीता भगवान्के सम्बन्धमें क्या कहती है, इसपर कुछ और विचार करनेको जी चाहता है; परन्तु यह विषय मेरे लेखसे बाहरका हो जायगा और बात तो असलमें यह है कि विना भगवान्की दयाके भगवान्का रहस्य जाना नहीं जा सकता । वे स्वयं कहते हैं–'मां तु वेद न कश्चन' । हाँ, जिसके हृदयमें भक्ति है, वह अलवत्ता उनके मर्मको तत्त्वतः जान जाता है और जान जानेपर उन्हीं श्रीवासुदेवमें वह समा जाता है, प्रवेश कर जाता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(१८ । ५५)

यह सारे रहस्योंका रहस्य है । हमलोग उन्हें जान नहीं सकते, फिर भी वे हमें अपनेको जना सकते हैं । वे हमारे पापोंको मिटाकर अपने आपमें एकाकार कर ले सकते हैं । तब हमारा जीवन ही श्रीकृष्णमय हो जायगा, हम उन्हें ही जानेंगे, उन्हें ही देखेंगे और उन्हींमें मिल जायँगे ।

भगवद्गीतामें विज्ञान

(लेखक—गीतावाचस्पति पं० श्रीसदाशिवजी शास्त्री भिडे)

गीताके किसी विषयको लेकर उसपर कुछ लिखनेका विचार करना बड़ा ही कठिन है; क्योंकि किस विषयपर लिखा जाय और किस विषयको छोड़ा जाय, यह समझमें नहीं आता—कितने ही विषय सामने आते हैं और सभी महत्त्वके होते हैं । फिर भी एक बात ऐसी है जिसका खटका आज लगा हुआ है और वह बात है मनुष्यके जीवनक्रममें प्राप्त होनेवाले ऐहिक सुख-दुःख । इस समय लोगोंका यह निश्चय हो चुका है कि विज्ञानके विना मनुष्य-जीवन चल ही नहीं सकता । इसलिये धर्मशास्त्रने या सांस्कृतिक तत्त्वज्ञानने इस विषयकी मीमांसा करके जो सिद्धान्त स्थिर किये हों उनकी ओर ध्यान जाता है । विज्ञानके सम्बन्धमें प्राचीन ऋषियोंके विचार जानना इस प्रकार आवश्यक होनेसे, इस लेखमें यही विचार करना है कि इस सम्बन्धमें गीता-शास्त्रकी क्या विचारपद्धति है ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
(७ । २)

'मैं तुमसे विज्ञानसहित (विविध सृष्टिज्ञान अर्थात् व्यक्त स्वरूपके ज्ञानके साथ) यह ज्ञान (आत्मज्ञान अर्थात् अव्यक्त स्वरूपका ज्ञान) पूरे तौरपर बतलाता हूँ, जिसे जाननेपर इस लोकमें और कुछ भी जाननेकी बात नहीं रह जाती ।'

विश्व ही भगवान्का व्यक्त स्वरूप है । इस स्वरूपका जबतक सोपपत्तिक ज्ञान नहीं होता तबतक आत्मज्ञान पूर्ण नहीं होता । इस श्लोकसे यह बात स्पष्ट होती है कि आधिभौतिक विज्ञानोंकी ज्यों-ज्यों अधिकाधिक उन्नति होगी, त्यों-ही-त्यों आध्यात्मिक ज्ञान अधिकाधिक सुगम होगा ।

'द्वे विद्ये वेदितव्ये'

—इत्यादि वचनोंसे उपनिषदोंमें भी यह सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है । गीताके सातवें अध्यायके प्रथम दो श्लोकोंमें, इसलिये, भगवान्ने यही बतलाया है कि उपासनापूर्वक कर्मयोगाचरणसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान-विज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है । गीताको दशोपनिषदोंका पूरा सहारा है और इसलिये गीताको भी आदरसे उपनिषद् कहा जाता है । मुण्डकोपनिषद्के आरम्भमें शौनक ऋषिने इसी प्रकार प्रश्न किया है—

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ।'

इसपर अङ्गिरा उत्तर देते हैं—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति ।'

शौनक पूछते हैं, 'वह कौन-सा तत्त्व है जिसके जाननेसे यह सारा विश्व विज्ञात होता है ? वह कौन-सा तत्त्व-ज्ञान है जिससे सब शास्त्रोंके ज्ञान एक सूत्रमें आ जाते हैं ?' अङ्गिरा उत्तर देते हैं—'ब्रह्मज्ञानी पुरुष परा और अपरा नामसे जो दो विद्याएँ बतलाते हैं, उनका जानना आवश्यक है ।' शौनकके प्रश्नका अभिप्राय जानकर ही अङ्गिरा ऋषिने उत्तर दिया है और उनका उत्तर कोई अपनी कल्पना नहीं, बल्कि ब्रह्मवेत्तालोग परम्परासे ऐसा ही कहते आये हैं, यह सूचित करनेके लिये ही—

'इति ब्रह्मविदो वदन्ति स्म'

—कहा गया है। ब्रह्मवेत्ता जिन दो विद्याओंकी बात कहते हैं, वे दो विद्याएँ हैं परा और अपरा। इन्हीं दो विद्याओंको अन्य उपनिषदोंमें विद्या और अविद्या कहा गया है और श्रीमद्भगवद्गीतामें इन्हींके नाम हैं—ज्ञान और विज्ञान। इन दोनोंका ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है; इनमेंसे किसी एकका ज्ञान हो और दूसरेका नहीं, तो वह अपूर्ण है—यही अङ्गिराके कथनका अभिप्राय है। इसी मुण्डकोपनिषद्में आगे चलकर—

'अणुभ्यः अणुः'

—कहकर विद्युत्कणका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

'यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणुश्च यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि।'

अर्थात् 'हे वत्स! जो तेजोमय है और परमाणुसे भी सूक्ष्म है, जिसमें सब भू आदि लोक और लोकी समाये हुए हैं—वही यह अक्षरब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और मन है, वही यह सत्य है, वही अमृत है, उसीको लक्ष्य बनाकर शरसन्धान करना चाहिये अर्थात् उसीका एकाग्र होकर अनुसन्धान करना चाहिये।' इस मन्त्रके प्रथम वाक्यमें सृष्टिके कारण-स्वरूपका जो वर्णन है, वह बड़े महत्त्वका है। इस वर्णनको पढ़कर विद्युत्कणोंका स्मरण हुए विना नहीं रहता। परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म तेजोमय विद्युत्कणों (इलेक्ट्रन्स) को ही आधुनिक भौतिक विज्ञान सृष्टिके मूल कारण मानता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ऑलिवर लॉजने प्रत्यक्ष प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि सृष्टिके मूल कारण जो ९८ तत्त्व माने जाते हैं, उनके भी आदिकारण धन और ऋण विद्युत्कण (इलेक्ट्रन और प्रोटोन) अर्थात् अर्चिमत् परमाणु हैं।

जड और चेतनके मिश्रणसे ही सारा विश्व बना है, यही आजतककी मान्यता है; पर केवल जड कोई भी तत्त्व नहीं है; जो तत्त्व जड प्रतीत होता है वह भी विद्युत्कणोंके मिश्रणसे ही बना हुआ है। इस मन्त्रके द्रष्टा अङ्गिरा भौतिक विज्ञानगत विद्युत्कणोंकी कोई खबर रखते हों या न रखते हों, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे निश्चितरूपसे यह जानते थे कि परमाणुसे भी अति सूक्ष्म कोई तेजोमय तत्त्व अखिल सृष्टिका मूल कारण है। उपनिषदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी बुद्धि कितनी कुशाग्र और कितनी गहराईतक पहुँची हुई थी, इसका किञ्चित् परिचय इससे मिलता है। इनके सम्बन्धमें यदि कोई वैदिकधर्माभिमानी पुरुष यह कहे कि ये हमारे पूर्वपुरुष आधुनिक वैज्ञानिकोंसे भी आगे बढ़े हुए थे तो उसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। आधुनिक साधनोंके न रहते हुए भी जिन्होंने केवल योगशक्तिसे सृष्टिका निरीक्षण करके सृष्टिके गूढ़ तत्त्वोंको ढूँढ निकाला था, वे वैदिक ऋषि सचमुच ही अत्यन्त धन्य हैं और धन्य है वह धर्म-परम्परा जो उन्होंने चलायी। ऐसे धन्योद्गार केवल भारतीय नहीं, बल्कि विदेशी विद्वानोंके मुखसे भी समय-समयपर निकला करते हैं। विज्ञानके विषयमें और भी बहुत-से उदाहरण उपनिषदोंसे दिये जा सकते हैं, पर विस्तारभयसे केवल तैत्तिरीय उपनिषद्का एक ही मन्त्र और देकर विषयको यहीं समेट लेते हैं। वह मन्त्र है—

'विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।'—इत्यादि

'विज्ञान उपासना-बल उत्पन्न करता है और कर्मकी सामर्थ्य उत्पन्न करता है, सब देवता इसीको ब्रह्म जानकर इसकी (विज्ञानकी) उपासना करते हैं।' पुरुष जब विज्ञान ब्रह्मको जान लेता है और उस ज्ञानसे च्युत नहीं होता तो वह शरीरके सब दोषोंको नष्ट करके सब काम भोगता है और अभ्युदयको प्राप्त होता है। इस मन्त्रमें उपपत्तिके साथ बुद्धिका—विज्ञानका महत्त्व सिद्ध किया गया है। मनुष्यके शरीरमें सिर जैसे सबसे प्रधान अवयव है, वैसे ही मानवी जीवनक्रममें बुद्धिका व्यापार सबसे श्रेष्ठ है। भावनावश भले ही यह कहा जाय कि बुद्धि भावनाकी दासी है, पर ऐसा समझना भ्रम है—केवल भ्रम नहीं, अत्यन्त अनिष्टकारक भ्रम है। यथार्थमें भावना ही बुद्धिकी दासी है। मनुष्यका सारा ऐहिक और पारमार्थिक पुरुषार्थ बुद्धिपर ही अवलम्बित है। उपासना पौरुषका ही एक भाग है। उपासना और कर्म पौरुषसे ही निकली हुई दो शाखाएँ हैं। पौरुष बुद्धिका बल है और बुद्धि स्वभावतः जड होनेके कारण स्वयं कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं होती। जीवात्माकी सन्निधिसे उसका जो बल प्रकट होता है, वह सचमुच ही अत्यन्त दिव्य है। भक्ति, ज्ञान और पवित्र उज्ज्वल ध्येयनिष्ठादि साधनोंसे बुद्धि अतीव निर्मल और तेजस्विनी होती है। ऐसी योगयुक्त बुद्धिके द्वारा ही मनुष्य अत्युत्कट उपासना और यशःसम्पन्न पौरुष करनेमें समर्थ होता है और इसीलिये देव अथवा तत्सम महान् पुरुष इस बुद्धिरूप श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं। अथवा यों कहिये कि जिन्हें ऐसी निर्मल और तेजस्विनी

बुद्धि प्राप्त होती है वे ही देवत्व लाभ करते हैं। नरसे नारायण बननेकी जो कुंजी है, वह इसी योगयुक्त बुद्धिमें है। इस पवित्र बुद्धियोगके प्राप्त होने और स्थिर होनेपर मनुष्यके सब मानसिक और शारीरिक दोष नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् मन और शरीरके निर्दोष और बलसम्पन्न होनेके लिये जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, उसे वह शान्ति और दृढ़ताके साथ करता है और इसीलिये इस बुद्धियोगके द्वारा सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं। इसीको अभ्युदय कहते हैं। यहाँ 'विज्ञान' शब्दका प्रयोग न कर 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग किया है। इस बुद्धिमें ही विज्ञानका समावेश होता है। ज्ञान और विज्ञान दोनों बुद्धिकी ही शक्तियाँ हैं, दोनों एक दूसरेके बिना अपूर्ण रहती हैं। 'ज्ञान-विज्ञान' शब्दोंका अर्थ अमरसिंह पण्डितने इस प्रकार किया है—

'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।'

इस प्रकार श्रुतिसे लेकर अमरकोष-जैसे ग्रन्थोंतक 'ज्ञान-विज्ञान' शब्दोंके अर्थ निःसन्दिग्ध और स्पष्ट दिये हुए होनेपर भी केवल उपनिषदोंमें इनके अर्थ किसी कदर भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं। मुण्डकोपनिषद्में ज्ञान-विज्ञानको ही 'परा विद्या' और 'अपरा विद्या' कहा गया है; परन्तु ईशावास्योपनिषद्में 'विद्या' और 'अविद्या' शब्द आये हैं। यहाँ 'अविद्या' शब्दसे कुछ भ्रम होता है; पर श्वेताश्वतरोपनिषद्ने इस भ्रमका पूर्ण निरास किया है। कारण 'क्षरं त्वविद्या अमृतं तु विद्या' यह स्पष्ट वचन है और इसमें 'अविद्या' शब्दके अर्थके विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता—विद्या और अविद्याका सरल सयुक्तिक अर्थ ज्ञान-विज्ञान ही होता है। ईशावास्योपनिषद्में विज्ञानका बहुत बड़ा फल बताया है—विज्ञानसे मनुष्य मृत्युका अर्थात् मृत्यु-जैसे महान् सङ्कटोंका सामना करनेमें समर्थ होता है, विज्ञानके द्वारा ज्ञानमें एकसूत्रता आती है और मनुष्य सर्वज्ञ बनता है। वही ब्रह्मविद्यासे प्राप्त होनेवाली सर्वज्ञता है। ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न मनुष्यको कैसी अलौकिक योग्यता प्राप्त होती है, इसका वर्णन ईशावास्योपनिषद्के आठवें मन्त्रमें पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये। इस वर्णनको कपोल-कल्पित माननेका कोई कारण नहीं है। वशिष्ठ-विश्वामित्रसे लेकर शिवाजी-रामदासतकका इतिहास इसकी साक्षी बराबर दे ही रहा है।

वशिष्ठ ऋषिकी कामधेनुको जब राजा विश्वामित्र जबर्दस्ती ले जाने लगे, तब वशिष्ठजीने उनके इस कार्यका कोई प्रतीकार नहीं किया—यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीसे यह धारणा रूढ हो गयी कि प्रतीकार करना भी एक प्रकारका दोष है; परन्तु वाल्मीकीय रामायणमें इस विषयमें कुछ दूसरी ही कथा है। वाल्मीकिका ग्रन्थ अति प्राचीन और प्रमाणभूत होनेके कारण इस ग्रन्थमें दी हुई कथाको अधिक प्रामाणिक मानना चाहिये। विश्वामित्र जब कामधेनुको छीन ले गये, तब वशिष्ठजी चुप नहीं बैठ रहे, बल्कि उन्होंने अपना ब्रह्मदण्ड उठाया और—

'पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन।'

—कहकर विश्वामित्रको ललकारा और शुष्क तथा आर्द्र विद्युच्छक्तिका प्रयोग करके विश्वामित्रके छक्के छुड़ा दिये। इस युद्धमें वशिष्ठजीने मुख्यतः विद्युत्-शक्तिसे ही काम लिया और असंख्य चतुरङ्गिणीके अधिपति विश्वामित्रको पराजित किया। वशिष्ठजीको यह विजय विज्ञान-बलसे ही प्राप्त हुई। वशिष्ठ पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे, इस विषयमें तो कोई मतभेद ही नहीं हो सकता; पर उनके विज्ञानबलका उल्लेख प्रायः कहीं देखनेमें नहीं आता। वाल्मीकिजीने अवश्य ही इस कथामें उनके विज्ञानबलको प्रदर्शित किया है। ये शुष्क और आर्द्र विद्युत्प्रयोग क्या थे, यह ठीक समझमें नहीं आता। कदाचित् ये धन-विद्युत् और ऋण-विद्युत्के ही कोई रूप हों। वशिष्ठ ऋषि पूर्ण ज्ञानी होनेके साथ-साथ इस प्रकार पूर्ण विज्ञानी भी थे, यही बात इस कथासे स्पष्ट होती है।

ज्ञान-विज्ञानका उल्लेख गीतामें कई बार हुआ है और उसका पूर्ण विवेचन भी किया गया है। भगवान्ने विज्ञानसहित ज्ञान बतलाया है और ज्ञान-विज्ञानको ही सम्पूर्ण ज्ञान—सर्वज्ञता कहा है। पाश्चात्त्य देशवालोंने विज्ञानका महत्त्व जाना और उसे चरितार्थ भी किया; पर हम हिन्दू उसकी उपेक्षा ही करते गये, इसी कारण व्यावहारिक दुर्बलताको प्राप्त हुए हैं।

गीतान्तर्गत उपसंहारका विचार

(लेखक—पं० श्रीजनार्दन सखाराम करंदीकर, सम्पादक, 'केसरी', पूना)

श्रीमद्भगवद्गीताका अठारहवाँ अध्याय उपसंहारात्मक है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने इसे शिखराध्याय कहा है। इस शिखरकी वे इस प्रकार प्रशंसा करते हैं—'जो कार्य अत्युत्तम होता है, जिसमें चोरीकी कोई बात नहीं होती, उसका शिखर उसकी उज्ज्वल ख्यातिका कारण होता है। वैसा ही यह अठारहवाँ अध्याय है, इसमें गीताका साद्यन्त विवरण है। यह अठारहवाँ अध्याय नहीं, बल्कि एकाध्यायी गीता ही है।' इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजके कथनानुसार अठारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण गीताका विवरण है—यह एक अध्यायमें सम्पूर्ण गीता ही है। यह अठारहवें अध्यायकी बात हुई; पर इस अठारहवें अध्यायका अपना भी एक उसंहार है, जिसके विना इस अध्यायकी समाप्ति ही न होती।

अठारहवें अध्यायमें इस तरह यदि सम्पूर्ण गीताका सार आ गया हो और फिर इस अध्यायका भी कोई उपसंहार हो तो उस उपसंहारमें सम्पूर्ण गीताका सारमर्म अवश्य ही आ गया होगा। इस दृष्टिसे यह देखना बड़े महत्त्वका होगा कि इस अठारहवें अध्यायका उपसंहार कहाँसे आरम्भ होता है और उसमें किस प्रकार सम्पूर्ण गीताका सारमर्म आ गया है। अठारहवें अध्यायका यह श्लोक देखिये—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

यह श्लोक केवल अठारहवें अध्यायका ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण गीताका उपसंहार सूचित करता है। इसके आगे इसी अध्यायमें जो श्लोक हैं, वे इसी श्लोकका स्पष्टीकरण करनेवाले हैं और उनमें यहाँतकके गीताके सभी सिद्धान्त संक्षेपमें बताये गये हैं।

गीताशास्त्रका निष्कर्ष बतलानेवाले 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' इत्यादि ४९वें श्लोकसे लेकर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि ६६वें श्लोकतक जो १८ श्लोक उपसंहारात्मक हैं, उनका अर्थ लगानेमें अनेक स्थानोंमें जो अर्थविपर्यास किया जाता है, उससे अर्थका अनर्थ होता है। 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' वाले श्लोकमें परा कोटिकी नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होनेकी बात कही गयी है और इस 'नैष्कर्म्यसिद्धि' का साधन 'संन्यासेन' पदसे सूचित किया गया है। प्रश्न यह है कि यहाँ 'संन्यासेन' पदका अर्थ क्या किया जाय। सब टीकाकारोंने इसका अलग-अलग अर्थ दिया है। श्रीमान् शङ्कराचार्य इसका अर्थ 'सर्वकर्मसंन्यास' अर्थात् सब कर्मोंका स्वरूपतः त्याग बतलाते हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपनी मधुसूदनी टीकामें इसके भी आगे बढ़कर 'शिखायज्ञोपवीतादिसहितसर्वकर्मत्यागेन' ऐसा अर्थ करके श्रीमान् शङ्कराचार्यके अर्थमें प्रत्यक्ष संन्यासाश्रम लाकर जोड़ दिया है! शङ्करानन्दी टीकामें 'संन्यास' पदका अर्थ समाधि अर्थात् निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा किया गया है। श्रीधरी टीकामें संन्यास-पदसे 'कर्मासक्ति और कर्मफलके त्याग' का अर्थ ग्रहण किया गया है। अन्य अनेक भाष्यकारों और टीकाकारोंके अर्थोंकी अपेक्षा श्रीधरस्वामीका अर्थ अधिक सरस और प्रकरणसे सुसङ्गत प्रतीत होता है।

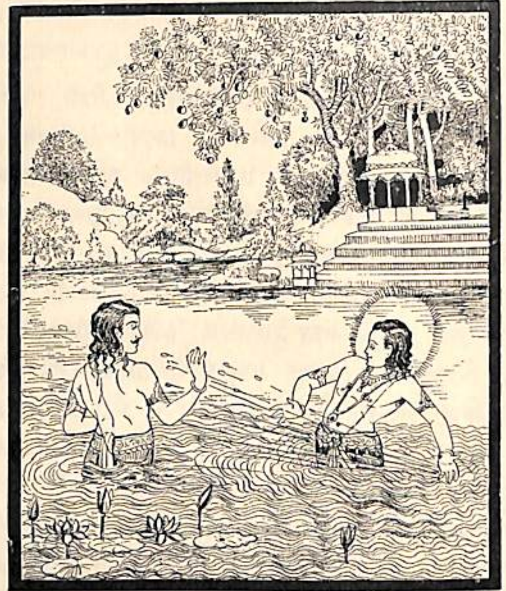
४५वें श्लोकके 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' से जो प्रकरण आरम्भ होता है, उसीको स्पष्ट करनेके लिये 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' आदि श्लोक आये हैं। इस प्रकरणमें यही बतलाना है कि स्वकर्मके द्वारा जो ईश्वराराधन होता है उससे किस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती और कैसे फिर उसीमेंसे ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग निकल आता है। ऐसी अवस्थामें 'संन्यासेन' पदसे सर्वकर्मत्याग या शिखा-सूत्रका त्याग कैसे ग्रहण किया जा सकता है? इसी प्रकार 'नैष्कर्म्यसिद्धि' से निष्क्रियताका अर्थ ग्रहण करना पूर्वापर प्रसङ्गके विरुद्ध होता है। इसलिये 'संन्यासेन' पदसे कर्मफलत्यागका ही अर्थ ग्रहण करना समुचित होगा। अठारहवें अध्यायके आरम्भमें 'संन्यास' पदका अर्थ 'काम्य कर्मोंका त्याग' बतलाया गया है, इसलिये वही अर्थ यहाँ भी माना जाय तो भी तात्पर्य एक ही निकलता है। 'काम्य कर्मोंका त्याग' इन पदोंसे निष्काम कर्मका ग्रहण आप ही सूचित होता है। निष्काम कर्म और कर्मफलत्याग एक ही चीज है। इस श्लोकके 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः' इन पदोंसे निष्काम कर्म ही वर्णित है और इसीलिये 'नैष्कर्म्यसिद्धि' पदोंसे भी निष्क्रियता नहीं बल्कि 'पद्मपत्रमिवाम्भसा'—'निर्लेपता' ही अभिप्रेत है।

इसी प्रकार 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' इत्यादि वचनका स्पष्टीकरण करनेके पश्चात् सम्पूर्ण गीतोपदेशका स्वरूप स्पष्ट

अर्जुन



अप्सराओंका उद्धार



भगवान्‌के साथ जलविहार



इन्द्रसे वर-प्राप्ति



शङ्करसे पाशुपतास्त्रकी प्राप्ति

करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने संक्षेपमें सिद्धिप्राप्तिके मार्ग और उन मार्गोंसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मप्राप्तिका स्वरूप 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' इस श्लोकसे बतलाना आरम्भ किया है। जिस मार्गसे सिद्धि प्राप्त हुई हो, उसी मार्गके अनुसार किस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति होती है--यही बतलानेका अभिवचन वहाँ संक्षेपमें दिया गया है। अर्थात् आगे जो सिद्धिप्राप्तिका त्रिविध मार्ग और ब्रह्मप्राप्तिका वर्णन किया गया है, वह इसी अभिवचनके अनुसार हो सकता है। परन्तु अधिकांश टीकाकारोंने 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' इस श्लोकका भी ठीक अर्थ नहीं किया है और यह मान लिया है कि 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' से लेकर 'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्' तक ब्रह्मप्राप्तिका मानो एक ही मार्ग वर्णन किया गया है। और ऐसा मान लेनेके कारण हो 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' इस श्लोकके 'यथा' और 'तथा' इन पदोंका ठीक अन्वयार्थ भी उनसे नहीं बन पड़ा है।

तेरहवें अध्यायमें 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' इत्यादि श्लोकसे जिस अधिकरणका आरम्भ हुआ है, उसमें आत्मज्ञानके ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और भक्तियोग—ये चार मार्ग बताये हैं। इनमेंसे सांख्यमार्गको अलग रखनेसे जो तीन मार्ग रह जाते हैं, उनका वर्णन यहाँ आगेके श्लोकोंमें किया गया है। पर टीकाकारोंने इसकी ओर ध्यान देकर यह देखनेकी कोई जरूरत ही न समझी कि ध्यानयोगका वर्णन कहाँ समाप्त हुआ, भक्तियोग कहाँसे आरम्भ हुआ और कहाँसे कर्मयोग।

बात यह है कि आत्मज्ञानके जिस प्रकार ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—ये तीन मार्ग हैं, उसी प्रकार तत्तत्साधनसे प्राप्त होनेवाली ब्राह्मी स्थितिका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है; और इसी भिन्नता या पार्थक्यको दरसानेके लिये 'यथा सिद्धिं प्राप्तः यथा ब्रह्म प्राप्नोति तथा मे निबोध' ये पद प्रस्तावनाके तौरपर आये हैं और इसके बाद पहले ध्यानमार्गका वर्णन 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' से आरम्भ हुआ और 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' के साथ समाप्त हुआ। इस साधनमार्गका वर्णन समाप्त होनेके साथ ही इस मार्गसे प्राप्त होनेवाली जो सिद्धारूढावस्था है, उसका वर्णन 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति' इस श्लोकार्द्धमें किया गया है। यहीं ध्यानयोगके साधन और सिद्धिका वर्णन समाप्त हुआ।

इसके अनन्तर 'समः सर्वेषु भूतेषु' से 'समत्वबुद्धियोग' का वर्णन है, ध्यानयोगका नहीं। ध्यानयोग एक चीज है, समत्वबुद्धियोग दूसरी चीज। छठे अध्यायमें भी ध्यानयोग और समत्वबुद्धियोगके अलग-अलग प्रकरण हैं। छठे अध्यायमें 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (६।११) से जो वर्णन आरम्भ होता है, वह ध्यानयोगका वर्णन है और उसकी समाप्ति 'शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति' इस श्लोकार्द्धमें होती है। इसके अनन्तर 'सङ्कल्पप्रभवान् कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्' (६।२४) से लेकर 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते' (६।३१) तक समत्वयोगका वर्णन है। इसी पद्धतिके अनुसार अठारहवें अध्यायमें भी 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' से ध्यानयोगका और 'समः सर्वेषु भूतेषु' से समत्वयोगका वर्णन है और दोनोंकी फलश्रुति भी अलग-अलग है। कारण, समत्वयोगकी सिद्धारूढावस्था भक्तियोगपर अवलम्बित है और इसलिये उसकी परिणति भी—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

—इस श्लोकार्द्धमें हुई है। इसमें भक्तिको ही ज्ञानका साधन बताया है और भक्तिके बलसे ही ब्रह्मकी प्राप्तिका निर्देश किया है।

ब्रह्मप्राप्ति होनेकी बात कह चुकनेपर प्रकरण वहीं समाप्त हो जाना चाहिये। सो तो हुआ और उसके बाद तीसरा प्रकरण आरम्भ हुआ। यह आरम्भ 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः' से हुआ है और यह कर्मयोगका प्रकरण है। इसमें सिद्धिप्राप्तिका साधन ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया हुआ निष्काम कर्म है और उसका पर्यवसान भगवत्प्रसादसे शाश्वत पदकी प्राप्ति है—

'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥'

इसी बातको और अच्छी तरहसे हृदयमें जमानेके लिये नीचे इसका एक नकशा देते हैं—

योगका नाम	साधनमार्गका स्वरूप	ब्रह्मप्राप्तिका स्वरूप
१ ध्यानयोग (श्लोक ५१ से श्लोक ५४ के पूर्वार्द्धतक)	पवित्र स्थानमें बैठकर ध्यान-धारणा करना।	ध्यानसाधनसे आत्मतत्त्वका प्रकट होना और साधकका शोक-मोहातीत होना।
२ भक्तियोग (श्लोक ५४ के उत्तरार्द्धसे श्लोक ५५ तक)	समबुद्धि होकर सब भूतोंमें भगवान्‌को देखना और इस भक्तिके बलसे आत्मज्ञानका उदय होना।	सब भूतोंमें भगवान्‌को देखनेसे भगवान्‌के सर्वव्यापकत्वका यथार्थरूपसे जँच जाना और सायुज्य-मुक्तिका मिलना।
३ कर्मयोग (श्लोक ५६)	ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करना।	भगवत्प्रसादसे संसारसे उद्धार पा जाना।

इस प्रकार ब्रह्मप्राप्तिके तीन अलग-अलग साधन हैं और उन साधनोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धावस्थाके तीन भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं, इन्हींका वर्णन श्लोक ५१से ५६तक कर चुकनेपर ५७वें श्लोकमें तथा ५८वें श्लोकके पूर्वार्द्धमें अर्जुनको विशिष्टरूपसे यह उपदेश किया गया है कि तुम कर्मयोगका ही आश्रय करो। इससे अवश्य ही यह भी सूचित हो ही जाता है कि इन तीनों मार्गोंमें सबसे अच्छा मार्ग तीसरा यानी कर्मयोगका है। दूसरे अध्यायमें 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' इत्यादि श्लोकसे कर्मयोगकी विशिष्टता वर्णित है। फिर ५वें अध्यायमें 'कर्मयोगो विशिष्यते' कहकर कर्मयोगको विशेष प्रमाणपत्र भी दिया गया है। इसी विशिष्टताके अनुसार अठारहवें अध्यायमें यह निर्णय किया गया है। बारहवें अध्यायमें भी 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्' इत्यादि श्लोकोंमें कर्मयोगका ही माहात्म्य वर्णित है। इसी अध्यायमें मोक्षप्राप्तिके पृथक्-पृथक् मार्ग बतलाते हुए पहले ध्यानयोगका आचरण बतलाया है। वह यदि न बन पड़े तो सबसे सुलभ मार्ग अन्तमें सर्वकर्मफलत्यागका बताया। इससे यह स्पष्ट है कि अठारहवें अध्यायके अन्तमें जो उपसंहार है, उसमें भी पहले वर्णन किये हुए विविध मार्गोंका तुलनात्मक वर्णन करके यही बतलाया है कि इनमें जो मार्ग सबसे सुलभ और श्रेयस्कर जँचे, उसीको तुम ग्रहण करो।

पूर्वाध्यायोंके विवेचन-क्रमको देखते हुए यही कहना पड़ता है कि उपसंहारमें भी तीन मार्गोंकी तुलना करके कर्मयोगकी सुलभता और श्रेष्ठताका बतलाया जाना ही प्रकरणके अनुकूल है और उपरिनिर्दिष्ट श्लोकोंमें वही हुआ है। यदि हम ऐसा न मानें और यही मानकर चलें कि ५१से ५६ तकके श्लोकोंमें किसी एक ही मार्गका वर्णन है, तो अब देखिये कि यह सारा वर्णन कितना विसङ्गत हो जाता है। इस वर्णनके आरम्भमें ही 'विविक्तसेवी लघ्वाशी' इत्यादि वर्णन करके 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' कहकर ब्राह्मी स्थितिकी 'न शोचति न काङ्क्षति' की अवस्थासे लेकर उसकी परमावस्था भी बतला दी गयी। इतना सब कह चुकनेके पश्चात् उसी साधकके सम्बन्धमें यह बतलाना कि 'मद्भक्तिं लभते पराम्'। 'भक्त्या मामभिजानाति' कुछ प्रयोजन नहीं रखता। इसको भी किसी तरहसे मान लें तो भी परा कोटिकी भक्तिका यह फल कि 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'—सायुज्य मुक्तिका यह वर्णन तो परम फल मानना ही होगा। पर यह भी नहीं बनता, क्योंकि इसके आगे 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः' अर्थात् कर्मयोगाचरण आता है [illegible] कैसे हो? फिर यह भी एक विचारणीय बात है कि सायुज्य मुक्ति जिसके करतलगत हो गयी, उसे 'मत्प्रसादात्' किसी सिफारिशकी क्या जरूरत? मतलब यह कि यह सारा वर्णन किसी एक मार्गका नहीं बल्कि तीन भिन्न-भिन्न मार्गोंका है। आरम्भमें ही जिस साधकका वर्णन 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' कहकर किया गया, वही साधक, वही व्यक्ति 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः' कैसे हो सकता है?

तात्पर्य, उपसंहारान्तर्गत इन श्लोकोंका सुसङ्गत अर्थ लगानेका ठीक तरीका यही है कि इस वर्णनको तीन विभिन्न मार्गोंका वर्णन जानना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इनमें जो अन्तिम कर्मयोगका मार्ग है—वही 'सुसुखं कर्तुमव्ययम्' है और इसीलिये वही अर्जुनके लिये निर्दिष्ट किया गया है।

५७वें श्लोकमें अर्जुनको कर्मयोगका उपदेश किया गया और फिर उसी उपदेशको दृढ़ करनेके लिये ५८वें श्लोकसे ६६वें श्लोकतक उसीकी अन्वयरूपसे और व्यतिरेकरूपसे पुनरुक्ति की गयी है। अपना प्रसङ्गसे प्राप्त तथा स्वाभाविक कर्म छोड़ देना किस प्रकार असम्भव है, यह बतलाकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे अपने सब कर्म करनेसे किसी प्रकारका कोई दोष नहीं होता और ईश्वरकी कृपासे शाश्वत पद लाभ होता है, यही इसमें बतलाया गया है। और अन्तिम सारभूत उपदेशके तौरपर—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—यह कहकर महान् आश्वासन भी दिया है।

सम्पूर्ण गीताके इस सारभूत श्लोकका अर्थ करते हुए भी बहुत-से टीकाकारोंने साम्प्रदायिक बुद्धिका आश्रय करके बड़ी गड़बड़ी कर दी है। सब धर्म छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, यह कहनेसे ईश्वरार्पणबुद्धिका निषेध नहीं होता और न ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जानेवाले कर्मोंका निषेध होता है। सब पापोंसे मुक्त किये जानेका जो महान् आश्वासन इसमें है, उसीसे यह सिद्ध है कि जिन धर्मोंका परित्याग करनेको कहा गया वे पापविमोचक व्रताचरणादि कर्म ही होंगे। परन्तु ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जानेवाले निष्काम कर्ममें पापका कोई स्पर्श भी नहीं होता, इसलिये इसमें प्रायश्चित्तकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते, [illegible] जानेवाले पृथक् धर्मोंका वहाँ

प्रयोजन नहीं रहता । इसीलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस वचनसे निष्काम कर्मयोगका निषेध नहीं होता और कर्म-बन्धके होनेका भय 'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' कहकर दूर किया जाता है। यह आश्वासन उसीके लिये हो सकता है जो कोई कर्माचरण करता हो। जो सब कर्मोंका सम्पूर्णतया त्याग कर चुका, उस संन्यासीके लिये इस आश्वासनकी क्या आवश्यकता ? पर जो 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः' एवंविध कर्मयोगी हो, उसीके लिये ऐसे आश्वासनकी आवश्यकता हो सकती है। इसलिये जब भगवान् श्रीकृष्ण गीताके अन्तिम श्लोकमें ऐसा आश्वासन देते हैं, तब उनके सामने कर्माचरण करनेवाले कोई कर्मयोगी ही होंगे, कर्म त्यागनेवाले कोई संन्यासी नहीं। और इसीसे यह भी निश्चित होता है कि गीताका तात्पर्य कर्मयोगपरक—प्रवृत्तिपरक ही हो सकता है, संन्यासपरक–निवृत्तिपरक नहीं।



गीतामें समन्वयका सिद्धान्त, आत्माकी एकता तथा ईश्वरप्राप्तिके मार्गोंकी एकता

(लेखक—रेवेरेंड आर्थर ई. मैसी)

जगद्गुरु श्रीकृष्णने भगवद्गीताके रूपमें जगत्को एक अनुपम देन दी है। कर्म, ज्ञान, भक्ति–ये शाश्वत आदर्श एक दूसरेको साथ लिये हुए चलते हैं; इनमेंसे प्रत्येक अन्य दोनोंके लिये आवश्यक है। इसी प्रकार जीवात्मा, बुद्धि तथा हृदयकी भी साथ-साथ उन्नति होनी चाहिये।

गीताके उपदेशपर कोई शङ्का नहीं कर सकता, क्योंकि वह मानो ठीक मर्मस्थलको स्पर्श करता है। वह सबकी आवश्यकताओंकी समानरूपसे पूर्ति करता है, उसमें विकासकी प्रत्येक श्रेणीपर विचार किया गया है। यह एक ही ग्रन्थ है जिसमें छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा मनुष्य, अतिशय प्रखर बुद्धिका विचारक और केवल बाह्यदृष्टिसे विचार करनेवाला, युवा एवं अनुभवी वृद्ध, महात्मा एवं पापात्मा, अमीर-गरीब, परोपकारी एवं स्वार्थी, शुचि-अशुचि, भक्त, विद्यार्थी, मनुष्यमात्रका बन्धु, इन्द्रियाराम तथा ज्ञानपिपासु, दार्शनिक एवं नास्तिक, प्रपञ्चानुरागी तथा ईश्वरानुरागी, जो इस व्यक्त जगत्से परे सत्में रहनेकी चेष्टा करता है और जो इस व्यक्त जगत्में ही रमता है, धार्मिक एवं पाषण्डी, ज्ञानी एवं छली, सभीको कुछ-न-कुछ जानने तथा सीखनेकी सामग्री मिल जाती है, मार्ग दिखलानेके लिये कोई-न-कोई ध्रुवतारा मिल जाता है और जिस वातावरणमें मनुष्य रहता है उसका वास्तविक महत्त्व समझनेका कोई-न-कोई साधन प्राप्त हो जाता है। यह दिव्य ईश्वरीय संगीत उसे अपने चारों ओर फैली हुई मायापर विजय प्राप्त करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार उसे इस बातका ज्ञान हो जाता है कि मेरे जीवनका कोई-न-कोई ध्येय और लक्ष्य अवश्य है और मेरी स्थिति, चाहे वह कितनी ही बुरी क्यों न हो, ऐसी नहीं है कि जिसके लिये कोई उपाय अथवा सुधारका रास्ता न हो।

भक्त-कवि सूरदासने क्या ही अच्छा गाया है !—

एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरो।
जब दोउ मिलि कै एक बरन भए, सुरसरि नाम परो॥
एक लोहा पूजामें राख्यो, एक घर बधिक परो।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै, कंचन करत खरो॥

जीवात्माको मुक्तिका मार्ग दिखलानेवाले इस अनुपम एवं अनमोल ग्रन्थरत्नके उपदेशोंमें अनेक विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं और मनुष्यकी आत्माके विकासके लिये, उसके ईश्वरत्वको उसके विनाशीभावसे मुक्त करनेके लिये, बहुत-सी नैतिक शिक्षा भरी हुई है।

आध्यात्मिक जीवनकी इमारत धर्मके पायेपर खड़ी होती है और धर्मका अर्थ है—व्यष्टिकी विकासशील स्थितिका अनुभव, निश्चित मार्गपर आगे बढ़नेका निश्चयपूर्ण प्रयत्न और जिस प्रकार भी हो अपने शरीरके अंदर रहनेवाले कामरूपी राक्षसको दमन करनेका दृढ़ सङ्कल्प, जो पङ्ककी भाँति अमृतत्वके निर्मल जलको गँदला कर देता है। 'अर्जुन ! अपना गाण्डीव उठाकर खड़े हो जाओ और युद्ध करो' भगवान्के इन शब्दोंकी प्रतिध्वनि गीतामें बारंबार सुनायी देती है; युद्ध करो, जिससे कि तुम अपने चारों ओर फैले हुए अन्धकारके बादलोंको विलीन कर दो; युद्ध करो ताकि तुम अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर सको।

पापके साथ युद्ध करना, यही सर्वोत्तम धर्म है। जगदीश्वरकी यही इच्छा है। ईसामसीहने बाइबलमें कहा है–'जो कोई भी स्वर्गमें रहनेवाले मेरे पिताकी इच्छानुसार चलेगा, वही मेरा भाई, वही मेरी बहिन और वही मेरी माता है।' अपनी निम्नवृत्तियोंको उदात्त बनाना होगा। इस परिवर्तन-शील [illegible] एवं सङ्घर्षमें जन्म लेनेके कारण,

जो मनुष्यकी आध्यात्मिक दृष्टिको धुँधली कर देते हैं, मनुष्य मायाके पर्देको और भी सघन बना देता है, जिसके कारण शाश्वत सत्य उसकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है। कारण यह होता है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियोंके हाथका खिलौना बना रहता है, वे सुखका झूठा एवं छलपूर्ण प्रलोभन देकर इसे लुभाये रहती हैं। जब कभी उसकी सत्कर्म करनेकी इच्छा होती है और वह अपनी शक्तियोंको भगवान्के अर्पण करना चाहता है, उस समय भी संसारके अनित्य सुखोंको छोड़नेमें असमर्थ होनेके कारण वह चूक जाता है और जल्दीमें ऐसे कर्म कर बैठता है जिन्हें वह जानता है कि ये मेरी उन्नतिमें बाधक हैं।

संत पॉलने कहा है—

'जो शुभ कर्म मैं करना चाहता हूँ उसे कर नहीं पाता, परन्तु जो दुष्कर्म मैं करना नहीं चाहता उसे कर बैठता हूँ। अब यदि मैं इच्छा न होते हुए भी कोई दुष्कर्म करता हूँ, तो इसका अर्थ यही है कि मैं स्वयं उसे नहीं करता बल्कि मेरे अंदर बैठा हुआ पाप उसे करवाता है।'*

अर्जुन भगवान्से पूछता है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

'भगवन्! कौन-सी शक्ति है जो मनुष्यसे उसकी इच्छा न होनेपर भी मानो बलपूर्वक पाप करवाती है?'

इसका उत्तर जो भगवान् देते हैं वह उनके अनुरूप ही है, क्योंकि वे ज्ञानके अवतार ही ठहरे!—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

'यह काम है! यह क्रोध है! जो रजोगुणसे उत्पन्न हुआ है। इसका पेट बहुत बड़ा है (इसकी भूख जल्दी शान्त नहीं होती)। यह महान् पापी है, इसे शत्रु ही समझो। जिस प्रकार धुआँ अग्निको आच्छादित कर देता है, मैल दर्पणको अन्धा कर देता है और जेर गर्भस्थ शिशुको आच्छादित किये रहती है, उसी प्रकार इस कामनाने ज्ञानको ढक रक्खा है।'

अतः जीवात्माको अपने मूल स्रोत परमात्मामें मिल जानेसे पूर्व बड़ा भारी त्याग करना पड़ता है, उसे अपने दृढ़ सङ्कल्परूपी शस्त्रसे संसार, शरीर तथा कामनाके बन्धनको काटना होगा और नश्वर पदार्थोंके सम्बन्धमें अपनी चिन्ताओं तथा व्यग्रताको अनिर्वचनीय शान्ति तथा आनन्दके समुद्रमें डुबा देना होगा। इस समुद्रमें इच्छाएँ अपने-आप विलीन हो जाती हैं, क्योंकि इस समुद्रके प्राप्त हो जानेपर इच्छाकी कोई वस्तु रह नहीं जाती, ज्ञानका कोई विषय बाकी नहीं रहता और कोई ऐसी प्राप्तव्य वस्तु नहीं रह जाती जो आत्माके अंदर न हो।

यदि हम भूतदयाका निरन्तर अभ्यास करके तथा दैनिक पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान करके जीवनमें प्रतिदिन कुछ-न-कुछ त्याग नहीं करते—चाहे वह कितना ही स्वल्प क्यों न हो—हमारी ज्ञानचर्चा, हमारा महात्माओंके चरणोंमें बैठकर सत्सङ्ग करना तथा साधुताका हृदयसे सम्मान एवं पूजा करना व्यर्थ नहीं तो बहुत ही कम लाभदायक है। नित्य यज्ञ करना, चिन्तनका अभ्यास करना, नित्य कुछ-न-कुछ दान करना तथा दूसरोंसे कुछ न लेना—इसी प्रकारकी चेष्टा करनेसे हम उस आदर्श गुणको सीख सकेंगे जिसे बाह्य जगत् महान् त्याग कहता है।

भगवद्गीता कहती है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

'जिन लोगोंका मन समतामें स्थित है, उन्होंने इसी जीवनमें विश्वको जीत लिया। ब्रह्म निर्दोष एवं सम है, अतः वे लोग ब्रह्महीमें स्थित हैं। जो मनुष्य प्रिय वस्तुको पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय वस्तुको पाकर दुखी नहीं होता—ऐसा स्थिरबुद्धि, संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें एकीभावसे नित्य स्थित है। जिस मनुष्यका अन्तःकरण बाह्य विषयोंमें अर्थात् सांसारिक भोगोंमें आसक्ति-रहित है, वह अपने अन्तःकरणमें भगवद्ध्यानजनित आनन्दको प्राप्त होता है और वह मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मारूप योगमें एकीभावसे स्थित हुआ अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'



* "For the good that I would I do not : but the evil which I would not, that I do. Now if I do that I would not, it is no more I that do it, but sin that dwelleth in me".

गीता सब धर्मोंके भ्रातृभावका जीता-जागता प्रमाण है

(लेखिका—बहिन जीन डिलेमर)

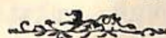
थियासाफिकल सोसाइटीमें सम्मिलित हुए मुझे बीस वर्षसे ऊपर हो गया। तबसे पहले-पहल मैंने जितनी पुस्तकें पढ़ीं, भगवद्गीता भी उनमेंसे एक थी। उस समय दो बातोंपर मेरा विशेषरूपसे ध्यान गया—एक तो उसके सनातन एवं सार्वभौम सिद्धान्तोंपर और दूसरे, सभी मुख्य बातोंमें ईसाई-रहस्यवादके साथ उसके सादृश्यपर।

इन बीस वर्षोंमें मेरी यह धारणा सम्भवतः और भी दृढ़ हो गयी, यहाँतक कि अब मुझे उसके दिव्य भावोंसे भरे पन्नोंमें सारे धर्मोंके भ्रातृभावका जीता-जागता प्रमाण दृष्टिगोचर होता है। मुझे उसके अंदर इस बातका भी प्रमाण दृष्टिगोचर होता है कि उनमेंसे प्रत्येकके मूलसिद्धान्त हमें उन दिव्य आत्माओंसे प्राप्त हुए हैं जिन्हें हमलोग ईश्वरीय ज्ञानके अधिकारी कहते हैं।

उदाहरणतः जब मैं भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंको पढ़ती हूँ कि 'ऐसा कोई समय न था जब मैं न रहा होऊँ' ('न त्वेवाहं जातु नासम्'), तब मुझे ईसामसीहके निम्नलिखित शब्द स्मरण हो आते हैं, जिन्हें वे सनातन पुरुषके नामसे कहते हैं—'हजरत इब्राहीमके पहलेसे मैं हूँ।' ('Before Abraham was, I am'.) जब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—'जो कोई मेरे दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य जान लेता है, वह शरीर छोड़नेपर मेरे अंदर प्रवेश कर जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता,' मुझे बाइबिलके Revelation नामक खण्डकी यह प्रतिज्ञा याद आ जाती है—'जो अपनी इच्छाशक्तिको दमन कर लेता है, उसे मैं साकार भगवान्के लीलानिकेतनका स्तम्भ बना देता हूँ और वह कभी वहाँसे अलग नहीं होता।' ('He who overcometh will I make a pillar into the house of the living God, and he shall go out no more').

इसी प्रकार श्रीकृष्णके ये शब्द—'मेरे भक्त मुझीको प्राप्त होते हैं। जो कोई प्रेमपूर्वक मुझे एक पत्ता, फूल, फल अथवा जल अर्पण करता है—उस शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषके भक्तिपूर्ण उपहारको मैं सहर्ष अङ्गीकार करता हूँ··· ···जो कुछ तुम करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो और जो कुछ दान दो, वह सब मेरे नामपर एवं मेरे लिये करो' मुझे बाइबिलके ऐसे ही वचनोंका स्मरण दिलाते हैं। वहाँ भी सब कुछ भगवान्के निमित्त—न कि मनुष्यके निमित्त—करनेकी आज्ञा दी गयी है एक गिलास ठंडा जल भी किसीको दो तो उनके नामपर दो, अन्तःकरणको शुद्ध रक्खो, सर्वप्रथम भगवान्के लोक तथा उन्हींके धर्मको प्राप्त करनेकी चेष्टा करो; ऐसा करनेसे जगत्के सारे पदार्थ अपने-आप प्राप्त हो जायँगे।

इस प्रकारके भावसादृश्य चाहे जितने बतलाये जा सकते हैं, फिर भी ये सादृश्य केवल शब्दोंको लेकर ही हैं—उनका भीतरी भाव तो भक्तके हृदयमें ही प्रकट होता है; और शास्त्रोंका यह भीतरी तात्पर्य, यह सनातन भाव सदा एक है, ठीक जिस प्रकार सत्यस्वरूप भगवान् अपने विश्वरूपमें अनेक होनेपर भी एक हैं।



गीता नित्य नवीन है

जगत्के सम्पूर्ण साहित्यमें, यदि उसे सार्वजनिक लाभकी दृष्टिसे देखा जाय, भगवद्गीताके जोड़का अन्य कोई भी काव्य नहीं है। दर्शनशास्त्र होते हुए भी यह सर्वदा पद्यकी भाँति नवीन और रसपूर्ण है; इसमें मुख्यतः तार्किक शैली होनेपर भी यह एक भक्ति-ग्रन्थ है; यह भारतवर्षके प्राचीन इतिहासके अत्यन्त घातक युद्धका एक अभिनयपूर्ण दृश्य-चित्र होनेपर भी शान्ति तथा सूक्ष्मतासे परिपूर्ण है और सांख्य-सिद्धान्तोंपर प्रतिष्ठित होनेपर भी यह उस सर्वस्वामीकी अनन्य भक्तिका प्रचार करता है। अध्ययनके लिये इससे अधिक आकर्षक सामग्री अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हो सकती है?

 —जे० एन्० फरक्यूहर, एम्० ए०

जीवनकी त्रिवेणी

(लेखक–रेवेरेंड एड्विन ग्रीव्ज़)

भगवद्गीताके अठारह अध्यायोंमें विचारकी जो अनेक पद्धतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं उनकी आलोचना करनेमें अपनेको असमर्थ समझते हुए भी, गीतामें मोक्षकी प्राप्तिके जो तीन मार्ग बतलाये गये हैं—ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग–उनपर विचार करनेका साहस हम अवश्य करेंगे। यह प्रश्न बहुत व्यापक है और इस व्यापकरूपमें उसका सम्बन्ध किसी खास ग्रन्थ, राष्ट्र या युगसे नहीं है, किन्तु सार्वभौम जीवनसे है।

जीवन (मनुष्य-जीवन) की एक मुख्य विशेषता है–उसकी दृष्टिकी विविधता। इन दृष्टियोंके विविध होते हुए भी उन सबमें क्रिया समानरूपसे विद्यमान रहती है–यह क्रिया चाहे अधिक स्पष्ट हो या कम, उसका रूप चाहे नाड़ीकी सूक्ष्म गति हो, हृदयका स्पन्दन हो, विचार, भाव या वाणीका व्यापार हो अथवा शरीरके अवयवोंका सञ्चालनमात्र हो। जब ये सारी क्रियाएँ बंद हो जाती हैं तो हम कहते हैं कि शरीरका अवसान हो गया। इसके बाद उसे हम जीवित मनुष्य नहीं कह सकते; शरीर निर्जीव हो जाता है–जड हो जाता है। यद्यपि शरीरके सम्बन्धमें ऐसी ही बात है, तथापि उसमें जो जीवन था, उसके सम्बन्धमें हम निश्चितरूपसे यह नहीं कह सकते कि वह अब नहीं रहा, उसका भी अभाव हो गया; अन्यत्र तथा पहलेकी अपेक्षा भिन्न स्थितिमें वह विद्यमान एवं उत्साहपूर्वक क्रियाशील हो सकता है।

यहाँ एक अतिशय महत्त्वका प्रश्न यह उठता है–क्या व्यक्तित्वको बनाये रखना आवश्यक है ? क्या मृत्युके बाद भी 'मैं अमुक हूँ' यह ज्ञान रहता है ? या जीवन किसी अहङ्कार-रहित स्थितिमें काम करता रहता है ? यह बात तो समझमें आ सकती है कि मृत्युके बाद भी जीवन क्रियाशील बना रह सकता है, परन्तु वह ऐसी परिवर्तित स्थितिमें रहेगा कि उसे पहलेके अनुभवोंका अनुसन्धान नहीं रहेगा; वह बिल्कुल ही नये अनुभवका श्रीगणेश कर सकता है अथवा किसी दूसरे व्यक्तिके अनुभवसे संयुक्त होकर रह सकता है; परन्तु जीवनकी इस प्रकारकी अहंज्ञानशून्य स्थिति कई लोगोंको बहुत महँगी प्रतीत होगी, जिसे वे स्वीकार करनेके लिये कभी तैयार न होंगे। जीवनकी सर्वोच्च स्थितिमें भी व्यक्तित्वको —अहङ्कारको कायम रखनेकी अपेक्षा रहती है। हम अपने मैंपनको, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, त्यागनेके लिये कभी तैयार न होंगे। जीवन वास्तवमें वही है जिसमें मैंपनका बोध रहे और दूसरोंके साथ वर्तमान अथवा भावी सम्बन्ध रहे। इसके बिना जीवन जीवन नहीं रह जायगा, शून्य अस्तित्वमात्र रह जायगा।

एक बात और है, जिसपर विचार करना हमारे लिये आवश्यक है। जीवनमें बुद्धि, भाव और कर्मका क्या स्थान है और वे किस परिमाणमें जीवनके लिये उपयोगी हैं ? कभी-कभी ज्ञान, कर्म और भक्ति मोक्षप्राप्तिके तीन पृथक्-पृथक् मार्ग बतलाये जाते हैं, मानो इनमेंसे किसी एकको चुनकर उसका अनुसरण किया जा सकता है। इस मतके साथ-साथ जो मुक्ति हमें प्राप्त करनी है, उसके स्वरूपके सम्बन्धमें भी कुछ मतभेद हो सकता है। अब इन मार्गोंके सम्बन्धमें यह सोचना कि ये तीनों एक दूसरेसे पृथक् हैं, इस बातको भूल जाना है कि प्रत्येक जीवनमें तीनोंका सम्मिश्रण रहता है। यह सत्य है कि प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें बुद्धि, भाव और कर्म—इनमेंसे किसी एककी प्रधानता हो सकती है; परन्तु शेष दोकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जीवनको सर्वाङ्गसुन्दर तथा पूर्ण बनानेके लिये इनमेंसे प्रत्येककी आवश्यकता है। इस प्रकारके जीवनमें तीनोंका पूर्ण एवं निर्बाध उपयोग होना चाहिये। बुद्धिका उपयोग किये विना केवल कर्मशील अथवा प्रवृत्तिपरायण होना–चाहे वह प्रवृत्ति यज्ञ-यागादि कर्मोंमें हो या दैनिक जीवनके सामान्य व्यवहारोंमें–जीवनको एक यन्त्रमात्र बना देना है। यदि केवल भावमय जीवन बिताना सम्भव होता तो उसका अर्थ होता विना अन्न-जलके हवामें रहना और हवाके सहारे जीना और केवल बुद्धिके बलपर जीनेका अर्थ होगा, उसकी सारी प्राणशक्तिको हर लेना। बुद्धि जीवनके रूपमें वस्तुतः तभी कार्य कर सकती है जब वह भाव तथा कर्मके साथ व्यावहारिक सम्पर्कमें आकर विवेकके रूपमें परिणत हो जाय।

बाइबिल आदि धर्मग्रन्थोंमें जीवनका जो स्वरूप हमारे सामने रक्खा गया है, उसकी विशेषता यह है कि उसमें जीवनका कोई निश्चित कार्यक्रम निर्धारित करनेकी चेष्टा नहीं हुई है। उसमें मुक्तिका जो स्वरूप वर्णित है, वह बहुत ही उदार एवं व्यापक है। शरीरके मर जानेके बाद आत्माका क्या होता है, इस सम्बन्धमें वहाँ कुछ नहीं कहा गया है। मुक्तिका सम्बन्ध प्रधानतया इसी जीवनसे है—मुक्तिकी

अवस्थामें जीवनका स्वरूप कुछ और ही हो जाता है, वह पुष्ट एवं स्वस्थ हो जाता है, वह प्रत्येक दिशामें कार्य करने लगता है और उन सारे सम्बन्धों और जिम्मेवारियोंको निबाहता है जिनसे हम घिरे रहते हैं। मुक्तिका अर्थ है प्रत्येक उत्तम शक्तिका उपयोग करना, अधिक लोगोंके साथ सम्पर्कमें आना, सहानुभूतिके क्षेत्रका विस्तार करना, समाजकी सेवा करना, कुटुम्बवालोंके साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित करना, स्वदेशके प्रति प्रेम करना और विश्वके प्रति अपने कर्तव्योंका पालन करना।

यह बात दुहरायी जा सकती है तथा जोरके साथ कही जा सकती है कि ऊँचे स्तरके सभी जीवनोंमें कुछ बातें समान रहती ही हैं और कार्य करती हैं, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वे समान मात्रामें ही हों। विचार, भाव या कर्मकी किसी जीवनमें प्रधानता हो सकती है; परन्तु वह प्रधानता ऐसी नहीं होनी चाहिये जिसमें दूसरे अङ्गोंका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग ही न हो सके। तीनों धाराओंकी मिलकर एक धारा बन जानी चाहिये। जीवन इन तीन धाराओंकी त्रिवेणी है। भावका स्पर्श हुए विना, किसी प्रकारकी क्रियाके रूपमें अभिव्यक्त हुए विना बुद्धि बिल्कुल जड तथा निर्जीव हो जाती है। जिस भावके मूलमें विचारकी भित्ति नहीं है और जो क्रियात्मक नहीं है वह जीवन नहीं है, जीवनका फेनमात्र है। सहानुभूति एवं विवेकपूर्ण समवेदनाके विना कर्म एक जड क्रियामात्र हो जायगा और उसका कर्ता अथवा और किसीके लिये कोई वास्तविक महत्त्व नहीं रह जायगा। जीवनकी इस त्रिवेणीमें, यदि उसका पूर्ण विकास हुआ हो, यह बात बड़े आश्चर्यकी है कि उसका प्रत्येक अङ्ग दूसरे अङ्गोंसे किस तरह घुल-मिल जाता है और किसी अंशमें उनके सङ्गसे रूपान्तरित हो जाता है और उसके कार्य तथा प्रभावका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।

ईसामसीहको कभी-कभी लोग 'पैगम्बर, धर्माचार्य और राजा' कहकर पुकारते हैं। ये उपाधियाँ उनके कार्यक्षेत्रका दिग्दर्शनमात्र कराती हैं, उनसे उनके कार्योंके विस्तारका पूरा परिचय नहीं मिलता। वे हमारे जीवनके प्रत्येक पहलूको स्पर्श करते हैं; वे निरे उपदेशक, मुक्तिदाता एवं आदर्श महापुरुष ही नहीं हैं, किन्तु जीवमात्रके सच्चे सुहृद्के रूपमें हमें अपने पास बुलाकर हमारे साथ बन्धुत्व एवं साहचर्य स्थापित करते हैं और हमें अधिकाधिक अपने समान बनानेमें सहायता देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका परम तत्त्व भक्तितत्त्व ही है

(लेखक—श्री ह० भ० प० धुंडा महाराज देगळूरकर)

श्रीमद्भगवद्गीताका एक ही परम तत्त्व क्या है, यदि इस विषयपर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह परम 'गीता-तत्त्व' केवल षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न स्वयं श्रीकृष्णभगवान् ही हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

'तत्त्वज्ञानी पुरुष जिस तत्त्वको अद्वय ज्ञान कहते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि संज्ञाओंसे अभिहित होता है।' 'तत्त्व' शब्द तात्पर्य या सारवाचक है और यह परमात्मवाचक भी है। 'तस्य भावः तत्त्वम्।' 'तत्' शब्द जब परमात्मवाची होता है, तब उसका अर्थ होता है सत्ता; अखिल जगत्में एक ही सत्ता है, वह भगवान् हैं, वही तत्त्व हैं।

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।'

'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।'

'अहं सर्वस्य प्रभवः—'

'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी··· निधानं बीजमव्ययम्।'

'सदसच्चाहमर्जुन—'

तथा—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

—इन गीतोक्त प्रमाणोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका परम तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

तत्त्व दो प्रकारके होते हैं—साध्य-तत्त्व और साधन-तत्त्व। श्रीमद्भगवद्गीताका साध्यतत्त्व हैं भगवान् श्रीकृष्ण—यह बात उपर्युक्त 'अहम्, माम्, मम' इत्यादि शब्दोंसे सिद्ध होती है और साधनतत्त्वके रूपमें गीतामें कर्म, ज्ञान, यज्ञ,

उपासना, योग तथा तप, दान, श्रद्धा आदि विभिन्न साधनों-का विचार विस्तारपूर्वक किया गया है। इन साधन-तत्त्वोंमेंसे भक्तितत्त्वके विषयमें यहाँ यथामति कुछ विचार किया जायगा।

गीतामें जिस प्रकार कर्मयोग-ज्ञानयोगादिकी विस्तारपूर्वक विवेचना की गयी है, उससे कहीं अधिक विवेचना भक्तियोग-की हुई है। प्रेमावतार भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय सखा अर्जुनके सामने भक्ति-प्रेमके पूर्ण माहात्म्य और स्वरूपको व्यक्त कर दिया है। तात्त्विक दृष्टिसे विचार करनेपर गीतामें कर्म, ज्ञान आदि योगोंका अन्तर्भाव भक्तितत्त्वमें ही हो जाता है। अहङ्कारादि विकारोंके नाश और चित्तशुद्धिके विना भक्तिकी—निर्विकार निरतिशय प्रेमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। गीतामें स्वधर्मका विचार भी इसी उद्देश्यसे किया गया है। देहेन्द्रियादि सङ्घातसे तादात्म्यको प्राप्त होनेके कारण मनुष्य कर्मशील बनता है। कर्म बन्धनका कारण होता है—'लोकोऽयं कर्मबन्धनः'। फिर भी कर्म करना आवश्यक है। कर्मके विना शरीरयात्रा भी कठिन हो जाती है। श्रीभगवान् भी आज्ञा देते हैं—

'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।'
'कर्मण्येवाधिकारस्ते', 'नियतं कुरु कर्म त्वम्'
—इत्यादि।

परन्तु जिस पद्धतिसे श्रीभगवान् कर्माचरणकी आज्ञा देते हैं, उस पद्धतिका अनुसरण अत्यावश्यक है। ध्यान रखनेकी बात है कि कर्तृत्व और फलास्वादके अभिमानके कारण ही कर्म बन्धनकारक होता है—और जीवमात्रकी कर्मप्रवृत्ति सामान्यतः फलास्वादकी इच्छा और कर्तृत्वाभिमानपूर्वक ही होती है। जैसे—

'अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥'
तथा—
'काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।'
इसी कारण श्रीभगवान् उपदेश करते हैं—
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।'

भगवान्के इस उपदेशके अनुसार कर्म करनेसे वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता। निम्नाङ्कित भगवद्वाक्यसे यह और भी सुस्पष्ट हो जाता है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विषमें स्वभावतः मारक शक्ति होती है, परन्तु सिद्धहस्त वैद्यके क्रियाकौशलसे वही रसायन बनकर मरते हुएको जीवनदान करता है, उसी प्रकार उपर्युक्त रीतिसे कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिका त्याग करके किया हुआ कर्म बन्धनकारक नहीं होता, बल्कि बन्धनसे छुड़ानेवाला होता है।

अनादिकालसे फलासक्त होकर कर्म करनेका जीवका अभ्यास है, अतएव अकस्मात् कर्तृत्वाभिमान नष्ट होना सुगम नहीं है। इसलिये कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके उद्देश्यसे कर्मका भक्तिमें अन्तर्भाव करनेके लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।'
'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।'
'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।'
'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।'
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

देहेन्द्रियादि साधनोंद्वारा होनेवाले सारे कर्म भगवत्सत्ता-से ही होते हैं। जीव केवल निमित्तमात्र होता है, कर्म करनेवाले देहेन्द्रियादि साधन स्वभावतः जड हैं; इनके प्रेरक केवल भगवान् हैं, उन्हींकी सत्तासे सारी क्रिया होती है—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।'
तथा—
'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।'

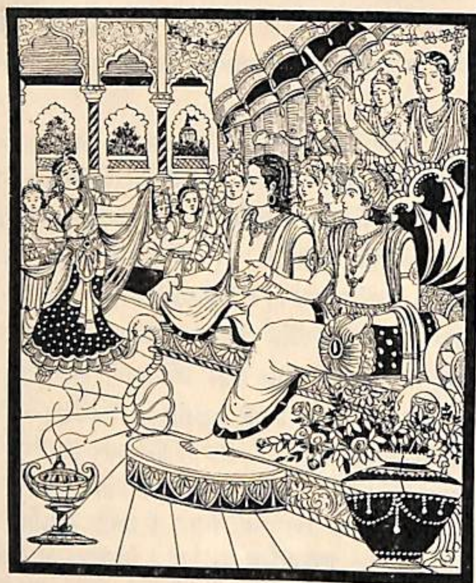
—इत्यादि वाक्योंसे यह बात सिद्ध है। अतएव जब स्वयं भगवान् प्रेरक हैं और जीव निमित्तमात्र कठपुतलीके समान पराधीन है, तब उसको (जीवको) कर्तृत्वाभिमान रखनेका कोई अधिकार नहीं। इसलिये सारे कर्म भगवदर्पणबुद्धिसे होने चाहिये। यह कर्मसमर्पण भक्तियोगका एक प्रधान अङ्ग है। देवर्षि नारद कहते हैं—

'तदर्पिताखिलाचारता'।

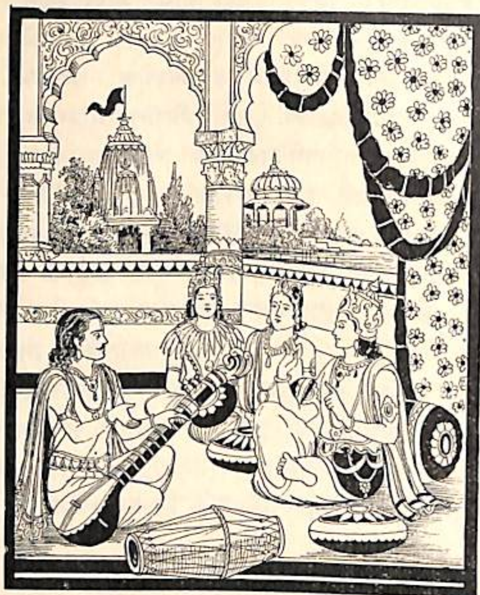
श्रीभगवान् भी कहते हैं—

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।'
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

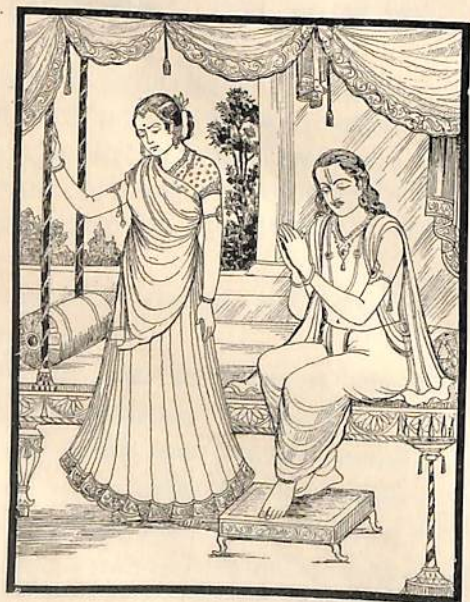
अर्जुन



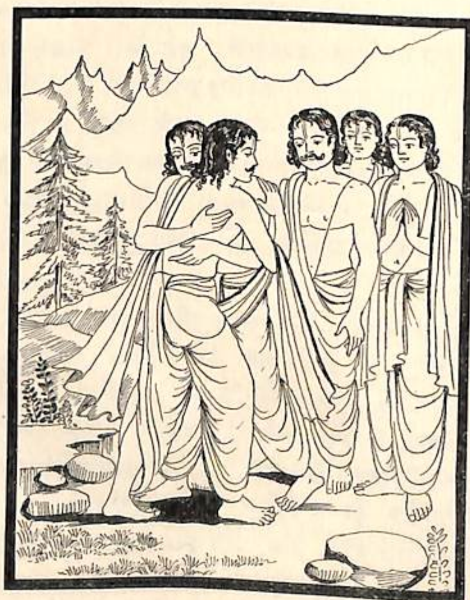
इन्द्रके दरबारमें सम्मान



स्वर्गमें सङ्गीत-शिक्षा



उर्वशीका कोप



भाइयोंसे मिलना

सारे कर्मोंको भगवदर्पण करनेसे जीव संसारसे मुक्त हो जाता है तथा भगवत्कृपासे शाश्वत और अव्ययस्वरूप परमपदको प्राप्त होता है। अतएव ऐहिक या पारलौकिक फलकी प्राप्तिके लिये कर्म करना गीतासम्मत नहीं है, बल्कि सब कर्मोंका भगवत्प्रीत्यर्थ भगवद्भावनामें पर्यवसित होना ही गीतोक्त कर्मयोगका मुख्य अभिप्राय है। इस प्रकार भक्तियोगमें कर्मयोगका पर्यवसान हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ आदि अनेकों यज्ञोंका वर्णन किया गया है। इनका भी अन्तर्भाव भगवद्भावनामें होना आवश्यक है। श्रीभगवान् कहते हैं—

'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।'

तथा—

'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।'

'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥'

श्रीभगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं—यही क्यों, क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध सब कुछ वही हैं। जो लोग भगवान्‌को इन रूपोंमें नहीं पहचानते, वे तत्त्वसे—आत्मकल्याणसे च्युत होते हैं। तात्पर्य यह है कि गीतोक्त यज्ञतत्त्वका पर्यवसान भी भक्तितत्त्वमें हो जाता है।

योगतत्त्वका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने गीताके छठे अध्यायमें—

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।'

तथा—

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।'

—इत्यादि श्लोकोंद्वारा योगाभ्यासकी रीतिका निर्देश कर—

'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।'

तथा—

'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।'

एवं

'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।'

—इत्यादि श्लोकोंद्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले तथा मुक्त योगी पुरुषोंके लक्षण कहे हैं। आगे चलकर श्रीभगवान्‌ने बतलाया है कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे योगी श्रेष्ठ होता है और अर्जुनको भी योगी बननेके लिये आज्ञा दी है। जैसे—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

परन्तु इसी अध्यायके अन्तमें श्रीभगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'सब योगियोंमें भी, जिसकी अन्तरात्मा मेरे स्वरूपमें स्थित है और जो श्रद्धासे मेरा अखण्ड भजन करता है, वही मेरी दृष्टिमें युक्ततम है।' सारांश यह है कि पूर्णतः सिद्ध योगीने भी यदि भगवान्‌में लीन होकर, श्रद्धावान् हो अन्तःकरणसे भगवद्भजन नहीं किया तो वह युक्ततम नहीं हो सकता। अन्तरात्माको भगवान्‌में लगाकर श्रद्धापूर्वक भजन करना ही भक्तितत्त्वका स्वरूप है। अतएव योगका भी अन्तर्भाव भक्तितत्त्वमें हो जाता है।

योगशास्त्रोंमें प्रणवोपासनाका बड़ा महत्त्व है। इसका भी विचार गीतामें किया गया है। श्रीभगवान् कहते हैं—

'वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।'

ॐकार भगवान्‌का ही स्वरूप है। परन्तु—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

'जो ॐकारका उच्चारण और भगवान्‌का निरन्तर स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है।' अतएव ॐकारके जपके साथ-साथ भगवान्‌का स्मरण आवश्यक है। क्योंकि प्रणव (ॐकार) वाचक है और भगवान् वाच्य हैं, अतएव वाचकके साथ वाच्यकी भावना परमावश्यक है। इस प्रकार गीतोक्त प्रणवोपासनाका भी भक्तितत्त्वमें ही समावेश हो जाता है।

अब ज्ञानतत्त्व (ज्ञानयोग) की आलोचना करनी है। गीतोक्त ज्ञानकी महिमा महान् है, सर्व उपनिषद्‌रूप गौओंको दुहकर श्रीभगवान् कृष्ण गोपालने इसे प्रस्तुत किया है। ज्ञान और विज्ञानके विषयको विशेषरूपसे भगवान्‌ने गीताके सातवें और नवें अध्यायोंमें समझाया है। इसके अतिरिक्त—

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।'

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

—इत्यादि चतुर्थ अध्यायगत वाक्योंद्वारा बतलाया है कि सब पापोंका नाश करनेवाला, और पवित्र बनानेवाला केवल ज्ञान ही है। अनिष्टकी निवृत्ति और इष्टकी प्राप्ति भी केवल

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्', 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'

—इत्यादि

क्षराक्षरयोग, गुणत्रयविचार, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार, पुराणपुरुषविचार आदि विषयोंका समावेश ज्ञानमें ही होता है। शोक और मोहकी निवृत्ति ज्ञानके विना नहीं होती। ज्ञानसाधनसे युक्त शोक-मोहातीत पुरुषके लक्षण स्थितप्रज्ञ, गुणातीत, ज्ञानी आदि शब्दोंके द्वारा गीतामें अनेक स्थलोंपर वर्णित हैं। ज्ञानी कृतकृत्य होता है, उसे फलविशेषकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे—

'नैव तस्य कृतेनार्थः', 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यादि।

परन्तु मैं कृतकृत्य हूँ, अब मुझे कुछ करना नहीं है—ऐसा कहनेवाला निष्क्रिय अवस्थामें स्थित ज्ञानी भगवान्‌को प्रिय नहीं होता, बल्कि ज्ञानका भक्तिमें पर्यवसान करके ही वह भगवत्प्रियपात्र बनता है। गीताके सातवें अध्यायमें आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—इस प्रकार चतुर्विध भक्तोंका भेद करते हुए श्रीभगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'

भक्तियुक्त होनेपर ही ज्ञानी भगवान्‌को प्रिय होता है, वह भगवान्‌का अङ्ग ही है; भगवान्‌को ही सर्वत्र देखनेवाला ज्ञानी महात्मा है, वह दुर्लभ होता है।

गीतामें अनेक स्थलोंपर ज्ञानी पुरुषोंका वर्णन मिलता है, किन्तु वहाँ 'वे मुझे प्रिय हैं' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग कहीं नहीं मिलता। जब द्वादश अध्यायमें ज्ञानी भक्तका लक्षण करते हैं, तब बार-बार कहते हैं—'वह भक्त मुझे प्रिय है।'

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

—इत्यादि

उपर्युक्त वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्‌ने ज्ञानके लक्षणोंका भक्तिके लक्षणोंमें समावेश करके तद्विशिष्ट पुरुषको अपना प्रिय बतलाया है। गीतोक्त भक्तियोग ज्ञानसे साहचर्य रखता है। ज्ञानके द्वारा अज्ञान, कामादि विकारोंका नाश होनेके पश्चात् ही निरतिशय भगवत्-प्रेमका उदय होता है। साधनरूपा गौणी भक्तिका ज्ञानमें, और ज्ञानका 'परा भक्ति'में समावेश होता है।

'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' तथा 'भक्त्या मामभिजानाति'

—इन श्लोकोंका यही अभिप्राय है। तथा—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

—इस श्लोकमें स्पष्टतः बतलाया है कि 'परा भक्ति'का अधिकारी ब्रह्मभूत, प्रसन्नात्मा ज्ञानी ही हो सकता है। ज्ञानके विना परा भक्तिका मनुष्य अधिकारी नहीं बनता और परा भक्तिमें लीन हुए विना ज्ञानकी पूर्णता नहीं होती। परमभक्त गोपिकाओंकी मधुर भक्तिमें भी भगवान्‌के माहात्म्यज्ञानकी विस्मृति नहीं होती। इसीलिये देवर्षि नारदने कहा है—

'न तु तत्र माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः।'

तथा—

'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'

—गोपिकाओंके इस उद्गारसे भी यही सिद्ध होता है। इसी दृष्टिसे गीतामें अनेक स्थलोंमें भक्तोंके लक्षणोंका प्रतिपादन किया गया है—

'महात्मानस्तु मां पार्थ', 'सततं कीर्तयन्तो माम्', 'अहं सर्वस्य प्रभवः', 'इति मत्वा भजन्ते माम्', 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः', 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।' 'स सर्वविद्भजति माम्'

—इत्यादि वाक्योंका भी यही रहस्य है। इन श्लोकोंमें आया हुआ 'भजति' क्रियापद भी परा भक्तिमें ज्ञानके अन्तर्भाव होनेका सूचक है। और यही गीताका परम सिद्धान्त है।

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'

तथा—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

—यही भक्तितत्त्वकी चरम सीमा है। सर्वधर्मोंका, कर्म, योग, तप, ज्ञानादि साधनोंका भक्तियोगमें समावेश होना ही सर्वधर्मत्यागका अभिप्राय है। शरणागतियोग गीताका परमतत्त्व है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका एकमात्र परम तत्त्व 'भक्तितत्त्व' ही है।

भगवद्गीताकी सार्वदेशिकता

(लेखक—डा० श्रीयुत मुहम्मद हाफ़िज़ सय्यद, एम्० ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)

सभी युगोंमें और प्रत्येक देशमें ऐसे अनेकों धर्मगुरु हो चुके हैं जिन्होंने अपना शान्ति, प्रेम, एकता तथा परस्पर सौमनस्यका सन्देश उसी जातिको दिया है जिस जातिमें उनका जन्म हुआ था और उसीकी दृष्टिसे दिया है। उनमेंसे कुछका तो यह भी दावा रहा है कि जीवोंका उद्धार उन्हींके द्वारा हो सकता है। ईसामसीहने कहा है—'मैं ही मार्ग हूँ, मैं ही जीवन हूँ और मैं ही सत्य हूँ।' (I am the way, the life and the truth.)

यद्यपि गीताका उपदेश महाभारत-युद्धकी एक घटना-विशेष है और महाभारतका युद्ध भारतवर्षमें हुआ था, किन्तु गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णने परमेश्वरभावसे उपदेश दिया और उनका उपदेश केवल आर्यजातिके लिये ही नहीं है बल्कि समस्त भूत-प्राणियोंके लिये है। अर्जुन अखिल मानवजातिके प्रतिनिधि हैं, इसीलिये उनका एक नाम 'नर' (मनुष्य) भी है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे महाभारतका युद्ध एक पारिवारिक संग्राम था; आध्यात्मिक दृष्टिसे वह जीवात्माका निम्न विकारोंके साथ संग्राम है, जो मानवदेहमें निरन्तर होता रहता है।

साधक अथवा मुमुक्षुके लिये यह आवश्यक होता है कि वह अपने सम्बन्धियों, माता-पिता तथा बाल-बच्चोंके मोहका तथा विषय-वासनाका परित्याग कर दे—जिनके साथ उसका जन्म-जन्मान्तरसे सङ्ग रहा है। साधकको जब इन वस्तुओंका परित्याग करनेको कहा जाता है तो जबतक उसे अपनी उच्चतर शक्तियोंका ज्ञान नहीं होता तबतक वह एक प्रकारकी शून्यताका अनुभव करता है।

यह हम सब लोगोंको विदित है कि हममेंसे प्रत्येकको भगवत्-साक्षात्कारके मार्गपर चलनेके लिये अपनी निम्न वृत्तियोंके साथ घोर संग्राम करना पड़ता है। अनेक जन्मोंसे हमने कई बाह्य रूपोंको ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ रक्खा है। निवृत्तिमार्गपर चलना आरम्भ करनेके पहले प्रवृत्तिमार्गमें रहकर हमने जो कुछ किया है और जो कुछ सफलता प्राप्त की है, उससे हमें आगे बढ़ना होगा—उसपर पानी फेर देना होगा। मनुष्यके विकासका यह सनातन क्रम है, जो एक स्थिर एवं अपरिवर्तनीय नियमके आधारपर स्थित है।

'The Voice of Silence' (नीरवताकी वाणी) नामक अंग्रेज़ी पुस्तकमें एक जगह लिखा है कि 'जड और चेतनका स्वरूपतः मेल नहीं हो सकता। इनमेंसे एकको हटना ही पड़ेगा।'* इसी प्रकार जो लोग आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं, उन्हें सभी भौतिक वासनाओंसे अपनेको मुक्त करना होगा।

भगवद्गीतामें जिस मोक्षमार्गका इतने स्पष्टरूपमें निर्देश किया गया है, वह हिन्दूधर्मकी अथवा अन्य किसी धर्मकी विशिष्ट सम्पत्ति नहीं है। वह वास्तवमें सार्वभौम है और आर्य अथवा अनार्य जातियोंके प्रत्येक धर्ममें इसका वर्णन मिलता है। महात्मा श्रीकृष्णप्रेमने लिखा है—'यही कारण है कि गीता यद्यपि निश्चित ही हिन्दुओंका धर्मग्रन्थ है—हिन्दूशास्त्रोंका मुकुटमणि है, किन्तु वह जगत्भरके जिज्ञासुओंका पथ-प्रदर्शक बननेके योग्य है।'

'यद्यपि जिस रूपमें इसका गीतामें निरूपण हुआ है वह विशुद्ध भारतीय है, किन्तु वास्तवमें यह मार्ग न तो प्राच्य है, न पाश्चात्त्य। इसका सम्बन्ध किसी जाति या धर्मसे नहीं है, सारे धर्मोंकी मूल भित्ति यही है।'

आत्मा विना किसी भेद-भावके सबके हृदयमें निवास करता है, इसीलिये यह मार्ग सबके लिये खुला है—इसमें जाति, वर्ण अथवा स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है। वैदिक मार्ग कुछ थोड़े-से विद्यासम्पन्न एवं उच्च वर्णके अधिकारी पुरुषोंके लिये ही था। हिन्दुओंके सामाजिक नियम स्त्री और शूद्रके लिये वेदाध्ययनकी आज्ञा नहीं देते।

किन्तु ईश्वर-साक्षात्कारके इस मार्गमें आत्मोत्सर्ग तथा आत्मसमर्पण ही अनिवार्यरूपसे अपेक्षित है। इसमें न तो वेदाध्ययनकी आवश्यकता है, न कर्मकाण्डकी; और यह मार्ग ऊँच-नीच, भले-बुरे, पापी-धर्मात्मा—सबके लिये खुला है।

इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(९। ३०)

---

* The self of matter and the self of spirit cannot meet, one of the twain must go.

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझे भजता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।'

इस जगत्में धार्मिक विचारोंका जो विकास हुआ है, उसके इतिहासमें हमें कई विशेष शक्तिसम्पन्न धर्मगुरुओंका उल्लेख मिलता है। उनमेंसे कुछने तो अपनेको ईश्वरके रूपमें प्रकट किया है और कुछने अपनेको ईश्वरका निकट सम्बन्धी बतलाया है; परन्तु उनमेंसे किसीका उपदेश भी ईश्वरके अनुरूप अर्थात् राग-द्वेष एवं भेद-भावसे शून्य नहीं है। हम सभी वाणीसे तो इस बातको स्वीकार करते हैं कि ईश्वर हम सबके परम पिता हैं, किन्तु फिर भी कई धर्मग्रन्थोंमें यह बात पायी जाती है कि भगवान् अपने अङ्गीकृत जनोंपर ही अनुग्रह करते हैं और जो जीव उनके अभिमत सम्प्रदायके सिद्धान्तको नहीं मानते उन्हें सदाके लिये नरकमें ढकेल देते हैं। यत्र-तत्र यह दुःखद दृश्य देखनेमें आता है कि एक धर्म दूसरे धर्मसे घृणा करता है। धार्मिक प्रतिस्पर्द्धा और मतभेदका सर्वत्र दौर-दौरा है।

एक धर्म अपनेको दूसरे धर्मसे बड़ा कहता है और इस बातका दावा करता है कि ईश्वरीय सत्यका तो उसीने ठेका ले रक्खा है; दूसरे धर्म सब गलत मार्गपर ले जानेवाले हैं, अतएव उपेक्षणीय हैं। धार्मिक कलहोंने मानवजातिके इतिहासको कलङ्कित कर दिया है।

हम देखते हैं कि मानवजातिके समस्त महान् धर्मगुरुओंमें अकेले श्रीकृष्णका ही उपदेश अत्यन्त उदार एवं व्यापक है। उनके अमूल्य वचन हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ४। ११)

'जो जिस भावसे मेरी शरणमें आते हैं, मैं उसी भावसे उन्हें अङ्गीकार करता हूँ। क्योंकि मनुष्य सब ओरसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।'

गीतामें सर्वत्र भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको सनातन अन्तर्यामी पुरुष कहा है। परम तत्त्वके रूपमें वे समस्त भूत-प्राणियोंके हृदयमें निवास करते हैं। वे अपने भक्तोंको स्पष्ट आज्ञा देते हैं कि तुम मुझे सर्वत्र देखो और सबको मुझमें देखो (६। ३०)।

वे ही हमारे अस्तित्वके कारण हैं; उन्हींसे हम निकले हैं और उन्हींमें हम लीन हो जायँगे। श्रीकृष्ण कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७। ७)

'हे अर्जुन! मुझसे ऊँची वस्तु कोई भी नहीं है। जिस प्रकार सूतके मनिये सूतमें गुँथे हुए होते हैं, उसी प्रकार यह सब कुछ मुझमें गुँथा है।

भगवान् फिर कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

(१०। ८)

'मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूँ, मुझसे ही सारा जगत् चेष्टा करता है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं; उनके उपदेश अत्यन्त उदार, वास्तवमें सार्वभौम एवं व्यापक हैं। जड-चेतन समस्त प्राणियोंके उत्पन्न करनेवाले होनेसे वे सबके भीतर निवास करते हैं और सबसे प्रेम करते हैं। उनके उपदेश विना किसी भेद-भावके सबके लिये प्रयोजनीय हैं। भगवद्गीतापर बाहरवालोंका तथा अहिन्दुओंका उतना ही अधिकार है जितना किसी भारतीय अथवा हिन्दू कहलानेवालेका है!

हमारे सनातन धर्मावलम्बी भाई यदि भगवद्गीताके इस सार्वभौम सिद्धान्तको पूर्णरूपसे हृदयङ्गम कर लें तो हमें निश्चय है कि वे लोग इस अन्धकारके युगमें जगत्भरको प्रकाश दे सकेंगे।



गीतामें सर्वधर्मतत्त्व

श्रीकृष्णके उपदेशमें शास्त्रकथित प्रायः सभी धार्मिक विषयोंका तत्त्व आ गया है। उसकी भाषा इतनी गम्भीर एवं उत्कृष्ट है कि जिससे उसका भगवद्गीता अथवा ईश्वरीय संगीतके नामसे प्रसिद्ध होना उचित ही है।

—जस्टिस के० टी० तैलंग

मैंने गीतासे क्या पाया ?

(लेखक--प्रिंसिपल आई० जे० एस्० तारापोरवाला, बी० ए०, पी-एच्० डी०)

बचपनमें मेरे पिताजी प्रायः मुझे संस्कृत पढ़नेके लिये कहा करते । वे कहते कि 'संस्कृत पढ़ लेनेपर तुम गीता-जैसे ग्रन्थका रसास्वादन कर सकोगे ।' स्व० पिताजीकी इस कृपाका स्मरण कर मैं गद्गद हो उठता हूँ और मैं उन्हें अपना आध्यात्मिक पथप्रदर्शक मानता हूँ । मेरे पिताजी गीताको 'मानवमात्रकी बाइबिल' कहा करते थे और अब अपने जीवनमें, अवस्था तथा अनुभवमें मैं जितना ही आगे बढ़ता जा रहा हूँ, उनके कथनकी सत्यताको अधिकाधिक समझता जा रहा हूँ ।

पहली बात जो गीताके सम्बन्धमें कही जा सकती है और जो सबका ध्यान आकृष्ट करती है, वह है भाषाकी सादगी । छन्द, स्वर, भाषा आदिकी क्लिष्टताका कहीं नाम भी नहीं है, थकानेवाले लंबे-लंबे समास नहीं हैं और न क्रियाओंके विलक्षण रूप ही हैं । छन्दोंका प्रवाह सरल, स्निग्ध और स्वाभाविक है और कहीं भी ऐसे कठिन शब्दोंका प्रयोग नहीं हुआ है जिन्हें समझनेके लिये माथापची करनी पड़े । मानवजातिके समस्त उत्तमोत्तम धर्मग्रन्थोंकी यही विशेषता है । जनसाधारणके लिये जनसाधारणकी भाषामें ही भगवान्ने अपनी मधुर वाणी सुनायी है । भाषा सरल है, भाव गम्भीर । भाव इतने गम्भीर हैं कि हम जब-जब जितनी बार भी इसे पढ़ते हैं एक नया ही अर्थ, एक नया ही भाव खुलता है । धर्मके समस्त सनातन शास्त्रोंकी यही बात है--चाहे वह गीता हो, बाइबिल हो, कुरान हो या 'गाथा' हो ।

हाँ, गीताके सम्बन्धमें मैं कह यह रहा था कि अपने स्कूल तथा कालेज-जीवनमें गीताका मेरा सारा ज्ञान कुछ यहाँ-वहाँके श्लोकोंमें ही सीमित था--विशेषतः दसवें और पन्द्रहवें अध्यायके; क्योंकि मेरे पिताजीको ये ही अध्याय विशेष प्रिय थे । मेरे योरप-प्रवासके समय गीताका मेरा अध्ययन अधिकाधिक गम्भीर और आत्मीयतापूर्ण होता गया । बंबईमें एक बार मैंने एक मराठी महिलाको नवें अध्यायका सुन्दर सुमधुर पाठ करते सुना । तबसे वह मधुर स्वर मेरे कानोंमें, हृदयमें गूँजता रहा है और सच तो यह है कि गीताके साथ मेरे घनिष्ठ सम्बन्धका श्रीगणेश वहींसे हुआ । तबसे गीता मेरे जीवनका एक अङ्ग बन गयी, मेरे अध्यात्म-दर्शनका आधार बन गयी और मेरे सारे कार्योंका सञ्चालन गीताके प्रकाशमें ही होने लगा । मेरा यह विश्वास है कि मेरे लिये गीताके उपदेश कभी भी समाप्त नहीं हो सकते; क्योंकि उसमें चिरनवीनता है--न केवल मेरे इसी जीवनके लिये अपितु भावी अनन्त जीवनोंके लिये भी ।

जैसे-जैसे मैं सयाना होता गया, गीताके गम्भीर रहस्य क्रमशः मेरे सामने खुलने लगे । संस्कृत पढ़कर और गीताकी सरल भाषाको बिना किसी मानसिक परिश्रमके अच्छी तरह समझते हुए अब मैं उसकी गहराईमें उतरने लगा । गीतामें मुझे जीवनकी वह व्याख्या, जीवनकी वह दार्शनिक मीमांसा मिली जिसने मुझे पूर्णतः परितुष्ट कर दिया और जिसने मेरे जीवनके विविध परिवर्तनों तथा हेर-फेरमें बराबर एक-सा साथ दिया है और कभी मुझे छोड़ दिया हो ऐसा स्मरण नहीं आता । गीताके सहारे मैं भगवान्की लोक-मङ्गल कामनाको, यत्किञ्चित् ही सही, हृदयङ्गम कर सका हूँ और जब-जब, जितनी बार भी मैं गीताके एक श्लोक, एक अध्यायका पाठ करता हूँ, उसमें एक अत्यन्त नवीन, एक अत्यन्त गम्भीर रहस्यका उद्घाटन होता है । गीता चिरनवीन है । समस्त आप्तग्रन्थोंकी यही मर्म-कथा है । इतना ही नहीं, यह चिरनवीनता, यह सनातन सत्यता प्रत्येक व्यक्तिके लिये, एक-एक प्राणीके लिये है । गीताका सन्देश, गीताका उपदेश प्रत्येक व्यक्तिके लिये है--उसका मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास और दृष्टिकोण चाहे जो हो, चाहे जैसा हो । यही कारण है कि दर्शनके भिन्न-भिन्न परस्परविरोधी सम्प्रदाय अपने-अपने मतके समर्थनमें गीताका आश्रय लेते हैं और उसके श्लोक उद्धृत करते हैं । मैं तो जहाँतक समझता हूँ, गीताकी विभिन्न टीकाएँ, गीताकी सार्वभौम मान्यता, इसकी चिरनवीनताके ही प्रमाण हैं । गीतापर मेरी अपनी भी टीका है, जिसे मैंने कागजपर नहीं उतारा है, वरं जिसे मैं अपने जीवनमें उतार रहा हूँ । बात तो यह है कि गीताका अर्थ और भाव क्रमशः, जैसे-जैसे हमें जीवनमें अनुभव प्राप्त होने लगते हैं वैसे-वैसे बढ़ता जाता है; उसमें हेर-फेर भी होता रहता है और अधिकाधिक गहरा होता जाता है ।

गीताने सबसे अधिक आश्वासन मुझे तब दिया जब मैं अपने धर्मगुरु ईरानके महर्षि भगवान् ज़रथुस्त्रकी दिव्य वाणीका अनुशीलन करने लगा । मेरी पहली कठिनाई प्राचीन ईरानकी भाषा--'अवस्ता' को लेकर थी । यहाँ भी संस्कृतने

बड़ी सहायता पहुँचायी और संस्कृत तथा अवस्ता इतनी निकटकी भाषाएँ हैं जितनी मैथिली और बंगाली हैं। भाषाकी कठिनाई हल हो जानेपर मैं ज़रथुस्त्रकी गाथाओंकी गहराईमें उतरनेकी चेष्टा करने लगा। 'गाथा' और 'गीता' में कितना साम्य, कितनी एकता है! गीता और गाथा—इन दोनों ही शब्दोंका मूल एक ही है। गीता मेरे जीवनका प्रधान अङ्ग बन गयी थी और जब मैंने यह जाना कि हमारी जातीय परम्परासे प्राप्त धर्मशास्त्रोंका आदेश ठीक वही है जो गीताका है, तब तो मेरे आनन्दका ठिकाना न रहा। वस्तुतः गाथाके प्रत्येक छन्दके समान भाववाला श्लोक मैं गीतासे उद्धृत कर सकता था। तब मैंने अनुभव किया और उस बातका अनुभव किया जिसे पहले कभी भी अनुभव नहीं किया था कि चाहे भाषाका जो भी परिच्छेद हो, भगवान्‌की वाणी सर्वत्र एक ही है। दुर्भाग्यकी बात है कि सन्देशवाहकको तो हम याद रक्खे रहे, परन्तु उनका सन्देश भुला बैठे। महत्त्वकी वस्तु तो सन्देश ही है। उपदेशककी महिमा इस बातमें है कि वह जो कुछ उपदेश करता है वैसा ही आचरण भी करता है, कथनी और करनीमें एक है। कितना सङ्कीर्ण तथा सङ्कुचित है हमारा दृष्टिकोण कि हम अपनेको कहते तो हैं कृष्णका, ईसाका, ज़रथुस्त्रका और बुद्धका अनुयायी; परन्तु हम यह भुला बैठे हैं कि ये सभी एक थे और सही अर्थमें एक थे और अज्ञानवश ही हम उनके एक-एक नामपर लड़ते फिरते हैं।

गीताने ही सर्वप्रथम मेरे जीवनमें एक दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान किया। बादमें जब मैं अपने धर्मग्रन्थोंकी ओर मुड़ा तो मुझे वहाँ भी गीताकी ही दार्शनिकता, वही गम्भीरता, वही चिरनवीनता मिली। इस प्रकार गीताने ही मेरी दृष्टि खोलकर मुझे यह बतला दिया कि ज़रथुस्त्रका सन्देश भी वही है जिसे हम पहलेसे पुनीत मानते आये थे अर्थात् जिसे हमने गीतामें प्राप्त किया था और इस सामञ्जस्य एवं एकताके कारण मेरा हृदय आनन्दसे भर गया। गीताने मुझे मेरे अपने विश्वासमें अधिक दृढ़ कर दिया और सबसे अनोखी बात तो यह है कि गीताके द्वारा ही सब धर्मोंकी एकता तथा आत्मीयताका रसास्वादन मैंने किया है। यह जान लेनेपर जीवनमें एक ऐसा आनन्द, एक ऐसी निश्चिन्तता आ जाती है जिसका बखान हो नहीं सकता और जिससे बढ़कर आनन्द तथा निश्चिन्तताका कोई साधन है ही नहीं।

सर्वशास्त्रमयी गीता

(लेखक—प्रोफेसर फिरोज़ कावसजी दावर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

भगवद्गीतामें सभी धर्मोंके मूल तत्त्वोंका बहुत ही सुन्दर एवं हृदयग्राही विवेचन हुआ है। गीता किसी भी धर्मके किसी भी सिद्धान्तका खण्डन-मण्डन नहीं करती और न उसकी आलोचना ही करती है। भगवान्‌के पथमें चलनेवाले साधकके लिये साधनाक्रममें जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता है, उनका निदर्शन गीतामें जैसा हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं हुआ भी नहीं।

मैं संस्कृत बहुत नहीं जानता, परन्तु इस कारण गीताके रसास्वादनमें कोई बाधा पड़ती हो ऐसी बात नहीं है। गीतामें भाषाका सौन्दर्य और लालित्य तो जो कुछ है सो है ही, परन्तु गीताकी महिमा इसकी भाषाके सौन्दर्य या प्रसाद-गुणके कारण ही नहीं है। महिमा तो इस बातमें है कि केवल सात सौ श्लोकोंमें गीताने समस्त मानव-जातिकी धर्मसाधनाका मार्ग निश्चित कर दिया है। मानवमात्रकी वह अध्यात्म-साधना क्या है और उसका निरूपण गीताने किस प्रकार किया है, इसी विषयपर यहाँ यत्किञ्चित् विचार-विमर्श करना है।

वैदिककालमें यज्ञ-यागोंकी बड़ी धूम रही और कर्मकाण्डको लेकर इतना सूक्ष्म और गहन विवेचन हुआ कि उसकी अतिशयतासे ऊबकर भगवान् बुद्धने उनकी दिशा ही पलट दी। गीता यज्ञ-यागोंका खण्डन नहीं करती, उन्हें एक और ही रूप देती है और कितना सुन्दर है वह रूप! गीता कहती है कि यह जीवन ही एक यज्ञ है; आदर्शकी वेदीपर, प्रभुकी इच्छापर सर्वात्मसमर्पण, सम्पूर्ण आत्म-बलिदान, निःशेष हृदय-दान ही मनुष्यके लिये सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। जगत्‌के कल्याणके लिये, जीवमात्रको सुख पहुँचानेके लिये, अपना कर्तव्य-कर्म—वह छोटा हो या बड़ा—करते जाना, अपने एक-एक क्षणको भगवत्कार्यमें निवेदित करते जाना भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये सबसे बढ़कर उत्तम साधन है। इसलिये आसक्तिको छोड़कर, फलकी आशासे मुँह मोड़कर भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते रहना ही भगवान्‌को प्रसन्न करनेका सबसे उत्तम साधन अथवा यज्ञ है। वेदोक्त यज्ञ तो किन्हीं विशेष महलोंमें ही किये जा सकते थे, परन्तु गीतोक्त यज्ञ हम

अपने जीवनके एक-एक क्षणमें कर सकते हैं और गीताके यज्ञमें फलाशाका कहीं नाम नहीं। इस प्रकार गीताने वैदिक यज्ञोंको एक अत्यन्त हृदयग्राही एवं आध्यात्मिक रूप दे दिया।

यह भूलनेकी बात नहीं है कि उपनिषद् ही हिन्दूधर्मके गौरव-स्तम्भ हैं और मानवमात्रकी चेतनाको 'तत्त्वमसि'ने जितना जगाया है उतना संसारकी किसी भी बातने नहीं— इसे कौन अस्वीकार करेगा? 'तत्त्वमसि'की सरल, सङ्क्षिप्त परिभाषा यह है कि आत्मा और परमात्मामें कोई भेद नहीं है और जो कुछ, जितना कुछ भेद दीख रहा है, उसका मुख्य कारण है हमारा अज्ञान। अज्ञानका आवरण हटा नहीं कि इस परमसत्यका साक्षात्कार हमारे हृदय-देशमें ही हो जाता है और तब अपने-आप सारी ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं, सारे संशय मिट जाते हैं। उसके अनन्तर जगत्के कण-कणमें हम प्रभुका साक्षात् दर्शन प्राप्त करते हैं—सब ठौर उसी नूरका जलवा—पशु-पक्षीमें, कीट-पतङ्गमें, जलमें, थलमें, अपने-आपमें, जहाँ भी दृष्टि जाती है सर्वत्र श्रीवासुदेव-ही-वासुदेवके दर्शन होते हैं। हमारे आहारमें, विहारमें, जलमें, स्थलमें, शयनमें, जागरणमें सर्वत्र वही भरे हैं। हम वायुमें उन्हींका श्वास लेते हैं, प्रकाशमें उन्हींसे अपने प्राणोंका पोषण करते हैं और तब हमारे सारे कार्य बस, भगवत्पूजन ही होते हैं—सर्वत्र भगवद्दर्शन, सर्वदा भगवत्पूजन! इससे बढ़कर मानवताका आदर्श हो ही क्या सकता है?

वही सर्वव्यापक, सर्वशासक प्रभु जीव-जीवकी हृदय-गुफामें बैठा है और ऐसा छिप रहा है कि कहीं कुछ पता ही नहीं चलता। परन्तु जिसे कुछ भी उस बेनिशाँका पता चल गया, जिसने उसके चरणोंसे निकली हुई हिम-किरणधाराका एक आलोकमात्र भी देख लिया और जान गया कि इन्हीं किरणोंसे जगत्का कोना-कोना ओतप्रोत है—कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ ये चरणयुगल न हों, कोई भी हृदय नहीं जो इन दिव्य किरणोंमें नहा न रहा हो—वह भला संसारके किसी भी व्यक्तिसे, किसी भी प्राणीसे वैर कैसे कर सकता है? हृदयको तोष और शान्ति देनेवाली इससे बढ़कर संसारमें और कोई बात हो सकती है? इतनी-सी बातको ठीक-ठीक जान लेनेपर क्या यह इच्छा नहीं होती कि सारे संसारको मैं अपने हृदयमें छिपा लूँ, चर-अचर सबके लिये अपना हृदय बिछा दूँ? गीतामें आदिसे अन्ततक यही अमृत लबालब भरा है। 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'— मुझमें सबको, सबमें मुझको, जो देख लेता है, फिर उसके लिये देखने और जाननेकी बात रह ही क्या जाती है?

कुछ ईसाई मित्र यह कहते सुने जाते हैं कि गीतामें बन्धु-बान्धवोंके प्रति प्रेमकी चर्चा कहीं नहीं आयी है, इसलिये गीता बाइबिलकी बराबरी नहीं कर सकती। माना मैंने कि गीता इस प्रकारके प्रेमकी चर्चा विस्तारसे नहीं करती; क्योंकि वह जीवोंकी विविधता नहीं मानती, वह तो प्रेमाद्वैतके मतका प्रतिपादन करती है, वह घटघटव्यापक हरिकी सत्ताका सर्वत्र दर्शन कर सर्वदा भगवद्भावसे आचरण करनेका उपदेश करती है। स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें, गीता हममेंसे प्रत्येकसे यही कहती है—'तुम आत्मा हो, तुम्हारी आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक आत्मा तुम्हारी आत्मा है, प्रत्येक शरीर तुम्हारा शरीर। किसीको भी चोट पहुँचाकर तुम अपने ही शरीर, अपनी ही आत्माको चोट पहुँचा रहे हो; किसीको प्यार कर तुम अपने-आपको ही प्यार कर रहे हो।'

परन्तु एक बात तो ध्यानमें रहे ही और वह यह कि गीता कर्मयोगकी मार्गदर्शिका है और यह अर्जुन-जैसे बल-पराक्रमशाली योद्धाको युद्धके बीचोंबीच सुनायी गयी है। अर्जुन जन्मसे और कर्मसे क्षत्रिय है। वह मोहवश अपने क्षत्रियत्वको भुला बैठा है। भगवान् उसी क्षत्रियत्वको जगानेके लिये उसे ललकार रहे हैं 'क्यों कायर नपुंसककी तरह युद्धसे विमुख हो रहे हो? और इन स्वजनोंको मारनेका मोह? अरे! तुम क्या यह नहीं जानते कि एक ही परमात्माके सभी अङ्ग हैं, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता, न यह जन्मता है, न मरता है; फिर व्यर्थकी यह कायरता क्यों? जो कुछ होनेको है वह तो हो चुका है, तुम तो केवल निमित्त बन जाओ।' मोह नष्ट हो जानेपर अर्जुनने भगवान्की इस वाणीका मर्म समझा।

सभी महान् धर्मोंने अध्यात्मके दो मार्ग बतलाये हैं, और वे हैं—प्रवृत्तिमार्ग तथा निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्ग विज्ञान, संस्कृति, उन्नति, विकासका मार्ग है और इसके एक बहुत बड़े उन्नायक हैं—महात्मा ज़रथुस्त्र। निवृत्तिमार्गमें शान्ति, त्याग, आत्मनिवेदन, वैराग्य मुख्य है और इसका सुन्दर विकास बौद्धधर्म, जैनधर्म तथा मध्यकालीन ईसाईधर्ममें हुआ। दोनों ही मार्गोंसे किसी एकपर, चाहे वह प्रवृत्तिका हो या निवृत्तिका, साधक सचाई और ईमानदारीसे चलता रहे तो आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। और सच पूछिये तो दोनों ही आवश्यक हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे अन्धकार और प्रकाश, कार्य और विश्राम। दोनोंमें एक ही सत्य प्रतिबिम्बित हो रहा है और देशकाल तथा परिस्थितियोंके अनुसार

भिन्न-भिन्न देशों और व्यक्तियोंके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग निहित है। हिन्दूधर्म विशाल एवं अगाध समुद्रकी तरह है और इसमें प्रवृत्ति तथा निवृत्तिकी धाराएँ मिलकर एक हो गयी हैं। इस समन्वयका सबसे सुन्दर प्रतिपादन गीताने किया है और इसकी एक-एक बातसे ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डकी एकता सिद्ध होती है। गीताके प्रथम छः अध्याय कर्मयोगपरक, दूसरे छः अध्याय भक्तियोगपरक और तीसरे छः अध्याय ज्ञानयोगपरक हैं; कर्ममें भक्ति और ज्ञानका अभाव नहीं है; भक्तिमें कर्म और ज्ञान अनुस्यूत हैं और ज्ञानमें कर्म तथा भक्ति समवेत हैं। कर्मको ज्ञानकी आगमें तपाकर भक्तिपूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन कर देना ही गीताका अभीष्ट है। गीतामें वस्तुतः उपनिषद् और भागवतका मधुर योग हो गया है। उपनिषद्‌का ज्ञान और भागवतकी भक्तिका सम्पादन कर जीवनके अन्तिम क्षणतक मनोयोगपूर्वक कर्म करते जाना चाहिये, संक्षेपमें यही गीताका उपदेश है।

गीता बुद्धिवादियों या तार्किकोंके शुष्क बौद्धिक मल्ल-युद्धका साधन नहीं है, वह तो योगमार्गमें प्रवृत्त साधकके लिये पथप्रदीप है। 'योग' से पतञ्जलिका अष्टाङ्गयोग नहीं समझ लेना चाहिये। योगका सरल और सीधा अर्थ है जीवका प्रभु-के साथ युक्त हो जाना, बिछुड़े हुओंका मिलना। पतञ्जलि[ने] कर्मको गौण स्थान प्रदान किया है, परन्तु गीता कर्मका क[भी] भी तिरस्कार नहीं करती; वह सदा योगयुक्त होकर कर्म कर[ते] रहनेको प्रोत्साहन देती है। वह कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्म-योगपर ही जोर देती है और उसकी कर्मयोगकी परिभाषा भी कितनी सुन्दर है—'योगः कर्मसु कौशलम्।'

वर्तमान सभ्यता (इसे 'सभ्यता' भी कैसे कहा जाय ?) आँधीकी तरह तूमार बाँधे चल रही है। नित्य नयी-नयी बातें नित्य नये-नये अनुसन्धान। ऐसा प्रतीत होता है मानो धर्मके गढ़को गिरानेपर ही विज्ञान तुला हुआ है। परन्तु जहाँ एक ओर यह भाव है वहीं यह भी दीखता है कि अन्ततोगत्वा विज्ञान धर्मका बाधक न होकर साधक ही होगा और धर्मोन्मादके स्थानपर वास्तविक विश्वधर्मकी प्राणप्रतिष्ठा होगी, जिसमें सब धर्म समानरूपसे योग देंगे। उस समय, मानवमात्रके लिये जब एक अखिल विश्वधर्मकी प्राणप्रतिष्ठा होने लगेगी तब हमें एकमात्र गीताका ही सहारा रह जायगा; क्योंकि यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि विश्वधर्मके मौलिक प्राण-तत्त्वोंका जितना सुन्दर समावेश गीतामें है उतना किसी भी अन्य धर्मके किसी भी धर्मग्रन्थमें नहीं है।

विश्वरूपकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

श्रीमद्भगवद्गीता एक अनुपम ग्रन्थ है। इस छोटे-से ग्रन्थमें मानवधर्मका एक महान् तत्त्व स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीताका अवतार जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये हुआ है, वह सिद्धान्त है—'विश्व-रूप-दर्शन।'

श्रीमद्भगवद्गीताके पूर्व वेदोंमें भी विश्वरूपी परमात्माका वर्णन किया गया था, उपनिषदों और पुराणोंमें भी इस सिद्धान्तकी विशद व्याख्या हुई थी; परन्तु जितना स्पष्टरूपसे श्रीमद्भगवद्गीतामें इस विषयका प्रतिपादन हुआ है, उतना स्पष्टरूपसे अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ था। इसी कारण आधुनिक धर्मग्रन्थोंमें श्रीमद्भगवद्गीताका विशेष महत्त्व है।

विश्वरूपका दर्शन करो—

कुछ लोगोंका विश्वास है कि परमेश्वर तीसरे और सातवें आसमानमें रहता है; कुछ लोग समझते हैं कि वह मेघोंमें रहकर विश्वके क्रिया-कलापोंका निरीक्षण करता है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक है और उसका दर्शन प्रायः असम्भव है। दूसरे लोग कहते हैं कि परमात्मा श्रीराम-कृष्णके रूपमें अवतीर्ण हुए थे और वैसा अवतार आजकल नहीं हो सकता; इसलिये अवतारी पुरुषोंकी मूर्तिकी उपासना करनी चाहिये—इत्यादि ईश्वरके विषयमें अनेक मतवाद प्रचलित हैं।

भगवद्गीताने स्पष्ट शब्दोंमें असन्दिग्ध रीतिसे कह दिया है कि प्रभुका रूप 'विश्वरूप' है, अतः प्रभुका इस विश्व-रूपमें साक्षात्कार करो और अपने जीवनको सार्थक करनेके लिये विश्वरूपकी उपासना करो।

अब विचारना यह है कि विश्वरूप है क्या वस्तु। इस दीखनेवाले चराचर विश्वका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जो कुछ भी है, वही अखण्डरूपमें 'विश्वरूप' है। वही प्रभुका अखण्ड स्वरूप है, प्रत्यक्ष रूप है। पाठको, जिसे आप आँखें खोलकर देखते हैं, जो आपके चारों ओर है, जिसमें आप स्वयं सम्मिलित हैं, आपके विपक्षी और सपक्षी सभी सम्मिलित हैं, जिसमें सर्वकालकी समस्त घटनाओंका और वस्तुओंका समावेश होता

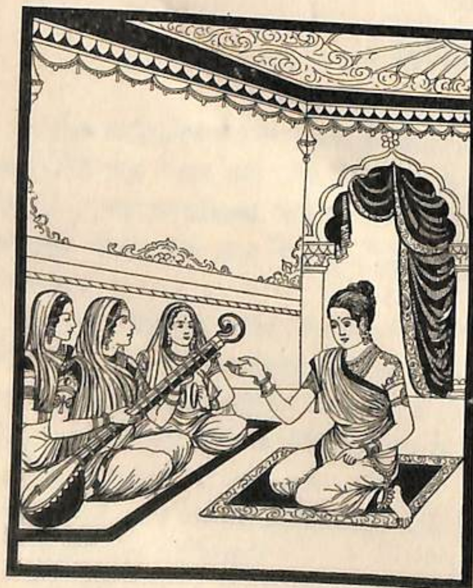
अर्जुन



गन्धर्वोंसे युद्ध



गन्धर्वोंसे मेल



उत्तराको सङ्गीत-शिक्षा



उत्तराको आभूषणादि दान

है, वही विश्वरूपी परमेश्वर मनुष्यका उपास्यदेव है। इस प्रकार ईश्वर आपके लिये प्रत्यक्ष है, केवल उसके साक्षात्कार करनेकी चेष्टा करना आपका कर्त्तव्य है।

ईश्वरका दर्शन—

श्रीमद्भगवद्गीताने इस प्रकारके परमेश्वरका वर्णन किया है और उसका प्रत्यक्ष दर्शन कराया है। कोई भी अन्य ग्रन्थ आजतक परमेश्वरको इतना समीप नहीं ला सका था और न इतने स्पष्टरूपसे किसीने उसका साक्षात्कार ही कराया था। हम यहाँ विश्वरूप परमेश्वरको सिद्ध करनेके लिये शास्त्रार्थके प्रपञ्चमें नहीं पड़ना चाहते। श्रीमद्भगवद्गीताका ग्यारहवाँ अध्याय 'विश्वरूपदर्शन' है और वहाँ इसका बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया गया है तथा यही हमारे लिये पर्याप्त है।

जिस प्रकार अर्जुन अपने सखा श्रीकृष्णमें परमात्माका साक्षात्कार करते थे और हनुमान् अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रमें भगवान्‌का दर्शन करते थे तथा उनको अखिल विश्व ईश्वररूप दिखलायी देता था, उसी प्रकार सबको दीखना चाहिये। अर्जुनको अपने समयका अखिल विश्व तथा समरभूमिमें इकट्ठी हुई उभय पक्षकी सेनाएँ, सब कुछ परमेश्वरके विश्वरूपमें प्रत्यक्ष सम्मिलित दिखलायी दी थीं। उसी प्रकार हम सबको भी दीखना चाहिये। प्रयत्न करनेपर इस प्रकारका दर्शन सर्वथा सम्भव है, इसमें असम्भव कुछ भी नहीं है। समस्त शास्त्र किसी-न-किसी रूपमें इस विषयका प्रतिपादन करते हैं, परन्तु श्रीमद्भगवद्गीताने इसे स्पष्ट कर दिया है। इसलिये भगवद्गीताकी इसमें विशेषता है। सारांश यह है कि आपके समेत अखिल विश्वके रूपवाला परमेश्वर है और वही आपका उपास्यदेव है।

अनन्य बनो—

इस विश्वरूप ईश्वरमें श्रद्धा करनेसे आप उससे अनन्य (न+अन्य=जो अपनेसे अन्य नहीं) हो जाते हैं। इस अनन्यत्वको विविध प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह परमेश्वरका स्वरूप है।

'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च'। (गीता ११।५४)

(१) ईश्वरको जानना, (२) ईश्वरको देखना और (३) ईश्वरमें प्रवेश करना—ये तीनों इस विश्वरूप ईश्वरमें ही शक्य हैं। यदि आपने एक बार ठीक-ठीक अनुभव कर लिया कि विश्वरूप ही ईश्वर है, तब तो उसको देखना और उसमें अपना प्रवेश हो चुका है—इसका अनुभव करना सहज-साध्य हो जाता है। क्या आप इस विश्वके रूपको नहीं देखते? क्या उसमें आपका प्रवेश नहीं है और क्या आपको यह रूप प्रत्यक्ष नहीं है? प्रभुने गीतामें कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(९।११)

'मनुष्यशरीरका आश्रय लिये हुए मुझ ईश्वरका मूढ मनुष्य अपमान करते हैं, क्योंकि वे मुझ परमेश्वरके परम भावको नहीं जानते।' कितनी स्पष्ट बात है कि मनुष्योंके शरीरोंका आश्रय ईश्वरने किया है, परन्तु मनुष्य अपने व्यवहारमें मनुष्योंके शरीरोंमें आश्रित ईश्वरका अपमान करते हैं।

यह बात मनुष्य अपने व्यवहारमें देख सकता है। साहूकार ऋणी मनुष्यके साथ कैसा व्यवहार करता है? मालिक मजदूरके साथ और राजा प्रजाके साथ कैसा व्यवहार कर रहे हैं? क्या इस व्यवहारमें तनिक भी इस बातका ध्यान रक्खा जाता है कि मनुष्यके शरीरमें ईश्वर स्थित है या विश्वके रूपमें ईश्वर ही प्रत्यक्ष हो रहा है? यदि यह विचार मनमें हो कि सामने आनेवाला मनुष्य परमेश्वरका ही रूप है, तो मनुष्यके व्यवहारमें कितना सुधार हो सकता है? ऐसी अवस्थामें कोई छल-कपट कैसे कर सकता है? आज एक जाति दूसरी जातिको नष्ट करनेपर तुली हुई है! क्या विश्वरूप ईश्वरमें सब जातियोंका समावेश नहीं है? क्या कोई जाति ईश्वरसे पृथक् हो सकती है? परन्तु लोग यह समझते नहीं कि समस्त विश्व एक ईश्वरका ही रूप है, इसी कारण व्यवहारमें इतनी गड़बड़ी हो रही है!

ईश्वरकी पूजा—

इस विश्वरूप ईश्वरकी पूजा कैसे करनी चाहिये, इसके उत्तरमें प्रभु कहते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(गीता १८।४६)

'अपने-अपने कर्मोंके द्वारा इस ईश्वरकी पूजा करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।' अपना-अपना कर्म—ब्राह्मणका ज्ञान, क्षत्रियका शौर्य, वैश्यका कृषि-गोरक्षा और शूद्रका परिचर्या तथा कारीगरी स्वकर्म हैं। सब मनुष्य इस

प्रकार अपने-अपने कर्मोंसे ईश्वरकी पूजा और उपासना करें और अपने जन्मको सफल बनावें। यह गीताका उपासना-मार्ग है।

ब्राह्मण ज्ञानका प्रसार करे, कोई विद्या-ग्रहण करने आवे तो उसे निष्कपटभावसे सत्य ज्ञान प्रदान करे, क्षत्रिय प्रजाकी रक्षा करे, वैश्य पर्याप्त धान्य उत्पन्न करे और शूद्र आवश्यक परिचर्या और विविध कारीगरीके द्वारा सुख-साधनकी वृद्धि करे। स्वकर्मसे ईश्वरकी पूजा करनेका यही अभिप्राय है; परन्तु यह सब निष्काम भावसे होना चाहिये।

उदाहरणके लिये एक ब्राह्मण आचार्यके पास शिष्य पढ़नेके लिये जाता है। उस आचार्यको समझना चाहिये कि शिष्यरूपमें ईश्वरांश ही मेरे पास आया है। ज्ञान-प्रदानके द्वारा मेरी सेवा ग्रहण करनेके लिये ईश्वर ही शिष्यरूपमें मेरे सामने उपस्थित हुआ है। क्षत्रिय यह समझकर प्रजापालनमें रत रहे कि अपने प्राणोंको अर्पण करके मुझे जनतारूपी जनार्दनकी ही सेवाका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। वैश्य यह विचार करता रहे कि अन्नाद प्रभु (अन्न ग्रहण करनेवाले ईश्वर) को अर्पण करनेके लिये ही मैं खेती कर रहा हूँ और शूद्र समझता रहे कि अपनी परिचर्या और कारीगरीसे मुझे स्वयं भगवान्को सन्तुष्ट करना है; परन्तु यह सब कार्य योगपूर्वक—'योगः कर्मसु कौशलम्'—अत्यन्त कुशलतापूर्वक होने चाहिये। कर्ममें कोई त्रुटि न रहने पावे। साथ ही समस्त कर्म निष्कामभावसे होने चाहिये और सबको अपना जीवन तथा अपने सब कर्मोंको पूर्णतया ईश्वरार्पण कर देना चाहिये।

इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यका वैयक्तिक, सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय जीवन व्यतीत होना चाहिये। तभी मनुष्य सुखी हो सकता है। यही सन्देश गीताने ५००० वर्ष पूर्व दिया। वैदिक धर्म यही था, परन्तु उसका लोप होनेके कारण श्रीकृष्ण भगवान्ने उसका पुनरुद्धार गीताके द्वारा किया; परन्तु गीताके इस सन्देशको लोगोंने अबतक पूर्णरूपसे नहीं सुना। जब इस सन्देशका लोग पूर्ण व्यवहार करने लगेंगे, तब यह भूतल स्वर्गमें परिणत हो जायगा।

परमेश्वर विश्वरूप हैं, प्रत्यक्ष हैं, उन्हींकी सेवासे मनुष्य-का उद्धार हो सकता है। विश्वरूप ईश्वरमें श्रद्धा रखनेसे सारे व्यवहार अपने-आप ही श्रेष्ठ हो जायँगे; परन्तु इसे लोगोंको किस प्रकार समझाया जाय, यह समझमें नहीं आता। गीताका पाठ सभी करते हैं, जानते भी हैं, परन्तु व्यवहार करते समय ईश्वरको भूल जाते हैं और प्रजाजनको ईश्वरसे पृथक् समझते हैं। मैं जो व्यवहार कर रहा हूँ (वह व्यवहार अपने घरमें, समाजमें, राष्ट्रमें या अन्य राष्ट्रोंके साथ क्यों न हो) वह प्रत्यक्ष ईश्वरके साथ हो रहा है—यदि हमारा यह दृढ़ और निश्चित भाव हो जाय तो व्यवहारके छल-कपट आदि सारे दोष अपने-आप ही दूर हो जायँगे; परन्तु ये विचार गीताके श्लोकोंमें ही भरे पड़े हैं। गीताके भक्तोंको इनपर सोचनेका और इस दिव्य उपदेशको व्यवहार-में लानेका प्रयत्न करना चाहिये।

यद्यपि यह कार्य है तो कठिन, परन्तु दुःखोंसे मुक्ति तभी होगी और विश्वमें सच्ची शान्तिकी स्थापना तभी होगी जब यह सफल होगा!

चमत्कारपूर्ण काव्य

(श्रीमती डॉ० एल्ज़े ल्यूडर्स)

भारतीय वाङ्मयके बहुशाख वृक्षपर भगवद्गीता एक अत्यन्त कमनीय एवं शोभा-सम्पन्न सुमन है। इस अत्युत्तम गीतमें इस प्राचीन-से-प्राचीन और नवीन-से-नवीन प्रश्नका विविध भाँतिसे विवेचन किया गया है कि 'मोक्षोपयोगी ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? क्या हम कर्मसे, ध्यानसे या भक्तिसे ईश्वरके साथ एकता प्राप्त कर सकते हैं? क्या हमें आत्माके शान्तिलाभके लिये आसक्ति और स्वार्थबुद्धि-से रहित होकर संसारके प्रलोभनोंसे दूर भागना चाहिये?' इस चमत्कारपूर्ण काव्यमय ग्रन्थमें हमें ये विचार बारंबार नित्य नये रूपमें मिलते हैं। भगवद्गीताकी उत्पत्ति दर्शनशास्त्र और धर्मसे हुई है; उसके अंदर ये दोनों धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होकर एक दूसरेके साथ मिल जाती हैं। भारतीयोंके इस मनोभावका हम जर्मन देशवासियोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इसी कारण बार-बार हमारा मन भारतकी ओर आकर्षित होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और भारतीय समाज

(लेखक—श्रीयुत पं० धर्मदेव शास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य-योग-वेदान्त-न्यायतीर्थ)

श्रीमद्भगवद्गीताके कारण आज भी भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृतिका संसार मान करता है। वस्तुतः भगवान्के समान भगवान्का ज्ञान भी सनातन होता है—सनातनका अर्थ पुरातन नहीं। नित्य-नूतनको ही 'सनातन' कहते हैं। जहाँ नित्यत्व और नूतनत्व दोनों धर्मोंका समन्वय होता है, वही धर्म-ज्ञान सनातन है। मेरा विश्वास है गीताका प्रतिपाद्य ज्ञान-सत्य-धर्म सनातन है। इसीलिये देश और कालकी सीमामें उसे बंद नहीं किया जा सकता अर्थात् वह सार्वभौम और सार्वकालिक है। यही कारण है कि गीताका प्रचार सभी देशोंमें है। संसारके इतिहासमें आजतक गीता ही ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ है जिसका विश्वकी समस्त जीवित भाषाओंमें स्वयमेव अनुवाद हुआ है। बाइबिल धर्म-ग्रन्थ भी प्रायः सभी भाषाओंमें अनूदित है, परन्तु उसका अनुवाद तत्तद् भाषाभाषियोंने स्वयं नहीं किया, ईसाईधर्मका सन्देश सर्वत्र फैलानेकी भावनासे ईसाई पादरियोंने अपना रुपया खर्च करके किया है। गीताके सम्बन्धमें यह बात नहीं। इन पंक्तियोंके लेखकका विश्वास है कि गीताका विराट्रूप अभीतक विश्वने नहीं देखा, जब गीताका वह दिव्य रूप दीखेगा तब विश्वका पुनर्निर्माण होगा।

गीताका प्रत्येक अध्याय एक-एक योग है—योग अर्थात् अक्सीर दवा। इस प्रकारके १८ योगोंके नुस्खोंके रहते हुए भी आज भारत और विश्व रोगी हैं! मेरा मतलब शारीरिक रोगसे नहीं। वस्तुतः स्वास्थ्य और अस्वास्थ्यका मुख्य स्थान विचार ही है। यही विचारशक्ति ही, चेतना ही जगत्का और पिण्डका नियन्त्रण कर रही है। जिस प्रकार रोगके कीटाणु बहुत शीघ्रतासे उत्पन्न होते हैं और फैलते हैं, इसी प्रकार बुरे विचारोंके कीटाणु भी फैला करते हैं। ब्रह्माण्डको शुद्ध करनेवाला यह नुस्खा ही गीतोपनिषद् है। यह ज्ञान है यद्यपि 'राजविद्या' और 'राजगुह्य', तथापि 'प्रत्यक्षावगम' भी साथ ही है। गीताका प्रभाव प्रत्यक्ष दीख सकता है। मेरे-जैसे अनेकों व्यक्तियोंके निर्माणका श्रेय गीताको ही है। सच्चे हृदयसे गीताका पाठ यदि किया जावे तो सारी गीताका मनन करनेके बाद पाठक अर्जुनके साथ यही कहेगा—

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

यदि यह उद्गार नहीं निकलता तो समझना चाहिये गीता-माताका दूध अभीतक हमने ध्यानसे नहीं पिया, गीता-माँका दूध भी पिया जावे और तृप्ति भी न हो यह असम्भव-सा लगता है। इन पंक्तियोंका लेखक ये शब्द यों ही नहीं लिख रहा है उसके जीवनमें गीतामृतके इन योगोंकी आज़माइश हो चुकी है और सदा उससे लेखकको स्वास्थ्य मिला है।

गीतासे व्यक्तिके समान समाज, देश भी उत्प्राणित हो सकता है; क्योंकि समाज अथवा देश व्यक्तियोंके समुदायहीका तो नाम है। हम प्रस्तुत लेखमें भारतीय स्थितिके लिये गीताकी व्यावहारिकताका कुछ निर्देश करेंगे।

आज विशेषतः भारतमें अकर्मण्यता, अवसाद-दैववादका साम्राज्य है। जो मनुष्य निकम्मा रहता है वह स्वप्न-जगत्में बहुत घूमा करता है और बड़े-बड़े मनोमोदक बनाया और खाया करता है; यही दशा देशकी भी होती है। भारतवर्षकी आज यही दशा है। भारतकी जनता कुछ किये-कराये विना सांसारिक और पारलौकिक सभी सुखोंको एक साथ प्राप्त करना चाहती है—दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो भारतीय कर्म न करके फल प्राप्त करना चाहते हैं!

यही है अनधिकार चेष्टा। गीताका दर्शन इससे सर्वथा विपरीत है, वहाँ फलको मनमें भी न लानेकी और लगातार कर्म करते जानेकी बात है। गीताकारने कहा है—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

'जो कर्ममें अकर्म देखे और अकर्ममें कर्म, उसीको बुद्धिमान् समझना चाहिये। जिस मनुष्यको कर्ममें ही आनन्द मिलता है, विना कर्मके जो रह ही नहीं सकता वही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मका दर्शन कर सकता है।'

प्रायः समझा यह जाता है कि कर्म लाभके लिये करना; परन्तु गीताकार ऐसा नहीं कहते, वहाँ तो कर्म 'सर्वभूत-हिते रत' होकर सहजरूपसे करना है। नदी बहती है-लाभके लिये नहीं। सूर्य प्रकाश करता है-लाभके लिये नहीं। और तो क्या, स्वयं भगवान् चौबीसों घंटे काममें लगे रहते हैं, नींद भी नहीं; क्योंकि उनकी नींदका अर्थ है महाप्रलय।

तब क्या यह सब काम भगवान् अपने लाभके लिये कर रहे हैं ? नहीं तो वे आप्तकाम और आत्मकाम हैं । तब यह क्यों करते हैं ? भगवान्‌के शब्द हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

और फिर परमात्मा केवल फल चाहते नहीं, इतना ही नहीं; फलकी उनको इच्छा नहीं और वे लेते भी नहीं; परन्तु मनुष्य यदि 'सर्वभूतहिते रत' होकर कार्य करेगा तो उसका फल न चाहते हुए भी उसे मिलेगा और भी अधिक मिलेगा । इसलिये मनुष्य फलसंन्यास न करके 'फलसंकल्प-संन्यासी' बनता है ।

आजका युग 'यन्त्रयुग' है । भारतवासी भी अनेक यन्त्रोंके पक्षपाती हैं । गीताकारकी दृष्टिसे प्रकृतिको अधिक-से-अधिक सक्रिय करना अच्छा है; परन्तु जडकी सक्रियताका अर्थ चेतनकी निष्क्रियता नहीं । जिन यन्त्रोंसे मनुष्य-समाज श्रमका महत्त्व भूल जावे, वे अनुपादेय हैं । गीताकारका तो एक ही सन्देश है 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम् ।' भारतके अधिकांश लोग किसान हैं, वे वर्षमें तीन महीनोंके लगभग निकम्मे रहते हैं; उस समयमें लोग ताश-चौपड़ खेलते हैं, मुकद्दमेबाजी करते हैं और चोरी, व्यभिचार आदि पापोंकी संख्यामें वृद्धि करते हैं । भगवान्‌ने इस शरीरको 'क्षेत्र'—खेत कहा है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

जिस प्रकार जिस खेतमें आप कोई चीज—शाक, अन्न आदि न बोवें वहाँ घास, फूस और कँटीले वृक्ष अपने-आप पैदा हो जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य और मनुष्यसमाजरूपी खेतमें भी कुछ-न-कुछ बोये रखना चाहिये; क्योंकि निकम्मा होना ही सब पापोंकी जड़ है । मनुष्यका जीवन अमूल्य है । इससे परमार्थका जो भी काम बन पड़े, कर लो; फिर यह अवसर नहीं मिलेगा ।

हमारे देशके सार्वजनिक जीवनमें एक बुराई घर कर गयी है, उसका इलाज भी गीताकारने बताया है । हमारे देशके लोग सर्वजनहितकारी कार्योंमें भी कुछ पुरस्कार चाहते हैं—चाहे वह पुरस्कार धन हो, प्रतिष्ठा हो अथवा पद ही हो । इसका परिणाम बुरा होता है । मान लीजिये मैंने कोई सार्वजनिक कार्य किया । मैं उस कार्यकी कीमत यह समझता हूँ कि मुझे उसके एवज़में एसेंबलीकी सदस्यता अथवा म्युनिसिपैलिटीकी चेयरमैनी मिलनी चाहिये; परन्तु जनता उस मेरे कामकी कीमत कम आँकती है अथवा उतना नहीं समझती जितना मैं समझता हूँ । बस यहींसे पार्टीबाजी शुरू होती है । मैं अपनेको नीलामपर चढ़ा देता हूँ और अपने कुछ साथी संगृहीत कर लेता हूँ, जिससे मेरी कीमत उतनी ही पड़े जितनी कि मैं समझता हूँ । यहींसे समाजमें दम्भका उद्गम होता है । गीताकारने इसीलिये कहा है—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

इसका भावार्थ यह है कि 'नेकी कर और कुएँमें डाल' । यदि ये भाव हमारे देशके शिक्षितोंमें आ जावें तो हमारा देश उन्नत हो सकता है और शीघ्र ही उन्नत हो सकता है । इस प्रकार और भी व्यावहारिक दृष्टिसे गीताके उपदेशोंकी उपादेयता बतलायी जा सकती है ।

मेरा तो विश्वास है भारतवर्ष यदि गीताके अमर उपदेश-का आचरण करे और सामूहिकरूपसे इसका प्रयोग करे तो वह शीघ्र स्वतन्त्र हो सकता है और आज भी संसारको अमर सन्देश दे सकता है । मृत्युके मुखमें पड़ा विश्व गीता-सुधाका पान करके अमर हो सकता है । ओम् शम् ।

साहित्यका सर्वोत्कृष्ट रत्न

आधुनिक कालमें सज्जनगण तत्परताके साथ भारतीय साहित्यके सर्वोत्कृष्ट रत्न गीताका प्रचार कर रहे हैं । यदि यह प्रगति इसी प्रकारकी रही तो आगामी सन्तान वेदान्त-सिद्धान्तोंके प्रति अधिक रुचि प्रकट कर उनका पालन करेगी ।

—सर जॉन वुडरफ

गीता और योगेश्वर श्रीकृष्ण

(लेखक—आचार्य श्रीचन्द्रकान्त, वेदवाचस्पति, वेदमनीषी)

संसारके इतिहासका आध्यात्मिक व्याख्यान (Spiritual interpretation) श्रीकृष्णचन्द्रके जीवनमें पर्यवसानको प्राप्त होता है। यदि व्यास, शङ्कर और जनक ज्ञानकी परोक्ष सरस्वतीके किनारेपर हैं; यदि श्रीरामचन्द्र, महावीर और बुद्ध कर्मकी किसी अपूर्व धवल जाह्नवीके तटपर हैं; यदि सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, चैतन्य महाप्रभु तथा रामकृष्ण परमहंस भक्तिकी किसी मधुर नीलसलिला यमुनाके तटपर खड़े हैं तो श्रीकृष्णचन्द्र ज्ञान, कर्म, भक्तिकी त्रिवेणीके हृदयङ्गम प्रयाग-सङ्गमपर खेल रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने संसार-नाटकके एक अपूर्व नायक बनकर नाना प्रकारके अभिनय दिखाये हैं। पौराणिक-कालीन भक्तभावनाके श्रीकृष्ण गोपाल बनकर गोपियोंके रासमें रस लेते हैं, मक्खन चुराते हैं और नटखट नटवर कहे जाते हैं। अध्यात्मवादियोंके वही मन-आकर्षक—मोहक मोहन इन्द्रियरूपी गौओंके पालक बनकर वृत्तिरूपी गोपियोंके साथ रमण कर रहे हैं। शृङ्गाररसिक—

'मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसो सदा बिहारीलाल ॥'

—के मुरलीधर श्रीकृष्ण कैसे अपूर्व हैं! भाव-समाधि-मग्न रसखान—

'या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।'

—की रट लगाकर जिनके लिये अपूर्व साध साधे बैठे हैं, वे श्रीकृष्ण कैसे भक्तवत्सल हैं! बहुरूपिया श्रीकृष्णके अनेकों रूप हैं; परन्तु महाभारतकारने हमें योगेश्वर श्रीकृष्णका जो रूप प्रत्यक्ष कराया है, वह भक्त भावुकोंका ही नहीं, सबका पूजनीय है, विश्ववन्द्य है, परमोज्ज्वल है, सत्य तथा स्तुत्य है। शील एवं सदाचारके अवतार श्रीकृष्णके सम्बन्धमें दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—'श्रीकृष्णका इतिहास भारतमें अत्युत्तम है; उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषोंके सदृश है। जिसमें कोई अधर्मका आचरण श्रीकृष्णजीने जन्मसे मरणपर्यन्त, बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं है' (सत्यार्थप्रकाश, १५वीं बार, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३५६)।

हमने महाभारतके जिन श्रीकृष्णकी ओर निर्देश किया है, उन्होंने भारतवर्षको जरासन्धके अत्याचारमूलक एक सत्तात्मक साम्राज्यसे मुक्त कर, अजातशत्रु युधिष्ठिरके आत्म-निर्णय (Self-determination) मूलक आर्यसाम्राज्य (Commonwealth) के सूत्रमें सूत्रित किया। इन्हीं भारतरक्षक श्रीकृष्णकी विभूतिके समक्ष समस्त भारतने सिर झुकाया और झुका रहा है। कविशिरोमणि माघने 'शिशुपाल-वध'में इन्हीं श्रीकृष्णको युधिष्ठिरद्वारा 'एतदूढगुरुभार! भारतं वर्षमद्य तव वर्त्तते वशे' (शि० व० १४)-'ऊढगुरुभार' कहलाया है। हमें यही श्रीकृष्ण प्यारे हैं, क्योंकि ये योगेश्वर हैं। धनुर्धर पार्थको इन्हींकी कृपासे लक्ष्मी, विजय तथा ध्रुव नीतिका मार्ग मिला—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

संसारके इतिहासमें सबसे अद्भुत तथा आकर्षक श्रीकृष्णका यही योगेश्वर-स्वरूप है। नेपोलियनका पराक्रम, वाशिंगटनका स्वार्थत्याग, ग्लैडस्टन तथा बिस्मार्ककी नीतिमत्ता—सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्रमें केन्द्रित हैं। श्रीकृष्णमें मुहम्मदका निश्चय-बल, ईसामसीहका सौजन्य तथा बुद्धका बुद्धिवाद—सब एकाकार हो गये हैं। वेदोंका सार उपनिषद्, उपनिषदोंका सार गीता और गीताका निचोड़ कृष्णजीवन। गीताके उद्देश्य तथा तात्पर्यको जानकर श्रीकृष्णके योगेश्वरस्वरूपको भलीभाँति समझा जा सकता है।

गीताका उपदेश न संन्यासधर्मी श्रेयार्थी युधिष्ठिरके लिये है, न प्रेयार्थी भीमके लिये, अपितु उस अर्जुनके लिये है जो—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

—धर्मसङ्कट (Casuistry) में पड़ा हुआ अध्यात्ममार्गका अति भक्त है। अर्जुन साधारण जीव नहीं प्रतीत होता, देवयान मार्गका राहगीर है। मोहवश स्वधर्मको भूलकर युद्धसे विमुख होते हुए अर्जुनको युद्धरूपी घोर कर्ममें प्रवृत्त कराना, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके अध्यात्म उपायोंसे व्यावहारिक राज्य-मार्गपर आरूढ करना किसी योगेश्वरका ही कर्म है। योगका तात्पर्य 'चित्तवृत्तिनिरोध' तथा ध्यान, धारणा, प्राणायाम आदि उपाय ही नहीं, अपितु 'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्ममें दक्षता (Dexterity) भी है। कर्मदक्ष महापुरुष ही धर्मसङ्कट

(Casuistry) के समयमें मार्ग निकाल सकता है। जहाँ लौकिक व्यावहारिक पुरुष असत्य, हिंसा, अन्धकार तथा मृत्युको देखता है वहाँपर पश्यन्मुनि—कर्मकुशल पुरुषको अपने 'दिव्यचक्षु' से सत्य, अहिंसा, प्रकाश और अमरत्वकी झाँकी होती रहती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

व्यामुग्ध अर्जुनको आत्मा और शरीरके नित्यानित्यके अध्यात्मवादकी उड़ानमें उड़ाकर 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' की घोषणाके द्वारा यज्ञार्थ निष्काम कर्मके चतुष्पथ-पर लाकर भी जब श्रीकृष्णचन्द्र सफल न हुए तो विश्वरूप दिखाकर, युक्तिको भक्तिमें और तर्कणाको भावनामें बदलकर मोहित करते हैं। कैसी अजब मोहिनी है। जो अर्जुन—'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन' की क्लीब पुकार कर रहा था, वह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' तथा 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' के आदेशको शिरोधार्य कर युद्धके लिये सन्नद्ध होकर, अपनेको श्रीकृष्णके हाथका यन्त्र बना देता है। गीतामें ज्ञानका कर्ममें विनियोग किया गया है, इसका यह कैसा सुन्दर दृष्टान्त है! योगेश्वर पुरुषका योग यही है। इसकी कसौटी जंगलोंमें नहीं होती; युद्धके मैदानों, राजमहलों और दुनियाके ऊँच-नीच क्षेत्रोंमें ही होती है। प्रभुकी प्राप्तिका स्थल यह संसार है, इसको पानेका रास्ता भी स्पष्ट और सरल है, ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म करना, अर्थात् ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मको सर्वथा ब्रह्मके अर्पण कर देना। पातञ्जल-दर्शनका राजयोग-मार्ग इस रास्तेका पोषक अवश्य है। अर्जुनमें सारासार-विवेकशक्ति, कार्पण्य तथा स्वजनोंके प्रति आदरके भाव उमड़ रहे थे और सनातन सत्य उसकी आँखोंसे ओझल हो गया था। इस अवस्थामें योगेश्वर श्रीकृष्णने युद्धस्थलीमें ही 'तस्माद्युध्यस्व भारत' का युद्ध-घोष (Military order) अर्जुनको सुनाया; आत्मा, प्रकृति, पुरुष-सम्बन्धी ज्ञान दिया और ज्ञानको अनुप्राणित करनेके लिये 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वम्' के रूपमें भक्तिप्रदीप जगाया। योगकी परीक्षा सचमुच ऐसे ही समयोंमें होती है। महाभारत, शान्तिपर्व (६२-३२) में पितामह भीष्मने ठीक ही कहा है—'सर्वे योगा राजधर्मेषु चोक्ताः' अर्थात् राजधर्ममें सभी योग कहे हैं। योगका अर्थ है युक्ति, प्रयुक्ति, नीति, उपाय। जब कि बड़े-बड़े ज्ञानी लोग भी 'किं कर्म किमकर्मेति' करते रह जाते हैं, उस समय जो योग अर्थात् युक्तिसे—कार्यकी कुशलतासे—साध्यके पार पहुँच जाता है वह योगेश्वर होता है। निहत्थे होकर एक महान् साम्राज्यकी स्थापना कर देनेसे बढ़कर और योग हो ही क्या सकता है। योगेश्वरका योग कैसा अद्भुत है!

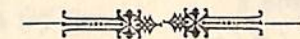
घायल युधिष्ठिर कर्ण-विध्वंसकी आशामें शिविरमें बैठे अर्जुन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। अर्जुनको असफल आये देख कुछ अधीरता और कुछ रोषमें कह उठते हैं—'तुझे धिक्कार है! गाण्डीव धनुष किसी औरको सौंप दे।' यह सुन अर्जुनकी तलवार म्यानसे निकल आती है, किसलिये? कर्णके नाशके लिये नहीं, अपितु प्रणको पूरा करनेके निमित्त युधिष्ठिरका वध करनेके लिये। एक तरफ पितृतुल्य ज्येष्ठ भ्राताकी हिंसा करना अधर्म है, दूसरी तरफ गाण्डीवके अपमान करनेवालेकी हिंसा करनेकी मनस्विनी प्रतिज्ञा है। फिर अर्जुन किङ्कर्तव्यविमूढ है। इस धर्मसङ्कटसे बचनेका क्या योग है? अध्यात्मतत्त्वको व्यवहारमें पूरा-पूरा घटाना योग है—यह कितना कठिन कार्य है! योगेश्वर श्रीकृष्णने कहा—'न वृद्धाः सेवितास्त्वया।' 'अर्जुन! प्रतिज्ञा पालन अवश्य करो। मान्य पुरुषका अपमान प्राणघातसे—शिरश्छेदसे भी बढ़कर है। युधिष्ठिरको 'आप' की जगह 'तू' कहकर पुकार लो। धर्मका सार अहिंसा है। इस अहिंसाका साधन सत्य है। भाईकी हिंसा करना सर्वथा अनुपयुक्त है। प्रतिज्ञाकी रक्षा गौण वस्तु है। यदि किसी प्रकार इन दोनों धर्मोंकी रक्षा करनी ही हो तो यही मध्यम मार्ग है कि प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये 'तूकार' से युधिष्ठिरके यशःशरीरके प्रतिष्ठा-मस्तिष्कको काट लो। ज्येष्ठ स्वरूपमें सामने खड़े अजातशत्रु युधिष्ठिरके सिरको काटनेके हिंसारूपी अधर्मसे भी बच जाओगे और प्रतिज्ञा भी पूरी कर सकोगे।'

इधर अर्जुनकी उद्दण्डतासे अधिक खिन्न होकर वैराग्य-प्रधान युधिष्ठिर राज्य छोड़कर वनगमनकी तैयारी करते हैं, यह देख युधिष्ठिरपर अँगारा बरसाती अर्जुनकी आँखें वैराग्य-भेषधर अजातशत्रुको नयनजलसे अभिषिक्त करने लगती हैं। दोनोंका क्रोध आँखोंकी गंगाजमुनीमें बह जाता है। दो जुदा हुए हृदयोंको मिलाकर वैमनस्यपर प्रेमकी विजय स्थापित करके बन्धुत्वका कैसा अद्भुत योग श्रीकृष्णने रचा! अब गाण्डीवके अपमानका अपराधी युधिष्ठिर न रहा, कर्ण हो गया। यह है कृष्णका योगेश्वरपन।

गीतामें अखण्ड चेतन-तत्त्वको संसारसे भिन्न न बताकर,

इसके अणु-अणुमें रमा हुआ प्रतिपादित किया है। शशि-सूर्यमें विद्यमान प्रभा, जलोंमें रस, ऋतुओंमें कुसुमाकर, मासोंमें मार्गशीर्ष--क्या-क्या कहें, संसारमें जो-जो विभूतिमत्, श्रीमत् तथा ऊर्जित सत्त्व है ('यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा'), वह उसी विश्वशक्तिका अंश है। जगदाधारभूत ब्रह्म ही चातुर्वर्ण्य (चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्) के रूपमें भी संसारमें आविर्भूत है। यह गीता तथा वेदोक्त पुरुषसूक्तसे भी प्रतीत होता है। हृदयदेशमें अव्यक्त-रूपसे भी यही ब्रह्म ओतप्रोत है ('हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति') यह पुरुष—ब्रह्म संसारको बनाकर तटस्थ नहीं रहता। अर्थात् गीता तटस्थेश्वरवाद (Deism) का प्रतिपादन नहीं करती, प्रत्युत प्रभुको पिता, माता, सखा तथा पत्यादि सम्बन्धोंसे स्मरण करती है।

इस प्रभुको जाननेके लिये हमें दूर जानेकी ज़रूरत नहीं; इसी संसारमें कर्म, ज्ञान तथा भक्तिवाली एक-एक हरकतमें उस शिवका स्वरूप हमारे लिये प्रकट हो रहा है। इसलिये जो दैवी पुरुष संसारके व्यवहारोंमें संलग्न होकर ज्ञान, कर्म तथा भक्तिकी त्रिवेणीमें स्नान करते हैं वे सचमुच ब्रह्मलीन हो रहे हैं। परमार्थ और व्यवहारका जीवनमें सुन्दर समीकरण इसी मार्गसे हो सकता है। इस पथपर चलनेवालोंको अखण्ड तत्त्वका प्रत्यक्ष संसारकी एक-एक क्रियामें होता है, इसलिये उनका एक-एक कर्म विलक्षण होता है और तत्त्वतः सत्य होता है। यहाँ मस्तिष्क हृदयसे पृथक् न रहकर एक सूत्रमें सूत्रित हो जाया करता है। 'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्' (अथर्व)—इस स्थितिको प्राप्त पुरुष अपनी अलौकिक चमत्कारिणी बुद्धि तथा भावनाके प्रबल वेगसे संसारका काया-कल्प कर देते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने संसारमें यही कर दिखाया। इसलिये वे योगेश्वर हैं, अतिमानव हैं और हमारे परम पूज्य हैं। आवश्यकता इतनी ही है कि हम अर्जुन बन सकें।



गीता और शक्तिवाद

(लेखक—प्रो० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, बी-एस्०-सी०, एम्०ए०)

गीताके पात्र श्रीकृष्ण और अर्जुन तथा एक प्रकारसे सञ्जय भी हैं। स्थितिकी विशेषता और करुणामयकी स्वेच्छासे, जिसके कारण वह अज, अनामा कृष्णावताररूपसे प्रकट हुआ, गीताकाव्यमें पुँल्लिङ्गका ही अधिकतर प्रयोग हो पाया; लेकिन हिन्दूधर्मकी यह विशेषता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय होते हुए भी साम्प्रदायिकता नहीं है; क्योंकि अपने इष्टदेवके रूप, लीला, गुणसे मुग्ध होकर अनादि परात्पर कारणका अनुभव करना और सब भूतोंमें उसकी पहचान पाना—उसकी सर्वव्यापकतासे उसकी महान् दया और अकथ प्रेमका अनुभव करना—यही सब सम्प्रदायोंका आदर्श रहा है। नीची श्रेणीके लोग, जिनको दयामयकी सर्वव्यापकता अनुभवगत नहीं हो पायी है, शिव और विष्णुमें विरोध देख सकते हैं। लेकिन उच्चकोटिके भक्तोंके लिये जो शिव हैं, वही विष्णु हैं; जो कल्याणकारी संहारक हैं, वही पालनकर्ता भी हैं; परन्तु प्रकृतिवश रुचिकी भिन्नता होनेके कारण एक ही रूप सबको आकर्षित नहीं कर पाता। कोई माँके रूपका ध्यान लगाता है, किसीके इष्टदेव 'बालरूप भगवान्' हैं, कोई रौद्ररूपका उपासक है, किसीको व्रजाङ्गना बननेकी लालसा है, ऊपरी अनेकताके भीतर अरूप, अनामाकी लीलाका रहस्य भरा है, जिसको स्वीकार करनेकी वजहसे हमारे धार्मिक विचारको संसारमें इतनी श्रेष्ठता मिली। गीता पुरुष-कथित काव्य है; लेकिन हिन्दू-धर्मकी ऐक्य-प्रियताके कारण इसमें भी अनेक स्थानोंपर शक्तिकी महिमा पायी जाती है।

शक्तिवादका सिद्धान्त यह है कि वह सर्वस्याद्या—सबकी आदिरूपा है। वही एक शक्ति है, दूसरी किसी प्रकारकी शक्ति है ही नहीं।

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।

(दु० स० १०।५)

और यही सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करती है।

……त्वं देवि जननी परा।
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने॥
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये।

(दु० स० १।७५—७७)

तुम ही माता ईश्वरी हो, तुम ही सब विश्वको धारण

करती हो और तुम ही उत्पन्न करती हो, तुम ही पालन करती हो और हे देवि ! अन्तमें तुम ही सदा इसका भक्षण (संहार) करती हो । हे जगन्मयि ! इस संसारके रचनेके समय तुम सृष्टिरूपा हो, पालनके समय स्थितिरूपा हो और इस जगत्के नाश करनेके समय संहाररूपा हो । यही भाव गीतामें भी है । श्रीवासुदेवका वचन है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
(४ । ६)

'मैं अजन्मा, अविनाशी और भूतमात्रका ईश्वर होते हुए भी अपने स्वभावको लेकर अपनी मायाके बलसे जन्म ग्रहण करता हूँ ।' इस श्लोकको हमें सातवें अध्यायके ५-६ श्लोकोंके साथ पढ़ना चाहिये ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
(७ । ५)

'यह अपरा प्रकृति कही । इससे भी ऊँची परा प्रकृति है, जो जीवस्वरूपा है । हे महाबाहो ! यह जगत् उसीने धारण कर रक्खा है ।'

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
(७ । ६)

भूतमात्रकी उत्पत्तिका कारण तू इन दोनों (प्रकृतिके विभागों) को जान । (जैसा ऊपर चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है, वैसे उत्पन्न होकर) समूचे जगत्की उत्पत्ति और लयका कारण मैं ही हूँ ।*

शक्तिवादका दूसरा सिद्धान्त यह है कि यह माया परम बलवान् है । 'मैं बड़ा ज्ञानी हूँ' ऐसा अहङ्कार करके कोई उसपर विजय नहीं पा सकता । जैसे देवीको अबला समझकर बलके अहङ्कारसे अन्ध चण्ड-मुण्ड और शुम्भ-निशुम्भ उसपर विजय न पा सके । देवीकी कठिन मायासे पार पानेका एक ही मार्ग है—विनम्र शरणागति ।

विद्यासु शास्त्रेषु विवेकदीपे-
ष्वाद्येषु वाक्येषु च का त्वदन्या ।
ममत्वगर्तेऽतिमहान्धकारे
विभ्रामयत्येतदतीव विश्वम् ॥
(दु० स० ११ । ३१)

चौदह विद्याओंके और छः शास्त्रोंके तथा ज्ञानके दीपक वेदोंके होते हुए भी इस संसारको ममतारूपी गड्ढेमें तुम्हारे सिवा और दूसरा कौन घुमा सकता है ?

तयैतन्मोह्यते विश्वं सैव विश्वं प्रसूयते ।
सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति ॥
(दु० स० १२ । ३७)

वही देवी संसारको मोहित करती है और उत्पन्न करती है और जब उससे याचना करते हैं तब विशेष ज्ञान देती है तथा प्रसन्न होनेपर ऋद्धि देती है । यही भाव गीतामें भी पाया जाता है । भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं................................ ॥
(७ । १३)

इन त्रिगुणमय भावोंसे सारा संसार मोहित हो रहा है । श्रीवासुदेवके वचनानुसार इस सर्वव्यापी मोहसे छुटकारा पानेका एकमात्र साधन शरणागति है ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(७ । १४)

इस मेरी गुणोंवाली अलौकिक मायासे तरना बड़ा कठिन है; पर जो मेरी ही शरण ले लेते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं ।

शक्ति-उपासकोंके विचारसे यह माया बड़ी प्रभावशालिनी है—

.... ।
यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत् ॥
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः ॥
(दु० स० १ । ८३-८४)

* मायाके ऊपर निर्भरता और उसकी सर्वव्यापक शक्तिको भगवान् एक और स्थानपर स्वीकार करते हैं—

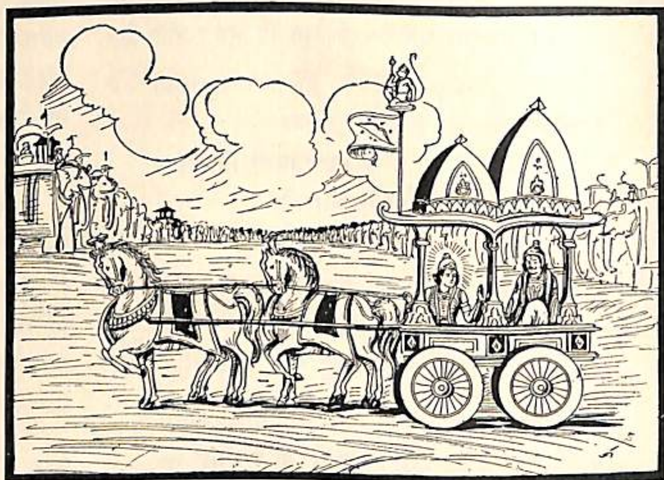
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥
(गीता ९ । ८)

'अपनी मायाके आधारसे प्रकृतिके प्रभावके अधीन रहनेवाले प्राणियोंके सारे समुदायको मैं बारंबार उत्पन्न करता हूँ ।'

अर्जुन



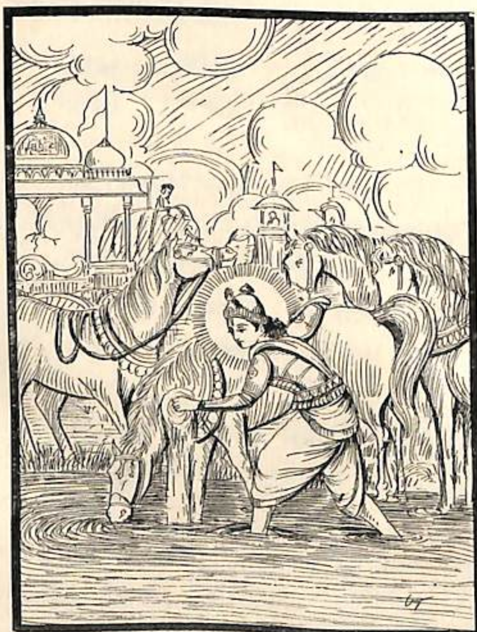
शक्तिका वरदान



मोह



मोह-नाश



जयद्रथ-वधके दिन भगवान्का रथके घोड़ोंको धोना

आपने भगवान्‌को भी जो जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और नाश करनेवाले हैं—निद्राके वश कर दिया ! तुम्हारी स्तुति करनेके लिये कौन समर्थ है !!

श्रीकृष्णभगवान् भी मायाके इस गहन प्रभावकी यों साक्षी देते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
(७ । २५)

अपनी योगमायासे ढका हुआ मैं सबके लिये प्रकट नहीं हूँ ।

पुरुष-कथित काव्य होनेपर भी प्रकृतिके माहात्म्यको स्वीकार करनेका संकोच गीतामें नहीं पाया जाता । भिन्नताकी साक्षी देना अज्ञानसूचक है, क्योंकि भेद-भाव मोहजनित है और गीताका उद्देश्य तो मोहसंहार है ही । अर्जुनका भ्रम-नाश करके उसे धर्मकार्य-सम्पादन करनेमें अग्रसर करते हुए उसको अपने अलौकिक सखाके समान अच्युत बन जानेकी विधि बतलाना ही स्थितिकी आज्ञा थी । समयने काव्यका क्षेत्र संकुचित कर दिया और एक लक्ष्यका साधन ही प्रमुख बना दिया । परन्तु पुरुषोत्तम भगवान् श्रीवासुदेव शक्तिके गुह्यतम रहस्यकी ओर संकेत करनेसे न चूके; क्योंकि प्रकृतिके प्रभाव और उसकी महिमासे अनभिज्ञ रहनेसे उस परम सत्यका ज्ञान अधूरा रह जाता है जो एक और अद्वितीय है ।

गीता और सप्तशतीमें स्थान-स्थानपर ऐसे शब्द और भाव मिलते हैं जो एक-दूसरेकी याद कराते हैं ।

उदाहरणस्वरूप—बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि (७।१०); भूतानामस्मि चेतना (१०।२२); स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा (१०।३४) सप्तशतीके—सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते (११।८) चेतनेत्यभिधीयते (५।१७) स्मृतिरूपेण संस्थिता (५।६२) महामेधा महास्मृतिः (१।७७) क्षान्तिरेव च (१।८०) की याद दिलाते हैं ।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥
(१०।७)

इस मेरी विभूति और शक्तिको जो यथार्थ जानता है वह अविचल समताको पाता है, इसमें संशय नहीं है । श्रीवासुदेवके इस वचनसे देवताओंकी स्तुतिका यह श्लोक स्मरण होता है—

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि ॥
(दु० स० ४।९)

हे देवि ! तुम मुक्तिका कारण हो और तुम ही अचिन्त्य ब्रह्मज्ञानरूपा हो; अतएव राग-द्वेषको छोड़ देनेवाले और मोक्ष-की इच्छा करनेवाले तथा इन्द्रियोंको वशमें कर लेनेसे तत्त्वको जाननेवाले मुनि लोग तुम्हारा अभ्यास करते हैं ।

सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ।
(दु० स० ४।७)

तुम सबको आश्रय देनेवाली हो और यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हारा अंशरूप है । तुम विकारोंसे रहित हो, परम प्रकृति और आदिशक्ति हो ।

यह सप्तशतीका श्लोक गीताके नीचे लिखे श्लोकको याद दिलाता है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(१०।४१)

जो कुछ भी विभूतिमान्, लक्ष्मीवान् या प्रभावशाली सत्त्व है उसे तू मेरे तेजके अंशसे ही हुआ समझ ।

गीता शक्तिग्रन्थ नहीं है, फिर भी यह काव्य उस सर्व-व्यापक ऐक्यको अंगीकार करता है जो सृष्टिमें सर्वथा उपस्थित है । और काव्यकी भाषाके संकेतद्वारा यह समर्थन करता है कि शक्ति सर्वस्याद्या है, उसका प्रभाव महान् है । उसकी माया बड़ी कठोर और अगम्य है तथा उसका माहात्म्य अकथनीय है ।

गीता और अहिंसा

(लेखक—श्रीताराचन्द्र पाण्ड्या)

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायमें विभिन्न प्रकारसे अहिंसाकी प्रशंसा और इसकी परम आवश्यकताका उल्लेख प्राप्त होता है। समता और साम्यावस्था, जिसपर गीताने बारंबार जोर दिया है, और जो गीताका अत्यन्त प्रिय प्राणस्वरूप विषय ज्ञात होता है, उसमें और अहिंसामें केवल नामका ही अन्तर है। श्रीभगवान्‌ने गीताके तेरहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें अहिंसाको ज्ञान बतलाया है तथा सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें दैवीसम्पत्तिके छब्बीस गुणों या लक्षणोंका वर्णन करते हुए अहिंसा और इसके पर्यायवाची शब्दोंका बार-बार प्रयोग किया है। अहिंसा, अक्रोध, शान्ति, अपैशुन, दया, मार्दव, क्षमा और अद्रोह—ये प्रायः अहिंसाके ही पर्याय हैं। अठारहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें बतलाया गया है कि हिंसाका विचार न करके जो कर्म किया जाता है, वह तामस है। छठे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें लिखा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

'हे अर्जुन! जो मनुष्य सर्वत्र अपने दुःख-सुखके समान दूसरोंके दुःख-सुखको समझता है, वही श्रेष्ठ योगी है।'

पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें लिखा है कि 'जो सब प्राणियोंके हितमें लगे रहते हैं वे योगी निर्वाणपदको प्राप्त करते हैं।' इसी प्रकार—

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव। (गी० ११।५५)

'हे अर्जुन! जो किसी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता, वह मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होता है।'

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

(गी० १२।४)

'अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके सबको समान बुद्धिसे देखनेवाले और सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले ईश्वरको प्राप्त करते हैं।'

गीता ५।२९में लिखा है कि 'जो ईश्वरको सब प्राणियोंका मित्र जानता है उसको शान्ति मिलती है।' श्रीभगवान् बारहवें अध्यायके तेरहवें और पन्द्रहवें श्लोकमें लिखते हैं—'जो किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, सबसे मैत्रीभाव रखता है, सबपर करुणा करता है, ममता और अहंकारसे रहित है, सुख-दुःखमें समबुद्धि रखता है, क्षमाशील है, वह भक्त मुझे प्रिय है।' और 'जिससे कोई प्राणी भयभीत नहीं होता और न वह किसीसे भयभीत होता है; जो हर्ष, क्रोध, भय और त्राससे रहित है—वह मुझको अत्यन्त प्रिय है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्ययोग, कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग—साधनावस्था और ब्रह्म-साक्षात्कारकी अवस्था—सभीमें अहिंसाकी आवश्यकता है। यही क्यों, श्रीभगवान्‌ने तो यहाँतक कह दिया है कि जो तपस्वी नहीं, वह गीता-ज्ञानका अधिकारी नहीं हो सकता (१८।६७)। और तपकी परिभाषामें अहिंसाका क्या स्थान है यह भी देख लें। अहिंसा शारीरिक तप है; किसीको दुःखित न करनेवाले प्रिय और हितकर वचन बोलना वाचिक तप है; चित्तकी प्रसन्नता, शान्ति और सौम्यता, तथा भावोंकी शुद्धि मानसिक तप है (१७।१४–१६) इस प्रकार तपके लिये तन, वचन और मनसे अहिंसाकी साधना आवश्यक है। अहिंसाको जो शारीरिक तपमें ग्रहण किया, इससे यह स्पष्ट है कि अहिंसाका सम्बन्ध केवल भावोंसे ही नहीं है, बाह्य क्रियाओं और शारीरिक कर्मसे भी है। इनमें भी हिंसा नहीं होनी चाहिये। ऐसा होनेपर ही यह अवस्था प्राप्त होती है जिसमें अहिंसाके साधकसे कोई त्रास नहीं पाता, भयभीत नहीं होता।

गीताके पहले अध्यायमें श्लोक ३८–४४ तक अर्जुनने जो कुल, जाति एवं राष्ट्रकी हानियाँ बतलायी हैं, वे युद्धके विरुद्ध लोक-हितकी दृष्टिसे भी बड़ी जबरदस्त दलीलें हैं। जिनका उत्तर गीतामें कहीं नहीं दिया गया है।

ऐसी अवस्थामें गीताके अहिंसा-सिद्धान्तकी और महाभारतके युद्ध करनेके उपदेशोंकी सङ्गति कैसे लगेगी? बहुतोंने तो अन्तःकरणमें होनेवाले धर्माधर्म-युद्धको ही महाभारत मानकर इस समस्याको हल करनेकी चेष्टा की है। परन्तु युद्धको रूपक माननेसे महाभारत और श्रीकृष्ण-अर्जुनादि पात्रोंके ऐतिहासिक अस्तित्वमें ही गम्भीर शङ्का

रूप है जो जगत्‌को कालका ग्रास बना हुआ देखकर इस जगत् और इसके सारे कर्मोंसे विरक्त हो जाता है । जगत्‌का स्वरूप सचमुच ही इतना भयङ्कर है कि संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस जगत्‌के सब प्राणी और पदार्थ अन्तमें नष्ट होनेवाले हैं । हमारा जीवन जो हमें इतना प्यारा है, हमारे स्वजन जिनके विना हम जी नहीं सकते, ये सभी तो अन्तमें नष्ट होनेवाले हैं । जिस जीवनका अन्त मौत है और जिस जगत्‌का अन्त श्मशान है—उस जीवनसे, उस जगत्‌से विरक्ति, विचारक्षेत्रमें तो, स्वाभाविक ही मालूम होती है । अर्जुनके सामने तो वह संग्राम उपस्थित है जिसमें उसके स्वजनोंका केवल संहार ही होनेवाला नहीं है, बल्कि उस संहारमें उसे स्वयं सहायक होना है। इसलिये ऐसे संहारपरिणामी संसारसे उसका चित्त शोकाकुल होकर हट जाता है—कर्तव्यपरायण अर्जुन किङ्कर्त्तव्यविमूढ हो जाता, उसका सारा ज्ञान खो जाता और उसकी सारी शक्ति नष्ट हो जाती है और वह एक ऐसे पुरुषकी शरण लेता है जो सदा सङ्कटकालमें उसकी सहायता करता आया है । यह शरणागति ही गीताका साधनारम्भ है, यही शरणागति इसका साधनमध्य है और यही इसकी साधनसमाप्ति है । शरणागति—कितना बड़ा शब्द है, कितना अर्थ इसमें भरा हुआ है ! यह अर्थका महोदधि है, जिसके किनारे भी पहुँचना साधारण काम नहीं है । एक महान् साधन-संग्राम है, जिसमें पद-पदपर युद्ध करना है—पद-पदपर अज्ञान और मोहका त्याग और ज्ञान तथा ज्ञानयुक्त कर्मका ग्रहण है; सारा यज्ञकर्म है, आत्म-बलिदान है, अंदर और बाहर युद्ध-ही-युद्ध है और यही योग है ।

इस शरणागति और युद्ध या योगका फल क्या है ? मनुष्य-जीवनकी परम चरितार्थता और जगत्‌का परम सुखसाधन ।

यही गीताको साद्यन्त देखनेसे प्रतीत होता है । परन्तु ये सारी बातें ऐसे पुरुषसे ही जाननी होती हैं जिन्होंने इन सब बातोंका अनुभव किया हो । केवल विचार करनेसे तत्त्व अधिगत नहीं होता; भगवत्कृपासे जब सत्सङ्ग लाभ होता है तभी कोई-कोई बात खुलती है और उससे, कहते हैं कि वह आनन्द लाभ होता है जो इस साधनपथमें अमृतका काम करता और साधकको आगे बढ़ाता है ।

बिनु सतसंग बिबेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

गीताका ज्ञान अपार है, उसका तत्त्व बहुत गहराईमें है, उसका साधनपथ अति दुर्गम है और फल भी इतना महान् है कि जगत्‌में विरले ही उसकी इच्छा करते हैं। ऐसे महामहिम ग्रन्थके विषयमें मेरा कुछ लिखना साहस ही है; पर भगवच्चर्चा किसी भी अवस्थामें पतितपावनी सुरधुनी है और इसमें क्षणकालका निमज्जन भी परम सुखदायक है, इसीलिये यह साहस किया गया है ।

पवित्र जलाशय

प्राचीन युगकी सभी स्मरणीय वस्तुओंमें भगवद्गीतासे श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नहीं है ।XXXX भगवद्गीतामें इतना उत्तम और सर्वव्यापी ज्ञान है कि उसके लिखनेवाले देवताको हुए अगणित वर्ष हो जानेपर भी उसके समान दूसरा एक भी ग्रन्थ अभीतक नहीं लिखा गया । XXXX गीताके साथ तुलना करनेपर जगत्‌का आधुनिक समस्त ज्ञान मुझे तुच्छ लगता है; विचार करनेसे इस ग्रन्थका महत्त्व मुझे इतना अधिक जान पड़ता है कि यह तत्त्वज्ञान किसी और ही युगमें लिखा हुआ होना चाहिये । XXX मैं नित्य प्रातःकाल अपने हृदय और बुद्धिको गीतारूपी पवित्र जलाशयमें अवगाहन करवाता हूँ ।

—महात्मा थारो

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें गीताका स्थान

(लेखक—पं० 'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' स्वामिनारायण, दार्शनिक-पञ्चानन, षड्दर्शनाचार्य, नव्यन्यायाचार्य, सांख्य-योग-वेदान्त-मीमांसातीर्थ)

जैसे सब सरिताओंका समावेशस्थान समुद्र है, जड-चेतनसृष्टिका उपादान-स्थान ब्रह्म है, विज्ञानोंका उद्भव-स्थान नित्यविज्ञान है, वैसे ही सारी दार्शनिक विद्याओंका समावेश-स्थान, सार्वभौम भक्ति-सृष्टिका उपादान-स्थान और मोक्ष-साधनीभूत विविध विज्ञानोंका उद्भव-स्थान गीता है; क्योंकि गीता और गीतातत्त्व, ये दोनों पराकाष्ठापन्न दिव्य वस्तु हैं। गीता है—परमात्मोच्चरित दिव्य शब्द-समूह, उसका तत्त्व है—तज्जन्य भावार्थ। एतादृश भावार्थ-बोधमें वक्ताका तात्पर्यज्ञान कारण होता है; वक्ताकी मति जिस विज्ञापनीय अर्थको प्रकाशित करनेकी इच्छासे शब्दोच्चारणमें प्रयोजक होती है, वह इच्छा ही तात्पर्य कहलाता है। श्रीकृष्ण परमात्माने समग्र गीतोपदेश जिस मतिसे दिया है, उस मतिको गीता-व्यासने गीतोपदेशसे ग्रहण करके सञ्जयको दिया; सञ्जय स्वयं भगवन्मतिको प्रकाशित करते हैं—

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

जिसके हृदय-स्थानमें चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योगके प्राप्तिकारण समर्थ परमात्मा श्रीकृष्ण भक्तिगृहमें बसते हों और लोक, शास्त्र तथा हृदयकी अनुमत पृथाका अपत्य पुमान् स्व-स्व धर्म, ज्ञान-वैराग्यात्मक धनुष सहित हो, वहीं सर्वविध श्री—निरतिशय सुखात्मक सम्पत्ति और मायातरणात्मक विजय और समग्र विभूति है—यह मेरी ध्रुवा—तर्काप्रतिहत, त्रिकालाबाधित नीतिः—सर्वत्र नीयते अर्थात् शास्त्रपुराणादिमें अनुस्यूत, मम मतिः—भगवद्वाक्य-जन्या भगवत्तात्पर्यज्ञानावबोधिनी बुद्धि है। श्रीकृष्ण परमात्माकी मति और गीताभावार्थ, ये दोनों नित्य-सम्बद्ध हैं; अतएव सब दार्शनिक विद्याओंका समावेश गीतामें सुसम्भवित है।

हेय, हेयसाधन, हान और हानसाधन—इन चतुर्व्यूहको लक्ष्यकर सब दर्शनशास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। हेय है—दुःख; हेयका हेतु है—अज्ञानादि; हान है—दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति या नित्यसुखावाप्ति; हानहेतु है—तत्त्वज्ञानादि या भक्ति। न्याय-वैशेषिकाचार्योंने शरीर; श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, मन—ये छः इन्द्रिय; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रवृत्ति—ये छः विषय; इनके छः ज्ञान, सुख और दुःख—ये इक्कीस दुःख हेय बतलाये हैं। सांख्याचार्य कपिलजीने 'दुःखत्रयाभिघातात्' इस वाक्यसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक त्रिविध दुःख बतलाये हैं। योगाचार्य पतञ्जलिने—

> परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

—इस सूत्रसे परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःखसे प्रयोज्य सर्वविध दुःख बतलाया है। वेदान्तकारने अन्योन्याध्यासव्याप्य दुःख बतलाया है। मीमांसाकारने अभ्युदय-प्रतिद्वन्द्विकर्मजन्य दुरितसे दुःख बतलाया है। इन सबको गीतामें—

> अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
> ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
> मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

—इत्यादि वाक्योंसे हेयरूपमें बतलाया है।

उन दर्शनकारोंमेंसे नैयायिक-वैशेषिकोंने—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये'

—इत्यादि सूत्रसे मिथ्याज्ञानको, सांख्य-योगने द्रष्टृ-दृश्यके संयोगको और मीमांसकोंने अभिचारादि कर्मको हेयहेतु कहा है। वेदान्ती अविद्यात्मकोपाधिको हेयहेतु कहते हैं। गीताजीमें इन सबको—

> एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।
> पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।
> अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।
> अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।
> कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
> कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।
> यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।
> असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
> यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

—इत्यादि वाक्योंसे प्रकाशित किया गया है।

सब दर्शनकारोंने दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्तिको या किसीने नित्यसुखको हान कहा है। गीताजीमें—

> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
> स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।

—इन वचनोंसे हानका स्वरूप दिखलाया है ।

सब दर्शनकारोंने हानहेतु तत्त्वज्ञानको बतलाया है, किसी-किसीने भक्तिको बतलाया है । गीताजीमें—

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

—इत्यादि वाक्योंसे हानहेतुका स्वरूप बतलाया है ।

इसके अतिरिक्त व्यासजीका ब्रह्मतत्त्व, जैमिनिका यागतत्त्व, नारदजीका भक्तितत्त्व, कपिलका सांख्यतत्त्व, पतञ्जलिका यम-नियमादिसमाध्यन्ततत्त्व, मनुका आश्रमाद्यनुसार धर्मतत्त्व, उपनिषदोंकी गत्यगती तथा सर्वत्र ब्रह्मभाव, त्रिगुणानुसार उपासक-उपास्य-तत्प्राप्त्यादि और वेद-शास्त्रादिकी विविध विद्याएँ तत्त्वरूपसे गीताजीमें सङ्कलित हैं; अतः सब विद्याओंका समावेशस्थान गीता है । गीताभ्यासीकी अनन्यशरणागति सुदृढ हो जाती है, क्योंकि परमात्माने—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।

—इत्यादि वाक्योंसे मुक्तिदातृत्वकी प्रतिज्ञा की है, अतः सब वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त भी इसीमें समन्वित है । अतएव सब प्रकारकी भक्तिका—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

—इत्यादि वाक्योंसे उपादान-स्थान गीता ही है । प्रत्येक अध्यायमें विविध विज्ञानोंका उद्भवस्थान गीताजी हैं । समग्र गीतामें परब्रह्म समीरित है । षट्कत्रयमें प्रथम ज्ञान-कर्मात्मक निष्ठा बतलायी गयी है, भगवत्तत्त्व-याथात्म्यसिद्धिके लिये भक्तियोग दिखलाया गया और प्रधानपुरुष, व्यक्त आदिका विवेचन, कर्म, बुद्धि, भक्ति आदि विशेषरूपसे दिखलाये गये । जगज्जन्मादिकारण परमात्माके वाक्यात्मक गीतामें किसका समावेश न हो ? विश्वरूपमें सर्वविधसमावेशवत् गीतामें सब प्रमाण-प्रमेयका समावेश है ।

संस्कृत गीताजीपर श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायके भगवान् श्रीस्वामिनारायणके शिष्य योगीन्द्र विद्वद्वर्य श्रीगोपालानन्द-स्वामीने संस्कृतभाष्य श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदाय-विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तानुकूल रचा है ।

श्रीश्रीस्वामिनारायणने स्वरचित 'शिक्षापत्री' ग्रन्थमें तथा 'श्रीभगवद्गीता', श्लोक ९४में गीताजीको सच्छास्त्ररूपमें स्वीकार किया है ।

संसारका सम्मान्य ग्रन्थ

गीताका तत्त्व बहुत ही गहन है, इसके एक-एक श्लोकपर महाभारतके समान बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं । गीताकी विमल विवेचनाओंको देखकर चाहे किसी देशका विद्वान् हो, चकित हो जाता है-सुरभारती-सेवकोंका तो कहना ही क्या है ! जिस गीताको सारा संसार सम्मानकी दृष्टिसे देखता है, वह गीता साधारण वस्तु नहीं है ।

—महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्राविड़

शरणागति ही गीताका परम तत्त्व है

(लेखक—पं० श्रीनारायणचरणजी शास्त्री, तर्क-वेदान्त-मीमांसा-सांख्यतीर्थ)

श्रीमद्भगवद्गीता ही सर्वसम्मत गुह्यातिगुह्य, सारातिसार, प्रमाणातिप्रमाण ब्रह्मविद्याका भंडार है। उसके लिये कहा भी गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने समस्त उपनिषद्-रूपी गौओंसे, महाबुद्धिशाली पार्थको बछड़ा बनाकर गीतारूप महान् अमृतका दोहन किया है, जिसको पी-पीकर मुमुक्षुजन आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—इन त्रिविध दुःखोंसे मुक्त होते तथा निर्वाण-पदको प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि सम्पूर्ण संसारमें गीताका महत्त्व अनुपम, अलौकिक और अपरिमित समझा जाता है। यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायोंके अनेकों विद्वान् आचार्योंने अपनी-अपनी शक्ति और सिद्धान्तके अनुसार सकलसच्छास्त्रशिरोमणि गीताको विविध भाष्यों, टीकाओं और टिप्पणियोंसे विभूषित करके अपना-अपना इष्ट-साधन किया है, तथापि गीताका प्रतिपाद्य तत्त्व अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण समग्ररूपसे ज्ञानका विषय हो ही नहीं सकता—यही उसकी महत्ता है। परन्तु फिर भी मानवगण अपनी-अपनी प्रतिभा एवं साधनाभूत अन्तःकरणके अनुसार गीता-तत्त्वको अंशतः समझकर भी अजर-अमर होकर चिर-शान्तिका आस्वादन करते हैं। अतः हताश होनेकी कोई बात नहीं है। 'अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्' इस वचनके अनुसार गीता-तत्त्वके विषयमें यथाशक्ति विचार करना उचित ही है।

यह तो विदित ही है कि सत्-चित्-आनन्दघन परब्रह्मपरमात्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेके लिये तीन काण्डोंवाले वेदोंका आविर्भाव हुआ है। उनसे मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डका अवलम्बन करके अभीष्ट सिद्ध करते हैं। परन्तु वेदोंके अर्थ इतने दुरधिगम्य हैं कि स्वल्पबुद्धिवाले साधारणजन उनसे सम्यक् लाभ नहीं उठा पाते। इसीलिये परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णने कृपा-परवश होकर अर्जुनको निमित्त बनाया तथा सबके हितके लिये गीतोपदेशका आविष्कार किया। जिस प्रकार वेदोंमें काण्डत्रयका प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह गीताजीमें भी है। क्योंकि 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इस न्यायसे कारणका गुण कार्यमें अन्वित होता ही है। अस्तु, गीताके प्रथम षट्कमें कर्मकाण्ड अर्थात् कर्मयोग अथवा कर्मनिष्ठाका, द्वितीय षट्कमें उपासनाकाण्ड अर्थात् भक्तियोगका और तृतीय षट्कमें ज्ञानकाण्ड अर्थात् ज्ञानयोगका निरूपण किया गया है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें वेदोक्त त्रिकाण्डोंका अत्यन्त साररूपसे निरूपण होनेके कारण वह वेदोंसे भी अधिक ग्राह्य है। जिस प्रकार दूधके ग्राह्य होनेपर भी उसका साररूप घृत अत्यधिक ग्राह्य अथवा ग्राह्यतम होता है, उसी प्रकार गीता भी निःश्रेयसकी आकांक्षा रखनेवाले मुमुक्षुजनोंके लिये अतीव उपादेय है।

गीताप्रतिपादित काण्डत्रयमें कौन काण्ड विशेषतः भगवान्के तात्पर्यका विषय है, इसका निर्णय करना बड़ा ही दुष्कर है। तथापि कतिपय आचार्योंने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार ज्ञाननिष्ठाको ही भगवान्का तात्पर्यविषय माना है और कर्मयोग तथा भक्तियोगको ज्ञानयोगका अङ्ग बतलाया है। उन्होंने—

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'
'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।'
'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।'

—इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्योंके आधारपर ज्ञानयोगकी ही प्रधानता सिद्ध की है। कुछ आचार्य कहते हैं कि भक्तियोग ही गीताकी पराकाष्ठा है, उसीसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है। ज्ञानयोग और कर्मयोग भक्तियोगके अङ्गभूत हैं, अतएव उनका कोई स्वतन्त्र फल नहीं होता; क्योंकि 'अङ्गिनः फलमङ्गे' इस न्यायसे अङ्गीकी सफलतासे अङ्ग भी सफल माना जाता है। इस विषयमें गीताके ही वाक्य प्रमाणभूत हैं—

'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।'
'मद्भक्तिं लभते पराम्।'

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'

—इत्यादि। इस प्रकार कुछ आचार्योंके मतसे

भक्तियोग ही निःश्रेयसका साधन सिद्ध होता है। इन दोनों मतोंके अतिरिक्त आधुनिक कालके पण्डितप्रवर महात्मा तिलकने अपने 'गीतारहस्य' नामक ग्रन्थमें कर्मयोगको ही भगवान् श्रीकृष्णका परम तात्पर्य सिद्ध किया है। उनकी इस मान्यताके आधार ये वचन हैं, जो गीताके ही हैं—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'
'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।'
'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।'
'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

इन सबके अलावा कई आचार्योंने कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें कोई विरोध न मानकर समुच्चयवाद ही गीताका तात्पर्य-विषय है, यह सिद्ध करनेके लिये श्रुति-स्मृतिके निम्नाङ्कित प्रमाण दिये हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
कर्मणा सहिताज्ज्ञानात्सम्यग्योगोऽभिजायते।
ज्ञानं च कर्मसहितं जायते दोषवर्जितम्॥

इन वचनोंसे कुछ आचार्य कर्म-ज्ञानसमुच्चयको ही मोक्षका साधन मानते हैं। इन सम्पूर्ण मतोंमें कौन मत ठीक है और कौन मत ठीक नहीं है, यह बतलानेकी चेष्टा करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि गीता साक्षात् श्रीभगवान्‌की वाणी है; उससे जिसकी जैसी भावना रहती है एवं जिसको जो अच्छा लगता है, वह वैसा ही अर्थ निकालता है और उसीके द्वारा अपनी इष्टसिद्धि करता है। ज्ञानके पक्षपाती ज्ञानयोगको ही उत्कृष्ट मानते हैं, भक्तिके पक्षपाती भक्तियोगकी ही प्रशंसा करते हैं, कर्मके पक्षपाती कर्मयोगको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं और समुचयके पक्षपाती ज्ञान तथा कर्मके समुचयको ही अच्छा समझते हैं। वस्तुतः सभी मत शास्त्रप्रतिपादित एवं युक्तियुक्त होनेके कारण ठीक हैं। शास्त्रोंमें सब तरहके लोगोंके लिये विविध प्रकारके वाक्य मिलते भी हैं। तभी तो विभिन्न-विभिन्न सम्प्रदायोंका आविष्कार हुआ है, अन्यथा होता ही कैसे!

किन्तु फिर भी विचार करनेपर यही युक्ति-युसमन्वित एवं समीचीन प्रतीत होता है कि गीतामें स्थान-स्थानपर कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोगका निरूपण होनेपर भी स्वरूपनिष्ठा अर्थात् शरणागति ही गीता-गायक परमात्मा श्रीकृष्णका परम तात्पर्य-विषय है। शरणागति ही गीताकी आत्मा है, अन्य सब उसीके अङ्ग हैं। यह बात केवल कथनमात्रसे नहीं, अपितु युक्तियों और प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। वक्ताका तात्पर्य किस विषयसे है, इसका निर्णय करनेके लिये मीमांसकोंने तात्पर्यबोधक प्रमाणोंका संग्रह इस प्रकार किया है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

अर्थात् उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति—इन सात प्रमाणोंसे तात्पर्यका निर्णय होता है। ये सातों प्रमाण शरणागतिमें मिल जाते हैं। गीतामें जब उपदेशोंका आरम्भ होता है, तब अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥'

'जो निश्चितरूपसे श्रेयस्कर हो, वह मुझ शरणागतको बतलाइये।' इस वाक्यमें जो 'प्रपन्न' शब्द आया है, वह स्पष्ट ही शरणागतिका बोध कराता है; अतएव उपक्रम शरणागतिका ही हुआ। जिसका उपक्रम, उसीका निरूपण होता है। यदि शरणागतिका उपक्रम हुआ है तो प्रसङ्गवशात् अन्यान्य विषयोंका वर्णन करके शरणागतिकी ही पुष्टि की जायगी, अन्यथा असङ्गतिके कारण विचारवान् पुरुषोंकी उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अतः उपसंहारमें तो शरणागति प्रसिद्ध ही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! तुम सम्पूर्ण धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।' इस कथनमें भी शरणागतिका विधान स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। इसी प्रकार अभ्यास भी शरणागतिका ही है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते...............।'
'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'

इत्यादि अनेक स्थलोंपर शरणागतिका पुनः-पुनः कथन किया गया है—जैसा कि उपनिषद्‌में 'तत्त्वमसि' का

नौ वार उपदेश आया है । अपूर्वता भी शरणागतिकी ही है; क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि तत्तत्प्रमाणोंसे शरणागतिकी उपलब्धि नहीं होती, केवल शास्त्रोंसे ही शरणागतिकी प्राप्ति होती है-शास्त्रोंमें भी विशेषतः गीताके ही वाक्योंसे ! अतः अबाधित, अनधिगतविषय होनेके कारण गीताका परम तात्पर्य शरणागतिमें ही है । फल तो प्रसिद्ध ही है—

'मायामेतां तरन्ति ते ।'

'······सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'

—इन वाक्योंमें जो अविद्यातरण, समस्त पापोंसे विमुक्ति और शोकापनोदनका उल्लेख है-ये सब शरणागतिके ही फल हैं । ऐसे ही अर्थवाद भी शरणागतिके लिये प्रस्तुत है—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।'

जब शरणागतिका एक अंश भी जन्म-मरणके महान् भयसे रक्षा करता है, तब समग्र शरणागति कौन फल नहीं दे सकती ? और वास्तवमें बात तो यह है कि जो वस्तु स्वतन्त्र इच्छाका विषय अर्थात् मुख्य पुरुषार्थरूप नहीं है, उसीके लिये अर्थवादकी आवश्यकता है । शरणागति तो स्वयं पुरुषार्थरूप है, उसमें प्रशंसारूप अर्थवादकी आवश्यकता ही क्या है ?

अब रही उपपत्ति, सो शरणागतिमें बहुत अच्छी है । सांख्याचार्योंको छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिकोंने स्वीकार किया है कि मायाके अधिष्ठाता परब्रह्म परमात्मा ही हैं । ब्रह्मसूत्रमें भी कहा गया है—'तदधीनत्वादर्थवत् ।' अर्थात् माया परमात्माके अधीन होकर ही विविध कार्य कर सकती है । अतः जिस मायासे बन्धन होता है, वह माया परमात्माकी एक शक्ति है और यदि उस मायासे छुटकारा पाना हो तो परमात्माकी शरणमें जाना अनिवार्य ही है; अन्यथा कभी मुक्ति नहीं हो सकती । इसके अतिरिक्त समस्त साधन भी परमात्माकी प्रसन्नता या अनुग्रहद्वारा ही फलित होते हैं, अन्यथा नहीं । अस्तु, इन सातों प्रमाणोंसे शरणागति ही गीताका तत्त्व है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है ।

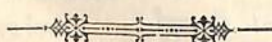
भगवत्स्वरूपके बलका नाम ही शरणागति है । मुमुक्षुके लिये शरणागतिसे बढ़कर सुन्दर, सरल एवं शास्त्रप्रतिपादित उपाय और कोई नहीं है । गीतामें उसी शरणागतिका विधान किया गया है । अतः वही गीताका सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है । क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्ने—

'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।'

——इस वाक्यसे गुह्यातिगुह्यतर ज्ञानकी प्रशंसा की है और पुनः——

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

—यह प्रतिज्ञा करके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य······' इस श्लोकसे शरणागतिको ही अत्यन्त गुह्यतम बतलाया है । अतः शरणागति ही गीताका परम तत्त्व है; और सब उसीके शेष हैं ।



सर्वप्रिय काव्य

इतने उच्च कोटिके विद्वानोंके पश्चात् जो मैं इस आश्चर्यजनक काव्यके अनुवाद करनेका साहस कर रहा हूँ, वह केवल उन विद्वानोंके परिश्रमसे उठाये हुए लाभकी स्मृतिमें है। और इसका दूसरा कारण यह भी है कि भारतवर्षके इस सर्वप्रिय काव्यमय दार्शनिक ग्रन्थके विना अंगरेजी साहित्य निश्चय ही अपूर्ण रहेगा ।

——सर एडविन आरनल्ड

गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम-तत्त्व

(लेखक—श्रीमन्निजानन्द-सम्प्रदायके आद्य धर्मपीठस्थ आचार्य श्रीश्रीधनीदासजी महाराज)

गीताका गौरव, उसके विषयकी महत्ता एवं उसके स्वरूपका गाम्भीर्य अत्यन्त ही दुरूह और उत्कृष्ट है; इसको तत्त्वतः तो केवल गोपालजी ही कह सकते हैं। यह निर्विवाद है कि गीता गोविन्दका हृदय है और उसमें परम तत्त्व ओतप्रोत होकर प्रवाहित हो रहा है। उसके अन्तस्तलसे आजतकके अनेक विद्वानों एवं संत-महात्माओंने अगणित रत्नोंको हस्तगत किया है और अभी भी करते जा रहे हैं। फिर भी सम्भव है कि उसकी तहमें अभी बहुत-से अमूल्य और अनूठे रत्न भरे पड़े हों और उनकी ओर अन्तर्दृष्टि करनेका हमें अवकाश ही न प्राप्त हुआ हो ! क्योंकि—

'शर्करा कर्करा न स्यादमृतं न विषं भवेत्।'

अस्तु, यों तो गीता-तत्त्वके प्रतिविम्बको शब्दोंमें उतारना—उसकी रूप-रेखाका चित्र खड़ा करना प्रभु-कृपापर ही अवलम्बित है; तथापि अमृत और मिश्रीको चाहे जैसे और जिधरसे चाटिये, उसके माधुर्य-रसमें न्यूनता न प्रतीत होगी। बस, यही बात गीतामृतके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। गीतारूपी अमृत-सिन्धुमें चाहे जितनी बार गोता लगाया जाय, खाली न जायगा और न कभी उसका माधुर्य ही कम होगा। यद्यपि गीतामें अनेक विवादास्पद तत्त्वोंका गौरवके साथ सरल एवं क्षिप्तरूपमें सङ्कलन किया गया है, परन्तु उन सबका अन्वेषण-गवेषण आज गहन बन गया है। गीताके एक-एक शब्दपर हमारे इतिहास-पुराणोंमें निर्वचन भरे पड़े हैं। अतः उन्हींके अनुसार इस लेखमें गीताके 'क्षर, अक्षर' शब्दोंपर यत्किञ्चित् प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

गीताने लौकिक-अलौकिक सम्पूर्ण तत्त्वोंको 'क्षर', 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम'—इन तीन भागोंमें विभक्त करके जीवात्माको अक्षर (अविनाशी)-तत्त्वके* साथ जोड़ दिया है; अतः जीवात्म-तत्त्वके विषयमें यहाँपर पृथक् विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

क्षर—विद्वान् पुरुष जिसको विश्व, विराट्, ब्रह्माण्ड, समष्टि-व्यष्टि, व्यक्त आदि नामोंसे सम्बोधित करते हैं; जितने पदार्थ विनश्वर और अनित्य हैं एवं जिस जगत्का उदय-लय होता है—गीता उसे 'क्षर पुरुष' कहकर पुकारती है।

अक्षर—जो निर्विकार एवं अविनाशी तत्त्व है, जिसकी प्रेरणासे यह व्यक्त विश्व प्रतीत होता है, जो इस सर्ग-विसर्ग-का सृजन करके पुनः इसे अपनेमें लीन कर लेता है, जिसकी इच्छामात्रसे असंख्य जीव इस आवर्तमें प्रवृत्त-निवृत्त होते हैं, जो पदार्थमात्रमें उत्कृष्ट चेतनरूपसे ओतप्रोत है, जिसमें यह विनश्वर विश्व स्थूल-सूक्ष्मरूपसे प्रतीत होता है—उस कारणोंके भी कारण, अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न चतुष्पाद विभूतिके अधिष्ठातृदेवके लिये गीतामें 'अक्षर पुरुष' संज्ञा-का प्रयोग किया गया है।

पुरुषोत्तम—जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंसे पर, सर्व-शक्तिमान्, सच्चिदानन्दस्वरूप, पूर्णात्पूर्ण, परब्रह्म परमात्मा है—उसको गीता 'पुरुषोत्तम' कहती है। इस प्रकार लौकिक-अलौकिक सम्पूर्ण तत्त्वोंको तीन भागोंमें विभक्त करके गीताने दर्शनोंकी जटिल समस्याको सरल और संक्षिप्त-रूपमें समझाकर महान् उपकार किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आदेश करते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अर्थात् विश्वमें क्षर और अक्षर नामक दो पुरुष हैं। सम्पूर्ण भूतमात्रको क्षर कहते हैं; और जो कूटस्थ निर्विकार अविनाशी ब्रह्म है, उसे अक्षर कहा जाता है। क्षर अर्थात् व्यष्टि-समष्टिमय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; और अक्षर अर्थात् कूटस्थ। इस कूटस्थसे भी परे 'उत्तम पुरुष' है, जिसे सब लोग 'परमात्मा'के नामसे पुकारते हैं। वह क्षर—कार्यलोक, अक्षर—ब्रह्मलोक और दिव्य ब्रह्मपुर—उत्तमपुरुष-लोक, इन तीनों

* ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५। ७)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(गीता ७। ५)

लोकोंमें अपनी सत्तासे प्रविष्ट होकर सबका नियमन एवं संरक्षण करता है।

महाभारतके शान्तिपर्वमें युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मपितामह क्षर पुरुषके स्वरूपको इस प्रकार समझाते हैं—

यच्च मूर्तिमयं किञ्चित्सर्वं चैतन्निदर्शनम्।
जले भुवि तथाकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः॥
कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम्।
अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः॥

अर्थात् 'हे युधिष्ठिर! जल, स्थल तथा आकाशमें जो कुछ मूर्तिमान् दृष्टिगोचर होता है; समस्त विश्वमें जो कुछ व्यक्त है, वह सब क्षरके अतिरिक्त नहीं—यह निश्चय जानो। अक्षरके अतिरिक्त विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ, समस्त प्राणिमात्र प्रतिदिन नाश होते हैं; अतएव उन्हें क्षर कहा गया है।' इसी प्रकार पुराणसंहितामें श्रीव्यासजीका भी वचन है—

अव्याकृतविहारोऽसौ क्षर इत्यभिधीयते।
तत्परं त्वक्षरं ब्रह्म वेदगीतं सनातनम्॥

तात्पर्य यह है कि अव्याकृतका विहार अर्थात् अव्यक्तसे जो उदय-लयरूपमें विकास पाता है, उसे क्षर कहते हैं। उससे परे अक्षर ब्रह्म है, जिसे वेदने सनातन प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त भागवतके तृतीय स्कन्धमें भी यही बात आयी है—

अण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः।
दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्॥
लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः।
तमाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥

'जिसमें पचास करोड़ योजन विस्तारवाला यह विश्व उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरणोंसहित परमाणुवत् भासता है एवं जिसके अन्तर्गत और भी ऐसे करोड़ों ब्रह्माण्ड लक्षित होते हैं—उसी सब कारणोंके कारणको 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें अक्षर पुरुषका निर्वचन करते हुए भीष्मपितामह कहते हैं—

अक्ष ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।
अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृ शाश्वतम्॥
कूटस्थं चैव नित्यं च यद्वदन्ति मनीषिणः।
यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः॥

'निश्चय ही अविनाशी सनातन ब्रह्मका नाम अक्षर है। उसीको नित्य और कूटस्थ भी कहते हैं। उसी नित्य एवं शाश्वत कर्ताके द्वारा सृष्टि, प्रलय आदि क्रियाएँ होती हैं।'

'अक्षर' और 'कूटस्थ'पदोंका इतना सुन्दर एवं शुद्ध निर्वचन अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। पूर्ण, ब्रह्म, सनातन आदि शब्द यह भलीभाँति स्पष्ट कर देते हैं कि कूटस्थका अर्थ शुद्धब्रह्म है; ब्रह्ममें मायाका होना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। कतिपय विद्वान् 'अक्षर' शब्दसे जीवको ग्रहण करते हैं; परन्तु पूर्ण, ब्रह्म, कर्तृ आदि शब्दोंसे उनकी मान्यताका स्वतः निराकरण हो जाता है। कई विद्वान् अक्षरका अर्थ प्रकृति करते हैं, पर वह भी 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' और 'सा च प्रशासनात्' (१।३।१०-११) इत्यादि ब्रह्मसूत्रों एवं 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि!' इत्यादि अनेक श्रुति-वचनोंके प्रतिकूल होनेके कारण अमान्य है। अस्तु, शतशः प्रमाणोंसे यह स्पष्ट होता है कि गीतोक्त 'अक्षर' तथा 'कूटस्थ' पद केवल ब्रह्मके लिये ही हैं।

'उत्तम पुरुष' पदसे गीताको अक्षरातीत परमात्मा ही अभिप्रेत है, जो पूर्णात्पूर्ण सर्वोत्कृष्ट चिदानन्दघन सच्चिदानन्द-स्वरूप परम धाममें अविचल विराजमान है, जिसका वर्णन मुण्डक श्रुतिने 'अक्षरात्परतः परः' कहकर किया है एवं जो श्वेताश्वतरोपनिषद्के अनुसार 'स वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' अर्थात् ब्रह्मधाममें विविध पराशक्तियोंके सहित पूर्णातिपूर्ण तथा अविचलरूपसे विद्यमान है। इस प्रकार गीताने नित्य, अनित्य सम्पूर्ण तत्त्वोंको तीन भागोंमें विभक्त करके 'क्षर', 'अक्षर' एवं 'पुरुषोत्तम' शब्दोंको स्पष्ट कर दिया है।

यहाँ पाठकगण 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस सिद्धान्त-वचनके विरुद्ध दो ब्रह्मोंकी व्याख्या पढ़कर आश्चर्यमें न पड़ें। 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिमें 'एक' पद 'एके मुख्यान्य-केवलाः' के अनुसार मुख्यार्थक है। वस्तुतः अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम ब्रह्म अङ्गाङ्गि-भावसे एक ही हैं, लीला-भेदसे ही स्वरूप-भेदका वर्णन किया गया है। यही बात पुराण-संहितामें भी लिखी गयी है—

अक्षरः परमात्मा च पुरुषोत्तमसंज्ञकः।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म द्विधा लीलाविभेदतः॥

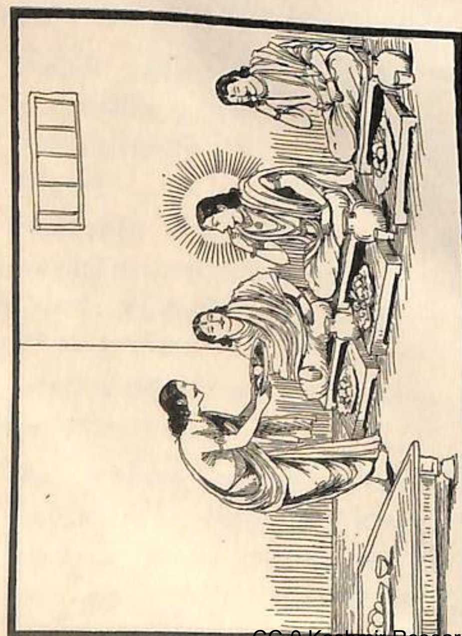
अस्तु, परमात्माका स्वरूप 'सत्, चित्, आनन्द' इस प्रकार त्रिवृत्त है। 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादि श्रुतियाँ इसी ओर सङ्केत करती हैं। 'सदंशविश्वरूपाय' अर्थात् सदंशद्वारा विश्वकी रचना होती है। चिदंश स्वयं प्रतिष्ठित



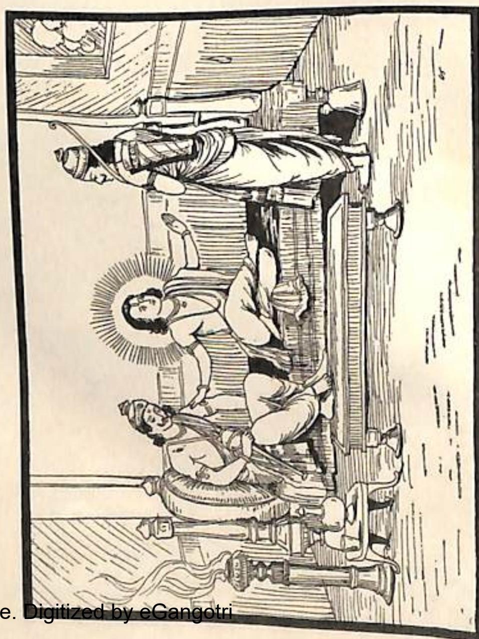
कौरव-सभामें भाषण



राजसभामें विराट रूप



विदुरके घर



समदर्शिता

उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः अहिंसाकी साधना पूर्ण तभी हो सकती है, जब पूर्ण अपरिग्रह हो और सांसारिक प्रयोजनों और पदार्थोंके प्रति सच्ची निर्ममता और दृढ़ हार्दिक वैराग्य हो। सांसारिक जीवनमें रहते हुए अपने या दूसरोंके न्यायोचित लौकिक स्वत्वोंकी रक्षाके लिये ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाया करती हैं, जिनके वशमें हो जानेसे मनुष्यको हिंसामें अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। मनमें संक्लेश भाव होकर हिंसात्मक परिणाम छिपे रहते हैं; और मनमें यदि वासनाएँ भरी हैं, क्रोधकी आग धधक रही है, तो वैराग्य या अहिंसाका दम भरना मिथ्याचार ही है। पाण्डवोंके साथ लौकिक दृष्टिसे अन्याय हुआ था, इससे अर्जुनका हृदय क्षुब्ध था। वनवासकालमें दिव्य शस्त्रास्त्रोंके लिये तपस्या करते समय उन्हें जब गुप्तवेषधारी शिवजीने तथा इन्द्रने वैराग्य और क्षमाका उपदेश दिया, तब अर्जुनने कहा था कि मेरे हृदयमें तो अपने छीने हुए राज्यको वापस लेकर कौरवोंसे बदला लेनेकी आग धधक रही है। ऐन मौकेपर अर्जुन जो युद्धसे विमुख हो रहा था, उसका कारण वैराग्य और दया नहीं, बल्कि भीष्मादि स्वजनोंके प्रति उसका मोह था। आजकल भी समाजमें बहुतेरे मनुष्य स्वजनोंके अन्याय-अत्याचारसे दिलमें कुढ़ते हुए भी उनके मोहसे जान-बूझकर कोई समुचित प्रतिकार नहीं करते, और इसको नीति समझते हैं। इसीसे लोकव्यवहारमें अनेकों वैयक्तिक और सामाजिक दुष्परिणाम होते हैं। ऐसे मोह, भय आदिको दूर करके अपनी स्थितिके अनुरूप धर्मानुकूल कर्म करनेके लिये गीताके उपदेश हैं। इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं—

> तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
> असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
> (गीता ३।१९)

'आसक्तिको छोड़कर नित्य-निरन्तर कार्य (धर्मानुसार) कर्मोंको करो। क्योंकि पुरुष अनासक्त होकर कर्म करता हुआ परम पदको प्राप्त होता है।' इससे वासनाओंकी शान्ति और अन्तःकरणकी शुद्धिमें बड़ी सहायता मिलती है। अर्जुन उस समय राजसी प्रवृत्तिमें बँधे हुए थे। उसका फल तो होता ही! परन्तु इस प्रकार लोकव्यवहार करते हुए भी उसमें निष्कामता, निर्लिप्तता और विशुद्ध भावकी कैसी कठिन मर्यादाएँ गीताने बाँध दी हैं। इन मर्यादाओंका पालन कर सकनेके लिये सुदीर्घ कालतक कठोर साधन, आत्मिक और शारीरिक संयमकी आवश्यकता है। [illegible] मर्यादाओंके साथ लोक-व्यवहारके कर्म कर सकना बड़ा ही दुष्कर है, आगके साथ खेलना है। और अहिंसाका विचार तो फिर भी यथाशक्ति रखना ही पड़ता है (१८।२५)।

दूसरे अध्यायमें जो कहा गया है कि आत्मा न मारता है और न मारा जाता है—'नायं हन्ति न हन्यते', इससे भी हिंसाके स्थानमें अहिंसाका ही अधिक समर्थन होता है। क्योंकि ऐसा तर्क उसे ही शोभा देता है जो स्वयं दुःख-सुखके भयसे सर्वथा मुक्त हो गया हो। और ऐसी अवस्था अहिंसाके साधनकी पूर्णतासे ही उपलब्ध हो सकती है। जब आत्मा मृत्यु और सुख-दुःखसे परे है तब उसकी कोई क्या हानि कर सकता है? और उसको किसीके अत्याचार या अन्यायके प्रतिकारको भी आवश्यकता क्यों हो सकती है? यदि इस तर्कको हिंसाका समर्थक मानें तो इससे लोकमें महान् अनर्थ हो जानेकी सम्भावना है। फिर तो खूनी, चोर, डाकू और बदमाश आदि सभी निरपराध और अदण्ड्य समझे जाने लगेंगे। महाभारतकारने युद्धके अन्तमें पाण्डवोंके पश्चात्ताप और दारुण शोकको प्रकट कर युद्धके परिणामका बड़ा ही करुण और बीभत्स चित्र खींचा है। वस्तुतः हिंसासे अहिंसा, मारनेसे सुधारना और सांसारिक–अनात्म-पदार्थोंके अवलम्बनसे उनसे स्वाधीनता या आत्मनिर्भरता अधिक श्रेष्ठ है। इसलिये ये ही लक्ष्य या आदर्श भी हैं। और लोकव्यवहारकी जो नीति इस ओर अग्रसर करती है वही प्रशस्त नीति भी है।

जिस प्रकार संन्यासवादियोंने गीताको केवल संन्यासमार्गका प्रतिपादन करनेवाला और लोक-व्यवहारके सर्वथा अनुपयुक्त बतलाकर इसके लोकव्यवहार-प्रतिपादक शब्दोंके अर्थोंमें खींच-तान कर व्याख्या की है, उसी प्रकार कर्मवादियोंने भी गीताको केवल सांसारिक कर्म करते रहनेका उपदेश देनेवाला ग्रन्थ बतलाकर इसके सर्वारम्भपरित्याग, विविक्तसेवन, अनिकेतता, अपरिग्रह, असङ्गता, आत्मतृप्ति, आत्मतुष्टि, कर्मके दोष और कर्मसे नैष्कर्म्यकी श्रेष्ठता आदि शब्दोंद्वारा दिये जानेवाले उपदेशोंको खींच-तानकर उन्हें लोकव्यवहारका ही प्रतिपादक सिद्ध किया है; परन्तु गीता, वस्तुतः सर्वोच्च आदर्श और लोकव्यवहार दोनोंकी ही शिक्षा देती है। और यद्यपि अधिकांश लोगोंके लिये सुलभ होनेके कारण व्यवहारपर बारंबार जोर दिया गया है, तथापि आदर्शकी पूर्णताकी [illegible] नहीं की गयी है। और न लोक-व्यवहारकी

अपूर्णता और महज साधन-स्वरूपताको ही छिपाया गया है। 'चित्तमें निर्लिप्तभाव रखकर संसारके सब कर्म करते रहनेसे ही मुक्ति मिल जायगी। अपरिग्रह, इन्द्रियभोग-त्याग आदि न तो सम्भव है, न इनकी आवश्यकता ही है।' ऐसी बातें विषयाभिलाषियों और उच्छृङ्खल आचारवालोंको खूब रुचती हैं, क्योंकि इनसे उन्हें स्वच्छन्द भोगादि करनेके लिये और उच्छृङ्खलताके समर्थनके लिये एक युक्ति—एक आत्मसमाधान-सी—मिल जाती है; परन्तु यह घोर आत्मवञ्चना—आत्मघात है। पूर्णताके लिये भाव और आचरणकी एकता आवश्यक है। जहाँ भाव सत्य और शुद्ध होंगे वहाँ शारीरिक कर्म यदि तत्काल पूर्णतया शुद्ध न भी होंगे तो वे उत्तरोत्तर शुद्ध होने शुरू हो जायँगे और अल्पाधिक कालमें सर्वथा शुद्ध और निर्दोष हो ही जायँगे। लोक-व्यवहारके कर्मोंको भी उत्तरोत्तर निर्दोष बनाते रहनेके लिये गीताने विभिन्न परिस्थितियोंसे युक्त मनुष्योंके लिये अनुकूल उपाय बतला दिये हैं।

गीता और राजनीति

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

श्रीमद्भगवद्गीता एक विलक्षण रत्नभंडार है, यह वस्तुतः गागरमें सागर है। अपनी-अपनी भावना और योग्यताके अनुसार पाठकोंने इससे पृथक्-पृथक् ज्ञान और प्रेरणा प्राप्त की है। तथापि सर्वसाधारणके लिये इसकी पृष्ठभूमि राजनैतिक ही है। इस अद्भुत कृतिने राजवंशके गृह-युद्धको अमर कर दिया है। इसके अभावमें कौरवों और पाण्डवोंकी लड़ाई इतिहासकी एक साधारण घटना होती। पर अब तो उसकी कथामें अपनी विशेषता हो गयी है। विशेषतया पाण्डवोंका महारथी अर्जुन तो निरन्तर चिन्तनका विषय बना हुआ है। अर्जुनके सामने कुरुक्षेत्रमें यह समस्या उपस्थित थी कि मैं लड़नेका कार्य करूँ या न करूँ। जीवन-संग्राममें प्रत्येक मनुष्यके सामने समय-समयपर ऐसे अवसर आते हैं, जब वह किसी-न-किसी कार्यके सम्बन्धमें इस दुविधामें होता है कि मैं उसे करूँ या न करूँ। ऐसे अवसरोंके लिये अनेक महापुरुषोंने शिक्षा और उपदेश दिया है। भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी हमारी ध्रुव पथ-प्रदर्शिका है। गीता हमें जीवनमें पद-पदपर प्रकाश देनेवाली है। पर यहाँ राजनैतिक दृष्टिकोणसे ही विचार करें।

गीताकी शिक्षा है कि राजा, शासक या कर्मचारी सदैव अपना कर्तव्य कार्य करते रहें, कभी अकर्मण्य न रहें, साथ ही किसी कार्यमें लिप्त न हों, उसके फलकी आकाङ्क्षा न करें। जय हो या पराजय, सुख मिले या दुःख, निन्दा हो या स्तुति, धैर्य और स्थिरतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करें। आज दिन कितने शासक हैं जो आराम या विलासिताका जीवन नहीं बिताते? कितने ऐसे अधिकारी हैं जो अपनी निन्दाकी बात तो दूर रही, अपने मतकी आलोचना भी शान्ति और सहनशीलतापूर्वक सुनते हैं? सबके 'दरबार' हाँ-हजूरी करनेवाले खुशामदियोंसे भरे रहते हैं। प्रत्येककी नीति अपने विरोधी दलके प्रत्येक व्यक्तिको पद-दलित करनेकी रहती है। दलबंदीमें कितनी उपयोगी शक्तिका भयङ्कर दुरुपयोग किया जाता है!

भगवान् श्रीकृष्णने बताया है कि आत्मा अमर है, इसे कोई मार नहीं सकता, यह कभी मर नहीं सकती। पर हम गीताके इस आशयके श्लोकोंको कण्ठ करके भी बात-बातमें अपनी जान बचानेकी फिकरमें रहते हैं। यदि राजनैतिक कार्य करनेवालोंका गीताके वाक्योंमें अटूट विश्वास हो तो वे सत्य और न्यायके पथसे कभी भी विचलित न हों—चाहे उनपर लाठी-वर्षा हो, चाहे उन्हें जेलकी यातनाएँ सहनी पड़ें और चाहे उन्हें सूलीके तख्तेपर ही क्यों न चढ़ाया जाय। जब कि आत्मा अमर है तो प्राणोंका क्या मोह? कोई राज्याधिकारी या कानून हमें भयभीत कैसे कर सकता है? हम फिर जन्म लेंगे और फिर जन्म लेंगे। शहीदोंके खूनकी एक-एक बूँदसे नये शहीद पैदा होंगे। क्यों न हम धर्म और न्यायके लिये अपने प्राण न्यौछावर करनेको तत्पर रहें?

अर्जुनको बताया गया था कि काम, क्रोध, लोभ, मोहको छोड़े; अपने और परायेका विचार न करे। अधर्म-पथपर चलनेवाले अपने आत्मीयको भी दण्ड देनेमें संकोच न करे। आज दिन कौन-सा सभ्यताभिमानी राष्ट्र है जो अपने मुँह-लगे लाड़ले बेटोंकी बेजा हरकतोंपर यथेष्ट नियन्त्रण करता है। प्रत्येक साम्राज्यके अधिनायक दूसरे देशोंको हड़पनेकी फिकरमें हैं, उसके लिये नित्य नये दाव-घात खेले जा रहे हैं। संसारकी मानव-जनता प्रति घड़ी अनिष्टकी

आशङ्का कर रही है, न जाने कब कहाँ प्रलयका दृश्य उपस्थित हो जाय। आधुनिक कालमें राजनीतिका अर्थ कुटिल नीति हो चला है। शासकोंकी तृष्णापर कोई प्रतिबन्ध नहीं, उनकी आकाङ्क्षा और शोषण-कार्यपर कोई अंकुश नहीं। राजनीतिका अध्ययन छल, कपट, चालबाजियों और षड्यन्त्रोंका अध्ययन हो गया है। अनेक शान्तप्रकृति और सरल हृदयके व्यक्तियोंके लिये राजनैतिक कार्योंमें भाग लेना कठिन हो जाता है। क्या हम राजनीतिकी गंदगीको दूर नहीं कर सकते? यदि संसारके सञ्चालनके लिये राजनीतिकी आवश्यकता और उपयोगिता है, तो राजनीतिको शुद्ध और सात्त्विक बनाना भी आवश्यक है। इसके लिये गीता हमारी महान् पथ-प्रदर्शिका है। क्या संसारके राष्ट्र-सूत्रधार इस ग्रन्थ-रत्नसे लाभ उठावेंगे और अपना वास्तविक कल्याण करनेकी ओर ध्यान देंगे?



श्रीगीता-महिमा

(लेखक—श्रीकुँवर बलवीरसिंह, 'साहित्य-भूषण')

हरि-मुख-पङ्कज-प्रकट, पार्थ-उद्बोधन-कारिणि।
व्यास महामुनि-रचित महाभारत-सञ्चारिणि॥
द्वैत-दैत्य-दल-दरणि, निखिल श्रुति-तत्त्व-प्रचारिणि।
ब्रह्मात्मैक्य-पियूष-प्रवाहिनि, भव-भय-हारिणि॥
जय दयामयी गीते! जननि, महामोह-तम-नाशिनी।
जय जयति दास 'बलवीर' हिय ज्ञान-दिनेश-प्रकाशिनी॥

ब्रह्मानन्द-रसकी है विमल सरिता किधौं?
कैधौं वर वाटिका है मुक्ति महारानीकी?
कृष्णचन्द्र-हियकी कै मंजु चन्द्रकान्त मणि?
कैधौं है सुहागबिन्दी व्यास मुनि-बानीकी?
कैधौं शारदीय पूर्ण चन्द्र-चन्द्रिका है चारु?
निधि है अमूल्य किधौं योगि-ऋषि-ज्ञानीकी?
वेद-शीर्ष-सरकी कै सुन्दर सरोजिनी है?
कैधौं 'बलवीर' गीता मूरति भवानीकी?

गीते! है प्रभाव तेरा विदित त्रिलोकी माहिं,
क्षणहीमें माया, मोह, लोभको मिटाती है।
ज्ञान-चक्षु खोलके, विकार सब दूर कर,
पावन परम मुक्ति-मार्ग दरशाती है॥
भाषै 'बलवीर' राग-द्वेषकी विनाशिनी तू,
जीव-ब्रह्म-भेद जन-चित्तसे हटाती है।
पूर्ण भक्ति-भावयुक्त पारायणकारी सदा
नरको तू नारायण सन्तत बनाती है॥

फिरता है तरुणी-कपोल-युग पल्लव पै, विभव-मालती पै मँडलाता निर्द्वन्द्व तू।
आशा-धन-तृष्णादिक-बकुल-गुलाब-रस-पानहेतु जाता जहाँ पाता दुख-फन्द तू॥
कहै 'बलवीर' मुँह मोड़ भोग-कुसुमोंसे, मान ले हमारी सीख, छोड़ छल-छन्द तू।
एरे मतिमन्द मेरे मानस-मिलिन्द! चाख कृष्ण-अरविन्दका अपूर्व मकरन्द तू॥

गीतामें भगवान्के सुलभ होनेका एकमात्र उपाय

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय 'राम', व्याकरण-साहित्य-शास्त्री)

यों तो श्रीमद्भगवद्गीतामें मनीषी महात्माओंने अनेकों मननीय सिद्धान्तोंका अनुसन्धान किया है—किसीने कर्मयोग, किसीने ज्ञानयोग और किसीने एकमात्र भक्तियोगको ही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य बताया है। कोई इनमेंसे दो या तीनों निष्ठाओंको समानरूपसे प्रधानता देते हैं। भिन्न-भिन्न आचार्योंकी साधनप्रणालियाँ विभिन्न प्रकारकी हैं, और सभी गीताद्वारा किसी-न-किसी रूपमें अनुमोदित हैं; तथापि इन सभी सिद्धान्तों, निष्ठाओं और साधनकी विभिन्न पद्धतियोंका जिस एक चरम साधनमें पर्यवसान होता है; जिस मुख्य साधनको ही साधनेके लिये ये सभी गौण और अवान्तर साधन काममें लाये जाते हैं—वही भगवान्के सुलभ होनेका सर्वप्रधान और एकमात्र साधन है। उसीका समस्त गीताशास्त्रमें विभिन्न प्रकारसे प्रतिपादन हुआ है और उसका ही आश्रय लेकर सभी श्रेणीके साधकोंको भगवान्की प्राप्ति होती है। जो इस रहस्यको समझकर शीघ्र-से-शीघ्र उसी चरम साधनको अपनाते हैं, उन्हें ही भगवान् सुलभ हैं। अन्यान्य साधनोंसे चलकर भी भगवत्प्राप्ति होती है, किन्तु उनमें उतनी शीघ्रता और सुलभता नहीं है। कारण कि वे सभी साधन इस गीतोक्त मुख्य साधनके ही अङ्ग हैं, उनके द्वारा इसीकी प्राप्ति होती है और इसका पूर्ण अभ्यास होनेपर भगवान् शीघ्र ही प्राप्त होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस चरम साधनको प्राप्त करनेके लिये किसी खास तरहके मार्गका ही अवलम्बन करना पड़ेगा; भगवान्के वचनोंपर श्रद्धा और अटल विश्वास होनेपर प्रारम्भसे ही उस चरम साधनका अभ्यास किया जा सकता है। श्रद्धा-विश्वासकी कमी होनेपर तो किसी भी साधनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती!

वह चरम साधन है अनन्यचिन्तन! भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

'हे अर्जुन! जो अपने मनको कहीं और न लगाकर सदा-सर्वदा मेरा ही स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

सम्पूर्ण गीतामें 'सुलभ' शब्दका प्रयोग केवल इसी श्लोकमें हुआ है। अनन्यचिन्तन करनेवालेको ही भगवान् सुलभ हैं, दूसरेको नहीं। गीतामें सर्वत्र इस अनन्यचिन्तनकी महिमा गायी गयी है। नवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें अनन्यचित्तसे भजन करनेवालोंको 'महात्मा' कहा गया है—

'महात्मानस्तु मां पार्थ ...... भजन्त्यनन्यमनसः।'

अन्यान्य वचनोंपर भी दृष्टिपात कीजिये—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९।३०)

'अत्यन्त दुराचारी होकर भी जो मुझे अनन्यभावसे भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसने बहुत उत्तम निश्चय कर लिया है।'

अनन्यभावसे भजन मनोयोगद्वारा ही होता है; अतः यहाँ भी अनन्यचिन्तनकी ही प्रशंसा की गयी है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

(८।२२)

'हे पार्थ! वह परम पुरुष अनन्यभक्ति (अनन्यचिन्तन) से ही प्राप्त होने योग्य है।'

'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९।२२)। **'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः'** (११।५४)। **'मत्परमः'** (११।५५)। **'मत्पराः। अनन्येनैव योगेन'** (१२।६)। **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिः'** (१३।१०)। **'मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः'** (६।१४)। **'मच्चित्तः सततं भव'** (१८।५७)। **'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि'** (१८।५८)। **'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः'** (१०।९)। **'भावसमन्विताः'** (१०।८)। **'सततयुक्तानाम्'** (१०।१०)। **'मद्गतेनान्तरात्मना'** (६।४७)। **'नित्ययुक्त एकभक्तिः'** (७।१७)। **'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन'** (१४।२६)। —इत्यादि बहुत-से वचनोंद्वारा शब्दान्तरसे अनन्यचिन्तनपर ही जोर दिया गया है। अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भगवान्में लगाये विना भावसमन्वित, नित्ययुक्त, तत्पर, तच्चित्त अथवा तद्गतान्तरात्मा होना असम्भव है। तथा आन्तरिक वृत्तियोंका भगवान्में निरन्तर लगी रहना ही अनन्यचिन्तन है।

कर्म, ज्ञान और भक्ति—सभी निष्ठाओंमें अनन्यचिन्तन ही ओत-प्रोत है। किसी भी मार्गसे साधना करनेवाले अनन्य-चिन्तनका ही अभ्यास करते हैं। इस प्रकार यद्यपि सभी साधकोंका वस्तुतः एक ही मार्ग है, तो भी प्रारम्भमें साधनाके बाह्य स्वरूपमें विभिन्नता देखकर भिन्न-भिन्न नाम रख लिये गये हैं। अनन्यचिन्तनकी दृष्टिसे सभी एक मार्गके पथिक हैं और सबकी एक ही मंज़िलपर पहुँचनेकी तैयारी है। इस तथ्यपर ध्यान न देकर हम एक दूसरेको विभिन्न मार्गावलम्बी—अन्य मतावलम्बी मानकर व्यर्थका मत-भेद बढ़ाते हैं। एक मार्गका आश्रय लेकर दूसरेको छोटा और अनुपयोगी सिद्ध करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि तटस्थ व्यक्ति, जो किसी एक कल्याणमय साधनमार्गका जिज्ञासु है, सन्देहमें पड़ जाता है। उसे यह निश्चय नहीं हो पाता हम किस पथका आश्रय लें। सभी उसे अपनी ओर खींचते हैं, सभी दूसरोंको भ्रान्त सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। हमारा दृष्टिकोण सङ्कुचित और साम्प्रदायिक होता जा रहा है। तथा इसी भेद-दृष्टिके कारण हम अपने ही साथ दूसरोंको भी परमार्थ-पथसे दूर लिये जा रहे हैं।

साधनाके बाह्य या स्थूल रूप एक-ही-दो नहीं, अनन्त हो सकते हैं, जितने साधक उतने हो सकते हैं; किन्तु उसका आन्तरिक या सूक्ष्म रूप एकसे अधिक नहीं होना चाहिये, जहाँ इन सभी बाह्य भेदोंका समन्वय हो सके। हम कर्म, ज्ञान या भक्ति—किसी भी पथका अवलम्बन करें, किसी भी सम्प्रदायके अनुसार हमारी रहन-सहन या पूजन-पद्धति हो—यह साधनाका बाह्य स्वरूप ही है। आन्तरिक रूप तो बस, वही एक है—भगवान्का अनन्यचिन्तन, जहाँ सभी ऊपरी भेदोंका समन्वय होता है। इस दृष्टिसे हम सभी एक पथपर, एक साथ हैं—हमारे बाह्य रूपोंमें भले ही भिन्नता दिखायी दे। ऐसी स्थितिमें हम क्यों किसीको अपनेसे छोटा या भ्रान्त समझें? हम सबका उद्देश्य तो एक ही है।

भोजन बनानेके लिये चूल्हेपर रक्खी हुई बटलोईके नीचे आँच लगानेकी आवश्यकता है। वह आँच लकड़ी जलानेसे हो या कोयला, अथवा मिट्टीके तेलसे हो। तेज आँच होनी चाहिये, फिर तो भोजन शीघ्र तैयार हो ही जायगा। इसी प्रकार हम सभी साधकोंको अपने हृदयमें अनन्यचिन्तनकी ज्वाला जगानी है; वह जिस तरह भी प्रज्वलित हो, इसके लिये प्रयत्न करना है। इसके बाद तो [illegible] है ही। कोयलेसे आग जलानेवाला व्यक्ति लकड़ी जलानेवालेको अयोग्य या भ्रान्त नहीं कह सकता। यही भाव हम सभीमें होना चाहिये। सभी पूज्य और महानुभाव आचार्योंने लोक-कल्याण-के लिये ही अपने-अपने अनुभवमें आये हुए साधनोंका प्रचार किया है; अतः हमें उन सबका आदर करना चाहिये। किसीको छोटा-बड़ा या भ्रान्त कहनेका साहस करना उचित नहीं; क्योंकि उन सभीके द्वारा हम अनन्यचिन्तनके पथपर चल सकते हैं। साथ ही यह भी निश्चय नहीं कर लेना चाहिये कि अबतक साधनाके जितने बाह्य रूप आचार्योंद्वारा व्यक्त हो चुके हैं, उनके अतिरिक्त दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता। क्योंकि बाह्य रूप व्यक्तिगत हैं, अतः उनकी संख्या या इयत्ता नहीं हो सकती।

कर्मयोगी, ज्ञानी और भक्त—ये सभी साधक किस प्रकार एक साथ अनन्यचिन्तनके पथपर चल रहे हैं! देखिये—कर्मयोगीके लिये भगवान्के अनन्यचिन्तनमें बाधक है फलकी कामना। जबतक वह लोक या परलोकके भोगोंके लिये कर्म करता है, तबतक भोगोंका ही चिन्तन करता है, उससे परमात्माका चिन्तन नहीं हो सकता। इसीलिये गीता कर्मयोगी-को यह आदेश देती है कि वह फलकी कामना त्यागकर भगवान्की आज्ञाके अनुसार शास्त्रविहित कर्म करे। इस आज्ञाके अनुसार वह भोगोंकी इच्छासे नहीं, भगवान्की अनुज्ञासे उनकी प्रसन्नताके लिये कर्म करता है, उसके सारे विधान उसे भगवान् और उनके आदेशका स्मरण कराते रहते हैं। जिन कर्मोंसे वह भोगोंकी आराधना करता था उनसे भगवान्की आराधना होने लगती है। और इस प्रकार वह अनन्यचिन्तनपूर्वक कर्म करते हुए भगवान्को प्राप्त हो जाता है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

कर्मयोगीके लिये अनन्यचिन्तनकी स्पष्ट आज्ञा भी है—'मामनुस्मर युध्य च'—मेरा निरन्तर स्मरण करते हुए युद्ध कर। 'युद्ध' शब्द यहाँ अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित समस्त शास्त्रीय कर्मोंका उपलक्षण है।

ज्ञान-मार्गमें भी अनन्यचिन्तनका ही आश्रय लिया जाता है। जीव अनादिकालसे अपने स्वरूपको भुलाये बैठा है। यह आत्मविस्मरण ही उसका अज्ञान है। संसार उसके समक्ष आवरण डाले खड़ा है; इसलिये वह अपने परमात्म-स्वरूपका अनन्य स्मरण नहीं कर पाता, संसारका स्मरण उसे बराबर बाधा दे रहा है। इसके अतिरिक्त मल और विक्षेप भी उसे अपने स्वरूपसे च्युत किये हुए हैं। इन सबको दूर

करके वह अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना चाहता है; अतः वह प्रमाणों और युक्तियोंसे जगत्का बाध करता है, ध्यानके द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार करना चाहता है। उसका यह सारा प्रयत्न अपने स्वरूपभूत ब्रह्मके अनन्यस्मरणका ही है। जिसके लिये अनन्यचिन्तन स्वाभाविक हो गया है, वह सर्वत्र एकमात्र सच्चिदानन्दघन वासुदेवकी ही अखण्ड सत्ता देखता है; उसकी दृष्टिमें जगत्नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती। गीतामें कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

'सब कुछ भगवान् वासुदेव हैं, वासुदेवके सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं—ऐसा समझनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसा समझना भगवान्का अनन्य स्मरण ही है। अनन्य स्मरण करनेवालेको महात्मा कहकर अनन्यचिन्तनकी ही प्रशंसा की गयी है। 'महात्मानस्तु मां पार्थ' इस श्लोकमें भी अनन्य मनसे भजन करनेवालेको महात्मा कहा है।

भक्तिमार्गमें भी संसार बहुत बड़ा बाधक है, भोगोंमें आसक्ति मनको परमात्माकी ओरसे बरबस खींच लेती है। किसी शत्रुको देखकर मनमें उत्तेजना होती है, प्रतिहिंसाकी भावना जाग्रत् हो उठती है; ऐसी स्थितिमें विक्षिप्त चित्तसे भजन कैसे हो? इन बाधाओंको दूर करनेके लिये गीतामें विभूतियोग आदिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को भगवान्का ही स्वरूप बताया गया है। जो कुछ दृष्टिमें आता है, वह सब भगवान्का ही स्वरूप है, भगवान् ही सबमें व्याप्त और सबके आधार हैं। ऐसी धारणा होनेपर उपर्युक्त बाधाएँ नहीं ठहर सकतीं। जगत्में भोग्य-बुद्धि हटकर ईश्वर-बुद्धि हो जाती है। सारा विश्व अपने आराध्य देवकी ही प्रत्यक्ष झाँकी कराने लगता है। ऐसी दशामें विरोध भी किसीसे कैसे हो?

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।

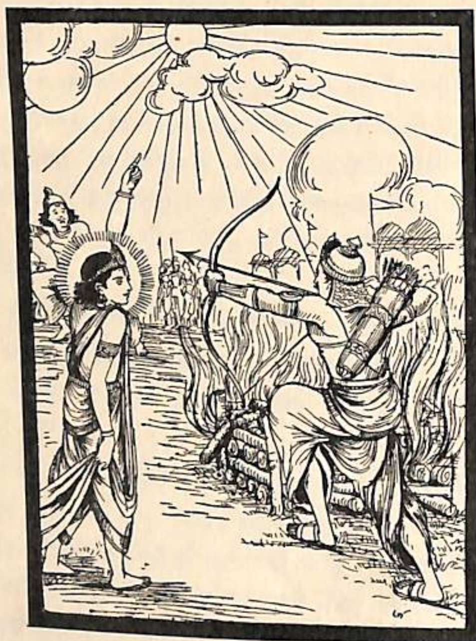
यह स्थिति हो जानेपर अपने-आप अखण्ड चिन्तन होने लगता है। गीता बारहवें अध्यायके तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें जो प्रिय भक्तके लक्षण बताये गये हैं, उनमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' कहकर मन-बुद्धिको भगवान्में लगाये रखना अर्थात् केवल भगवान्का ही अनन्यचिन्तन करना अन्तिम लक्षण बताया गया है। इससे भी अनन्य स्मरणकी महत्ता स्पष्टरूपसे प्रतिपादित होती है। इस प्रकार गीताके उपदेशका सारभूत अंश यही है कि मनुष्य निरन्तर भगवान्का ही स्मरण करता रहे। अनन्यचिन्तन ही भगवान्के सुलभ होनेका एकमात्र साधन है। इसलिये प्रत्येक साधकका यह कर्तव्य है कि वह जैसे भी सम्भव हो, भगवान्के अनन्यचिन्तनका प्राणपणसे प्रयत्न करे; क्योंकि यही जीवनका चरम उद्देश्य है।

तन्मयता

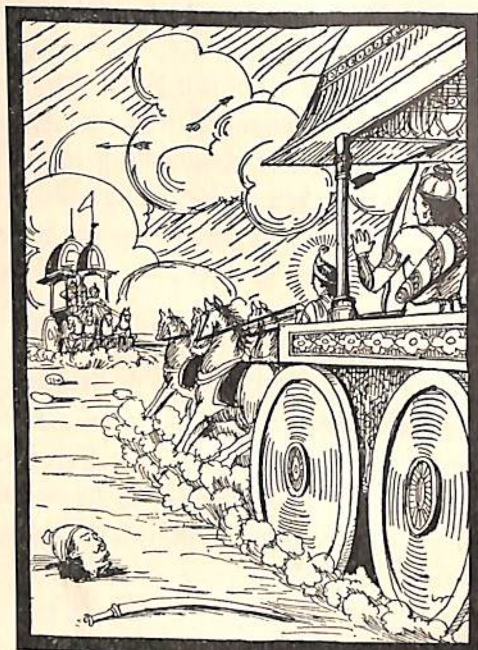
आँख जब खोलूँ तब छटा ही तुम्हारी दिखे,
चाहे जिस ओरसे मैं दृष्टिको पसार लूँ।
कान जब सुने तो तुम्हारा कीर्त्ति-नाद एक,
भावनासे वस्तुओंमें तुमको विचार लूँ॥
बोल जब बोला करूँ तब हो तुम्हारी कीर्त्ति,
ध्यानमें तुम्हारी मञ्जु-मूर्त्ति उर धार लूँ।
यत्र-तत्र देखूँ तब तुम्हें ही सर्वत्र पाऊँ,
मित्र या कलत्रमें भी तुमको निहार लूँ॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

अर्जुन



जयद्रथ-वध



कर्णके बाणसे रक्षा



अनुगीताका उपदेश



भगवान्‌के परमधाम-गमनपर अर्जुनका शोक

भगवद्गीता-समय-मीमांसा

(लेखक—पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

गीतारहस्य-परिशिष्टप्रकरणके पृष्ठ ५२२में लोकमान्य तिलकने लिखा है कि 'भाषासादृश्यकी ओर देखिये या अर्थसादृश्यपर ध्यान दीजिये, अथवा गीताके विषयमें जो महाभारतमें छः-सात उल्लेख मिलते हैं उनपर विचार कीजिये; अनुमान यही करना पड़ता है कि गीता वर्तमान महाभारतका ही एक भाग है और जिस पुरुषने वर्तमान महाभारतकी रचना की है उसीने वर्तमान गीताका भी वर्णन किया है।'

आगे चलकर पृष्ठ ५४८ में लोकमान्यने लिखा है कि 'भागवत तथा विष्णुपुराणमें जो यह लिखा है कि परीक्षित् राजाके जन्मसे नन्दके अभिषेकतक १११५ अथवा १०१५ वर्ष होते हैं (श्रीमद्भा० १२।२।२६ और श्रीविष्णु० ४।२४।३८), उसीके आधारपर विद्वानोंने अब यह निश्चित किया है कि ईसवी सन्‌के लगभग १४०० वर्ष पहले भारतीय युद्ध और पाण्डव हुए होंगे।' इसके भी आगे पृष्ठ ५७० में उन्होंने वर्तमान गीताके विषयमें स्पष्टरूपसे लिखा है—'इन सब प्रमाणोंपर विचार करनेसे इसमें कुछ भी शङ्का नहीं रह जाती कि वर्तमान भगवद्गीता शालिवाहन शकके लगभग पाँच सौ वर्ष पहले ही अस्तित्वमें थी। डाक्टर भाण्डारकर, परलोकवासी तैलङ्ग, रायबहादुर चिन्तामणिराव वैद्य और परलोकवासी दीक्षितका मत भी इससे बहुत कुछ मिलता-जुलता है और उसीको यहाँ ग्राह्य मानना चाहिये।' इसी पृष्ठमें आगे चलकर लिखते हैं—'यह बात निर्विवाद है कि वर्तमान गीताका काल शालिवाहन शकके पाँच सौ वर्ष पहलेकी अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता। पिछले भागमें यह बतला आये हैं कि मूलगीता इससे भी कुछ सदियोंसे पहलेकी होनी चाहिये।'

गीताका काल-निरूपण करते हुए रा० ब० चिन्तामणि वैद्यजीने गीताङ्कमें लिखा है—'जिस रूपमें आजकल हमें गीता प्राप्त है, उसके इस रूपका काल अनिश्चित है। परन्तु कई प्रमाण ऐसे हैं जिनसे स्थूल रूपमें यह अनुमान होता है कि ईसामसीहसे लगभग १४०० वर्ष पूर्व इसका निर्माण हुआ था।'

इससे अधिक हम इस विषयमें कुछ न लिखकर वर्तमान भगवद्गीताके कालकी मीमांसा करेंगे। जिन महापुरुषोंने अबतक वर्तमान भगवद्गीताके कालका निरूपण किया है, उनकी इस युक्तिका प्रमाण हमको अबतक नहीं मिलता कि 'मूलगीतासे भिन्न वर्तमान गीता है और इसकी रचना वर्तमान महाभारतकी रचनाके साथ हुई है। भाषा और अर्थ-सादृश्यकी दृष्टिसे भगवद्गीता और महाभारतकी रचनाके समयका एकीकरण करना युक्तियुक्त नहीं और महाभारतमें जो गीताविषयक छः-सात उल्लेख मिलते हैं उनसे भी भगवद्गीताका समय महाभारतके समयके पूर्वहीका प्रमाणित होता है, न कि समकालीन।

महाभारतयुद्धका समय ही भगवद्गीताका समय है, इसमें सन्देह नहीं। अवश्य ही इसका सम्पादन भगवान् वेदव्यासने अपने महाभारत, भारत अथवा जयनामक इतिहासके साथ किया—यह प्रमाणित है। अतएव इस वर्तमान भगवद्गीताका समय महाभारतयुद्धके पश्चात् और जनमेजयके यज्ञके प्रथमका है, क्योंकि जनमेजयके यज्ञके समय भारतकी कथा सुनायी गयी थी।

यद्यपि लोगोंने भ्रमसे यह लिख दिया है कि महाभारत-युद्धके ५१ वर्ष बाद पाण्डवोंका स्वर्गारोहण हुआ*, तथापि गान्धारीके शापसे भलीभाँति प्रमाणित है कि युद्धके ३६वें वर्ष यदुवंशका संहार हुआ और उसी समय पाण्डवोंका स्वर्गारोहण भी हुआ। अतएव महाभारतयुद्धके ३६वें वर्ष परीक्षित्‌का अभिषेक हुआ और अभिषेकके ३६वें वर्ष उनका परमपद हुआ और जनमेजयका राज्याभिषेक हुआ। ऐसी दशामें जनमेजयके यज्ञका समय, जिसमें व्यासकृत महाभारतकी कथा सुनायी गयी थी, महाभारतयुद्धके पश्चात् ७२से १०० वर्षतकका मानना अनुचित न होगा और उससे पहले ही वर्तमान मूल भगवद्गीताका सम्पादन हो चुका था, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

अब हमको देखना चाहिये कि महाभारतका युद्ध कब हुआ। यद्यपि इस युद्धके समयके विषयमें ऐतिहासिक विद्वानोंमें बहुत बड़ा मतभेद है, तथापि महाभारतयुद्ध-कालके निश्चय करनेमें संस्कृतसाहित्य—विशेषकर पौराणिक साहित्य ही एकमात्र आधार है; अतएव यदि पक्षपातकी भावना त्याग

* म० म० पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझारचित 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' पृ० १६२की टिप्पणी १को देखिये।

दें तो एक ही प्रमाणके आधारपर अनेक मतका होना कदापि सम्भव नहीं ।

श्रीमद्भागवत (नवम और द्वादश स्कन्ध), श्रीविष्णुपुराण (चतुर्थ अंश), वायुपुराण (अध्याय ३७), मत्स्यपुराण (अध्याय २७३) और ब्रह्माण्डपुराण (म० भा० ३ पा०) में जो भविष्य राजावली और उनके राजत्वकालका वर्णन मिलता है, आधुनिक विद्वानोंकी दृष्टिमें उनमें परस्पर मतभेद दिखलायी देता है; किन्तु निष्पक्षदृष्टिसे देखें तो इन सभी पुराणोंके भविष्य वर्णन किसी एक ही स्थानसे लिये गये हैं और लेखक-प्रमादके अतिरिक्त उनमें इतनी शब्दशः और अर्थशः समता है कि कोई विद्वान् उनको भिन्न-भिन्न कहनेका साहस ही नहीं कर सकता। सविवरण राजत्वकालकी ओर ध्यान न देकर जो परीक्षित्के जन्मसे नन्दके अभिषेकतककी वर्षगणनाके पौराणिक श्लोकका मनमाना अर्थ करके युद्धके समयको आधुनिक सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उनको देखना चाहिये कि सप्तर्षिके नक्षत्र-चारके आधारपर कितना स्पष्ट वर्णन है—जिससे प्रमाणित होता है कि महानन्दके अभिषेक और परीक्षित्के जन्म (युद्धकाल) के बीच १५०० वर्ष होते हैं ।

यद्यपि 'कल्याण' (भाग ४ सं० २) में गीताङ्कके सम्बन्धसे जो भगवद्गीताका समय हमने लिखा था, उनमें सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि महाभारतयुद्धका समय कलियुगारम्भका समय है और कलियुगारम्भका समय जो ज्यौतिषसिद्धान्तोंमें लिखा है वही यथार्थ है, तथापि इस प्रसङ्गमें हम इतना और बतला देना चाहते हैं कि हमारे मतसे बुद्धनिर्वाणकाल ई० सन्के पूर्व लगभग १५०० वर्ष सिद्ध होता है और मौर्य चन्द्रगुप्त मेगास्थनीज़का 'सैंड्राकोटस' किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता ।

कृत्तिकादि-गणना और मार्गशीर्षादि मासगणनाके आधारपर तथा पाण्डवोंकी प्रतिज्ञाके १३ वर्षपर भीष्मव्यवस्थाको लेकर जो चान्द्रगणना-प्रचारका समय निकालनेकी चेष्टा करते हैं, उनका मत भी भ्रमपूर्ण है । वस्तुतः हमारी नवधा कालगणना बहुत प्राचीन है और व्यवहारमें आनेवाली चारों गणनाएँ तो वेदोंके समान ही अनादि हैं । पाण्डवोंने अपनी प्रतिज्ञा सर्वतोभावसे पूर्ण की थी । भीष्मव्यवस्थाके आधारपर चान्द्रगणनासे प्रतिज्ञापूर्तिका विषय भी ज्यौतिषज्ञान न होनेके कारण है ।

सारांश यह है कि भगवद्गीताका उपदेशकाल इस विक्रम संवत् १९९६ में ५०४० वर्ष पूर्व प्रमाणित है और उसके वर्तमान रूपका सम्पादन व्यासजीने आजसे ४९४० और ४९६८ वर्ष पूर्वके बीचमें किसी समय किया है, ऐसा प्रमाणित होता है । भगवद्गीताके उपदेशका मास मार्गशीर्ष, पक्ष शुक्ल और तिथि त्रयोदशी थी—यह सर्वथा प्रमाणित है । अवश्य हमने इस समय समयाभावसे अधिक प्रमाणोंका उल्लेख इस छोटे-से लेखमें नहीं किया, अतएव सम्भव है लोगोंको हमारे मतसे सन्तोष न हो । इसलिये हम कल्याणप्रेमी विद्वानोंसे क्षमा चाहते हैं और साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि उनकी सेवामें इस सम्बन्धमें हम स्वतः शीघ्र ही अपने सब प्रमाण भी उपस्थित करनेकी चेष्टा करेंगे ।*



अमर ग्रन्थ

गीता केवल हिन्दुओंकी ही नहीं, अपितु संसारकी सभी जातियोंकी धर्मपुस्तक है। प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह इस अमर ग्रन्थको ध्यानपूर्वक एवं पक्षपातरहित होकर पढ़े, चाहे वह किसी धर्मको और किसी धर्मगुरुको मानता हो। गीताकी एक-एक पङ्क्ति, एक-एक शब्द पवित्र विचारोंसे सुरभित है । आध्यात्मिकता इसमें एक छोरसे दूसरे छोरतक हेमसूत्रकी नाई ओतप्रोत है । गीताको यदि दिव्य-ज्ञानकी खानि कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । इसलिये जो इसके तत्त्वको भलीभाँति समझना चाहे और इसके दार्शनिक विचारोंको अपने जीवनका एक अङ्ग बनानेकी इच्छा रखता हो, उसे चाहिये कि इसको बारंबार शुद्ध हृदयसे और अवहितचित्त होकर पढ़े ।

—श्रीकैखुशरू जे० दस्तूर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

* इनका सविस्तर वर्णन हमने 'भारतीय ऐतिहासिक मीमांसा' के पूर्वभाग 'कालमीमांसा' में किया है, जो अभी अप्रकाशित है ।

गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०)

श्रीकृष्णभगवान्‌के गुणोंका वर्णन करना इतना अशक्य है जितना विश्वभरकी रजके कणोंकी गणना करना है। कदाचित् ये रज-कण किसी प्रकार गिन भी लिये जा सकें, किन्तु भगवान्‌के गुणोंका अन्त पाना तो असम्भव ही है। क्योंकि भगवान्‌के गुण अगणित, अपरिमित, अतुलनीय और अनन्त हैं। जब हजार मुखवाले अनन्त (शेष) भगवान् ही भगवान्‌के गुणोंका पार नहीं पा सकते और वेद भी 'नेति-नेति' कहकर विराम लेते हैं तो अन्य कोई उनका अन्त कैसे पा सकता है ? फिर मेरे-जैसा अबोध, तुच्छ, अकिञ्चित्-कर, अज्ञ जन इस ओर साहस करे तो वह विफल ही है। तथापि भगवान्‌का गुण गानकर मैं अपनी जिह्वा और लेखनीको पवित्र करनेके लिये शास्त्रोंमें लिखे हुए अनेक गुणोंमेंसे कतिपय गुण नीचे लिखकर अपनी आत्माकी तुष्टि और जीवनकी कृतार्थता करनेका प्रयास करता हूँ।

श्रीकृष्णभगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके रचयिता, पालक तथा संहारक हैं। वे संसारके समस्त प्राणिमात्रके अन्तरात्मा हैं। यह चर और अचररूप सब जगत् उन भगवान्‌का ही प्रत्यक्ष स्वरूप है ! वे ही सबमें प्रवेश कर प्रत्यक्ष चेतनाद्वारा प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। वे सबके नियन्ता, प्रेरक, सञ्चालक और फलदाता हैं। वे निर्गुण-निराकार होकर भी सगुण-साकार हैं। वे ही समय-समयपर अवतार धार भू-भार हरते हैं। वे ही दुष्टोंका शासन, साधुओंकी रक्षा करते हैं। वे ही स्वयं धर्म हैं और इसीलिये धर्मकी रक्षाके वास्ते आकर अधर्मका नाश कर धर्मकी पुनः स्थापना करते हैं। वे ही एक, अद्वितीय, परब्रह्म, परमात्मा, पूर्ण-पुरुषोत्तम, सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। वे ही महात्मा, महापुरुष, योगेश्वर, योगीश्वर, धर्मोपदेशक, राजनीतिज्ञ, शासक, योद्धा, विजयी, कला-कुशल, तत्त्वज्ञानी, जगद्गुरु, अधर्म-निवर्तक, धर्म-निर्माता, धर्म-प्रवर्तक, धर्म-संस्थापक, भूभारापहारक हैं। वे ही ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर, योगेश्वर, देवेश्वर, भूतेश्वर, सर्वेश्वर, ब्रह्मा-विष्णु-महेशस्वरूप हैं। वे ही सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, शरणागतवत्सल, पतितपावन, भक्तपराधीन, स्वयं-प्रकाश, स्वयम्भू, परम दयालु, दयानिधि, कृपासागर, कृपा-निधान हैं।

भगवान् श्रीकृष्णके ये ६४ गुण प्रसिद्ध हैं—

सुरम्याङ्ग, सर्वसल्लक्षणान्वित, रुचिर, तेजसायुक्त, बलीयान्, वयसान्वित (नित्यकिशोर), विविधाद्भुतभाषाविद्, सत्यवाक्य, प्रियंवद, वावदूक (चतुरवक्ता), सुपण्डित, बुद्धिमान्, प्रतिभान्वित, विदग्ध, चतुर, दक्ष, कृतज्ञ, सुदृढ़व्रत, देशकालसुपात्रज्ञ, शास्त्रचक्षु, शुचि, वशी (संयमी), स्थिर, दान्त (जितेन्द्रिय), क्षमाशील, गम्भीर, धृतिमान्, सम, वदान्य (उदार), धार्मिक, शूर, करुण, मान्यमानकृत्, दक्षिण, विनयी, ह्रीमान् (लज्जाशील), शरणागतपालक, सुखी, भक्तसुहृद्, प्रेमवश्य, सर्वशुभङ्कर, प्रतापी, कीर्तिमान्, रक्तलोक (जिनके प्रति सबका अनुराग हो), साधु-समाश्रय, नारीगणमनोहारी, सर्वाराध्य समृद्धिमान्, वरीयान्, ईश्वर, सदास्वरूपसम्प्राप्त (सदा अपने स्व-स्वरूपमें स्थित), सर्वज्ञ, नित्य-नूतन, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग (सच्चिदानन्दविग्रह), सर्वसिद्धिनिषेवित (सारी सिद्धियाँ जिसके वशमें हों), अविचिन्त्यमहाशक्ति (अचिन्त्य महाशक्तियोंसे युक्त), कोटिब्रह्माण्डविग्रह (असंख्य ब्रह्माण्ड जिनका विग्रह हो), अवतारावलीबीज (सारे अवतारोंके अवतारी), हतारिगतिदायक (मारे हुए शत्रुओंको मोक्ष देनेवाले), आत्मारामगणाकर्षी (आत्माराम पुरुषोंके मनको भी बलात् आकृष्ट करनेवाले), सर्वाद्भुत-चमत्कारलीला-कल्लोलवारिधि (सम्पूर्ण अद्भुत लीला एवं चमत्कारोंको करनेवाले), अतुल्यमधुरप्रेममण्डितप्रियमण्डल (जिन्होंने असाधारण माधुर्ययुक्त प्रेमसे प्रेमीजनोंको परिपूर्ण कर रक्खा है), त्रिजगन्मानसाकर्षिमुरलीकलकूजित (मुरलीके मधुर रवसे तीनों लोकोंके निवासियोंके मनको आकर्षित करनेवाले), असमानोर्ध्वरूपश्रीविस्मापितचराचर (अपने असाधारण रूप-लावण्यसे चराचर जगत्‌को विस्मयाविष्ट करनेवाले)।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार श्रीकृष्णभगवान् समस्त प्राणियोंके पिता, पितामह, धाता, स्वामी, नियन्ता, प्रकृतिके नियामक और अध्यक्ष, कूटस्थ, अक्षर, अव्यय, पुरुषोत्तम, पर, परब्रह्म, परमात्मा, बीजप्रद, असङ्ग, अणु-से-अणु, महान्-से-महान्, चातुर्वर्ण्यके स्रष्टा, चतुराश्रमके विधाता, वर्णाश्रमधर्मके निर्माता, सर्वभूतमहेश्वर, शरणागतपालक, यज्ञ-तप-दानके भोक्ता, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वभूतसुहृद्, योगेश्वर, अपरा (जड) और

परा (चेतन) दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंके स्वामी, जगत्के प्रभव और प्रलयकारक, परात्पर, ओङ्काररूप, शब्द-ब्रह्म, अक्षर-ब्रह्म, परमब्रह्म, अधियज्ञ, सर्वज्ञ, संहर्ता, शास्ता, सर्व-शक्तिमान्, सर्वरूप, सर्वगत, विराट्रूप, सर्वतोमुख, विश्वरूप, अनन्तरूप, क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्र, आज्य, अग्नि, हुतरूप, जगत्की योनि—मातास्वरूप, जगत्के बीजप्रद पिता-रूप, सर्वप्रपितामहरूप, वेद्य, ज्ञेय, वेदकृत्, वेदान्त-कृत्, ऋग्यजुःसामनामक वेदत्रयी, गति-भर्ता-प्रभु-साक्षी-निवास-शरण-सुहृद्रूप, जगत्के प्रभव-प्रलय-स्थिति-निधान-बीजरूप, अमृत और मृत्युरूप, सत्-असत्रूप, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, सर्वयज्ञोंके भोक्ता और प्रभु, शुभा-शुभ फलप्रदाता, सर्वभूतसमरूप, चर-अचररूप, अगोचर, सर्वव्यापक, सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, अज, अनादि, अनन्त, अनन्तस्वरूप, अनेक विभूतिस्वरूप, अनेकरूप, शाश्वतधर्म-गोप्ता, सनातन, अनादिमध्यान्त, अनन्तवीर्य, अनन्तबाहु, अनन्तशीर्षा, अनन्तमूर्ति, अनन्तपाद, अनन्तनेत्र, अनन्त-ऊरु, अनन्तोदर, जगन्निवास, कालरूप, देवेश, क्षर-अक्षर-रूप, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञरूप, आदिदेव, पुराणपुरुष, अमित-विक्रम, अप्रमेय, अधोक्षज, पूज्य, अप्रतिमप्रभाव, ईश्वर, ईड्य, चतुर्भुजस्वरूप, नित्यपूर्ण, वासुदेव, सौम्यरूप, सर्वात्मा, सर्वजीव, परमाराध्य, परमोपास्य, परम गति, परमाश्रय, आदि लोकशिक्षक, आदिगुरु, विश्वगुरु, योग-धर्म-पथप्रवर्तक, आदि उपदेष्टा, सर्वमय, सर्वातीत, सर्वोत्कृष्ट, सर्वपूज्य, पराशान्तिके आधार, मानवसमाजके गुरु, पथ-प्रदर्शक, आदर्श लोकशिक्षक, योगमायासमावृत, योगेश्वरेश्वर, एक, अद्वितीय, मायामहेश्वर, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, रसमय, भावमय, प्रेममय, भक्तपराधीन, भक्तिसुलभ, भोगमोक्षैकप्रदाता, हृषीकेश, हरि, विष्णु, सहस्रमूर्ति, सहस्र-बाहु, सहस्रपाद, सहस्राक्ष, सहस्रशीर्षा, सहस्र-ऊरु, सहस्र-नाम, पुरुष, शाश्वत, सहस्रकोटियुगधारी, सर्व, विश्वेश्वर, माधव, मुकुन्द, मुरारि, नारायण, गोविन्द, कृष्ण, महाबाहु, महात्मा, मधुसूदन, भगवान्, भूतेश्वर, भूतभावन, देव, देववर, देवेश, सर्वभूतोंके आदिकारण, देवदेव, महादेव, जनार्दन, जगन्निवास, जगन्नाथ, जगत्पति, केशव, केशिनिषूदन, पुण्ड-रीकाक्ष, कमलपत्राक्ष, आद्य, आद्यकर्ता, हिरण्यगर्भ, अरिसूदन, अप्रतिमप्रभाव, अच्युत, प्रभु, विभु, लक्ष्मीकान्त, लक्ष्मीपति, श्रीनिवास, भूतेश, योगी, आत्मा, सर्वभूताशय-स्थित, सूर्य, चन्द्र, मरीचि, सामवेद, इन्द्र, मन, चेतना, शङ्कर, कुबेर, पावक, वसु, सुमेरु, बृहस्पति, स्कन्द, सागर, भृगु, ओम्, जपयज्ञ, हिमालय, अश्वत्थ, नारद, चित्ररथ, कपिलदेव, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, राजा, वज्र, कामधेनु, सन्ता-नोत्पत्तिकारक कामदेव, वासुकि, वरुण, अनन्त (नाग), अर्यमा, यमराज, प्रह्लाद, काल, सिंह, गरुड़, पवन, राम-चन्द्रजी, मकर, गङ्गाजी, सृष्टिके आदि-मध्य-अन्त, अध्यात्म-विद्या, वाद, अकार, द्वन्द्व-समास, अक्षय काल, सर्वकर्म-फलप्रदाता, कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा, बृहत्साम, गायत्री छन्द, मार्गशीर्ष मास, वसन्त-ऋतु, द्यूत, तेज, जय, व्यवसाय, सत्त्वगुण, व्यास, शुक्राचार्य, दण्ड, नीति, मौन, ज्ञान, सर्वभूतबीज, कमलपत्राक्ष, आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार, मरुत्देवता, सचराचर जगत्, महायोगेश्वर, हरि, अनेकवक्त्रनयन, अनेकाद्भुतदर्शन, अनेक-दिव्याभरण, अनेकदिव्यायुध, दिव्यमाल्याम्बरधर, दिव्य-गन्धानुलेपन, सर्वाश्चर्यमय, विश्वतोमुख, ईश, कमलासनस्थ, ऋषि, उरग, अप्रमेय, दीप्तानलार्कद्युति, किरीटी, गदी, चक्री, तेजोराशि, दीप्तिमान्, दुर्निरीक्ष्य, अनन्तरूप, शशिसूर्यनेत्र, दीप्तहुताशवक्त्र, अद्भुत, उग्र, साध्य, ऊष्मपा, दीप्तविशालनेत्र, जगन्नियन्ता, लोकक्षयकृत् काल, हृषीकेश, आदिकर्ता, सदसत्तत्पर, पुराण, विश्व-निधान, वेत्ता, परधाम, वायु, यम, अग्नि, प्रजापति, अनन्त-मुख, अमितविक्रम, यादव, चराचर लोकपिता, गुरु, गरीयान्, अप्रतिमप्रभाव, चतुर्भुज, तेजोमय, विश्व, आद्य, सौम्यवपु, महात्मा, सौम्य, अनिर्देश्य, सर्वत्रग, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, मृत्युसंसारसागरसमुद्धर्ता, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, पर, सर्वभूतसमभावस्थित, सर्वत्रावस्थित, क्षेत्री, महत्, ब्रह्म, योनि, महद्योनि, परब्रह्म-प्रतिष्ठा, अमृत-प्रतिष्ठा, अमृत, शाश्वतधर्म-प्रतिष्ठा, ऐकान्तिकसुख-प्रतिष्ठा, धरणी-धारक, औषधपोषक, प्राणिभोजन-पाचक, वैश्वानर, सर्वहृदय-संनिविष्ट, स्मृति-ज्ञान-अपोहनकर्ता, वेदवेद्य, वेदवित्, पुरुषोत्तम, लोकविभर्ता, अन्तःशरीरस्थ, ॐ, तत्, सत्, विभक्तोंमें अविभक्त, अनेकमें एक, सर्वगुहाशय, इत्यादि-इत्यादि हैं।

गीताका स्वाध्याय

(लेखक—श्रीवेणीराम शर्मा गौड, न्याय-वेदशास्त्री)

आज गीताको सारा संसार सम्मान और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है । वास्तवमें गीता साधारण वस्तु नहीं है । यह कहना अनुचित न होगा कि गीताके समान ग्रन्थ 'न भूतो न भविष्यति' न हुआ, न होगा ।

गीताका ज्ञान पूर्णरूपसे नहीं तो साधारणरूपसे प्रत्येक मनुष्यको अवश्य होना चाहिये । किन्तु गीताका ज्ञान कोई खेल-तमाशा नहीं है जो विना परिश्रमके केवल कुछ पैसे खर्च कर देनेसे ही हर एक प्राणीको प्राप्त हो सके । इसको प्राप्त करनेका यदि सीधा और सरल मार्ग कोई है, तो वह गीताका मनन और स्वाध्याय है ।

गीताका अविच्छिन्नरूपसे मनन करना ही इसका स्वाध्याय है । जिस मनुष्यने केवल गीताका ही अच्छी तरह अभ्यास कर लिया है या करता है, तो उसे अन्य शास्त्रोंके विस्तार एवं परिशीलनकी आवश्यकता ही क्या है ? उसके कल्याणके लिये तो गीताका स्वाध्याय ही पर्याप्त है । जो मनुष्य गीताका केवल पाठमात्र ही करता है उसका भी कल्याण हो सकता है, क्योंकि भगवान्ने स्वयं प्रतिज्ञा की है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

(गीता १८ । ७०)

इससे उत्तम वह है जो अर्थ और भावोंको समझकर इसका पाठ करता है । जो मनुष्य सम्पूर्ण गीताका प्रतिदिन स्वाध्याय करता है एवं रात-दिन मनन करता रहता है उसके ज्ञानका भंडार अवश्य खुल जाता है ।

संसारमें सब कार्य भावनापर निर्भर हैं, जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसा ही फल मिलता है ।

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'

जो व्यक्ति गीतामें श्रद्धा-भक्ति रखकर एक ही बार गीताका स्वाध्याय करता है, उसे एक बारके पाठ करनेसे ही भावनाके महत्त्वसे प्रचुर फलकी प्राप्ति हो जाती है । और जो व्यक्ति हृदयमें श्रद्धा-भक्तिकी भावना न रखकर पाठ करनेवाला है, वह चाहे गीताका अनेकों बार स्वाध्याय कर जाय, किन्तु उससे उसको उतना लाभ नहीं हो सकता । जो मनुष्य गीताका स्वाध्याय अर्थ समझकर सम्यक् रूपसे करता है और गीताके अमूल्य सारगर्भित श्लोकोंको भलीभाँति अपने तुच्छ जीवनमें कार्यान्वित कर लेता है तथा उन्हींके अनुसार चलता भी है, उसीका 'गीता सुगीता' कर लेना है और वही स्वाध्याय गीताका 'उत्तम स्वाध्याय' है ।

गीतावक्ताके प्रति

(लेखक—पं० श्रीबद्रीदासजी पुरोहित)

(१)

पृथ्वीपै पाप पापी जन सब जगमें, नाथ ! फैला रहे हैं
भारी भोगी भ्रमोंके, भयहर हरिके दुष्ट द्वेषी रहे हैं ।
त्यागी योगी नहीं ये, इस समय हमें कोसते हैं कृपालो !
प्रार्थी हैं दीनबन्धो ! हम, दुख हरके दर्श देना दयालो ! ॥

(२)

स्वामिन् ! हैं आज ऐसे अतिशय हमको कष्ट कंसादिकोंसे
काटो फाँसी हमारी, जगत जनमयी, कृष्णद्वेषी बकोंसे ।
आशा-[illegible] कृपालो !

कर्मी-धर्मी बनेंगे हम सब, इससे दर्श देना दयालो ! ॥

(३)

क्लेशोंसे मुक्ति पाके, जब जन लगते आपके ध्यानमें हैं,
जो जानें आपको ही, प्रभु ! तब लगते आत्मके ज्ञानमें हैं।
वे होते हैं सबोंके परम प्रिय, प्रभो ! पूज्य, प्रेमी, कृपालो !
ऐसे भक्तादिकोंको, हरदम खुश हो, दर्श देना दयालो ! ॥

(४)

रागी संसारमें हैं, हरदम रहते मग्न मोहादिकोंमें,
भोगी रोगी न होते प्रभु सनमुख हैं जन्म-जन्मान्तरोंमें
योगी हैं साधु सच्चे, हरिशरण हुए, भक्त वे ही कृपालो !
खोत अध्यासको हैं सतत बुध, उन्हें दर्श देना दयालो ! ॥

(५)

थे प्राणी गर्भमें ही, प्रियतम प्रभुसे की प्रतिज्ञा यही थी
हो जावेंगे विभो ! जो हम इस तमसे मुक्त, मेधा सही थी।
भूलेंगे आपको यों क्षणभर न कहीं, कामना की कृपालो !
ऐसे प्राणी प्रभो ! हैं शिवशरण, उन्हें दर्श देना दयालो ! ॥

(६)

भूमन् ! भूतादिकोंमें रमण नित करें आप सर्वात्म होके,
पालें-पोसें सबोंको, स्थिर रख करते नष्ट कालात्म होके।
विश्वात्मन् ! आपको हैं, हम सब नमते, नित्य ध्यावें कृपालो !
पर्वोंमें पूजते हैं हरदम, इससे दर्श देना दयालो ! ॥

(७)

विष्णो ! वर्णाश्रमी ही हम सब जन हैं, धर्म कर्मादिकोंकी
सच्ची रक्षार्थ प्रार्थी इस समय हुए, टेक रक्खो उन्हींकी।
मर्यादा नष्ट होती, अहह ! अब उसे, आप रक्खो कृपालो !
आओ श्रीकृष्ण ! भूपै, फिर हम सबको दर्श देना दयालो ! ॥

(८)

ये सारे कृष्णकी ही स्तुति सतत करें जीव कल्याणकारी,
गाते हैं गीत-गीता, सुयश सब सदा भक्त, हो भीतिहारी।
जीते जी मुक्त मानी, यदुपति-यशके हो रहे हैं कृपालो !
प्रार्थी, प्रेमी उन्हींको हरदम 'बदरी' दर्श देना दयालो ! ॥

ॐतत्सत्

गीताकी सर्वश्रेष्ठता

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा 'सौरभ')

गीता ही विश्व-साहित्यमें सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्यों है ? इसके एक नहीं असंख्य कारण हैं, परन्तु उनमें कुछ मुख्यतम निम्नलिखित हैं—

क· १· भारत और गीता २· भगवान् व्यासदेव और गीता ३· भगवान् श्रीकृष्ण और गीता।

ख· १· त्रिकाण्ड और गीता २· समन्वय और गीता ३· सामञ्जस्य और गीता।

ग· १· सत्य और गीता २· शिव और गीता ३· सौन्दर्य और गीता।

घ· १· त्रिकाल और गीता २· सार्वभौम-भाव और गीता ३· सार्वजनीन-भाव और गीता।

ङ· १· द्वैत-भाव और गीता २· अद्वैत-भाव और गीता ३· द्वैताद्वैत-भाव और गीता।

क· अपनी जन्म-भूमि भारतवर्षके कारण भी गीता विश्व-साहित्यकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। इसकी सर्वश्रेष्ठताका केवल यह एक कारण ही पर्याप्त है; क्योंकि वह भारतीय आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पूर्ण प्रकृतिकी उपज है। कौन विज्ञ इस बातसे इन्कार कर सकता है कि भारतीय विराट् प्रकृति उक्त तीनों प्रकृतियोंका पूर्ण सुविकसित रूप नहीं है ? भारतीय भौतिक ऋतुओंकी सुन्दरता, देवतावादकी वैज्ञानिकता और अध्यात्मवादकी दार्शनिकता इस पूर्णताका ज्वलन्त प्रमाण है। साथ ही संसारके भौतिकवादी, भूतत्त्व-विशारद और प्रकृति-प्रेमी भारतीय प्राकृतिक सुषमापर लट्टू हैं, विज्ञान-वादी नास्तिक भारतीय देवता-विज्ञानका लोहा मानने लगे हैं और भूमण्डलका सम्पूर्ण दार्शनिक संसार तो भारतीय अध्यात्म-वादपर पहलेसे ही मुग्ध है। इसके सिवा भारतीय प्राकृतिक दृश्योंकी सुषमाके गीत, मंत्र-वादके नव-नव्य परीक्षण और शङ्करके वेदान्त-तत्त्वका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार इसी त्रितत्त्वात्मिका विराट् प्रकृतिका फल है।

भारतीय प्राकृतिक विभिन्नता, दैविक प्रभुता और सामाजिक आध्यात्मिक प्रकृति भी इसीकी विशेषताका सबूत है। भारतीय भौतिक सौन्दर्य, आधिदैविक सत्य और आध्यात्मिक शिव भी क्रमशः भारतीय भौतिक, दैविक और आत्मिक प्रकृतिकी पूर्णताके ही चिह्न हैं। कम-से-कम भारतीय प्राकृतिक ऋतु-सम्बन्धी पूर्णता और आध्यात्मिक दर्शन-सम्बन्धी अजेयता तो इसके अकाट्य, अक्षुण्ण और अजर-अमर प्रमाण हैं। और आज इस दीनावस्थामें भी भारतीय भौतिक प्रकृतिके अद्भुत प्रदर्शनों और आध्यात्मिक लोकोत्तर चमत्कारोंके गीतोंसे संसारका साहित्य मुखरित और ध्वनित हो रहा है। यही कारण है कि भारतकी लोकोत्तर उपज गीता-विज्ञानकी मर्म-स्पर्शिताका अनुभव भी मानव-विश्वको आज अधिकाधिक हो रहा है। गीता-विज्ञानका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार भी इसका आनुषङ्गिक प्रमाण है।

इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय प्रकृति-त्रयकी कारणता ही मुख्यतः गीता-साहित्यकी सर्वश्रेष्ठताका कारण है। साथ ही इसकी सर्वश्रेष्ठतामें कार्य और कारणात्मक भावकी तार्किक सदनुभूति भी एक शास्त्रीय रहस्य है।

सम्पूर्ण ज्ञानकी खान वेदोंके विस्तार-कर्ता, वेदान्त-जैसे जगन्मान्य दर्शनके निर्माता, महाभारत और पुराणोंके रचयिता कृष्णद्वैपायन और कृष्ण वासुदेवकी रचना और प्रेरणाका होना भी गीताकी सर्वश्रेष्ठताका एक प्रबल हेतु है।

ख· संसारके गणनातीत भौतिक, दैविक और आत्मिक तत्त्वोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले ज्ञान, कर्म और उपासनाका समन्वय होनेसे भी गीता अपनी अद्वितीयताका एक अन्यतम उदाहरण है। और म० एस्० वी० के शब्दोंमें तत्त्व-त्रयका सामञ्जस्य तो गीताकी सर्वश्रेष्ठताका विद्वन्मान्य प्रमाण है। फिर क्या साहित्य-संसारमें गीताका-सा एक भी ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें ज्ञान, कर्म और उपासनाका 'शरणागति' आदि तत्त्वोंके द्वारा कर्मप्रधानपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो सका हो। साथ ही सामाजिक दृष्टिसे भी इन तत्त्वोंका इतना विश्लेषण हो सका हो। सच तो यह है कि इन तीनों तत्त्वोंका ऐसा ऐक्य और समीकरण तो अबतक कहीं सम्भव ही नहीं हुआ। इस असम्भवताके अनेक कारण हैं, जिनका समझना-समझाना यहाँ स्थानाभावसे सम्भव नहीं।

ग· गीता सत्य, शिव और सौन्दर्यकी भौतिक और आत्मिक मूर्ति है। इसका बाह्य प्रभाव और आन्तरिक चमत्कार इसके परिचायक हैं। इसकी ज्ञानप्रधानता, कर्मठता और भावुकता क्रमशः इसके सत्य, शिव और सौन्दर्य-का द्योतक है और इन तीनोंका ऐक्य इसकी ज्ञान, कर्म और भावनाका सामञ्जस्य है। गीताकी प्रसिद्ध दार्शनिकता, संसारमान्य

कर्मठता और शरणागतिप्रधान जगत्प्रसिद्ध भावुकता अपना उदाहरण आप ही है। यही कारण है कि इसके व्यष्टिवादकी अनन्य-भावना और समष्टिवादका ऐक्य दोनों ही एक-दूसरेसे बढ़े-चढ़े हैं।

घ. गीताकी ऐतिहासिकता एक निमित्त है। अन्यथा गीता मानवीय मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंका जीवन-स्थापक एक सार्वदिक प्रयोग है, योग है; यही कारण है कि यह दिक्कालानवच्छिन्न है और सार्वभौम तथा सार्वजनीन-भाव ही उसकी दिक्कालानवच्छिन्नताका कारण है।

ङ. संसारमें दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके कारण ही असलमें ईश्वर, जीव, अजीव और सृष्टिविषयक अनेक सिद्धान्तोंका उद्भव हुआ है। उनमें कुछ द्वैत हैं और कुछ अद्वैत और कुछ द्वैताद्वैतसमन्वित हैं। परन्तु इन सिद्धान्तोंकी भिन्नताका कारण मानवीय प्रकृतिका ज्ञान, कर्म और भावनामय होना ही है। किन्तु ईश्वरकृपासे गीताके ज्ञान, कर्म और भावनाप्रधान होनेसे वह सम्पूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तोंसे ओतप्रोत है। वह द्वैताद्वैत आदि सभी सिद्धान्तोंसे युक्त है। सच तो यह है कि गीता गणनातीत सिद्धान्तों, वादों और तत्त्वोंकी रङ्गस्थली—रङ्गभूमि है। विचार करनेपर इसकी प्रत्येक वस्तु आपको अपना अद्भुत अभिनय दिखाती हुई मिलेगी और यह इसीलिये भी कि गीता कर्तव्यशास्त्र और व्यावहारिक प्रवचन है; उसमें सम्पूर्ण दशा, देश और समयोपयोगी तत्त्वोंका समाजोपयोगी सुन्दर प्रदर्शन है।

इन बातोंके ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक कारण ये हैं कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको प्रत्येक प्रकारसे समझाना चाहा है। और भगवान् व्यासने इसी रहस्यको सार्वजनीन और सार्वभौम बनानेका प्रयत्न किया है। पहले मतके समर्थक अनेक आचार्य, ग्रन्थ और स्वयं गीता है, दूसरे मतके समर्थकोंमें महात्मा गांधी-जैसे महानुभाव हैं। इस तरह गीता दार्शनिक दृष्टिसे भी प्रायः अंशतः और पूर्णतः सम्पूर्ण दार्शनिक सम्प्रदायकी वस्तु है।

म० के० डी० के शब्दोंमें गीताके द्वैतभावका कारण मनुष्य-प्रकृतिकी भावुकता, अद्वैतका कारण मनुष्य-प्रकृतिकी विशाल वैज्ञानिकता और द्वैताद्वैतभावका कारण मनुष्य-प्रकृतिकी द्वैध-वृत्ति और आपत्ति भी है।

इस तरह हम देखते हैं कि गीता व्यष्टि-समष्टिगत भाव-भावनाकी एक अपूर्व, अद्वितीय और सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है।



ज्ञान-गीता

(लेखक—पं० श्रीदामोदरजी उपाध्याय)

श्रीमद्भगवद्गीतामें ज्ञानयोग और कर्मयोग प्रधान हैं। मानव-शरीर स्वभावसे ही कर्मशील है, इसलिये कर्मयोगियोंके लिये गीता गुरु है—यदि कहा जाय कि गीता ज्ञानियोंकी चीज है तो भी अनुचित न होगा।

जिन महर्षि व्यासजीने गीताद्वारा ज्ञानयोग और कर्मयोगका 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' मार्ग दिखलाया है, उन्हीं प्रातःस्मरणीय व्यासजीने श्रीमद्भागवतद्वारा भक्तियोगका निर्गुण मार्ग दिखाया है। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके उपदेशक एक ही आचार्य हैं; इसलिये इन तीनों योगोंका केवल एक लक्ष्य है, और वह है—भिन्न-भिन्न मार्गद्वारा श्रीभगवान्‌की आज्ञाका पालन करना।

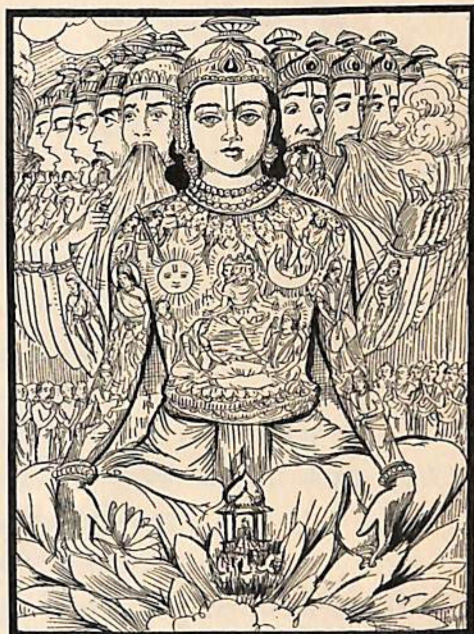
यदि मैं पूछूँ कि गीता पढ़नेवाले और सुननेवाले सज्जन क्या अर्जुन बन रहे हैं, तो शायद मेरी ढिठाई समझी जायगी। वास्तवमें गीता पढ़-पढ़ाकर जो कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं, उन्हींका पढ़ना-पढ़ाना सार्थक है।

आज घोर कलियुगका चक्र चल रहा है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापरसे यह कलियुग श्रेष्ठतामें कम नहीं है—कारण यह कि यह कर्मयुग है, आज दिन जो कर्मकी कसौटीपर खरा उतरता है वही धन्य है।

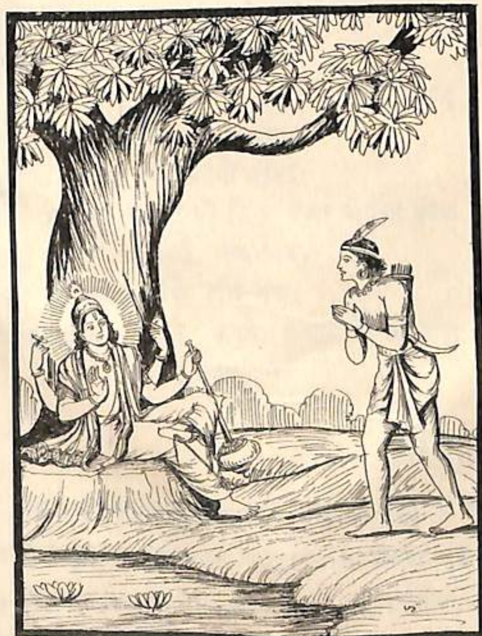
समय ही सदा साक्षी रहा है, आज भी है, आगे भी रहेगा। समय कह रहा है—जो गीताका सहारा ले लेगा, वह भवसागरसे पार हो जायगा—भारतवर्ष ही नहीं संसारका कोई भी प्राणी गीताकी शरणमें पहुँचकर अपूर्व शान्तिका अनुभव कर सकता है—यह निर्विवाद सत्य है।



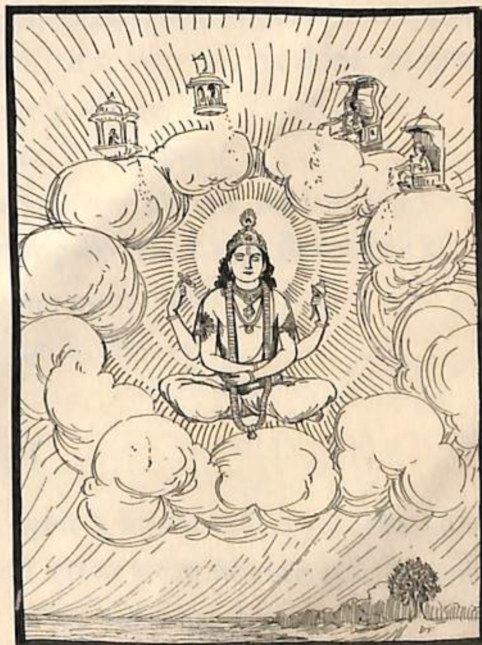
परीक्षित्-संरक्षण



उत्तङ्कपर कृपा



व्याधको आश्वासन



परमधाम-प्रयाण

गीता-गान

(रचयिता—श्रीजगदीशजी झा 'विमल')

पावन गीता-गान,
जहाँ धर्म है वहीं विजय है,
जहाँ सत्य है वहाँ न भय है,
धर्म-कर्मका होता इससे जगको सच्चा ज्ञान ॥
मोह न सम्मुख आने पाता,
संशय जोड़ न पाता नाता,
काया करती निर्मल गीता पावन यश निर्माण ॥
किसपर जीना, किसपर मरना,
किसके रिक्त भवनको भरना,
कौन जगत्में सच्चा अपना, हो किसका सम्मान !
जो आते वे निश्चय जाते,
व्यर्थ औरपर दोष लगाते,
माता-पिता, सहोदर, दारा, को किसकी सन्तान॥
अपनी करणी पार उतरनी,
माया-ममता नद वैतरणी,
फूँक-फूँककर पाँव उठानेसे होता कल्याण ॥
झूठी प्रभुता, झूठा वैभव,
आकर जाते जैसे शैशव,
झूठे ही नर दिखलाते हैं जगमें अपनी शान ॥
गिरे हुएको दौड़ उठाना,
भूखेको दे पानी-दाना,
सच्चे मनसे देश दुखी हित देना अपनी जान ॥
होती हानि धर्मकी जब-जब,
आते हैं हरि दौड़े तब-तब,
विश्व-धर्मकी रक्षा करके करते हैं उत्थान ॥

अव्याप्ताभिव्याप्ति

(रचयिता—श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'नवजीवन')

जम गया है ध्यान मेरा ।
ललित नव नन्दनविपिनमें जा रहा है यान मेरा ॥
जम गया है ध्यान मेरा ॥
रश्मिदलपर विश्व-सुषमा अरुणरञ्जित धार अञ्चल,
प्रकृत वीणामें मिला स्वर छेड़ती हृत्तन्त्र मृदु कल ।
झूमता है प्राण मेरा ।
जम गया है ध्यान मेरा ॥
जड़ गये मेरे भवनमें जगमगाते रत्न तारे,
इन्दु-रवि मेरे खिलौने, नील नभ अञ्चल पसारे ।
बन गया आधान मेरा ।
जम गया है ध्यान मेरा ॥
था गुरुत्वोत्कर्षणाश्रित पञ्चभौतिक देह धारे ।
पर, परा सौन्दर्यको लख, खुल गये हैं बन्ध सारे ।
हो गया उत्थान मेरा ।
जम गया है ध्यान मेरा ॥
शुभ्र-स्वर्णिल पक्षविस्तृत ज्योति-खग आसीन होकर ।
व्योम-सरितामें निखर वह, शेष भौतिक धूल धोकर—
जा रहा है गान मेरा ।
जम गया है ध्यान मेरा ॥
आज उरमें चन्द्र मेरे, स्वयं उसके अङ्कमें हूँ ।
विश्व-मधु मेरे अधरपर मधुर निधि-पर्यङ्कमें हूँ ।
घिर गया प्रभमान घेरा ।
जम गया है ध्यान मेरा ॥

गीतामें समर्पण

श्रीमद्भगवद्गीताको लाखों मनुष्योंने सुना, पढ़ा तथा पढ़ाया है और आत्माको प्रभुकी ओर अग्रसर करनेमें यह पुस्तक अत्यन्त आशाजनक सिद्ध हुई है । उसकी धारणा सर्वथा निराधार नहीं है, क्योंकि गीताका सुन्दर सन्देश अनन्त प्रेमके अभिलाषियोंके लिये प्रत्येक स्थान एवं समयपर अपनी असीम दयाकी वर्षा करना तथा जीवनके सभी कार्योंका परमात्माकी निःस्वार्थ सेवाके निमित्त समर्पण करना है ।

—डा० लीओनेल डी० बैरेट

करुणासागरसे एक बूँद हेतु विनय

(रचयिता—साहित्यरत्न पं० शिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

सिरसको अपनायो आपुही सरस मानि,
कहिबो निरस ताहि हँसी करिबोई है।
कूरो काँच भयो साँच हीरा जाँच जौहरीकी,
ताको तौ बजार माहिं रत्न कहिबोई है।
बेंचनो बिचारौ औ प्रचारौ चौदहों भुवन,
लेगो कौन वाहि, नाथको निबाहिबोई है।
नीके औ नकारोकी परख अब काह करौ,
वस्तु जो बेसाह्यो गाँठि बाँधि राखिबोई है।

अमित अपार भव-सागर न पार मिले,
बूड़ उतराते जीव बहे जाते धार हैं।
बार-बार जन्म धार करें माया-मोह प्यार,
बनते गवाँर सिर धरे भारी भार हैं।
दीनानाथ-दरबार लें उबार इस बार,
हरें दुख सरकार करुना अधार हैं।
कर है करम-तार, फेरो लिपि हरतार,
'सिरस' को तार प्रभु तू तो करतार है।

गीता-गौरव

(रचयिता—पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

कौन जाह्नवी जिसकी लहरें धो देती हैं पाप अपार ?
कौन कमलिनी जिसपर करते रहते संत-भ्रमर गुंजार ?
कौन गली वह जिसमें करते प्रेमी पथिक सतत संचार ?
कौन ज्योत्स्ना सुधामयी, जो छिटक रही जगपर कर प्यार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ १ ॥

कौन सुरा वह जिसका मद कर देता निर्मद यह संसार ?
कौन भारती जिसकी वीणा करती मुक्तिमयी झनकार ?
कौन विपंची जिसपर खिँचे अलौकिक सुन्दर यौगिक तार ?
कौन अग्नि वह कर देती जो पाप-पुंजको पलमें क्षार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ २ ॥

कौन घटा वह जिससे झरती रहती संतत मुक्ति-फुँहार ?
कौन शुक्ति वह जिसकी गोदीमें प्रसुप्त हैं मुक्तापार ?
कौन तरणि वह, जो कर देती पार पलकमें पारावार ?
कान कुंज वह जिसमें संतत करता है गोविन्द विहार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ३ ॥

कौन सिंहिनी कर्म-गजोंको कम्पाती जिसकी हुंकार ?
कौन त्रिवेणी जिसमें योगत्रयकी बहती निर्मल धार ?
कौन तालिका जो देती है खोल ज्ञानके सब भंडार ?
कौन राधिका जिसके उरमें बसते हैं श्रीनन्दकुमार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ४ ॥

कौन कालिका करती शुंभ-निशुंभ शुभाशुभका संहार ?
कौन भुजगिनी भेद-भाव-भ्रम-भेकोंपर भरती फुंकार ?
कौन मोहिनी जिसने मोहन हेतु धरे मोहक शृंगार ?
कौन ऋचा वह जिसकी ध्वनिमें बसते हैं सब विहिताचार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ५ ॥

कौन मातृ वह जिससे बढ़कर माता और न एक उदार ?
कौन तुलसिका जिसका रस है देता संसृति-ताप उतार ?
कौन राशि वह धनकी जिसका भगवत-लाभ-युक्त व्यापार ?
कौन मार्जनी कर देती जो मार्जन मनके कलुष विचार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ६ ॥
कौन सुभेषज जो हर लेती भयकारक भव भूरि विकार ?
कौन चातकी वासुदेवकी सिखलाती जो 'पीव' पुकार ?
कौन वायु वासंती करती सुमनों बीच सरस संचार ?
कौन मालिनी लुटा रही जो पारिजात-पुष्पोंके हार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ७ ॥
कौन पुरी वह जिसमें बसते सकल तीर्थ, काशी-केदार ?
कौन रुक्मिणी बुला रही जो द्वारकेशको अपने द्वार ?
कौन भामिनी भूरिभागिनी है अभिन्न जिससे भर्त्तार ?
कौन गोपिका जिसके पीछे-पीछे डोल रहा कर्त्तार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ८ ॥

कर्मयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति

(रचयिता—डाँगी सूरजचन्दजी 'सत्यप्रेमी')

हे कृष्ण ! ज्ञानकी ज्योति जगा दो मनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥
वंशीकी मीठी तान मुकुन्द ! सुना दो ।
हँसकर गीताका गान मनोहर गा दो ॥
भर दो उमंग, उत्साह नाथ ! नर-तनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ १ ॥
सीधोंमें सीधे और सरल बन जायें ।
छलियोंमें छलकी सकल कला बतलायें ॥
पर सत्य, अहिंसा भरी रहे चितवनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ २ ॥
दुखियोंके दुखको देख दया दिखलावें ।
छूटे करुणाकी धार अश्रु बरसावें ॥
पर रहे न ममता, मोह न्यायके रनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ३ ॥
हम बनें धीर गंभीर आत्मविज्ञानी ।
मायामें अन्धे हो न करें नादानी ॥
पर मुखपर हो मुस्कान, प्रेम पलकनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ४ ॥
सुख-दुखमें हो समभाव, कष्ट सब झेलें ।
जग है पात्रोंका मेल, खेल सब खेलें ॥
पर भूल न जायें भान मनोरंजनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ५ ॥
जगके द्वन्द्वोंमें बनें समन्वयकारी ।
पक्के योगी हों कर्म-कुशलता-धारी ॥
पर तजें नहीं आनन्द शुष्क दर्शनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ६ ॥
है यह अनन्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिकी छाया ।
इसका न आजतक पार किसीने पाया ॥
पर मौलाना बन मस्त रहें हर फ़नमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ७ ॥
दुनिया विरोधकी खान, विपदकी खाई ।
हो कठिन जहाँ कर्तव्य, करें चतुराई ॥
पर रंच मात्र हिल जायँ न सच्चे पनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ८ ॥
चमके जबतक यह 'सूर्य-चंद' तम-हारी ।
हृदयोंमें खेलो रास निकुंजविहारी ॥
फर दो स्वतन्त्र, हम पड़े हुए बन्धनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ९ ॥

तत्त्वोंका तत्त्व

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न')

(१)

'छोड़ वंशकी शूरवीरता,
कायरतासे नाता जोड़—
हे अर्जुन ! तुम वनमें जाओ,
युद्धभूमिसे मुखको मोड़।
इस दुनियामें क्या रक्खा है,
एक ढोलकी-सी है पोल।
तुम एकाकी करो तपस्या,
राम-नाम लो या अनमोल ॥

(२)

यह सारा संसार झूँठ है—
झंझट है, कर यह विश्वास—
सच्चा क्षत्रिय-धर्म त्यागकर
ले लो तुम पूरा संन्यास।
जय पानेकी इच्छा करके
क्यों खोते हो अपने प्राण ?
इस अकालमृत्यूसे तुमको
नहीं मिल सकेगा निर्वाण ॥

(३)

निज कायाकी रक्षा करना
सबसे पहला धर्म ललाम।
शस्त्र डालकर रथमें तुमने,
किया बहुत ही अच्छा काम—
यह उपदेश नहीं दे सकते
वे वरवीर कृष्ण घनश्याम—
जिनकी लीलासे भारतमें
हुआ महाभारत-संग्राम ॥

(४)

वे न्यायी, नीतिज्ञ, निपुण बन
कैसे कहते ऐसी बात ?
जो अर्जुन-से परम मित्रको
दे देती कलङ्क अचिरात।
किन्तु महायोगीश्वर होकर
हरिने जान कर्मका मर्म—
अर्जुनको बातों-बातोंमें
बतलाया है मानव-धर्म ॥

(५)

सत्य कर्मयोगी होना ही
उनकी वाणीका है सार।
गीता क्या है, हरिका मत है,
कर्मयोग है यह साकार।
वनमें जाकर जप-तप करना
कभी नहीं है पूरा योग।
सच्चा योगी वही, नहीं जो
लिप्त हुआ भोगोंको भोग ॥

(६)

दुनियाके कामोंको करके
जो है सब कामोंसे दूर।
कर्मवीरतामें जो संतत
अनासक्ति रखता भरपूर।
ज्वालामुखी, हिमालयको भी
चीज़ एक ही मनमें मान—
सभी काम जो करता रहता,
तेरा-मेरा तज अज्ञान ॥

(७)

होकर जनक कई शिशुओंका
जो रहता है 'जनक'-समान।
बुरा-भला, सुख-दुःख, रात-दिन
हैं जिसके रज-कनक समान।
कामोंमें आसक्त नहीं वह
सबसे अलग, सभीके साथ।
कर्मबीरता उसके करमें,
फल देना ईश्वरके हाथ ॥

(८)

सजल पंकसे पंकज निकला,
पर वह नहीं पंकसे सिक्त।
जलमें रहता, जलज कहाता;
पर वह है जलमयता-रिक्त।
जलचर पक्षी क्रीडा करते
डूब-डूब जल बीच सदेह—
गीले कभी न वे होते हैं
सलिलगेहसे रखकर स्नेह ॥

(९)

चिकने घट बन, सत्य-मार्गमें
खेते जाओ अपनी नाव।
दुनियाकी बातें, जल-बूँदें
डाल सकेंगी नहीं प्रभाव।
रखकर निज कर्त्तव्य-धर्ममें
अनासक्ति, बल, साहस, सत्त्व,
काम करो निष्कामभावसे—
यह गीता-तत्त्वोंका तत्त्व ॥

गीताका माहात्म्य

(लेखक—श्रीलालचन्दजी)

गीताका उद्देश्य कर्तव्य-विमुख मनुष्यको कर्तव्यपथपर निर्विघ्न बढ़ाकर—साधनाके मार्गपर ठीक-ठीक चलाकर उसे जीवन-संग्राममें विजयी बनाना है।

साधन-मार्गमें जितनी विघ्न-बाधाएँ आती हैं, उनको स्पष्टतः साधकके सामने रखकर समस्त आधि-व्याधियोंका साहसपूर्वक सामना कराते हुए उन्हें दूर कराना, जीवन-ज्योतिको लक्षित कराकर उसीके सहारे-सहारे आगे बढ़ाना एवं इस प्रकार एक दिन साधकको पूर्णता प्राप्त करा देना ही गीताका ध्येय है।

जीव किस प्रकार ऐश्वर्यवान्, मतिमान्, धीमान् और सर्वथा सुयोग्य होकर विनम्रतापूर्वक गुरुजनोंका आदर-सत्कार करता हुआ सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि कर सकता है, यह दरसाना ही गीताका अभिप्राय है।

भगवान् सबके हृदय-विहारी हैं और जगत्भरमें व्यापक भी हैं। उनके साक्षात्कारकी विधि बताना गीताका लक्ष्य है। संसारमें जनार्दन-पूजा, निःस्वार्थ जन-सेवा एवं यज्ञमय जीवन-को स्पष्ट करना गीताकी शिक्षा है। और मनुष्य सर्व-हितके लिये किस प्रकार कर्म-फलका त्याग करे, यह आवश्यक उपदेश करना गीताका काम है।

गीतामें परम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने कर्म-कुशलता, समता, ऋजुता, सरलता, निर्भयता, भगवत्परायणता आदिका अपनी प्रेममयी दिव्य वाणीसे सुन्दर उपदेश दिया है। गीतामें भगवान् यह इच्छा प्रकट करते हैं कि मनुष्य पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करके देवता बन जाय, तीनों गुणोंका रहस्य जानकर त्रिगुणातीत एवं स्थितप्रज्ञ हो जाय, अपने कर्तव्योंको निष्कामभावसे दृढ़ता और स्थिरतापूर्वक निभाये, सदा अदीन और स्वतन्त्र रहकर समर्पणकी भावनासे निःसङ्कोच अपने-आपको सर्वहितमें लगा दे और यह कर्तव्यपरायणताकी शक्तिमयी लगन उसके हृदयमें भगवत्सेवाकी कल्याणमयी भावनाके साथ सदा बनी रहे।

गीतागायक भगवान् श्रीकृष्ण यह चाहते हैं कि मनुष्य अपनी अहंता-ममताका परित्याग कर दे, भगवान्का भरोसा करके सदा निश्चिन्त हो जाय, अपने समस्त कर्मोंको भगवान्के ही अर्पण कर दे और स्थिरभावसे दिनों-दिन उन्नतिके मार्ग-पर अग्रसर होता हुआ परमात्म-तत्त्व परम गतिको प्राप्त कर ले।

गीता मनुष्यके लिये माताके दूधके समान परमावश्यक और उपादेय अमृत है। गीताकी शिक्षामें स्वस्थता है, प्रगति है, उन्नति है और है अमरत्व। गीता इस पृथ्वीतलपर मनुष्योंके कल्याणार्थ वेदों, उपनिषदों और शास्त्रोंके समुच्चय तथा निचोड़के रूपमें आयी है। मनुष्यका परम हित इसीमें है कि वह परम श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवच्चिन्तन करता हुआ भगवान्के ही भरोसे गीताके एक-एक अक्षरका—शब्दका मनन करे। उससे मनुष्यके हृदयमें ज्योति जाग्रत होगी, जीवनमें उत्साह बढ़ेगा, शक्तिका पूर्ण विकास होगा, भगवान्में अटल विश्वास होगा और उसे भगवान्का साक्षात्कार होगा जो मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है।

गीताके द्वारा हृदयमें तथा जगत्में भगवान्का साक्षात्कार करके मनुष्य जिस स्थितिको प्राप्त होता है, वह केवल अनुभवसे ही सम्बन्ध रखती है, वह वाणीका विषय नहीं है।

गीता असाधारण ग्रन्थ है

मानसिक विकासके निमित्त गीताका अध्ययन कर रुक जाना ठीक नहीं है, अपितु उसके सिद्धान्तों-को कुछ अंशतक कार्यरूपमें परिणत करना आवश्यक है। गीता कोई साधारण संगीत अथवा ग्रन्थ नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने इसका उपदेश उस समय दिया था, जिस समय उनका आत्मा अत्यन्त प्रबुद्ध था।

—डाक्टर बीसेंट

सम्पादकोंका निवेदन

श्रीभगवान् कब क्या कराना चाहते हैं इस बातको पूर्ण रूपसे कोई नहीं जानता। परन्तु यदि यह विश्वास हो जाय कि सब कुछ भागवती शक्तिकी सत्ता और उसीकी प्रेरणासे हो रहा है तो, मनुष्य अपने अज्ञान और अभिमानसे छूटकर पद-पदपर भगवत्कृपाके और भगवान्की आनन्दमयी लीलाके दर्शनकर सहज ही परमानन्दको प्राप्त हो सकता है।

इस बार 'कल्याण' का 'साधनाङ्क' निकालनेकी बात निश्चित हो गयी थी और उसके लेखोंके लिये विषयसूची भी बना ली गयी थी। परन्तु दो-एक सम्मान्य बन्धुओंकी प्रेरणासे अकस्मात् मत बदल गया और 'गीतातत्त्वाङ्क' निकालनेकी बात निश्चित हो गयी। जिस समय यह निश्चय किया गया, उस समय बहुत थोड़े दिन हाथमें थे, परन्तु ऐसा अनुमान हुआ कि इन थोड़े-से दिनोंमें ही सब कार्य भलीभाँति हो जायँगे। इसी निश्चयके अनुसार सूचना निकाल दी गयी; परन्तु कार्य आरम्भ करनेपर अनुभव हुआ कि समय बहुत ही थोड़ा है और इस बीचमें कार्य सम्पन्न होना कठिन है। कठिनाइयाँ भी कम नहीं आयीं; परन्तु भगवत्कृपा और संत-महात्माओंके आशीर्वादसे किसी तरह काम हो गया। जल्दीके कारण कुछ जानमें और बहुत-सी अनजानमें भूलें भी रह गयीं जो यदि अवसर आया तो दूसरे संस्करणमें सुधारी जा सकती हैं।

'कल्याण' पर, यह उसका सौभाग्य है कि भारतवर्षके और बाहरके बड़े-बड़े संतों, महात्माओं, विद्वानों और सम्मान्य सत्पुरुषोंकी अहैतुकी कृपा है। अवश्य ही इसमें मूल कारण भगवत्कृपा ही है और जहाँतक 'कल्याण' भगवत्कृपापर किसी अंशमें भरोसा रक्खेगा, वहाँतक यदि किसी अज्ञात अमङ्गलमय कारणसे भगवान्का विधान न बदला, तो उसपर उपर्युक्त सबकी कृपा बढ़ती ही रहेगी। इसी कृपाके कारण 'कल्याण' को बहुत अच्छे-अच्छे लेख प्राप्त होते रहते हैं। इस बार भी लेख बहुत अधिक आये। बड़े सङ्कोचके साथ अपने कृपालु लेखक महोदयोंसे क्षमा माँगनी पड़ती है कि 'गीतातत्त्वाङ्क' का कलेवर बहुत अधिक बढ़ा दिये जानेपर भी सब लेख नहीं दिये जा सके और स्थितिको देखते दूसरे और तीसरे खण्डमें अर्थात् सितम्बर और अक्टूबरके अंकोंमें भी सब नहीं दिये जा सकेंगे। लेखोंमें काट-छाँट और परिवर्तन-परिवर्द्धन भी किया ही गया है। इन सारे अपराधोंके लिये हमारी परिस्थितिको समझकर लेखक महोदय अपने शील और सौजन्यकी ओर देखते हुए हमें क्षमा करें।

इस अङ्कके सम्पादनमें कुछ त्यागी महात्माओंके अतिरिक्त हमपर सदा कृपा रखनेवाले सम्मान्य विद्वानों और बन्धुओंके द्वारा भी बड़ी सहायता मिली है। सम्पादकीय विभागके तो सभी सज्जनोंने यथासाध्य पूरा सहयोग दिया ही है। इसके लिये हम उन सभीके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

विनीत,

सम्पादक

चित्र-परिचय

भगवती गीता–(ऊपरका टाइटल) पाँच अध्यायोंके पाँच मुख, दस अध्यायोंके दस हाथ, दो अध्यायोंके दो चरण और एक अध्यायका उदर—इस प्रकार अष्टादशाध्यायी—श्रीगीताजीकी मूर्ति है ।

जगद्गुरु श्रीकृष्ण–(मुख-पृष्ठ) भगवान् श्रीकृष्ण जगद्गुरुके रूपमें विराजमान हैं ।

भक्तवर अर्जुन–(पृष्ठ १) अर्जुन दिव्य रथपर सवार होकर युद्धक्षेत्रकी ओर जा रहे हैं, भक्तवत्सल भगवान् सारथी बनकर लगाम हाथमें लिये घोड़े हाँक रहे हैं । धनुष और नक्षत्रोंके चिह्नोंसे सुशोभित ध्वजा फहरा रही है और महावीर हनुमान्‌जी ध्वजापर विराजमान हैं ।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीको परम तत्त्वके दर्शन–(पृष्ठ ५) गीताके प्रसिद्ध टीकाकार, वेदान्तके बड़े विचक्षण पण्डित श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी महाराजको भगवान् श्रीकृष्ण अपने दर्शन देकर कृतार्थ कर रहे हैं । इस चित्रमें भगवान्‌की छवि और सरस्वतीजीका भाव बहुत ही सुन्दर है ।

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य–(पृष्ठ १६) गीताके सुप्रसिद्ध भाष्यकार और अद्वैतवादके सर्वमान्य आचार्य ।

मुरलीकी मोहिनी–(पृष्ठ २५) भगवान् श्रीकृष्ण मुरली बजा रहे हैं; गोपबालक, गोपबालाएँ और गौएँ मुग्ध हैं; बड़ा ही सुन्दर भावपूर्ण चित्र है ।

गीताप्रचारक आचार्य–(पृष्ठ ३२) भक्तिमार्गके सर्वमान्य सुप्रसिद्ध प्रधान आचार्य जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीमध्वाचार्य और श्रीवल्लभाचार्य ।

माखनकी चाह–(पृष्ठ ४१) यशोदा मैया हाथमें माखनका कटोरा लिए हुए हैं और श्रीकृष्ण बड़े ही चावसे माखन माँग रहे हैं ।

गायके बड़े भाग्य–(पृष्ठ ४९) भगवान् श्रीकृष्णका गायोंके प्रति और गायोंका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति कितना प्रेम था, इसका बड़ा ही सुन्दर नमूना है । भगवान् गायके थनको मुँहमें लिये दूध चूँघ रहे हैं और गैया बड़े स्नेहसे उन्हें चाट रही है और भाग्यवंती मैया लाडले लालकी इस लीलाको देखकर चकित और मुग्ध है ।

दूधकी माँग–(पृष्ठ ६५) यशोदा मैया गाय दुह रही हैं, परन्तु श्रीकृष्णको धैर्य नहीं; वे कहते हैं मैया, मुझे बड़ी भूख लगी है, मुझे तनिक-सा दूध पहले दे दे । मैया और गैया दोनों ही मुग्ध और चित्रवत् स्तब्ध हैं ।

कालियके फणोंपर नृत्य–(पृष्ठ ८९) भगवान् श्रीकृष्ण कालियनागके फणोंपर नृत्य कर रहे हैं ।

उलाहना–(पृष्ठ १०५) एक गोपी बालकृष्णको पकड़कर यशोदाजीको उलाहना देने आयी है ।

पुरुषोत्तम-तत्त्व–(पृष्ठ १३४) इसका परिचय वहीं 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' शीर्षक लेखमें देखिये ।

योद्धावेशमें भगवान् श्रीकृष्ण–(पृष्ठ १३७) परिचय प्रत्यक्ष है ।

देवताओंद्वारा अर्जुनको अस्त्र-दान–(पृष्ठ १४३) लोकपाल और देवता अर्जुनको अस्त्र दे रहे हैं ।

गुणातीत जडभरतकी समता–(पृष्ठ ८०५) जडभरत ज्ञानी अवधूत महात्मा थे । राजा रहूगणकी पालकीका एक मजदूर बीमार हो गया । पालकीवालोंने जडभरतको उसकी जगह लगा दिया । वे विना किसी अपमान-बोधके पालकी उठाकर चलने लगे, परन्तु चलते समय वे राहमें पड़े हुए चींटी आदि जीवोंको बचा-बचाकर चलते थे । इससे पालकी हिलती थी । राजाने उनको डाँटा । इसपर जडभरतने जो कुछ कहा, उसे सुनकर राजा रहूगण चकित हो गये और पालकीसे उतरकर उनके चरणोंमें प्रणाम करते हुए उनसे तत्त्व पूछने लगे । जडभरतकी स्थिति अपमान और सम्मान दोनोंमें एक-सी रही ।

गोवर्धन-धारण–(पृष्ठ ९६९) भगवान्‌ने गोवर्द्धन पहाड़को उठा रक्खा है ।

श्यामका मचलना–(पृष्ठ ९७३) भगवान् श्रीबालकृष्ण यशोदा मैयाकी गोद जानेके लिये उतावले हो रहे हैं और माता बड़े ही सुन्दर भावसे दूर हटती हुई उनकी लीलाका आनन्द ले रही है ।

विषमता–(पृष्ठ ९८३) इसमें ऊपर आजकलके सभ्यतापूर्ण नगरका दृश्य है जहाँ आराम, खेल-कूद और विलासिताके सारे सामान मौजूद हैं । भगवान्‌को स्वीकार करनेमें भी यहाँके निवासियोंको लज्जाका बोध होता है । नीचे गाँवका करुण-दृश्य है । मानो यहाँ भगवान् समताके लिये बाट देख रहे हैं ।

सेवा और सहानुभूतिमें भगवान्–(पृष्ठ ९८४) चारपाईपर एक बीमार सोया है और एक भाई बड़ी तत्परताके

साथ उसकी सेवामें मौजूद है। बीमारको उल्टी होती है और वह उसे अपने हाथोंमें ले रहा है। इसीके नीचेके दृश्यमें बीमार कराहता हुआ जल माँग रहा है और एक बाबू खड़े हुए उसे डाँट रहे हैं।

एक ओर एक विधवा बहन, जिसने अपना जीवन भगवान्‌की भक्ति, उपासना और सेवामें लगा रक्खा है, भगवान्‌का पूजन कर रही है और उनके देवर बड़ी नम्रता, भक्ति और विनयके साथ पूजाका सामान लाकर उन्हें दे रहे हैं और इसमें अपनेको धन्य मानते हैं। इसीके नीचेके दृश्यमें एक क्रूर दुष्टचरित्र मनुष्य अपने छोटे भाईकी विधवा स्त्रीको बड़ी बुरी तरहसे डाँट रहा है और वह दुःखके मारे आँसू बहा रही है।

एक ओर अकालपीडित और विपत्तिग्रस्त किसानोंको बीज दिया जा रहा है और उसे पाकर वे बड़े हर्षित हो रहे हैं। तथा खेती शुरू हो गयी है। इसीके नीचे एक गृहस्थके टूटे-फूटे बर्तन और बैल नीलाम हो रहे हैं और असहाय किसान स्त्री-पुरुष दुःखसे व्याकुल हाथ जोड़े माफी चाहते हैं।

सेवा और सहानुभूतिमें तीनों जगह भगवान् अपना प्रकाश दे रहे हैं और सेवा स्वीकार कर रहे हैं।

इनके अतिरिक्त जितने सुनहरी और बहुरंगे चित्र हैं, उनका संक्षिप्त परिचय गीताकी टीकामें चित्रोंपर छपे हुए विवरणमें या श्लोकोंमें आ गया है।

श्रीकृष्ण-लीलाके और अर्जुनके जीवनके सब चित्रोंका वर्णन पृष्ठ १३७ में 'भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन' शीर्षक लेखमें संक्षेपसे दिया गया है और पितामह भीष्म-सम्बन्धी चित्रोंका वर्णन गीताकी टीका पृष्ठ-संख्या १८२ और ९२१ से ९२५ तक देखना चाहिये।



आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते ॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा ॥ जय०
निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी ॥ जय०
राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा ॥ जय०
आसुरभाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी।
दैवी सद्गुण दायिनि हरि-रसिका सजनी ॥ जय०
समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय०
दया-सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरि-पद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय०

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१-**गीता**-शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ ५१९, चित्र ३, मूल्य साधारण जिल्द २।।) कपड़ेकी जिल्द ··· २।।।)

२-**गीता**-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीकासहित, पृष्ठ ५७०, ६६००० छप चुकी, ४ चित्र, मूल्य ··· १।)

*३-**गीता**-गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृष्ठ ५६०, सजिल्द, मूल्य ··· १।)

४-**गीता**-मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृष्ठ ५७०, सजिल्द, मूल्य ··· १।)

५-**गीता**-प्रायः सभी विषय १।) वालीकी तरह, साइज और टाइप कुछ छोटे पृष्ठ ४६८, मूल्य ।।≋) सजिल्द ··· ।।।=)

६-**गीता**-बंगला टीका, प्रायः सभी विषय हिन्दी गीता ।।≋) वालीकी तरह, पृष्ठ ५३५, मूल्य ··· ।।।)

७-**गीता**-गुटका (पाकेट साइज) हमारी १।)वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९-३२ पेजी, पृष्ठ ५८८ स० मू० ।।)

८-**गीता**-मोटे टाइप, साधारण भाषाटीकासहित, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।), सजिल्द ··· ··· ।।≋)

९-**गीता**-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, (२५००० छप चुकी है) पृष्ठ १०६, मूल्य ।-), सजिल्द ··· ।≋)

१०-**गीता**-भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मूल्य ।) सजिल्द ··· ।=)

११-**गीता**-भाषा, गुटका, प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, २ चित्र, पृष्ठ ४००, मूल्य ।), सजिल्द ··· ।-)

१२-**गीता**-पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, मोटे टाइप, पृष्ठ ३२८, सजिल्द, मूल्य ··· ··· ।)

१३-**गीता**-साधारण भाषाटीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र (५६०००० छप चुकी), पृष्ठ ३५२, मूल्य =)।। स० ≈)।।

१४-**गीता**-मूल ताबीजी, साइज २×२।। इञ्च (७५००० छप चुकी), पृष्ठ २९६, सजिल्द, मूल्य ··· =)

१५-**गीता**-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द १३५९०० छप चुकी है, पृष्ठ १३०, मूल्य ··· -)।।

१६-**गीता**-७।।×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य ··· ··· ··· -)

१७-**गीताडायरी**-सन् १९४० की अजिल्द ।) सजिल्द ··· ··· ··· ।-)

१८-**ईशावास्योपनिषद्**-हिन्दी-अनुवाद शांकरभाष्यसहित सचित्र, पृष्ठ ५०, मूल्य ··· ··· ≋)

१९-**केनोपनिषद्**-सानुवाद शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ··· ··· ।।)

२०-**कठोपनिषद्**-सानुवाद शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ··· ··· ।।-)

२१-**मुण्डकोपनिषद्**-सानुवाद शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य ··· ··· ।≋)

२२-**प्रश्नोपनिषद्**-सानुवाद शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य ··· ··· ।≋)

उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य ··· ··· २।-)

२३-**माण्डूक्योपनिषद्**-सानुवाद शांकरभाष्य एवं गौडपादीय कारिकासहित, सचित्र, पृष्ठ ३००, मूल्य ··· १)

२४-**तैत्तिरीयोपनिषद्**- ,, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ··· ।।।-)

२५-**ऐतरेयोपनिषद्**- ,, ,, पृष्ठ १०४, मूल्य ··· ।=)

उपरोक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड २) मूल्य ··· २।=)

२६-**छान्दोग्योपनिषद्**-(उपनिषद्-भाष्य खण्ड ३) सानुवाद शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ-संख्या ९८४, चित्र ९, सजिल्द ३।।।)

२७-**श्वेताश्वतरोपनिषद्**-सानुवाद शांकरभाष्यसहित, साइज डिमाई आठपेजी, पृष्ठ २७२, सचित्र मोटा टाइप, मू० ।।।=)

२८-**श्रीविष्णुपुराण**-हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृष्ठ ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २।।) कपड़ेकी जिल्द ··· २।।।)

२९-**श्रीकृष्णलीलादर्शन**-करीब ७५ सुन्दर-सुन्दर चित्र और उनका परिचय, सजिल्द, मूल्य ··· २।।)

३०-**भागवतस्तुतिसंग्रह**-(सानुवाद, कथाप्रसंग और शब्दकोशसहित) सजिल्द, मूल्य ··· २।)

३१-**अध्यात्मरामायण**-सातों काण्ड, सम्पूर्ण, मूल और हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृष्ठ ४००, मूल्य १।।।) सजिल्द २)

३२-**प्रेमयोग**-सचित्र, लेखक-श्रीवियोगी हरिजी, ११००० छप चुकी, मोटा एण्टिक कागज, पृष्ठ ४२०, मूल्य १।) स० १।।)

३३-**भक्तियोग**-'भक्ति'का सविस्तार वर्णन, लेखक-चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादजी, सचित्र, पृष्ठ ७०८, मूल्य १=)

३४-**श्रीतुकाराम-चरित्र**-पृष्ठ ६९४, चित्र ९, मूल्य १≈) सजिल्द ··· १।।)

३५-**भागवतरत्न प्रह्लाद**-३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, पृष्ठ ३४०, मूल्य १) सजिल्द १।)

३६-**बिनयपत्रिका**-गो० तुलसीदासकृत सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनु०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, [illegible] मू० १)स० १।)

३७-**गीतावली**- ,, सरल [illegible] पृष्ठ ४६०, मूल्य १) सजिल्द १।)

* यह पुस्तक समाप्त हो गयी है, पुनर्मुद्रण होनेपर मिल सकेगी।

३८-श्रीकृष्ण-विज्ञान-गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७५, मूल्य ।।।) सजिल्द ... १)
३९-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली-(ख० १)-लेखक-श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, ६ चित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।।=) सजिल्द १=)
४०- ,, ,, (ख० २)-९ चित्र, ४५० पृष्ठ, पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ, मूल्य १=) सजिल्द १।=)
४१- ,, ,, (ख० ३)-११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, मूल्य १) सजिल्द ... १।)
४२- ,, ,, (ख० ४)-१४ चित्र, २२४ पृष्ठ, मूल्य ।।=) सजिल्द ... ।।।=)
४३- ,, ,, (ख० ५)-१० चित्र, पृष्ठ २८०, मूल्य ।।।) सजिल्द ... १)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली-पाँचों भाग-पूरी पुस्तक सजिल्द (दो जिल्दोंमें) लेनेसे ।।=) कम लगता है। अलग-अलग अजिल्द ४।=) सजिल्द ५।।=) पाँचों भाग दो जिल्दोंमें ... ५)
४४-मुमुक्षुसर्वस्वसार-भाषाटीकासहित, अनु०-श्रीमुनिलालजी, पृष्ठ ४१४, मूल्य ।।।-) सजिल्द ... १-)
४५-तत्त्व-चिन्तामणि भाग १-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५०, एण्टिक कागज, मूल्य ।।=) स० ।।।-)
४६- ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४४८, गुटका, प्रचारार्थ मूल्य ।-) स० ।=)
४७- ,, भाग २- ,, ,, ,, ,, ६३२, मूल्य ।।।=) सजिल्द १=)
४८- ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ७५०, गुटका, प्रचारार्थ मूल्य ।=) स० ।।)
४९- ,, भाग ३- ,, ,, ,, ,, ४५०, मूल्य ।।≡) सजिल्द ।।।=)
५०- ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ५६०, गुटका, मूल्य ।-) सजिल्द ।=)
५१-पूजाके फूल-श्रीभूपेन्द्रनाथ देवशर्माके अनुभवपूर्ण भावमय लेखोंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ ४१४, मूल्य ।।।-)
५२-श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र-सचित्र, महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संतकी जीवनी और उपदेश, पृष्ठ ३५६, मूल्य ।।।-)
५३-एकादश स्कन्ध-(श्रीमद्भागवत) सचित्र, हिन्दी-टीकासहित, यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है, पृष्ठ ४२०, मू० ।।।) स० १)

५४-श्रीभगवन्नामकौमुदी-सानुवाद, पृष्ठ ३३६ सचित्र, ।।=)
५५-देवर्षि नारद-५ चित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ।।।) स० १)
५६-शरणागतिरहस्य-सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।≡)
५७-श्रीविष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, पृष्ठ २७५, मूल्य ।।=)
५८-शतपञ्च चौपाई-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३४०, ।।=)
५९-सूक्तिसुधाकर-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७६, मू० ।।=)
६०-आनन्दमार्ग-सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ।।-)
६१-कवितावली-गो० तुलसीदासजीकृत, सटीक, ४ चित्र, ।।-)
६२-श्रुतिरत्नावली-सचित्र, संपा०-श्रीभोलेबाबाजी, मू० ।।)
६३-स्तोत्ररत्नावली-अनुवाद-सहित, ४ चित्र (नये संस्करणमें ७४ पृष्ठ बढ़े हैं) मूल्य ।।)
६४-दिनचर्या-सचित्र, पृष्ठ २२२, मूल्य ।।)
६५-तुलसीदल-सचित्र, पृष्ठ २९२, मूल्य ।।) सजिल्द ।।≡)
६६-श्रीएकनाथ-चरित्र-सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ।।)
६७-नैवेद्य-लेखक -श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ३५०, मूल्य ।।) सजिल्द ।।≡)
६८-श्रीरामकृष्ण परमहंस-५ चित्र, पृष्ठ २५०, मूल्य ।≡)
६९-भक्त-भारती-(सचित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र ।≡)
७०-धूपदीप-लेखक-श्री 'माधव' जी, पृष्ठ २४०, मूल्य ।≡)
७१-तत्त्वविचार-सचित्र, पृष्ठ २०५, मूल्य ।=)
७२-उपनिषदोंके चौदह रत्न-पृष्ठ १००, चित्र १०, मू० ।=)
७३-लघुसिद्धान्तकौमुदी-सटिप्पण, पृष्ठ ३५०, मूल्य ।=)
७४-भक्त नरसिंह मेहता-सचित्र, पृष्ठ १८०, मूल्य ।=)
७५-श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश-सचित्र, पृष्ठ २१८, ।=)
७६-विवेक-चूडामणि-सचित्र, सटीक, पृष्ठ २२४, ।-) स० ।।)
७७-गीतामें भक्तियोग-सचित्र, ले०-श्रीवियोगी हरिजी ।-)
७८-भक्तराज हनुमान्-सचित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य ।-)
७९-सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र-सचित्र, पृष्ठ ५६, मूल्य ।-)
८०-भक्त बालक-५ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ८०, मूल्य ।-)
८१-भक्त नारी-६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ८०, मूल्य ।-)
८२-भक्त-पञ्चरत्न-६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९८, मू० ।-)
८३-आदर्श भक्त-७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ११२, मू० ।-)
८४-भक्त-सप्तरत्न-७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १०६, मू० ।-)
८५-भक्त-चन्द्रिका-७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९२, मू० ।-)
८६-भक्त-कुसुम-६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९१, मू० ।-)
८७-प्रेमी भक्त-९ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १०३, मूल्य ।-)
८८-प्रेमदर्शन-(नारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका) ।-)
८९-गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला-कर्मकाण्ड, पृष्ठ १८२, मू० ।-)
९०-यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ-३ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९२, ।)
९१-व्रजकी झाँकी-वर्णनसहित लगभग ५६ चित्र, मूल्य ।)
९२-श्रीबदरी-केदारकी झाँकी-सचित्र, मूल्य ।)
९३-परमार्थ-पत्रावली-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह, पृष्ठ १४४, मू० ।)
९४-ज्ञानयोग-इसमें जाननेयोग्य अनेक पारमार्थिक विषयोंका सुन्दर वर्णन है, पृष्ठ १२५, मूल्य ।)
९५-कल्याणकुञ्ज-सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य ।)
९६-प्रबोध-सुधाकर-सचित्र, सटीक, पृष्ठ ८०, मूल्य ≈)।।

९७-**आदर्श भ्रातृ-प्रेम**-ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका ≡)
९८-**मानवधर्म**-ले० श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार,पृ० ११२≡)
९९-**प्रयाग-माहात्म्य**-१६ चित्र, पृष्ठ ६४, मूल्य =)॥
१००-**माघमकरप्रयागस्नान-माहात्म्य**-सचित्र,पृष्ठ९४=)॥
१०१-**गीता-निबन्धावली**-ले०श्रीजयदयालजी गोयन्दका=)॥
१०२-**साधन-पथ**-ले० श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, स० =)॥
१०३-**अपरोक्षानुभूति**-मूलश्लोकऔरअर्थसहित,पृष्ठ४८ =)॥
१०४-**मनन-माला**-सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है =)॥
१०५-**नवधा भक्ति**-ले०श्रीजयदयालजी गोयन्दका मू० =)
१०६-**भजन-संग्रह**-प्रथम भाग सं०-श्रीवियोगी हरिजी =)
१०७- ,, दूसरा भाग ,, =)
१०८- ,, तीसरा भाग ,, =)
१०९- ,, चौथा भाग ,, =)
११०- ,, पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) लेखक— श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य =)
१११-**शतश्लोकी**-हिन्दी-अनुवादसहित, मूल्य =)
११२-**बाल-शिक्षा**-ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मू० =)
११३-**चित्रकूटकी झाँकी**-२२ चित्र, मूल्य -)॥
११४-**स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी**-(सचित्र), पृष्ठ ५६, मूल्य -)॥
११५-**नारी-धर्म**-ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य -)॥
११६-**गोपी-प्रेम**-(सचित्र) पृष्ठ ५०, मूल्य -)॥
११७-**मनुस्मृति द्वितीय अध्याय**-अर्थसहित, मू० -)॥
११८-**हनुमानबाहुक**-सचित्र, सटीक, मूल्य -)॥
११९-**ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप**-ले०- श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य -)॥
१२०-**मनको वश करनेके कुछ उपाय**-सचित्र मू० -)।
१२१-**श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा**-लेखक- श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य -)।
१२२-**गीताका सूक्ष्म विषय**-पाकेट-साइज, पृष्ठ ७०,-)।
१२३-**ईश्वर**-लेखक-पं०श्रीमदनमोहनजी मालवीय, मू० -)।
१२४-**मूल गोसाईं-चरित**-मूल्य -)।
१२५-**मूलरामायण**-१ चित्र, मूल्य -)।
१२६-**आनन्दकी लहरें**-(सचित्र), मूल्य -)
१२७-**गोविन्ददामोदरस्तोत्र**-(सार्थ)-पृष्ठ २७, मूल्य -)
१२८-**श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश**-सचित्र, मूल्य -)
१२९-**ब्रह्मचर्य**-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य -)
१३०-**समाज-सुधार**-मूल्य -)
१३१-**एक संतका अनुभव**-मूल्य -)
१३२-**आचार्यके सदुपदेश**-मूल्य -)
१३३-**सप्त-महाव्रत**-ले०-श्रीगांधीजी, मूल्य -)
१३४-**वर्तमान शिक्षा**-पृष्ठ ४५, मूल्य -)
१३५-**सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय**-मू० -)
१३६-**श्रीरामगीता**-मूल, अर्थसहित(पाकेट-साइज), मू०)॥।
१३७-**विष्णुसहस्रनाम**-मूल, मोटा टाइप)॥। स० -)॥
१३८-**हरेरामभजन**-२ माला, मूल्य)॥।
१३९- ,, -१४ माला, मूल्य ।-)
१४०- ,, -६४ माला, मूल्य १)
१४१-**शारीरकमीमांसादर्शन**-मूल, पृष्ठ ५४, मू०)॥।
१४२-**सन्ध्या**-(हिन्दी-विधिसहित), मूल्य)॥
१४३-**भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय**-पृष्ठ ३५, मू०)॥
१४४-**बलिवैश्वदेव-विधि**-मूल्य)॥
१४५-**सत्यकी शरणसे मुक्ति**-पृष्ठ ३२, गुटका, मू०)॥
१४६-**गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग**)॥
१४७-**व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति**-पृष्ठ ३२, गुटका, मूल्य)॥
१४८-**भगवान् क्या हैं ?**-मूल्य)॥
१४९-**सीतारामभजन**-(पाकेट-साइज) मूल्य)॥
१५०-**सेवाके मन्त्र**-(पाकेट-साइज) मूल्य)॥
१५१-**प्रश्नोत्तरी**-श्रीशंकराचार्यकृत (टीकासहित), मू०)॥
१५२-**गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रमसूची**-मूल्य)॥
१५३-**त्यागसे भगवत्प्राप्ति**-मूल्य)।
१५४-**पातञ्जलयोगदर्शन**-(मूल), गुटका, मूल्य)।
१५५-**धर्म क्या है ?**-५०००० छप चुका, मूल्य)।
१५६-**दिव्य सन्देश**-मूल्य)।
१५७-**श्रीहरिसंकीर्तनधुन**-मूल्य)।
१५८-**नारद-भक्ति-सूत्र**-(सार्थ गुटका), मूल्य)।
१५९-**ईश्वर दयालु और न्यायकारी है**-पृष्ठ २०,गुटका)।
१६०-**प्रेमका सच्चा स्वरूप**-पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य)।
१६१-**महात्मा किसे कहते हैं ?**-पृष्ठ २०, गुटका, मू०)।
१६२-**हमारा कर्तव्य**-पृष्ठ २२, गुटका, मूल्य)।
१६३-**ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है**-पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य)।
१६४-**चेतावनी**-मूल्य)।
१६५-**लोभमें पाप**-(गुटका), मूल्य आधा पैसा
१६६-**गजलगीता**-(,,), मूल्य आधा पैसा
१६७-[illegible]-(गुटका), मूल्य आधा पैसा

Books in English

1. The Story of Mira Bai.
   (By Bankey Behari) 32 Songs of Mira with English translation and one illustration added to the previous edition. -/13/-
2. At the touch of the Philosopher's Stone.
   (A Drama in five acts) -/9/-
3. Songs From Bhartrihari.
   (By Lal Gopal Mukerji and Bankey Behari) -/8/-
4. Mind: Its Mysteries & Control.
   (By Swami Sivananda) -/8/-
5. Way to God-Realization.
   (By Hanumanprasad Poddar) -/4/-
6. Our Present-Day Education.
   (By Hanumanprasad Poddar) -/3/-
7. The Immanence of God.
   (By Malaviyaji) -/2/-
8. The Divine Message.
   (By Hanumanprasad Poddar) -/-/9

MANAGER—THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

कुछ ध्यान देने योग्य बातें—

(१) हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो जवाब देने या माल भेजनेमें बहुत दिक्कत होगी। साथ ही उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

(२) अगर ज्यादा किताबें मालगाड़ी या पार्सलसे मँगानी हों तो रेलवे स्टेशनका नाम जरूर लिखना चाहिये। आर्डरके साथ कुछ दाम पेशगी भेजने चाहिये।

(३) थोड़ी पुस्तकोंपर डाकखर्च अधिक पड़ जानेके कारण एक रुपयेसे कमकी वी० पी० प्राय: नहीं भेजी जाती, इससे कमकी किताबोंकी कीमत, डाकमहसूल और रजिस्ट्रीखर्च जोड़कर टिकट भेजें।

(४) एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें बुकपोस्टसे मँगवानेवाले सज्जन ।) तथा रजिस्ट्रीसे मँगवानेवाले ।=) (पुस्तकोंके मूल्यसे) अधिक भेजें। बुकपोस्टका पैकेट प्राय: गुम हो जाया करता है; अत: इस प्रकार खोयी हुई पुस्तकोंके लिये हम जिम्मेवार नहीं हैं।

(५) 'कल्याण' रजिस्टर्ड होनेसे उसका महसूल कम लगता है और वह कल्याणके ग्राहकोंको नहीं देना पड़ता, कल्याण-कार्यालय स्वयं बरदास्त करता है। पर प्रेसकी पुस्तकों और चित्रोंपर ॥) सेर डाकमहसूल और ≡) फी पार्सल रजिस्ट्रीखर्च लगता है, जो कि ग्राहकोंके जिम्मे होता है। इसलिये 'कल्याण' के साथ किताबें और चित्र नहीं भेजे जा सकते अत: गीताप्रेसकी पुस्तक आदिके लिये अलग आर्डर देना चाहिये।

कमीशन-नियम

१००) तककी पुस्तकें लेनेवाले सभी ग्राहकोंको कमीशन एक चौथाई दिया जायगा। ३०) की पुस्तकें लेनेसे ग्राहकोंके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री-डिलीवरी दी जायगी। ३०) की पुस्तकें लेनेवाले सज्जनोंमेंसे यदि कोई जल्दीके कारण रेलपार्सलसे पुस्तकें मँगवावेंगे तो उनको केवल आधा महसूल बाद दिया जायगा। फ्री-डिलीवरीमें बिल्टीपर लगनेवाला डाकखर्च, रजिस्ट्रीखर्च, मनीआर्डरकी फीस या बैंकचार्ज शामिल नहीं होंगे, ग्राहकोंको अलग देने होंगे। नवीन रेटके अनुसार चित्रोंके दाम कम हो जानेके कारण पुस्तकोंके साथ चित्रोंकी फ्री-डिलीवरी नहीं दी जायगी। पुस्तकोंके साथ चित्र मँगानेवालोंको चित्रोंके कारण जो विशेष भाड़ा लगेगा वह देना होगा।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

नोट—जहाँ हमारी [illegible] थोड़ी पुस्तकें यहाँसे मँगवानेपर जो खर्च पड़ता है उससे कममें या उतनेमें ही मिल जाती हैं। अत: थोड़ी पुस्तकें बुकसेलरोंसे ही लेनेमें सुविधा होनेकी संभावना है।

चित्र-सूची

गीताप्रेस, गोरखपुरके सुन्दर, सस्ते, धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं।

सुनहरी—नेट दाम प्रत्येकका ~)॥

१ युगलछवि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकंद पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम
८ दशरथके भाग्य
९ भगवान् श्रीराम
१० राम-दरबारकी झाँकी

रंगीन—नेट दाम प्रत्येकका ~)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयी संसार
१५ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१६ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण-युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ भगवान् विष्णु
२८ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ भगवान् विश्वनाथ
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिवजीकी विचित्र बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जडयोग
४४ भगवान् शक्तिरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर
५३ बालरूप श्रीरामजी
५४ दूल्हा राम
५५ कालिय-उद्धार
५६ जटायुकी स्तुति
५७ पुष्पकविमानपर

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं।)

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

१०१ युगलछवि
१०२ तन्मयता
×
×

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)।$\frac{1}{2}$ प्रतिचित्र

११२ श्रीरामचतुष्टय
११३ अहल्योद्धार
११५ मुरली-मनोहर
११६ गोपीकुमार
११७ राधाकृष्ण
१२० कौरव-सभामें विराट्‌रूप
१२५ कमलापति-स्वागत
१२६ लक्ष्मीनारायण
१२८ शिवजीकी विचित्र बरात
१३० शिवपरिवार
१३१ पञ्चमुख परमेश्वर
१३२ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
१३४ जगज्जननी उमा
१३८ श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।$\frac{1}{2}$ प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीरामसीता
२०३ युगलछवि
२०४ कंसका कोप
२०५ बँधे नटवर
२०६ वेणुधर
२०७ बाबा भोलेनाथ
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा
२१० आनन्दकन्दका आँगनमें खेल
२११ भगवान् श्रीराम
२१२ जुगल सरकार
२१३ दशरथके भाग्य
२१४ शिशु-लीला—१
२१६ श्रीभरतजी

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)। प्रतिचित्र

२५१ सदाप्रसन्न राम
२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ [illegible] बाललीला
२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
[illegible]
२६० गुरुसेवा
२६१ पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मणका कोप

१०२७ अर्जुनको गीताका उपदेश
१०२८ अर्जुनको चतुर्भुजरूप-का दर्शन
१०२९ भक्त अर्जुन और उनके सारथि कृष्ण
१०३० परीक्षितकी रक्षा
१०३१ सदाशिव
१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगीध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण
१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक भील
१०४५ शंकरके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशंकराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
१०५० गोविन्दके साथ गोविन्दका खेल
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
१०७१ श्रीमनुशतरूपा
१०७२ देवता, असुर और मनुष्योंको ब्रह्माजीका उपदेश

चित्रोंके साइज, रंग और दाम

१५×२०, सुनहरी	-)॥	१०×१५, सुनहरी	)॥	७॥×१०, सुनहरी	)।½	७॥×१०, सादा	१)सै०
१५×२०, रंगीन	-)	१०×१५, रंगीन	)।½	७॥×१०, रंगीन	)।	५×७॥, रंगीन	१)सै०

१५×२० साइजके सुनहरे १०, रंगीन ४७ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३॥।=) पैकिङ्ग -) डाकखर्च १≡) कुल लागत ५=) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सुनहरे १७, रंगीन २५५ और सादे ३ कुल २७५ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ४।=)॥½ पैकिङ्ग -)।½ डाकखर्च १≡) कुल ५॥≡) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥≡)॥ पैकिङ्ग -)। डाकखर्च ।=)। कुल १≡) लिये जायँगे।

१५×२०, ७॥×१०, ५×७॥ के तीनों सेटकी नेट कीमत ९)½, पैकिङ्ग -)॥।½ डाकखर्च २≡) कुल ११।-) लिये जायँगे।

रेलपार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको ९)½ चित्रका मूल्य, पैकिङ्ग =)॥।½ रजिस्ट्री ।) कुल ९।≡) भेजना चाहिये। साथमें पासके रेलवेस्टेशनका नाम लिखना जरूरी है।

नियम—(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (३) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवेस्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकोंको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र, नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५×२० का ॥।), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≶) अधिक लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस समय तैयार रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायँगे।

❋ कल्याणके नियम ❋

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका **उद्देश्य** है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४ℬ) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अंगरेजी **अगस्त** माससे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अगस्तके अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' **प्रति मास अंगरेजी महीनेकी पहली तारीखको निकलता है।**

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही **अगस्त तथा वर्षका पहला अङ्क** होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। 'कल्याण' के सातवें वर्षसे ग्यारहवें वर्षतक भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया गया है।

(८) चार आना (एक संख्याका मूल्य) मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिष्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार, उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 1724.

श्रीहरिः

गीताका सन्देश

प्रत्येक विचारशील व्यक्तिके जीवनमें ऐसे अवसर आते हैं जिनमें प्रकृतिके विधान और भगवान्‌के विधानमें कहीं कोई मेल नहीं दीखता; और इससे भी आगे चलकर, मनुष्यके बनाये हुए नियम जिन्हें बलात् हमपर लाद दिया जाता है उनसे और प्रकृतिके नियमोंमें घोर वैषम्यका मुकाबला होता है। ऐसे ही अवसरोंपर हमें अपनी दयनीय दशाका दुःखद बोध होता है और हम ऐसा समझने लगते हैं कि कर्म करनेकी स्वतन्त्रता देकर भगवान्‌ने हमें दुःखोंसे जकड़ दिया है। इस समस्याको लेकर हमारा चित्त इतना उद्विग्न हो उठता है कि हम चाहने लगते हैं कि अच्छा होता हमें कर्म करनेकी यह स्वतन्त्रता न मिली होती। प्रकृतिसे प्राप्त कर्म और विचारकी स्वतन्त्रतामें आनन्द माननेकी अपेक्षा हम यह जाननेके लिये अधिक लालायित हैं कि हमारा निश्चित कर्तव्य क्या है, हमें करना क्या है। कभी-कभी तो संवेदनप्रधान व्यक्ति जीवन और इस जगत्‌की अत्यन्त स्पष्ट विरोध और अनिश्चिततासे इतने घबड़ा जाते हैं कि वे आत्महत्याका आश्रय लेकर इससे अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं। दूसरे कुछ ऐसे हैं जो अन्धकारमें टटोलते फिरते हैं और मारे-मारे फिरते हैं। कुछ ऐसे हैं जो अपने प्रेमी मित्रों तथा बुद्धिमान् नेताओंसे राय-सलाह लेते हैं और अपनी इच्छा तथा विचारकी स्वतन्त्रताको उनके हाथ सौंपकर निश्चिन्त-से हो जाते हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि इन मित्रों तथा नेताओंकी छायामें वे सर्वथा सुरक्षित रहेंगे। कुछ थोड़े ही ऐसे हैं जो इन प्रश्नोंका उत्तर अपनी आत्मासे अथवा अपने भीतर छिपे हुए भगवान् श्रीवासुदेवसे पूछते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता—भगवान्‌के कण्ठसे निकली हुई यह गीति इस सनातन प्रश्नका मानवमात्रके लिये एक सनातन, सर्वकालीन उत्तर प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि संसारके कोने-कोनेमें और सब प्रकारके लोगोंमें, चाहे वे किसी जातिके हों, किसी भी वर्णके हों, किसी मत-पन्थ-सम्प्रदायके हों, गीताकी ख्याति तथा सर्वमान्यता अक्षुण्ण बनी हुई है। गीता इस बातका बड़े ही सुन्दर ढंगसे निर्देश करती है और सच पूछिये तो गीताका मुख्य मार्मिक तत्त्व यही है भी कि संसारमें बाह्यतः चाहे जितना भी विरोध, विषमता, असम्बद्धता दीख पड़ती हो परन्तु इन सारी विषमतामें एक अखण्ड 'एकता', एक नित्य 'पूर्णता' है, कर्तव्य और भावमें जो विरोध दीखता है वह बस दीखनेभरको ही है, मूलतः दोनों एक ही हैं। गीता इसी महान् तत्त्वका बड़े ही सुन्दर और प्रभावशाली ढंगसे प्रतिपादन करती है।

—लाला लाजपतराय